संस्कृत के प्रत्ययों

का

भाषाशास्त्रीय पर्यालोचन



डा० आजाद मिश्र

रीडर, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, लखनऊ

संस्कृत के प्रत्ययों

का

भाषाशास्त्रीय पर्यालोचन

डा० आजाद मिश्र

रीडर, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, लखनऊ

वितरक

मधुकर प्रकाशन, लखनऊ

मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार की आर्थिक
सहायता से प्रकाशित

वितरक :
मधुकर प्रकाशन
२/२३६, विरामखण्ड, गोमती नगर, लखनऊ

प्रथम संस्करण १६८६

मूल्य : रु. 165/-

मुद्रक :
अरविन्द प्रिण्टर्स
२०-डी, बेली रोड, इलाहाबाद

देवरियामण्डले ख्यातः परसियामिश्रग्रामकः ।
उत्तरप्रान्तपूर्वस्यां यत्रास्त्यभिजनो मम ।।

बाल्ये यश्चपलो विना हि जनकं यः कर्मयोगी महान्,
मध्ये यौवनमाप शक्तिमतुलां लब्धप्रतिष्ठो यया ।
ज्येष्ठापत्यमृतौ विरज्य सहसा मां संस्कृते प्रैरयद्,
वन्द्यो लल्लनमिश्र आदिजननीचन्द्रावतीसंगतः ।।

स्वर्गीय पिता

श्री लल्लन मिश्र

की

पुण्यस्मृति में

वात्सल्यमयी माँ

चन्द्रावती देवी

के

करकमलों में

यह शाब्दिक कृति

सादर समर्पित

त्वदीयं वस्तु पितरौ ! युवयोरग्रमर्पितम् ।
मतिः प्रवर्ततां शास्त्रे चैवमाशीः प्रयच्छतम् ।।

पुरोवाक्

परमसौभाग्य से 'संस्कृत के प्रत्ययों का भाषाशास्त्रीय पर्यालोचन' ग्रन्थ को अपने समक्ष प्रकाशित देखकर मुझे अमन्दानन्द का अनुभव हो रहा है । इससे पूर्व इसके सुधी लेखक डॉ० आजाद मिश्र ने शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ, बीकानेर से 'संस्कृत शिक्षिका' और 'शब्दार्थ दीपिका' ग्रन्थों का तथा गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से 'पंजाबी-संस्कृत शब्दकोश' नामक मौलिक ग्रन्थ का प्रकाशन किया है । व्याकरण और दर्शन विषयों में डा० मिश्र के अनेक मौलिक लेख संस्कृत की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं । इसके अतिरिक्त 'साधना शरण्यस्तव:' स्तोत्रग्रन्थ की प्रकाशित 'चन्द्रिका' व्याख्या भी लेखक के वैदुष्य का निदर्शन है । वर्तमान में डॉ० मिश्र रामकृष्ण भट्ट विरचित 'सिद्धान्त रत्नाकर' नामक विशालकाय व्याकरण ग्रन्थ के सम्पादन में संलग्न है, जो वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी की प्रौढ़ और सुविस्तृत व्याख्या है । इस कार्य से नागेश भट्ट और भट्टोजिदीक्षित के बीच की वैयाकरण परम्परा पर पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होगा ।

डॉ० आजाद मिश्र, जिनकी सैद्धान्तिक और प्रायोगिक रङ्गमञ्चीय और शास्त्रीय बहुमुखी मधुकरी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनकी मित्रमण्डली उन्हें 'मधुकर' उपनाम से स्नेहसिक्त करती है, नव्यव्याकरणाचार्य में प्रारम्भ से ही मेरे समर्पित और सावधान शिष्य रहे हैं । मैं तभी से इनकी प्रतिभा का प्रशंसक रहा हूँ और जानता था कि मेरा यह छात्र अवश्य अपनी मेधा का प्रसार करेगा । प्रस्तुत कृति को देखने से यह लगा कि इसमें व्याकरणाध्ययन की एक अभिनव शैली का सूत्रपात हुआ है । इसमें वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी का केवल प्रत्ययपरक अध्ययन ही नहीं है, प्रत्युत उसके सभी विषयों पर प्रायः मौलिक विचार प्रस्तुत हैं । इस कृति में पाणिनीय एवं तदितर व्याकरण परम्पराओं के प्रमुख आचार्यों के प्रत्यय विषयक विचारों का केवल उपस्थापन ही नहीं, प्रत्युत लेखक की मौलिक समीक्षा इस कृति के गौरव को बढ़ा रही है ।

संस्कृत व्याकरण में यद्यपि ग्रन्थों का विशाल भाण्डागार है, तथापि उनमें साङ्गोपाङ्ग प्रत्ययपरक अध्ययन अद्यावधि स्वतन्त्ररूप

से उपलब्ध नहीं है। इस कृति से जहाँ इस रिक्तता की संपूर्त्ति होती है, वहीं कातन्त्र, चान्द्र, रूपावतार, हेमशब्दानुशासन, सारस्वत और पाणिनीय प्रत्ययों की परस्पर रूपात्मक, अर्थात्मक, संख्यात्मक और उद्देश्यात्मक दृष्टियों से तुलना करके भारतीय भाषाशास्त्रियों के भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों की महत्ता ख्यापित होती है। वैयाकरणों ने सुप् और तिङ् विभक्ति प्रत्ययों का जो स्वरूप निर्धारित किया है, यहाँ उनसे भिन्न स्वरूप का भी निर्धारण हुआ है, जो अत्यन्त व्यावहारिक और मौलिक है। इसी प्रकार प्रक्रिया और अनुबन्धों के अध्ययन में भी एक वैज्ञानिक एवं सरल सरणि का आश्रय लिया गया है।

लेखक ने परम्परीण पद्धति से प्राप्त व्याकरणशास्त्रीय गूढ सिद्धान्तों को आधुनिक भाषाविज्ञान के परिवेश में प्रस्तुत किया है। इससे इस कृति में दो प्रकार की समीक्षा समधिगत होती है। पहली, प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्रियों की परस्पर तुलना और दूसरी, प्राचीन तथा आधुनिक भाषाशास्त्र की तुलना। इस प्रकार इस कृति में प्राचीनता और नवीनता का जहाँ विषयगत संगम है, वहीं भाषायी संगम भी विद्वन्मनोमोदक है। यद्यपि राष्ट्रभाषा का आश्रय लेकर विषय को सर्वसुलभ कराने का भरपूर प्रयास हुआ है, तथापि विषय के साथ-साथ भाषा की दुरूहता और पारिभाषिकता स्वाभाविक हो जाती है।

मुझे पूर्णविश्वास है कि यह कृति संस्कृत व्याकरण और भाषा शास्त्र के अनुसंधान में सहायक सिद्ध होगी और अनुसंधित्सुओं को अभिनव मार्ग का प्रदर्शन करेगी। भगवान् भूतभावन इसके लेखक को और शक्ति प्रदान करें, जिससे उसकी लेखनी परम्परीण सिद्धान्तों के प्रसार में इसी प्रकार अग्रसर रहे और इस कृति को प्रसिद्धि मिले।

धर्मसंघ
दुर्गाकुण्ड
वाराणसी
७-३-१९८९ ई०

डॉ० कालिका प्रसाद शुक्ल
पूर्व, आचार्य और विभागाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रास्ताविकी

प्रवृत्ति-बीज :—अष्टाध्यायी-प्रक्रियाविज्ञान की समुद्भासिका वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी के प्रारम्भिक अध्ययनकाल से ही एक उत्कट हृल्लालसा समुदित होती रही कि इसका एक परमापेक्षित प्रत्ययपरक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। उस समय कृत्, तद्धित, समासान्त एवं स्त्रीप्रत्ययों के अध्ययन क्रम में मैंने यह देखा कि प्रक्रियात्मक जाटिल्य के बिना ही ये प्रत्यय अनन्तानन्त शब्दों के निर्माण में उपादान कारण होते हुए भारतीय भाषाओं के ज्ञान में अतीव उपयोगी हैं, अतः भाषा सामान्य के अध्येता के लिए इनका अलग से अध्ययन होना चाहिए। हमें सिद्धान्तकौमुदी के माध्यम से प्रत्ययों के अध्ययन में जो दूसरी कठिनाई हुई, वह यह कि उसमें एक ही प्रत्यय को एक ही प्रकरण में कुछ व्यवधान के साथ रखकर उसके भिन्न-भिन्न अर्थों को दर्शाया गया है अर्थात् एक प्रकरण में एक प्रत्यय के सभी अर्थों एवं समग्र प्रकृतियों का एकत्र विवेचन नहीं हुआ है, जिससे पाठक के अध्ययन में व्यवधानकृत बाधा उपस्थित होती है। उक्त इन्हीं दोनों कारणों के विद्यमान रहने से तथा शब्द में प्रत्ययों का प्रधान स्थान होने से मेरी उक्त अभिलाषा दिनानुदिन समेधित होती रही, जिसे अवसर पाकर मूर्तरूप प्रदान करने के लिए 'संस्कृत के प्रत्ययों का भाषाशास्त्रीय पर्यालोचन' नामक इस ग्रन्थ के लेखन में मेरी प्रवृत्ति हुई।

समीक्ष्य शाब्दिक :—प्रकृत लेख में प्रवृत्ति करते समय दो प्रश्न बिन्दु विद्यमान थे, प्रथम इसके भाषायी माध्यम का और द्वितीय क्षेत्रविस्तार का। इनमें से प्रथम बिन्दु के समाधान में हमने राष्ट्र-भाषा को अंगीकार किया, क्योंकि प्रत्ययविषयक बहुत से विचार या तो संस्कृत के दुरूह ग्रन्थों में अथवा पारम्परिक अध्ययन की पद्धति के स्रोतस् गुरुमुख में सुरक्षित हैं, जिन्हें सर्वजन सुलभ कराने की दृष्टि से राष्ट्रभाषा ही एक सबल साधन है। यद्यपि यहाँ समास सरणि के समालम्बन के कारण भाषा यत्रकुत्रचित् कृत्रिम एवं जटिल-सी हो गयी है, तथापि यह दृढ़ विश्वास है कि एक व्याकरण के विद्यार्थी के दृष्टिकोण से उक्त स्थल दुःखबोध्य भले ही हों, किन्तु अनवबोध्य नहीं हैं।

द्वितीय बिन्दु के समाधान में हमने संस्कृत के प्रमुख छः व्याकरण ग्रन्थों तक इस अध्ययन का विस्तार किया है। यदि इसके अध्ययन क्षेत्र को केवल अष्टाध्यायी अथवा वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी तक ही सीमित रखता तो दृष्टि व्यापक नहीं होती। यद्यपि सिद्धान्त-कौमुदी का प्रत्ययपरक अध्ययन अद्यावधि मेरी दृष्टि में लक्षित नहीं हुआ है, तथापि उसकी अनेक विशद संस्कृत व हिन्दी व्याख्यायें उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रभाषा के माध्यम से संस्कृत के जो अनेक व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये हैं, वे मात्र छात्रोपयोगी, प्रधान-प्रत्ययग्राही एवं विवरणात्मक हैं। इन सब बातों को लक्षित करते हुए अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमने छः प्रमुख वैयाकरणों के दृष्टिकोणों को यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यहाँ पुनः एक जिज्ञासा का उदय स्वाभाविक है कि छः ही व्याकरणों को क्यों अधिकृत किया गया और उन्हीं को क्यों चुना गया ?

उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान में मेरा विचार है कि अष्टाध्यायी अथवा पाणिनीय प्रत्ययों को अपने अध्ययन की आधार भूमि बनाना उचित है क्योंकि पाणिनीय परम्परा में जहाँ सर्वांगीणता, स्फुटता तथा सरलता है, वहीं यह परम्परा व्याकरण की माश्हेवर धारा को प्रवाहित किये हुए अद्यापि सरस एवं निर्मल है। इसके अतिरिक्त इसकी परम्परागत जो विशेषतायें सर्वविदित हैं, तदतिरिक्त मैं प्रारम्भ से ही इसी का परम्परीण छात्र रहा हूँ। एवं च यहाँ पाणि-नीय आधार पर तुलनात्मक दृष्टिकोण से शर्ववर्मा, चन्द्रगोमी, धर्म-कीर्ति, हेमचन्द्र एवं अनुभूतिस्वरूप के मतों को आधृत किया गया है। इनमें शर्ववर्मा के कातन्त्रव्याकरण और चन्द्रगोमी के चान्द्र-व्याकरण को ऐतिहासिकों ने परम प्राचीन निरूपित किया है। परम्परा के अनुसार कातन्त्र का संबंध कुमार कार्तिकेय से जोड़ा जाता है, अतएव इसे कौमार व्याकरण भी कहते हैं, किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक के बुद्धिसंगत मत के अनुसार कुमारों=बालकों को व्याकरण का साधारण ज्ञान कराने के लिए प्रारम्भ में इस ग्रन्थ का अध्यापन होने से इसका नाम 'कुमाराणामिदं कौमारम्' पड़ा होगा। गुणाढ्य की 'बृहत् कथा' तथ सोमदेव रचित 'कथासरित् सागर' के अनुसार भी आचार्य शर्ववर्मा ने सातवाहन नृपति को पढ़ाने के

लिए इस कातन्त्र व्याकरण का प्रणयन किया था। अस्तु, इसकी रचना में कुछ भी घटना रही हो, कातन्त्र का वर्तमान स्वरूप तथा शर्ववर्मा का स्थितिकाल अवश्य ही भाष्यकार पतंजलि से भी प्राचीन है। एवंच माहेश्वर-भिन्न परम्परा का अनुगामी होने से तथा सरलता व प्राचीनता के कारण ही द्वितीय वैयाकरण के रूप में हमने यहाँ यथास्थान शर्ववर्मा के विचारों को उद्धृत किया है।

यहाँ जिस तीसरे व्याकरण ग्रन्थ का उपयोग हुआ है, वह है चन्द्रगोमी का चान्द्रव्याकरण। जैसा कि कहा गया है, आचार्य चन्द्रगोमी भी परम प्राचीन हैं। इतिहासकारों ने इनका काल ईसा पूर्व-५० वर्ष से लेकर ५०० वर्ष अथवा १००० वर्ष पूर्व तक माना है। बौद्धमतावलम्बी होने पर भी इनके व्याकरण ग्रन्थ में कहीं संप्रदाय-बद्धता दृग्गोचर नहीं होती है। इनके व्याकरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके पूर्वार्ध में प्रत्ययपरक अध्ययन प्रस्तुत हुआ है तथा उत्तरार्ध में प्रक्रिया निरूपित है। इसके अतिरिक्त इन्होंने प्रत्ययों के पाणिनीय स्वरूप को परिवर्तित नहीं किया है, प्रत्युत संक्षेप एवं सारल्य को दृष्टिगत करते हुए प्रकृतियों का संयोजन अपने अनुसार किया है। इसके साथ ही उन्होंने अपने शब्दलक्षण को सम्पूर्ण बनाने की भी प्रतिज्ञा की है।[1] यही कारण है कि वैयाकरणों ने चान्द्रव्याकरण का उल्लेख बड़ी श्रद्धा और गौरव के साथ किया है। एवंच प्रत्ययमूलक इस ग्रन्थ में चान्द्रव्याकरण को अधिकृत करने का मूलकारण इसका प्रत्ययपरक अध्ययन, प्राचीनता तथा परम प्रसिद्धि है।

यहाँ जिन छह व्याकरण ग्रन्थों का आश्रय लिया गया है, उनमें प्राचीन एवं तीन परम्पराओं के प्रतिनिधिभूत तीन व्याकरण ग्रन्थों का ऊपर उल्लेख किया गया। इनके अतिरिक्त धर्मकीर्ति के 'रूपावतार', हेमचन्द्र के 'हैमशब्दानुशासन' एवं अनुभूतिस्वरूप के 'सारस्वत व्याकरण' का भी यथास्थान उपयोग हुआ है। इन तीन प्रक्रिया ग्रन्थों का उपयोग करने में मुख्य कारण इन तीनों की

१—सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं सर्वीयं जगतोगुरुम्।
लघुविस्पष्टसम्पूर्णमुच्यते शब्दलक्षणम्॥ (चान्द्र मंगलाचरण)

अपनी कुछ विशेषतायें हैं। जैसे—'रूपावतार' अष्टाध्यायी पर लिखित प्रथम प्रक्रिया ग्रन्थ है तो हैमशब्दानुशासन में पाणिनीय से भिन्न परम्परा का परिपालन दृग्गोचर होता है। हैमशब्दानुशासन की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें शब्दलक्षण की सम्पूर्णता के साथ-साथ प्रत्ययविधान में एक सुव्यवस्थित क्रम विद्यमान है, जो सिद्धान्तकौमुदी से इसका किंचित् पार्थक्य स्थापित करता है। हेमचन्द्र जब किसी एक प्रत्यय का व्याख्यान करते हैं तो यथासंभव उसकी सभी प्रवृत्तियों को कह देना चाहते हैं। परन्तु इस प्रक्रिया को वे सभी प्रत्ययों के व्याख्यान में नहीं अपना पाये हैं। मेरी दृष्टि में दूसरी सबसे बड़ी न्यूनता यह है कि अनुबन्धों का आश्रयण करके भी हेमचन्द्र उन सभी प्रयोजनों का प्रकथन नहीं कर सके हैं, जिनका अनुसीवन महर्षि पाणिनि ने अपने अनुबन्धों में किया है। इस एकांगिता के कारण ही हैमशब्दानुशासन सम्प्रदायविशेष में पिहित रह गया। तीसरे प्रक्रिया ग्रन्थ 'सारस्वत व्याकरण' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ वह छात्रोपयोगी है, वहीं जटिलता से सर्वथा दूर, प्रकरणों में सुविभक्त एवं सरलतम भी है। उसके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वह सर्वजनहिताय एवं सकलबुद्धि अवगाह्य है। कोई साहित्य का छात्र हो अथवा ज्योतिष का, यदि उसे सारस्वत की तद्धित और कृत् की प्रक्रिया समझा दी जाय तो मेरी दृढ धारणा है कि वह उसे कथमपि विस्मृत नहीं कर सकेगा। यही कारण है कि उसके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा आज तक सुरक्षित रही है।

उपरि संक्षेप में निर्दिष्ट कतिपय विशेषताओं के कारण ही हमने अपने इस ग्रन्थ में पूर्वोक्त तीन व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त इन तीन प्रक्रिया ग्रन्थों के मन्तव्यों का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। ऊपर शर्ववर्मा एवं चन्द्रगोमी के स्थितिकाल की अतिसंक्षेप से चर्चा हुई है। उसी क्रम में हम कह सकते हैं कि आचार्य धर्मकीर्ति ईशा की ११वीं शती के अन्त में विद्यमान रहे होंगे।

जहाँ तक आचार्य हेमचन्द्र के स्थितिकाल का प्रश्न है, वह सर्वथा निश्चित है और उस पर सभी ऐतिहासिक विद्वान् एकमत हैं। मोढ वणिक् जातीय 'चाचिग' अथवा 'चाच' से माता 'पाहिनी'

में इनका जन्म अहमदाबाद जिले के धन्धुका नामक स्थान पर १०८९ ई० में हुआ था। विद्याध्ययन के उपरान्त उन्होंने ११०९ ई० में जैन आचार्य पद की प्राप्ति की तथा चौरासी वर्ष की आयु पूरी कर सन् ११७३ ई० में स्वर्गारोहण किया। हमारे अन्तिम वैयाकरण अनुभूतिस्वरूपाचार्य के स्थिति काल के विषय में ऐतिहासिकों ने यद्यपि कोई निश्चित वर्ष निर्दिष्ट नहीं किया है, तथापि मोटे तौर पर उन्हें १३वीं-१४वीं शताब्दी के मध्य माना है। किंच ऐतिह्यविदों के अनुसार सारस्वत व्याकरण के मूलप्रणेता का नाम नरेन्द्र अथवा नरेन्द्राचार्य था। किन्तु इस व्याकरण का जो वर्तमान स्वरूप उपलब्ध है, उसके रचयिता अनुभूतिस्वरूपाचार्य ही हैं।

एतावता शब्दप्रपंच से 'समीक्ष्य शाब्दिक' नामक सन्दर्भ के अन्तर्गत हमने उन छह व्याकरण ग्रन्थों की कुछ विशेषताओं एवं उनके रचयिता वैयाकरणों के स्थितिकाल पर अत्यन्त सामान्य निर्देश किया है जिनका उपयोग इस ग्रन्थ में हुआ है। एवंच इस कथन से यह समाधान भी हो जाना चाहिए कि प्रकृत ग्रन्थ में इतने और इन्हीं वैयाकरणों के विचारों का समावेश क्यों किया है।

ग्रन्थ क्रम : गुरु परम्परा एवं टीका ग्रन्थों में कहा गया है कि भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में अवरोहक्रम से संस्कृत व्याकरण का निरूपण किया है अर्थात् उन्होंने वाक्यस्फोट के अवबोध में सहायक संधियों से अपने ग्रन्थ को प्रारम्भ करके वर्णस्फोट के अभिव्यंजक कृत् प्रत्ययों के निरूपण से परिपूर्ण किया है। किन्तु इस ग्रन्थ में एक भिन्न दृष्टि का अवलम्बन हुआ है। इसके प्रथम भूमिकास्तबक में प्रत्यय पद का निर्वचन करने के लिए उसमें समागत उपसर्ग और धातु के विषय में सामान्य विचार प्रस्तुत हैं तथा तदुपरान्त प्रत्यय के विषय में सामान्य एवं संदर्भित तथ्यों की बात हुई है।

द्वितीयस्तबक में उन विभक्ति प्रत्ययों का विवेचन हुआ है, जो वाक्यगत पदों के परस्परान्वय के बोधक हैं। प्रत्यय स्वरूप के ज्ञानानन्तर उसके अर्थ के विषय में जिज्ञासा अवश्यंभाविनी है, अतः प्रत्येक विभक्ति के उपरान्त उसके वाच्य या द्योत्य अर्थों को सप्रमाण निरूपित किया गया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि सुप्

विभक्तियों से तिङ विभक्तियों में अपेक्षाकृत् अधिक समाससरणि का समाश्रयण हुआ है। परन्तु यह तथ्य अवधेय है, हमारा मुख्य उद्देश्य प्रत्यय स्वरूपों, उनकी प्रकृतियों एवं उनके बोध्य अर्थों के प्रतिपादन तक ही सीमित रहा है। पुनरपि यथास्थान अपेक्षित प्रक्रियांशों को छोड़ा नहीं गया है।

तृतीयस्तबक में हमने उन सभी सार्थक प्रत्ययों को क्रोडीकृत किया है, जो सुप् या तिङ विभक्त्यन्त प्रकृतियों से विहित होते हैं। यही कारण है कि नामधातु प्रत्ययों एवं णिच्, सन् व यङ प्रत्ययों का निरूपण इसी स्तबक में किया गया है। नामधातु प्रत्यय जहाँ सुबन्त प्रकृति से विहित होते हैं, वहीं णिच् आदि अर्थबोधन में समर्थ तिङन्त प्रकृति से पर में देखे जाते हैं। एवंच इस स्तबक के प्रत्ययों के प्रतिपादन में हमारा मुख्य ध्यान प्रकृति की समानरूपता पर केन्द्रित रहा है। यहाँ स्मरणीय है कि सार्थक तद्धित प्रत्ययों की राशि बहुत विशाल है। इस लघुकाय ग्रन्थ में उन्हें प्रस्तुत करने का सबसे सरल और सबल माध्यम सम्भव है–"अनुक्रमणी"। अतः इस स्तबक में सार्थक तद्धिक प्रत्ययों की एक विवरणात्मक सूची का अभिनव प्रयोग हुआ है।

चतुर्थस्तबक में भी प्रकृति की समरूपता को दृष्टिगत करते हुई हमने प्रातिपदिक प्रकृति से विहित होने वाले शेष तद्धितों एवं स्त्रीप्रत्ययों को सूची के माध्यम से निरूपित किया है। अवश्य ही यह सूची सार्थक तद्धितों की तालिका की अपेक्षा सरल है। इस के अतिरिक्त अपेक्षित प्रक्रिया भाग एवं अन्य तथ्यों को भी यथास्थान अभिव्यक्त किया गया है। धातु प्रकृति से विहित होने वाले कृत् प्रत्ययों का विवेचन इस ग्रन्थ के पाँचवें स्तबक में प्रस्तुत हुआ है। इस निरूपण में यद्यपि सूची का समालम्बन नहीं हुआ है, तथापि प्रत्ययों का क्रम देवनागरी के वर्णानुक्रम से ही निर्धारित किया गया है। इन पाँचों स्तबकों के अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट भाग का भी संग्रन्थन किया गया है। इस भाग में विभिन्न आचार्यों से निर्धारित प्रत्ययस्वरूपों की एक तुलनात्मक तालिका और संदर्भित गणों की वर्णानुक्रम गणपाठसूची संलग्न की गयी है। इस सम्पूर्ण निरूपण में मेरा यह प्रधान लक्ष्य रहा है कि लौकिक संस्कृत के सभी

प्रत्ययों, उनकी सभी अर्थ-प्रवृत्तियों कथा उनकी समग्र प्रकृतियों का एकत्र समाहरण हो जाय।

उपादेयता :—यद्यपि इस शीर्षक पर पृथक् से कुछ कहना बहुत आवश्यक नहीं है। इस ग्रन्थ के लेखन में प्रवृत्ति का कारण तथा इसका प्रतिपाद्य विषय पहले स्पष्ट कर दिया गया है, अतः शास्त्र में 'अभिधा' की महत्ता को व्यक्त करने के लिए यहाँ भी दो शब्द कहना उपयुक्त है। यह सर्वविदित तथ्य है कि संस्कृत भाषा के नियम व्यवस्थित एवं व्यापक हैं। उसमें भी प्रकृति से प्रत्यय का संयोग और उससे परिनिष्ठित रूप की निष्पत्ति यन्त्रवत् है। यही कारण है कि आज कम्प्यूटर यन्त्र के वैज्ञानिक यह स्वीकार करने को बाध्य हैं कि संस्कृत भाषा यान्त्रिक प्रयोग हेतु उपयुक्ततम है। आजकल संस्कृत के प्रत्ययों के संयोग से रूपनिष्पत्ति के प्रयोग चल भी रहे हैं। मुझे आशा है कि इस प्रकार के अभिनव प्रयोग में यह ग्रन्थ तथा इसमें प्रयुक्त प्रत्ययों की विवरणात्मक सूची सहायक हो सकती है।

दूसरी बात यह है कि संस्कृत व्याकरण का प्रत्ययपरक अध्ययन अद्यावधि दृष्ट या बहुश्रुत नहीं है। इस प्रकार के अध्ययन में यह ग्रन्थ प्रेरक और सहायक हो सकता है। इसमें यदि संस्कृत व्याकरण का विवरण है तो समीक्षण को छोड़ा नहीं गया है। कहीं पर सैद्धान्तिक बीज का पल्लवन प्रतिफलित है तो अन्यत्र विवृतियों का समाहरण परिकल्पित है। एवञ्च इसके अध्ययन से संस्कृत के सभी प्रत्यय और उनके अर्थ, समग्र प्रकृति और सामान्य प्रक्रिया तथा प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थों में व्याख्यात प्रत्ययस्वरूप और उनकी सामान्य विशेषता से एकत्र परिचय प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह ग्रन्थ अपेक्षाकृत ऐसे अधिसंख्य जनों का उपकारक होगा, जो राष्ट्रभाषा में गहरी पैठ रखते हुए भी संस्कृतभाषा के प्रौढ पाण्डित्य से वंचित हैं, परन्तु उसकी संप्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। वस्तुतः उक्त समस्त कथन की सिद्धि विज्ञ पाठक एवं सुधी बुध जनों पर निर्भर है। वे ही इसके परीक्षक हैं और भावी मार्गदर्शक भी।

कृतवेदिता : इस समय अपनी कृति को साकार होते देखकर एक सुखद अनुभूति और मनस्तोषजन्य समुल्लास स्फुटित हो रहा है। निश्चय ही इस आकार के आविर्भावन में प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से गुरुजनों मित्रों एवं हितैषियों की अहैतुकी कृपा, अकामा मैत्री व शुभाशंसा अभ्यञ्जन रही है। मेरे गुरुजनों की पंक्ति में प्रमुख हैं—दिवंगत विद्यावाचस्पति पं० विद्याधर शास्त्री, नागरी भण्डार बीकानेर और पं० भूपेन्द्रपति त्रिपाठी, सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी-इलाहाबाद तथा वर्तमान में परमपूजनीय डॉ० कालिका प्रसाद शुक्ल और डॉ० विद्या निवास मिश्र, वाराणसी। सर्वप्रथम मैं इन गुरुजनों के चारु चरणों में श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिनका साक्षात् निःस्वार्थ सहयोग रहा है, वे हैं—डॉ० शिवकुमार चतुर्वेदी, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, उदारमना बाबू गोविन्द सरन दास, अरविन्द प्रिण्टर्स, इलाहाबाद और प्रिय विद्यार्थी प्रदीप कुमार मिश्र केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, लखनऊ। इनमें डा० चतुर्वेदी ने सावधान प्रूफ संशोधन के द्वारा, बाबू दास जी ने मुद्रण का भार उठाकर और प्रिय विद्यार्थी ने लिपिबद्धता करके इस कार्य को यथाशीघ्र सम्भव किया है, अन्यथा इसका कब योग बनता, यह कल्पनीय होता। अतः मैं इनका आभार हृदय से स्वीकार करता हूँ और इन्हें धन्यवाद देता हूँ।

इस सारस्वत-क्रतु की पूर्णाहुति में विशेष यजमान है—भारत सरकार, मानवसंसाधन विकास मन्त्रालय, जिसकी दक्षिणा के फलस्वरूप इस महान् शब्द-वृषभ का प्रादुर्भाव हुआ है। अतः उसके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इस अवसर पर मैं उन सभी दिवंगत और वर्तमान विद्वज्जनों के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिनकी अमूल्य कृतियों के अध्ययन से यह महनीय शब्द-संचय सम्पन्न हो सका है।

लखनऊ
वसन्त पञ्चमी, २०४५ विक्रमी
१०-२-१९८९ ई०

विनयावनत—
डा० आजाद मिश्र 'मधुकर'

संकेत सूची

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त संक्षिप्ताक्षरों से विवक्षित पूर्ण ग्रन्थनाम अधोनिर्दिष्ट हैं—

क्र० सं०	संक्षिप्ताक्षर	विवक्षित पुस्तक
१.	ऋग्०	ऋग्वेद मण्डल, सूक्त, मंत्र
२.	ऋग्० अ० अ० व०	ऋग्वेद, अष्टक, अध्याय, वर्ग
३.	का०	कातन्त्र व्याकरण
४.	ग० सू०	गण सूत्र
५.	चान्द्र०	चान्द्रव्याकरण
६.	डॉ० भो० शं०	डॉ० भोला शंकर व्यास
७.	दीक्षित	भट्टोजि दीक्षित
८.	न्यास	काशिका विवरण पंजिका
९.	प० आ०	पस्पशाह्निक
१०.	पा० सू०	पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रपाठ अध्याय, पाद, सूत्र संख्या। जहाँ एक ही क्रम में अनेक सूत्रों का उल्लेख हुआ है, वहाँ अध्याय अथवा पाद समान होने पर सूत्र संख्या को (,) इस चिह्न के उपरान्त अंकित किया गया है तथा जहाँ सूत्र के अध्याय अथवा पाद पूर्ववर्ती सूत्र से भिन्न हैं, वहाँ (;) या (:) चिह्न के उपरान्त उस सूत्र के अध्याय पाद एवं संख्या का अंकन किया गया है।

११.	भा० वि० भो० ना०	भाषा विज्ञान, डॉ० भोला नाथ
१२.	महाभाष्य	पातंजल महाभाष्य अध्याय पाद एवं सूत्र संख्या
१३.	यास्क निरूक्त	निरुक्त अध्याय एवं मन्त्र
१४.	ल० श० शे०	लघु शब्देन्दु शेखर
१५.	वा०	वाक्यपदीय अथवा वार्तिक
१६.	वा० प० ब्र० का०	वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड
१७.	वाक्यपदीय हरिवृत्ति	वाक्यपदीय कारिका की स्वोपज्ञ टीका
१८.	वि०	विक्रमी संवत्
१९.	वैया० सि० कौ०	वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी
२०.	वैया० भू० सा०	वैयाकरण भूषण सार
२१.	श० श० प्र०	शब्द शक्ति प्रकाशिका
२२.	सं०	सम्पादन, सम्पादित, संख्या, संस्कृत
२३.	सं० भा० शा० अ०	संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन
२४.	सं० व्या०	संस्कृत व्याकरण
२५.	सं० सा०	संस्कृत साहित्य
२६.	सा० भा० वि०	सामान्य भाषा विज्ञान
२७.	सार०	सारस्वत व्याकरण
२८.	हेम०	सिद्धहेमशब्दानुशासन
२९.	√	धातु संकेत चिह्न

———

विषयानुक्रम

प्रथम स्तबक : पूर्वपीठिका

(क) विषय-प्रवर्तन

सिद्ध शब्दशास्त्र का आविर्भाव

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा,
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा वद्धो वृषभो रोरवीत,
महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।
—ऋ०वे० ४/५८/३

भाषाशास्त्रीय नियमों से आबद्ध शब्द-वृषभ का मर्त्यलोक में आविर्भाव प्रतिकल्प प्रतिनियत है। अनादिकाल से सृष्टि का प्रवाह अविछिन्न गति से सतत प्रवहमान है। इसमें पूर्वकल्प के समान ही अनागत कल्प की भी सृष्टि होती है।[1] इस सृष्टि-प्रवाह की प्रतिनियत नित्यता के कारण ही भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तकों ने शब्द, अर्थ,

---

1—"धाता यथापूर्वमकल्पयत्"—ऋग्०, अ० ८, अ० ८ व ४८,

शब्दार्थ सम्बन्ध एवं व्याकरण को नित्य माना है।[1] परन्तु यहाँ शब्द में ध्वनि के उत्पाद-विनाश का आरोप करके शब्द का कल्पित अनित्यत्व सुतरां सबको इष्ट ही है।

भाषा अपने विकसित रूप में हो या प्रारम्भिक रूप में, उसमें अव्याकृत-व्याकरण तत्त्व अर्थात् ध्वनि, रूप, सम्बन्ध और अर्थतत्त्व अव्याख्यात होकर अवश्यमेव अनुस्यूत रहते हैं, अन्यथा उस भाषा से बोद्धा तक हमारे विचारों का सम्प्रेषण ही असम्भव होगा और ऐसी स्थिति में भाषा अपने असाधारण-लक्षण 'विचार-वाहनत्व' से च्युत होकर अभाषा हो जाएगी। किंच इंगितादि प्रकारों में भी अर्थतत्त्व और सम्बन्ध तत्त्वादि भाषाशास्त्रीय नियम रहते ही हैं, अन्यथा उनके प्रयोग की वैयर्थ्यापत्ति सुतरां समागत है। हाँ, इतना निश्चित है कि वे अव्याकृत भाषाशास्त्रीय नियम भाषा की प्रारम्भिक अवस्था में पृथक् व्याख्यात या लिपिवद्ध नहीं होते। इन नियमों की व्याकृति तो भाषा के विकसित हो जाने पर ही होती है, इसलिए कहा जाता है कि पहले भाषा और उसके पश्चात् उसका व्याकरण। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि प्रारम्भिक दशा में अव्याकृत भाषाशास्त्रीय नियमों की सत्ता ही खपुष्पायित है।[2]

ऋग्वेद के उक्त मंत्र का यह संक्षिप्त आशय है। इसी प्रकार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म बहुमुखी विवेचनों से परिपूर्ण वैदिक वाङ्मय ऐतिहासिकों की गणना में विश्व का सर्वप्राचीन आदि साहित्य माना जाता है।[3] इस साहित्य की भाषा को 'वैदिक संस्कृत' शब्द से

१—"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे"—महाभाष्य प०आ०

२ विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः,
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कार हेतवः ॥
तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम्,
आश्रित्यारभ्यते शिष्टैःशब्दानामनुशासनम् ॥
नानर्थिकामिमां कश्चिद् व्यवस्थां कर्तुमर्हति,
तस्मान्निबध्यते नित्या साधुत्वविषया स्मृतिः ॥
—वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड २६।१०।४३

३—"संस्कृत भाषेयं सर्वास्वपि विश्वभाषासु प्राचीनतमा"
—सं० सा० विमर्शः, परिच्छेद १, पृ० १
"ये संसार के सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ हैं—सं० सा० का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, १९६८ ई०; पृ० २३

अभिहित किया जाता है जिसे आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने विश्व में वर्तमान परस्सहस्राधिक भाषाओं की तुलनात्मक समीक्षा करने के उपरान्त ध्वनितत्त्व और अर्थतत्त्व के आधार पर संकलित पारिवारिक वर्गीकरण के अन्तर्गत 'भारोपीय परिवार' की प्रधान भाषा स्वीकार किया है।[1]

संस्कृत भाषा—इस वैदिक संस्कृत का ही परवर्ती विकसित रूप 'लौकिक संस्कृत' है, जो तत्कालीन समाज में व्यवहृत, बोल-चाल की भाषा थी। अतएव वैदिक संस्कृत से इसका पार्थक्य प्रकट करने के लिये परवर्ती पाणिनि प्रभृति मुख्य वैयाकरणों ने इसे 'भाषा' नाम से सम्बोधित किया है, 'भाष्यते इति भाषा'। जब जन-सामान्य के बोल-चाल में अपभ्रंश भाषाओं का प्रवेश हो गया तब उनसे पाणिनि की भाषा को पृथक् करने के लिए 'संस्कृत' शब्द का प्रचलन हुआ। उस समय अपभ्रंश भाषा वह कहलाई जिसके शब्द प्रकृति-प्रत्यय-विभाग से विनिर्मुक्त थे।[2] एक तरह से वे शब्द असंकृत थे। जिन शब्दों को प्रकृति-प्रत्यय के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता था वे ही संस्कृत शब्द थे और ऐसे शब्दों से गठित भाषा संस्कृत भाषा थी। स्वयं संस्कृत शब्द का ही अर्थ है—संस्कार किया हुआ। यास्क ने संस्कार शब्द का उल्लेख किया है।[3] बहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि संस्कृत का अर्थ शुद्ध की हुई भाषा है, किन्तु यह उनका भ्रम है, जैसाकि आचार्य भर्तृहरि[4] और वृषभ[5] के कथनों से परिस्फुट है, प्रकृति-प्रत्ययात्मक संस्कार से उपहित होने के कारण

१—"संस्कृत भाषा भारत-यूरोपीय अथवा भारत-जर्मनीय परिवार की प्रमुख भाषाओं में है"—सं० भा० शा० अ०, डॉ० भो० शं० व्यास, १९७१ ई०, पृ० ३४

२—"अपभ्रंश शब्दों को प्रकृति-प्रत्यय के झमेलों में डालने की आवश्यकता प्रारम्भ में नहीं थी"—सं० व्या० दर्शन, डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी; १९७२ ई०, पृ० ५०

३—"संस्कृत्य संस्कृत्य पदानि उत्सृज्यन्ते—महाभाष्य १।१।१

४—"शब्दब्रह्मणो हि स्वरूपसंस्कारः साधुत्वप्रतिपत्त्यर्थः"—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।११।

५—"न विशिष्टोत्पत्तिरत्र संस्कारः, अपितु प्रकृतिप्रत्ययादिविभागान्वाख्यानम्"—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृ० १९३

ही इस भाषा को संस्कृत कहते हैं। कविकुलगुरु कालिदास ने भी संस्कृत के लिए कुमारसंभव महाकाव्य के प्रथम सर्ग के अट्ठाईसवें श्लोक में 'संस्कारवत्येव गिरा' शब्द का प्रयोग किया है जिसकी टीका में मल्लिनाथ ने लिखा है—'संस्कारो व्याकरणजन्या शुद्धिः।' संस्कृत शब्द का भाषा के अर्थ में व्यवहार वाल्मीकि-रामायण में हुआ है[1] साथ ही वहाँ संस्कृत से इतर भाषा का भी संकेत है। पतंजलि के समय में प्राकृत भाषा जन-सामान्य के बोलचाल में आ गई थी।[2] भर्तृहरि के समय तक संस्कृत लोक-जीवन से दूर जा पड़ी थी, इसलिए यह 'दैवी वाक्' मान ली गई।[3]

महत्त्व :—लोकजीवन से दूर होने पर भी संस्कृत नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठानों की संवाहिक रही है, अर्थात् आज तक लोकजीवन संस्कृत से सर्वथा अछूता नहीं रहा है प्रत्युत् समाज ने इसे सर्वथा श्रद्धा एवं समादर की दृष्टि से देखा है। फलतः महर्षि पाणिनि के अनुसूत्र कूलों में आबद्ध, अविरल प्रवाहित, अन्तःसलिला सरस्वतीव संस्कृत आज भी भाषा वैज्ञानिकों के लिए गवेषणा एवं प्रेरणा का अक्षय स्रोत है। किंच यह भाषाशास्त्र का अनन्यतम उपादान है, यह कथन अतिरंजित नहीं है, क्योंकि यूरोपीय भाषाशास्त्रियों ने इसका परिचय पाकर अपने विचारों में कान्तिकारी परिवर्तन किया और तुलनात्मक भाषाविज्ञान को जीवन्त भूमिका प्रदान की। १८वीं शती के अन्त से लेकर आज तक भाषाशास्त्र का इतिहास संस्कृत के अध्ययन से अनुस्यूत रहा है। भाषाशास्त्र के इतिहास को समझने के लिए संस्कृत का ज्ञान परमावश्यक हो जाता है। सन् १७८६ ईस्वी

१—"वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।
यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिवसंस्कृताम्,
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।"
—वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, सर्ग, ३० श्लोक १७-१८,
गीताप्रेस प्र०, सं० २०२०

२—"लोके हि कृष्यर्थे किसिं प्रयुज्यते दृश्यर्थे च दिसिम्"
—महाभाष्य १।२।३

३—"दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः।
अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्ययः—वाक्यपदीय १।१५५

में सर जान्स के ये शब्द निश्चय ही पूर्वाग्रह से रहित, संस्कृत की विशेषता को उजागर करने वाले तुलनात्मक भाषाशास्त्र के उदय के बीज हैं :

'संस्कृत भाषा की पदरचना अत्यधिक अद्भूत है, चाहे उसका मूल उद्गम कुछ भी रहा हो। यह भाषा ग्रीक से भी अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक समृद्ध तथा दोनों से अधिक परिष्कृत है, इतना होते हुए भी यह उन दोनों से क्रियाओं के मूल रूपों (धातुओं) तथा व्याकरण के रूपों की दृष्टि से घनिष्ठतया सम्बद्ध है।'[1]

संस्कृत भाषा की पद-रचना की यह विशेषता तपःपूत अमलात्मा वैयाकरणों की चिरन्तन शब्द ब्रह्म साधना का चिरस्थायी प्रतिफल है जो पाणिनीय व्याकरण के रूप में हमारे समक्ष मूर्त्तिमान् है। शब्द के लघु से लघुतम रूप की सार्थक संकल्पना एवं प्रत्यय-सम्प्रयोग से व्यवस्थित पद-पदार्थ का सम्यग् अवबोधन हो इसकी सर्वदेशकालाबाधित वैज्ञानिकता और अमरता है।

प्रतिपाद्य विषय—जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत का संस्कृतत्व प्रकृति-प्रत्यय-विज्ञान पर ही आधारित है। पाणिनीय परम्परा की भित्ति पर इसी प्रत्यय-विज्ञान के बहुशः विवरणात्मक तथा कुत्रचित् तुलनात्मक शब्द-चित्रों के आलेखन हेतु संस्कृत के प्रत्ययों का भाषाशास्त्रीय पर्यालोचन नामक प्रकृत शब्द समारम्भ है। इसमें हम उन वैदिक प्रत्ययों का निरूपण नहीं करेंगे, जो केवल वैदिक वाङमय में उपलब्ध हैं। यद्यपि उनकी संख्या है नगण्य, पुनरपि प्रारीप्सित प्रबन्ध में वे अनवसरवचन किंवा अनाख्येय हैं। एवमेव उणादि प्रत्ययों को भी विवेच्य कोटि से बहिर्भूत ही रखा गया है। इसमें कारण का उल्लेख यथास्थान निबद्ध है। इसके अतिरिक्त संस्कृत भाषाशास्त्रियों से प्रतिपादित प्रत्ययों के प्ररूपण-क्रम में, अर्थ-विज्ञान के साथ-साथ उनकी प्रकृति तथा तन्निष्ठ ध्वनि परिवर्तन पर भी यथाशक्य अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा।

प्रत्यय पद की व्युत्पत्ति—प्रति उपसर्गक इण् (गतौ) धातु से प्रत्ययनमिति प्रत्ययः, प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययः, प्रत्येतीति वा प्रत्ययः,

---

१—"संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, डॉ० भो० शं० व्यास, १६७१ ई०; आमुख से उद्धृत

इत्यादि विग्रह करने पर क्रमशः भाव, करण तथा कर्ता आदि अर्थों में 'एरच्' (पा० सू० ३।३।५८); 'पुंति संज्ञायां घः प्रयेण' (पा० सू० ३।३।११८); या पचाद्यच् (पा० सू० ३।३।१३४) सूत्र से 'अच्' या 'घ' प्रत्यय करने पर 'प्रत्यय' शब्द की सिद्धि होती है। इस प्रकार 'प्रति+इ+अ' इन तीन शाब्दिक इकाइयों के संयोग से 'प्रत्यय' रूप निष्पन्न हुआ है। इनमें प्रथम सार्थक इकाई उपसर्ग है। अतः पहले इसी के स्वरूप और अर्थ पर किंचित् चर्चा करली जाय।

(ख) उपसर्ग और निपात

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' (ऋग्० १।१६४।४५, यास्क निरुक्त १३/६ परिशिष्ट) मंत्र की व्याख्या के अनुसार वैयाकरणों ने शब्दों के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार भेद माने हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी इसकी पुष्टि की है।[1] उनमें नाम और आख्यात जहाँ वाक्य में स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होते हैं तथा अर्थ के साक्षात् वाचक हैं, वहीं निपात तथा उपसर्ग परतन्त्र[2] हैं और अर्थ के साक्षात् वाचक नहीं द्योतक हैं। निपात और उपसर्ग सर्वदा नाम और आख्यात के विशेषण रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। निपात और उपसर्ग में परस्पर पार्थक्य यह है कि निपात नाम और आख्यात दोनों को विशेषित करते हैं तथा उपसर्ग केवल आख्यात के विशेष अर्थ को प्रगट करते हैं।

पदों के उपर्युक्त चार प्रकारों के अतिरिक्त कर्मप्रवचनीय नामक एक पाँचवाँ प्रकार भी कतिपय वैयाकरणों से मान्य है। परन्तु वस्तुतः "प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ् (आ), नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप' ये बाईस प्रादि शब्द ही निपात, उपसर्ग, गति और कर्मप्रवचनीय नामों से अभिहित होते आये हैं। अतः उपर्युक्त चार के अतिरिक्त भेदों का औचित्य सर्वथा असंगत प्रतीत होता है।

१—"चत्वारि पदजातानि, नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च"
—महाभाष्य, प्र० भाग, पृ० ३, कीलहार्न संस्करण

२—"......परतन्त्रास्तु चादयः"
—वाक्यपदीय २।१६८, पृ०-१६२, बनारस प्रका०, सन् १८८७

यहाँ विशेष बात यह है कि इन बाईस प्रादियों के अतिरिक्त चादिगण में पठित डेढ़ सौ से अधिक चादि शब्द भी निपात कहे जाते हैं।[1] उक्त सभी निपातों के व्याकरण-शास्त्र एवं कोशों में अनेक अर्थ निर्दिष्ट हैं। महर्षि यास्क ने भी निपात संज्ञा को सार्थक मानते हुए कहा है, अथ निपाताः 'उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति।[2] इस व्युत्पत्ति से निपातों का 'अनेकार्थाभिधान' साधारण-लक्षण प्रतीत होता है। किन्तु यह लक्षण सत्त्वाभिधायी 'हरि, सैन्धव' प्रभृति नानार्थक नाम शब्दों में भी घटित हो सकता है, अतः महर्षि पाणिनि ने इनका निर्दिष्ट लक्षण निरूपित किया, 'चादयोऽसत्त्वे'' प्रादयः' (१।४।५७।५८) अर्थात् चादि एवं प्रादिगण में पठित शब्द अद्रव्यार्थक होने पर निपात हैं। द्रव्यार्थक की तो चादिगण पठित होने पर भी निपात संज्ञा नहीं होती है। जैसे 'पशु' शब्द चादिगण पठित है, किन्तु इसमें लिंग संख्या और कारकादि की अन्विति होने पर जब यह चतुष्पाद जाति का बोधक होगा तब इसकी निपात संज्ञा नहीं होगी तथा जब लिंग संख्यादि से अनन्वित विशेषण अर्थ 'सम्यक्' का बोधक होगा तब इसकी निपात संज्ञा होगी। ऋग्वेद में इसका प्रयोग अवलोकनीय है—लोध्रं नयन्ति पशु मन्यमानाः।[3] इस मन्त्र में प्रयुक्त 'पशु' शब्द निपात है, क्योंकि वह आद्युदात्त है।[4]

अन्तर : निपात से उपसर्ग का भेद केवल इतना है कि धात्वर्थ क्रिया से सम्बद्ध प्रादि शब्द उपसर्ग कहे जाते हैं[5], जबकि निपात-प्रादि एवं चादि गण पठित वे शब्द हैं, जिनका क्रिया अथवा नामार्थ से भी सम्बन्ध रहता है। एवंच निपात और उपसर्ग में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध माना जा सकता है। दोनों ही अद्रव्यार्थक हैं तथा परिगणित हैं। दोनों ही सार्थक, अनेकार्थक, विरुद्धार्थक एवं निरथक

१—द्रष्टव्य—चादिगण, सिद्धान्तकौमुदी, भाग १, अव्ययप्रकरण, चौखम्बा प्रका०, सन् १९४८

२—निरुक्त १।४, पृ० ६५, इण्डोलाजिकल बुक हाउस प्रका०, सन् १९७२

३—ऋग्०, मण्डल ३, सूत्र ३३, मन्त्र २३। "पशु इति निपातः" (सायण), "पशु सम्यगर्थे"—सि० कौ० बालमनोरमा, पृ० ३३४, चौखम्बा प्र०

४—"निपाता आद्युदात्तः" (फिट् सूत्र ४।८०)

५—"उपसर्गाः क्रियायोगे" पा० सू० १।४।४९

(पादपूर्त्यर्थक) हैं। उपसर्ग संज्ञा भी सार्थक है, उप सामीप्यसंबन्धेन सृज्यते वोध्यतेऽनेनेति उपसर्गः। प्रधानरूप से शब्दों की सर्जना धातु से होती है, किन्तु इस शब्द-सृष्टि में उपसर्गों का योगदान कहीं कम नहीं है, अतः गौण रूप से शब्दों की सृष्टि करने के कारण ये उपसर्ग हैं अथवा संस्कृत व्याकरण में धातु-प्रधान सर्ग हैं तथा ये गौण सर्ग। इस प्रकार 'उपसर्ग' शब्द की व्युत्पत्ति के अनेक प्रकार सम्भव हैं, परन्तु भाषाशास्त्र में महर्षि पाणिनि के द्वारा निरूपित निपात और उपसर्ग लक्षण ही इनका प्रवृति निमित्त है, परवर्त्ती संस्कृत वैयाकरणों को वही मान्य है।

सम्बन्ध—उपसर्ग का क्रिया के साथ अथवा निपात का क्रिया और नामार्थ के साथ जो सम्वन्ध होता है वह अर्थद्वारक होता है[1] जिसका विशेष स्वरूप है—विशेष्य विशेषण भाव। इस संयोग के अनन्तर प्रायः अर्थ-परिवर्तन देखा जाता है :

उपसर्गेण धात्वर्थो वलादन्यत्र नीयते ।
गंगासलिलमाधुर्यं सागरेण यथाम्भसा ॥[2]

चन्द्रकीर्ति की इस कारिका से भर्तृहरि की यह कारिका कहीं अधिक सारगर्भित व परिपूर्ण है :

उपसर्गेण धात्वर्थो वलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥

एक ही धातु से अनेक क्रिया का वोध उपसर्ग और निपात की महिमा से होता है। सत्तार्थक 'भू' धातु से ही प्रभवति, पराभवति, संभवति, अनुभवति, अभिभवति, उद्भवति, परिभवति, साक्षाद्भवति इत्यादि विलक्षणार्थ की अवगति प्रसिद्ध है। अर्थ-परिवर्तन के अतिरिक्त उपसर्ग और निपात की अन्य अवान्तर प्रवृत्तियाँ भी परिलक्षित होती हैं।[4]

१—"अर्थद्वारकश्च तेषां सम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावलक्षणः"

—न्यास १-३-१८

२—चन्द्रकीर्ति माध्यमिक कारिका टीका, पृ० ५

३—वाक्यपदीय, उद्धृत सि० कौ०, उत्तरार्ध, पृ० ४७, मोतीलाल बनारसी दास प्र०, १९६५ ई०

४—द्रष्टव्य संस्कृत व्याकरण दर्शन, डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी

प्रवृत्तियाँ :—निपात और उपसर्ग की अनेक प्रकार की रूपीय व अर्थमूलक प्रवृत्तियाँ शास्त्र में वर्णित हैं। महर्षि पाणिनि ने अड़तालीस सूत्रों के द्वारा उपसर्ग संज्ञा प्रयुक्त षत्व, णत्व और प्रत्यय विधानादि कार्यों का निर्देश किया है। यहाँ यह भी अवधेय है कि षत्व तथा णत्व के विधान में क्रिया से युक्त होने पर भी प्रादिगण पठित 'दुर्' शब्द की उपसर्ग संज्ञा नहीं होती है तथा प्रादिगण में पठित न होने पर भी 'अन्तर्' अव्यय शब्द की अङ् प्रत्यय कि प्रत्यय तथा णत्व विधान में उपसर्ग संज्ञा होती है।[1] अतएव अन्तर्धा, अन्तर्धि और अन्तर्भवाणि शब्द व्याकरण के दृष्टिकोण से भी साधु हैं। एवमेव दुःस्थिति, दुःस्थ और दुर्भवानि में उपसर्ग निमित्तक षत्व-णत्व की प्रवृत्ति नहीं होती है। निपात संज्ञा प्रयुक्त कार्य भी जैसे दीर्घ, प्रकृतिभाव, स्वरादि अनेकविध हैं। निपात निमित्तक कार्यों का आधिक्य वैदिक-व्याकरण में द्रष्टव्य है।

उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सार्थक होने पर भी नाम तथा आख्यात की भाँति निपात और उपसर्ग को विभक्ति से संयुक्त कर उनका एक निश्चित अर्थ में प्रयोग नहीं हाता है।

उक्तं चाकृत्याधिकरणवार्तिके :—
चतुर्विधे पदे चात्र द्विविधस्यार्थनिर्णयः।
क्रियते संशयोत्पत्तेर्नोपसर्गनिपातयोः॥
तयोरर्थाभिधाने हि व्यापारो नैव विद्यते।
यदर्थद्योतकौ तौ तु वाचकः स विचार्यते॥[2]

कहीं पर उपसर्ग अर्थविषयक सन्देह की निवृत्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं[3] तथा कहीं क्रिया के अर्थान्तर को व्यक्त करते हैं।[4] एवमेव

१—'दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधोवक्तव्यः' 'अन्तःशब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्'—वैया० सि० कौ०, तृतीय भाग, पृ० ५२-५३, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, सन् १९७१

२—वैया० भूषणसारः, निपातार्थ निर्णयः, पृष्ठ ३७७, चौखम्बा प्रकाशन, १९६९ ई०

३—'तत्र मनायते इत्युक्तौ संदेहः स्यात्—तत्रासंदेहार्थमुपसर्गः प्रयुज्यते —महाभाष्य ३।१।१२

४—पतति (गिरता है), उत्पतति (उड़ता है), सीदति (दुखी होता है), प्रसीदति (प्रसन्न होता है)

उपसर्ग कहीं धात्वर्थ का अनुगमन[1] मात्र करते हैं तो कहीं ससाधन-क्रिया (क्रियोपर्संगन साधन) के वाचक होते हैं।[2] यथा—विशाल, संकट, प्रकट आदि। यहाँ उपसर्ग से पर में क्रियावाची शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, अपितु उससे शालच् आदि प्रत्यय विहित हैं, फिर भी उपसर्ग क्रियाविशेष को प्रकट कर रहा है, किन्तु विशेषणरूप में। प्रधानता तो वहाँ प्रगत, संगत, इत्यादि शब्दों की भाँति क्रिया-विशिष्ट साधन द्रव्य की ही रहती है। स्पष्ट है, इनमें स्वार्थिक प्रत्यय (प्रकृत्यर्थाभि-धायी) हैं। एवंच इनका कोई निश्चित अर्थ नहीं होता है।

पारतन्त्र्य—उपसर्ग या निपात परतन्त्र हैं, इस कथन का तात्पर्य यह है कि महर्षि पाणिनि से पूर्व भले ही इनका स्वतन्त्र प्रयोग होता हो तथा अर्थ भी स्वतन्त्र होता हो जैसा कि 'उत्तर' (उत्+तरप्) उत्तम (उत्+तमप्), उद्वत् (उत+वति), निवत् (नि+वति), प्रेष्ठ (प्र+इष्ठन्), श्रेष्ठ (श्रत्+इष्ठन्) इत्यादि शब्दों में निपात और उपसर्ग से ही स्वतन्त्र रूप में प्रत्यय-संप्रयोग और अर्थ-बोध दृष्टिगत हो रहे हैं। यदि ये स्वतन्त्र न होते तो प्रत्यय-संप्रयोगादि सम्भव न थे। महर्षि गार्ग्य भी इन्हें स्वतन्त्र ही माने हैं। परन्तु महर्षि शाकटायन से उपज्ञात मत पाणिनि के द्वारा ऐसा परिपुष्ट कर दिया गया कि परवर्ती वैयाकरणों ने उपसर्ग या निपातों की स्वतन्त्र सत्ता को कहीं भी स्वीकार नहीं किया है।[3] परतन्त्र होने से ही निपातों का न तो वाक्यारम्भ में प्रयोग होता है और न हीं निरपेक्ष पद के रूप में प्रयोग होता है। इनसे षष्ठी आदि विभक्तियाँ भी नहीं लगती हैं तथा लिंग संख्या आदि का योग भी नहीं होता है। किंच निरर्थक रूप में भी केवल पादपूर्ति के लिए इनका प्रयोग देखा जाता है। दुर्गाचार्य ने कहा है :

१–सूते-प्रसूते, आगच्छति–अध्यागच्छति

२–त एते उपसर्गेभ्यो विधीयमाना संसाधनायां क्रियायां भविष्यन्ति
—महाभाष्य ५।२।२८

३–'वैयाकरणगृहेषु हि प्राक्प्रयोगस्वातन्त्र्य प्रयोगाभावात् षष्ठ्याद्य-श्रवणाल्लिंगसंख्याविरहाच्च वाचकवैलक्षण्येन द्योतका निपाता इत्युद्घोष्यत एवेति—ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ३५४, चौखम्बा संस्करण

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत् ।
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः ।
—दुर्गाचार्यवृत्ति, निरुक्त १।६

यहाँ यह अवधारणीय है, यद्यपि लोचनकार ने वाक्य में निपातों या उपसर्गों के प्राक् प्रयोग का निषेध किया है, तथापि वह प्रायोवाद अथवा तद्वाद है, क्योंकि इनमें से अधिक का वाक्यादि में प्रयोग भले ही न होता हो, किन्तु 'एवम्, परम्, नूनम्, न, मा, अथ, यावत्, सुष्ठु, भो, अये, अपि, इत्यादि निपातों का प्राक् प्रयोग यथेष्ट होता ही है। अतएव 'मा कृथाः अथ शब्दानुशासनम्; भो राजन्; अपि कुशली गुरुस्ते' इत्यादि वाक्यों का व्यवहार सम्पन्न होता है। यह बात दूसरी है कि 'च' प्रभृति बहुत से शब्दों का प्राक् प्रयोग नहीं देखा जाता। एवंच अभिनवगुप्त के कथन का तात्पर्य प्रायोवाद में पर्यवसित होता है।

निपात की भाँति उपसर्ग भी क्रिया से सम्बद्ध ही प्रयुक्त होते हैं। वस्तुतः उपसर्ग नाम क्रिया से संयुक्त होने पर ही पड़ता है। अतएव कुछ वैयाकरणों का यह भी मत है कि उपसर्ग क्रिया से अतिरिक्त सत्ता नहीं रखते। उपसर्ग सहित जो धातु का रूप है उसे ही धातु का स्वरूप समझना चाहिए। शास्त्र में जो उपसर्गों का विवेचन है वह अपोद्धार रीति से "अट्, आट्, द्विर्वचनादि व्याकरण नियमों के निर्वाहार्थ है। परन्तु यह एकदेशीय मत है, अन्यथा सोपसर्ग को धातु मानने से उपसर्ग के पूर्व अट्, आट् आदि आगम होने लगेंगे तथा उपसर्ग का भी द्वित्व होने लगेगा। 'संग्राम' धातु में 'सम्' को उपसर्ग मानकर सोपसर्ग धातुवाद भी उचित नहीं है, क्योंकि स्वयं भाष्यकार ने 'संग्राम' धातु के 'सम्' को नियमार्थक माना है तथा भर्तृहरि और कैयट ने उसे अपवाद मानकर उसके उपसर्ग से पूर्व अट्, आट् आदि की संगति दर्शायी है। नागेश ने तो उसे उपसर्ग न मानकर 'समानाकार' स्वीकार किया है।[1] इस सम्पूर्ण कथन का यही तात्पर्य है कि उपसर्ग और क्रिया का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव वैयाकरणों का यह सिद्धान्त है कि धातु

१—'यद्यपि संग्रामशब्दे संशब्दो नोपसर्गस्तथापि सोपसर्गादित्यस्य सोपसर्ग-समानाकारादित्यर्थो बोध्यः'—महाभाष्य प्रदीपोद्योत: ३।६।१२

का सम्बन्ध पहले उपसर्ग से होता है तत्पश्चात् कारक से।[1] यही सिद्धान्त मत है।

कतिपय वैयाकरण धातु का सम्बन्ध पहिले कारक से मानते हैं और बाद में उपसर्ग से। उनका तर्क है कि साधन (कारक) से सम्बद्ध होकर ही क्रिया साध्य स्वरूप वाली कही जाती है। साधन ही क्रिया का निर्वर्तक है। जब तक साधन-योग नहीं होगा, क्रिया अनिष्पन्न रहेगी, फलतः उसमें किसी विशेषण की भी आकांक्षा नहीं हो सकती। अतः धातु पहले साधन से सम्बन्ध प्राप्त करता है, पश्चात् उपसर्ग से संयुक्त होता है।[2]

द्योतकता : उपर्युक्त अर्थमूलक प्रवृत्तियों को दृष्टिगत करते हुए सभी वैयाकरणों ने इन्हें एक निश्चित अर्थ का वाचक न मानकर भिन्न-भिन्न दशाओं में भिन्न-भिन्न प्रतीयमान अर्थों का द्योतक माना है और उचित भी यही है। अन्यथा अर्थ का स्वतन्त्र वाचक मानने पर 'प्रकर्ष' अर्थ में केवल 'प्र' का तथा 'निश्चय' अर्थ में केवल 'नि' का प्रयोग होना चाहिए। किन्तु कहीं किसी भी अर्थ में उपसर्ग और निपात का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग दृष्टिगत नहीं है। 'अनुक, अभिक, अभीक, विशाल, विशंकट, संकट, प्रकट, उत्कट' इत्यादि शब्दों में, जहाँ उपसर्गों के स्वतन्त्र अर्थाभिधान की कल्पना करके उनसे प्रत्यय विहित माने गये हैं वहाँ भी 'प्रतिलोम, अनुलोम' शब्दवत् मात्र साधुत्वान्वाख्यानार्थ शास्त्रीय प्रकिया के निर्वाह के लिए व्युत्पत्ति-प्रदर्शन समझना चाहिए।[3] इन उदाहरणों से भाषाविज्ञान का विद्यार्थी

१–'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन'—महाभाष्य ६।१।१३५, ८।१।७०

२–'इह प्रसिद्धं' विशेष्यमनेकप्रकारसम्भवे सति दृष्टप्रयोगेण शब्देनाभिधीयमानं विशेषणविशेष्यभावं प्रतिपद्यते। साध्यत्वाच्च क्रियायाः साधनसम्बन्ध निर्वृत्तिः। तस्मात् प्राक्साधनसम्बन्धादनुपजाता क्रिया निरात्मिका द्योतकेनोपसर्गेण सह विशेषणविशेष्यसम्बन्धं नोत्सहते प्रतिपत्तुम्। पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते इत्येकेषां दर्शनम्'—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति २।१८४, लाहौर संस्करण

३–'व्युत्पत्त्यनुसारेण वेदमुच्यते। गुणशब्दास्तु विशालादयः। साधुत्वान्वाख्यानाय तु कंचिदुपायमाश्रित्य व्युत्पत्तिः क्रियते। यथा प्रतिलोमोऽनुलोम इति' —महाभाष्य प्रदीपः ५।२।२८

यदि यह अनुमान लगावे कि पाणिनिपूर्व इनका स्वतन्त्र रूप से अर्थों में प्रयोग होता था तो इसमें किसी को आपत्ति न होगी। परन्तु वर्तमानकालिक प्रयोगों के आधार पर तो इन्हें वाचक मानना तर्कसंगत नहीं लगता है। इनको वाचक मानने में यह तर्क देना कि भाष्यकार ने इनका अर्थ स्वीकार किया है, जैसे 'आङ् आभिमुख्ये वर्तते' 'प्रशब्दः आदिकर्मणि' 'निरयं बहिर्भावे वर्तते' इत्यादि तथा कालिदास ने 'आ मनोः वर्त्मनः परम्' (रघुवंश १।१७) में 'आ' शब्द का स्वतन्त्र पद के रूप में प्रयोग किया है[1], अतः ये वाचक हैं; इस दलील में कोई दम नहीं है, क्योंकि ये सार्थक तो हैं, इनके एक-एक नहीं, अनेकों अर्थ कोशों में वर्णित हैं, यह बात मुक्तकण्ठ से स्वीकार की गयी है, किन्तु इतने से इनका उन अर्थों में स्वतन्त्र रूप से पृथक् प्रयोगार्हता सिद्ध नहीं होती। किंच कालिदासीय प्रयोग में आ' पृथक् पद होने पर भी वह 'मनोः' की अपेक्षा से ही प्रयुक्त हुआ है।

वैयाकरण भूषणसार में कौण्डभट्ट ने 'निपातार्थ' नामक पूरे प्रकरण में निपात तथा उपसर्ग के द्योतकत्व पक्ष को ही अनेक युक्तियों से प्रतिष्ठापित किया है। वहाँ नैयायिकों के अर्धजरतीयपक्ष 'प्रादयो द्योतकाः, चादयो वाचकाः'[2] का सयुक्तिक निराकरण कर दोनों को समान रूप से द्योतक स्वीकार किया है। 'उपास्येते हरिहरौ' अथवा 'साक्षात्क्रियते शिवः' दोनों ही वाक्यों में 'उपासना' और 'साक्षात्करण' अर्थ केवल धातु के नहीं हैं, अन्यथा 'आस्यते' और 'क्रियते' के भी उपासना और 'साक्षात्करण' अर्थ होने लगेंगे। एवमेव केवल उपसर्ग या निपात के भी वे अर्थ नहीं हो सकते, अन्यथा धातु का प्रयोग व्यर्थ होगा। यदि यहाँ विशिष्टार्थ-पक्ष स्वीकार किया जाय तव अनेक प्रकार की आपत्तियाँ खड़ी होंगी, जैसे—उस अर्थ में खण्डशः शक्ति है या अखण्ड, वह विशिष्टार्थ प्रकृत्यर्थ नहीं होगा, अतः उसमें प्रत्ययार्थ का अन्वय बाधित होगा, इत्यादि आक्षेप होने से उभयार्थ-पक्ष भी गौरवग्रस्त है। अतः ऐसे स्थलों पर

१—'आ मनोः। मनुमारभ्येत्यभिविधिः। पदद्वयं चैतत्। समासस्य विभाषतत्वात्'—मल्लिनाथ, रघुवंश, १।१७

२—वैया० भूषणसारः, पृ० ३६५; चौखम्बा प्रकाशन, १९६९ ई०

'उपासना' तथा 'साक्षात्करण' आदि अर्थों में धातु की लक्षणा (अप्रसिद्धा शक्ति) स्वीकार की जाती है तथा उपसर्ग और निपात उसके तात्पर्यग्राहक होते हैं। इनका तात्पर्यग्रह ही द्योतन है जो उपसर्ग की भाँति चादि निपातों में भी समान है। इसी प्रकार 'चैत्रमिव पश्यति' वाक्य में भी लक्षणा शक्ति के द्वारा चैत्रपद ही कर्मीभूत चैत्रप्रतियोगिक सादृश्यविशिष्ट अर्थ को बोधित करता है, यहाँ 'इव' पद तात्पर्य का ग्राहक है, फलतः द्योतक हुआ। स्वयं नैयायिकों ने भी इस पद्धति को माना है, अतएव 'घटो नास्ति' में घट पद को घटप्रतियोगिकाभाव में लाक्षणिक तथा 'न' निपात को तात्पर्यग्राहक अर्थात् द्योतक स्वीकार किया है। अतः अन्वय-सिद्धि के लिए भी इनको द्योतक मानना युक्तिसंगत है। एवंच ऐसे स्थलों पर अप्रसिद्धा शक्ति की महिमा से 'उपासना' और 'साक्षात्करण' आदि अर्थ धात्वर्थ ही हैं, अतएव यहाँ धातु को सकर्मक मानकर उससे कर्म में लकार की उपपत्ति होती है।[1]

संग्रहकार आचार्य व्याडि ने भी उपसर्ग और निपात को द्योतक कहा है—'शब्दान्तरोपग्रहमन्तरेण सम्भविसन् अलब्धनियमोऽयोर्थस्तद् द्योतक नियमयन् वाचकतामतिक्रामतीति संग्रहकार आह।"[2] जिस अर्थ में धातु या प्रातिपदिक की शक्ति नहीं है, वह अर्थ उससे नियमतः प्रतीत नहीं होता, किन्तु अप्रसिद्ध शक्ति की महिमा से उस अर्थ की नियत प्रतीति सम्भावित है। उस शब्द में इस शक्ति का व्यापार तभी होता है, जब उस शब्द से किसी शब्दान्तर का उपग्रह (सम्बन्ध) होता है, जैसे—'उपासना' या 'साक्षात्कार' अर्थ में √ आस् या √ कृ की शक्ति नहीं है, अतः ये अर्थ उससे नियमतः प्रतीत नहीं होते, किन्तु 'उप' या 'साक्षात्' का सम्बन्ध होने पर अप्रसिद्धा शक्ति से उन अर्थों

१—द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा।
उपास्येते हरिहरौ लकारो दृश्यते यथा॥
तथाऽन्यत्रनिपातेऽपि लकारः कर्मवाचकः।
विशेषणाद्ययोगोऽपि प्रादिवच्चादिके समः॥

—वैया० भूषणसारः, निपातार्थ निर्णयः ४२-४३

२—वाक्यपदीय हरिवृत्ति, २/१८६, हस्तलेख।

की नियत प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में 'उप' या 'साक्षात्' 'उपासना' या 'साक्षात्कार' अर्थ के वाचक नहीं, प्रत्युत नियामक हैं। एवञ्च उपसर्ग एवं निपात को वाचक कोटि से बहिर्भूत द्योतक कोटि में रखना ही उचित है।

इस विषय में आचार्य भर्तृहरि ने तीन मतों का उल्लेख किया है—वाचकत्वं द्योतकत्वं सहाभिधायकत्वम् इत्युपसर्गेषु त्रिविधा प्रतिपत्तिराचार्याणाम्। तत्र अनभिहितार्थमध्यारोपयन् वाचक इति प्रतिज्ञायते। सम्भविनमर्थमनभिव्यक्तमभिव्यञ्जयन् द्योतक इत्यभ्युपगम्यते। स्वभावतः प्राप्तनियतशक्तिमात्रमादधत् स्वार्थिकवत् सहाभिधायी व्यवस्थाप्यते।"[१] यहाँ प्रथम मत में वाचक पक्ष की प्रतिज्ञा की गयी है। आचार्य ने 'प्रतिज्ञायते' पद के प्रयोग से इस मत का पूर्वपक्षत्व व्यक्त किया है। यह नैयायिक मत है। दूसरा मत वैयाकरणों का है। इसमें द्योतक पक्ष को स्वीकार किया गया है। यहाँ तीसरे मत का उल्लेख करके आचार्य ने उपसर्ग और निपात के कहीं निरर्थक प्रयोग का व्यवहार दर्शाया है। यद्यपि इस प्रकार के प्रयोगों में प्रकृत्यर्थ ही इनका अर्थ होता है, अतः ये स्वार्थिकवत् होते हैं तथापि वाक्यालङ्कार आदि की विवक्षा से इस प्रकार के प्रयोगों का बाहुल्य है। ऐसे प्रयोगों में प्रयुक्त उपसर्ग या निपात सहाभिधायी हैं। एवञ्च यह पक्ष द्योतक पक्ष से अतिरिक्त न होकर उसी का पूरक है, इनकी विवक्षाधीन प्रवृत्ति को इंगित करता है। अतएव आचार्य ने आगे चलकर 'द्योतन' के दो भेद किये हैं: १—अनाविर्भूताविर्भावन और २—सहाभिधान। जहाँ प्रकृत्यर्थ से अतिरिक्त अर्थ की भी प्रतीति होती है, वहाँ उपसर्ग और निपात 'अनाविर्भूताविर्भावन' करते हैं तथा जहाँ मात्र प्रकृत्य॑ की स्थिति का संकेत है, वहाँ 'सहाभिधान'।[२] इस प्रकार सभी प्रयोगों में इनका द्योतन ही सिद्ध होता है।

१—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति, २/१६०, हस्तलेख।

२—"द्योतनमपि द्विविधम्। अनाविर्भूताविर्भावनम्। अव्युदासप्रसङ्गे वा प्रकारान्तरव्युदासेन कस्यचिद् अवधारणम्। तद्यथा—प्रतिष्ठते, उत्पुच्छयते, अभिमनायते इति। तदपि प्रसिद्धाप्रसिद्धावियुतप्रयोगाणाम्। उपास्ते प्रपचति अधीते अध्येति इति यथा। सहाभिधानं वा। यावकः गोपायिता ब्रह्मणाधीनं जुगुप्सते इति।" —वाक्यपदीप, हरिवृत्ति २/१६५-१६६, लाहौर संस्करण

गति संज्ञा : यहाँ तक उपसर्ग और निपात पर किंचित् विचार-विमर्श किया गया। अब इसी प्रसंग में प्रादि-शब्दों की गति संज्ञा की भी कुछ चर्चा कर ली जाय। यह संज्ञा शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह हेतु प्रसिद्ध है। प्रादि-शब्दों का शब्दान्तर के साथ तत्पुरुषादि समास तथा उदात्तादि-स्वर के विधान में इस संज्ञा की विशेष उपयोगिता है। 'प्रभाव, विहसन, निर्माण, पराजय' इत्यादि शब्दों में 'प्र, वि, निर् तथा परा' शब्दों की गति संज्ञा होने से 'कुगति प्रादयः' (पा० सू० २।२।१८) सूत्र से समास एवं समासस्वर विहित होते हैं। स्मरणीय है कि विभक्त्यन्त पदों का समास होता है।[१] इस सामान्य नियम में संकोच करके गतिसंज्ञक का सुबुत्पत्ति (विभक्ति उत्पत्ति) से पूर्व समास-विधान आवश्यक है।[२] अन्यथा सुबुत्पत्ति से समास-सिद्धान्त में 'व्याघ्री' आदि रूपों की सिद्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि इस सिद्धान्त में सुबुत्पत्ति से पूर्व लिंगबोधक 'टाप्' प्रत्यय हो जाने के कारण 'व्याघ्रा' आदि अनिष्ट रूप निष्पन्न होंगे।

प्रादि-शब्दों का क्रिया के साथ अर्थद्वारक विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध होने पर गति संज्ञा होती है।[३] इसी अवस्था में उपसर्ग संज्ञा भी होती है तथा इनका जब प्रातिपदिक या कारक के साथ सम्बन्ध होता है तब केवल निपात संज्ञा होती है। जैसे—सुधीः, अधिहरि, अतिमालः, अधिसेचकः इत्यादि शब्दों में केवल निपात संज्ञा होती है, जबकि प्रणेय, प्रणय इत्यादि शब्दों में गति, उपसर्ग और निपात तीनों संज्ञायें होती हैं।

यह एक सार्थक संज्ञा है। गति शब्द ज्ञान या अपवर्ग का बोधक है। वेदों के अर्थज्ञान में उदात्तादि-स्वरों की अहंभूमिका है तथा उदात्तादि-स्वरों के ज्ञान में गति संज्ञा का महान् उपकार है। एवंच वेदार्थ-ज्ञान द्वारा अपवर्ग का साधन होने से, साधन में साध्य धर्म का आरोप करके गति-संज्ञा को अन्वर्थक माना जा सकता है।

१–'समर्थः पदविधिः'—पा० सू० २।१।१

२–'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः'
—वैया० सि० कौ०, २ भाग, पृ० ५४४, चौखम्बा प्रकाशन

३–'गतिश्च'—पा० सू० १।४।६०

कर्मप्रवचनीयसंज्ञा : प्रादि-शब्दों की गति, उपसर्ग और निपात संज्ञा के अतिरिक्त कर्मप्रवचनीय संज्ञा भी होती है। यह संज्ञा केवल ग्यारह प्रादि-शब्दों की बाईस अर्थों में होती है। वे ग्यारह प्रादि हैं—अनु, उप, अप, परि, आङ, प्रति, अभि, अधि, सु, अति, अपि। इनके बाईस द्योत्य अर्थ हैं: हेतुलक्षण, सहार्थ, हीनता, आधिक्य, वर्जन, मर्यादावचन, लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग, वीप्सा, प्रतिनिधि, प्रतिदान, आनर्थक्य, पूजा, अतिक्रमण, पदार्थ, सम्भावन, अन्ववसर्ग, गर्हा, समुच्चय, स्वाम्य और अधिकार। कर्मप्रवचनीय का जिस कारक से सम्बन्ध होता है उसमें द्वितीया, पंचमी एवं सप्तमी विभक्त का प्रयोग होता है। यह संज्ञा गति और उपसर्ग संज्ञा की बाधिका है। अतः कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर गति और उपसर्ग संज्ञा निमित्तक षत्व, स्वर आदि कार्य नहीं होते हैं, जैसे—'सुसिक्तम्, सुस्तुतम्' में उपसर्ग-निमित्तक षत्व तथा 'अध्यागच्छति, पर्यागच्छति' में गति-निमित्तक अनुदात्तस्वर नहीं होते हैं। कर्मप्रवचनीय में पूर्व-प्रयोग का नियम भी नहीं है। अपितु ये जिस कारक से सम्बद्ध होते हैं उसके पर में प्रयुक्त होते हैं, जैसे—'जपमनु प्रावर्षत्'।

अन्वर्थता : कर्मप्रवचनीय क्रियाजनित सम्बन्ध-विशेष के द्योतन के द्वारा क्रिया-विशेष के अभिव्यंजक होते हैं, अतः कतिपय वैयाकरण इन्हें उपसर्ग में अन्तर्भूत मानते हैं। फलतः उनके अनुसार पदों के उपर्युक्त चार प्रकार ही अभीष्ट हैं। किन्तु कतिपय वैयाकरण उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय में मौलिक भेद अंगीकार कर कर्मप्रवचनीय को चार पदों के अतिरिक्त पाँचवाँ पद मानते हैं। कर्मप्रवचनीय अतिक्रान्त क्रिया के सम्बन्ध को द्योतित करते हैं, जबकि उपसर्ग वर्तमान क्रियागत विशेषण को द्योतित करते हैं। यहाँ वर्तमान पद का तात्पर्य क्रिया-विशेष के सम्बन्ध-द्योतन से है।[1] अतिक्रान्त क्रिया का तात्पर्य अप्रयुज्यमान क्रिया से है।

भाव यह है कि सभी प्रकार के सम्बन्ध क्रिया-कारकपूर्वक होते हैं। कभी तो क्रिया सम्बन्ध को उत्पन्न कर विरत हो जाती है, जैसे—

१—'क्रियागतविशेषद्योतनपूर्वकं हि सम्बन्धावच्छेदनमत्र वर्तमानम्'
—हेलाराज, वाक्यपदीय, ३, जातिसमुद्देश

राजपुरुष में। यह राजा का पुरुष है, क्योंकि राजा इसका पालन-पोषण करता है। इत्थं च पालनरूप क्रिया आश्रयाश्रयिभावलक्षण सम्वन्ध को उत्पन्न कर अलग हो गयी है। कभी क्रिया स्वयं श्रूयमाण होती हुई सम्वन्ध व्यक्त करती है, जैसे—'मातुः स्मरति' में स्मृति-क्रिया श्रूयमाणरूप में ही निमित्तनिमित्तिभाव लक्षण सम्वन्ध को उत्पन्न कर रही है। जब क्रिया सम्बन्ध को उत्पन्न कर विरत हो जाती है, उस दशा में सन्देह हो सकता है कि वह सम्वन्ध क्रियाजनित है कि नहीं। ऐसी अवस्था में कर्म प्रवचनीय कार्य करता है। वह उस अश्रूयमाण क्रिया के विशेष सम्वन्ध को द्योतित करता है—"तदयमश्रुतक्रियाविषयसम्वन्धे कर्मप्रवचनीयानां महिमा।"[१] क्रिया कृत विशेष सम्वन्ध के द्योतक होने के कारण इन्हें कर्मप्रवचनीय कहते हैं—"अतएव कर्म प्रोक्तवन्तः क्रियाकृतं विशेषसम्वन्धं द्योयन्तीति कर्मप्रवचनीया उच्यन्ते।"[२] कर्मप्रवचनीय शब्द में कर्म पद क्रिया अर्थ का बोधक है तथा 'प्र' उपसर्गक 'वचपरिभाषणे' धातु से भूतकालिक कर्त्ता अर्थ में 'अनीयर्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न प्रवचनीय शब्द भूतकालिक प्रवक्ता अर्थ का वाचक है। एवंच कर्मप्रवचनीय शब्द का अर्थ होगा—क्रिया का भूतकालिक प्रवक्ता अर्थात् जिसने भूतकाल में क्रिया को प्रवाचित=द्योतित किया है, किन्तु वर्तमान में वह केवल उसके सम्वन्ध को वता रहा है। इस (क्रिया कृत) सम्वन्ध के बोधन में सामर्थ्यशाली प्रादि शब्द विशेष को ही प्रवचनीय कहते हैं। इत्थंच यह संज्ञा सार्थक है।

संम्बन्ध-द्योतन—भर्तृहरि ने इसकी व्याख्या में कहा है :—

क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः॥

—वाक्यपदीय, २/२०६

इस कारका द्वारा व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदक भाव से कर्मप्रवचनीय का लक्षण प्रतिपादित हुआ है। 'अनुभवति, अभिभवति' पदों में जिस

१—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश ३

२—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२०१

प्रकार अनु-अभि शब्द अनुभव, अभिभव क्रियाओं के द्योतक हैं उस तरह 'जपमनु प्रावर्षत्' वाक्य में प्रयुक्त अनु शब्द क्रिया का द्योतन नहीं करता और न ही यह संम्बन्ध का वाचक है, क्योंकि षष्ठी की अपवादभूता द्वितीया विभक्ति ही सम्बन्धार्थ-बोधन में समर्थ है। कर्मप्रवचनीय को अश्रुत क्रिया का आक्षेपक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस शब्द से क्रिया का आक्षेप होता है वह कारक विभक्ति में प्रयोजक होता है। जैसे—प्रादेशं विपरिलिखति में 'वि' शब्द से मान क्रिया का आक्षेप होता है और इस वाक्य से 'प्रादेशं विमाय परिलिखित' यह अर्थ भाषित होता है। अतः यहाँ 'वि' शब्द 'प्रादेश' से विहित कर्म कारक विभक्ति का प्रयोजक है। यदि कर्मप्रवचनीय के द्वारा अश्रूयमाण क्रियापद का आक्षेप होता और उसके योग में भी कारक विभक्ति ही होती, तब तो 'कर्मप्रवचनीय युक्ते द्वितीया' (२।३।८ पा० सू०) सूत्र की कोई आवश्यकता ही न रह जाती, वह व्यर्थ होता। पुनश्च 'जपमनु प्रावर्षत्' जैसे वाक्यों में आक्षेप सम्भव भी नहीं है। किंच क्रिया और कारक में ही परस्पर आक्षेप संभव है। जैसे—'प्रविश', 'पिण्डीम्' आदि स्थलों में 'जपम्' में तो सम्बन्ध की विवक्षा में शेषकीय विभक्ति है, इसलिए वहाँ आक्षेप सम्भव नहीं है। वहाँ 'निशामयति' क्रिया का प्रयोग न होने पर भी जप और प्रवर्षण में हेतु-हेतुमद्भाव सम्बन्ध 'अनु' से द्योतित हो रहा है। भाव यह है कि कर्मप्रवचनीय के प्रयोग के साथ क्रियाजनित सम्बन्ध की प्रतीत होती है। वह सम्बन्ध किसी अन्य पद द्वारा ठीक-ठीक अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन पदों की शक्ति सीमित होती है और वे अपना स्वाभाविक अर्थ ही व्यक्त कर विरत हो जाते हैं। अतः सम्बन्ध के द्योतक किसी अन्य के न होने के कारण अन्ततः कर्मप्रवचनीय ही इस सम्बन्ध का द्योतक माना जाता है।

'जपमनु प्रावर्षत्' वाक्य में 'अनु' की कर्मप्रवचनीयता के ज्ञान का प्रकार यह है कि यह वाक्य 'जपमनुनिशम्य प्रावर्षत्' इस वाक्य का स्थानापन्न है। इस मूल वाक्य में 'अनु' शब्द निशमन क्रिया को विशेषित करता हुआ, 'निशमनानन्तर वर्षा हुई' इस अर्थबोध में सहायक है और प्रकारान्तर से वह जप की कारणता तथा वर्षा की

कार्यता को भी द्योतित कर रहा है। जब इस वाक्य से केवल कार्य-कारणभाव विवक्षित होता है तब 'निशम्य' क्रिया का प्रयोग न कर केवल 'अनु' का प्रयोग किया जाता है। एवंच उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'अनु' शब्द भूतकाल में 'निशम्य' क्रिया को विशेषित कर वर्तमान में तज्जनित कार्यकारणभाव मात्र का द्योतन करता हुआ कर्म-प्रवचनीय संज्ञा को प्राप्त होता है।

द्योतन में दो मत : कर्मप्रवचनीय के सम्बन्ध-द्योतन के विषय में भी दो प्रकार के विचार हैं : (१) सम्बन्ध-विशेष का द्योतन और (२) क्रिया-विशेष के सम्बन्ध-विशेष का द्योतन। प्रथम प्रकार में क्रिया-विशेष की प्रतीति सम्बन्ध विशेष के पर्यालोचन से होती है तथा द्वितीय प्रकार में कर्मप्रवचनीय ही सम्बन्ध-विशेष के साथ-साथ क्रिया-विशेष को भी द्योतित कर देता है। आचार्य भर्तृहरि इनमें से द्वितीय प्रकार के ही पक्षपाती प्रतीत होते हैं।[1] उन्होंने इस सन्दर्भ में संग्रहकार व्याडि से अभिमत दो प्रकार के सम्बन्धों का उल्लेख किया है...... "द्विविधो हि सम्बन्धः संग्रहे पठ्यते। तिरोभूत-क्रियापदः, सन्निहित-क्रियापदश्च।...... तथैव केचित् पंच पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपातकर्मप्रवचनीया इति पठन्ति। तेषा-मप्यर्थभेदेनोपसर्गनिपातेभ्यः उत्कर्षः क्रियते, अत आह— "क्रिया रूप-नाशेन तिरोभवन्ती यं सम्बन्धमुपजनयति तस्या निमित्तभूतायाः क्रियायाः सहचारी वाक्यान्तरेषु विशेषदृष्टसामर्थ्यः कर्मप्रवचनीयः क्रियाविशेषोपादानेन सम्बन्धमवच्छिनत्ति, निमित्तानुग्रहानुगममा-त्रायाः सम्बन्धरूपं नियमयतीति।"[2]

क्रिया से कारक का जो सम्बन्ध होता है, उसमें क्रियापद कभी तिरोहित रहता है और कभी उपस्थित रहता है। यहाँ इसी भेद को लेकर सम्बन्ध के दो भेद कहे गये हैं। प्रथम भेद में जब क्रिया के तिरोधान की विवक्षा होती है, उस समय क्रिया जिस सम्बन्ध को

१—" .....वस्तुतः क्रियाफलस्यैव सम्बन्धस्य प्रकाशनात्। तथा तु तत्र भवद्-भर्तृहरेस्तत्र तत्राभिप्रायो लक्ष्यते तथा निमित्तविशेषावच्छेद एव कर्मप्रवचनीयकृत इति राद्धान्तः"—हेलाराज, वाक्यपदीय, ३।१

२—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति २।१९९, २।२०१, हस्तलेख,

उत्पन्न करती है, कर्मप्रवचनीय उसी सम्बन्ध का द्योतन करता है, क्योंकि तिरोधान की विवक्षा से पूर्व वह उस क्रिया का सहचारी होता है, अतः तिरोधान के पश्चात् उसके सम्बन्ध को कहने का सामर्थ्य उसके सहचर में होना उचित ही है। एवंच आचार्य व्याडि के मत का उल्लेख करते हुये भर्तृहरि ने यह स्पष्ट किया है कि कर्मप्रवचनीय क्रिया-विशेष के सम्बन्व-विशेष का ही द्योतन करते हैं।

'प्रति' के द्योत्यार्थ : यहाँ तक प्रादि-शब्दों के अध्ययन-क्रम में उपसर्ग, निपात, गति और कर्मप्रवचनीय संज्ञाओं का पर्यालोचन प्रस्तुत किया गया। जैसाकि पहले कहा गया है कि इन प्रादि शब्दों के अनेक द्योत्य अर्थ कोशों में संकलित हैं, उनमें से प्रकृत 'प्रत्यय' शब्द के निर्वचन-प्रसंग में उपयोगी 'प्रति' उपसर्ग के अर्थ कोश ग्रन्थों से उद्धृत किये जा रहे हैं।

'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ' में 'प्रति' शब्द के अर्थ इस प्रकार हैं :—

"प्रति—(अव्यय) (प्रथ+डति) एक उपसर्ग जो शब्दों के पूर्व लगाया जाता है और निम्न अर्थ देता है—विरुद्ध/सामने/बदले में/हर एक/समान/जोड़ का/मुकाबले में/ओर।[१]"

'अमरकोष' में कहा है—"प्रति प्रतिनिधौ वीप्सालक्षणादौ प्रयोगतः[२]" अर्थात् प्रति-निधि, वीप्सा, लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग और प्रतिदान, प्रति के ये छह अर्थ हैं। भानुजि-दीक्षित ने इसका 'स्तोक' अर्थ भी स्वीकार किया है। 'मेदिनीकोष' में प्रति के प्रति-निधि, इत्थम्भूताख्यान, साम्मुख्य, अर्थ निरूपित हुये थे।[३] वाङमयार्णव में इसके प्रतिनिधि, इत्थम्भूताख्यान, साम्मुख्य, मात्रार्थ, भाग, वीप्सा, लक्षण और प्रतिदान ये आठ अर्थ संकलित हैं।[४] 'शब्दकलपद्रुम' में उक्त हैं :

१—सम्पादक—द्वारका प्रसाद एवं तरिणीश झा

२—काण्ड-३, अध्याय ३, श्लोक २४५

३—"प्रतिप्रतिनिधावित्थम्भूताख्यानाभिमुख्ययोः॥" १८०।२५

४—"प्रतिप्रतिनिधावित्थम्भूताख्यानाभिमुख्ययोः।
मात्रार्थभागवीप्सासु लक्षणप्रतिदानयोः॥" ३६३८
—ले० रामावतार शर्मा

"प्रति—अव्यय, प्रथ+डति। व्याप्तौ, लक्षणे, कंचित् प्रकारमापन्नस्य कथने, भागे, प्रतिदाने, प्रतिनिधिकरणे, स्तोके, क्षेपे, निश्चये, व्यावृतौ, आभिमुख्ये, स्वभावे च। (कृत्रिम भूषायां च) इस प्रकार इसमें प्रति के तेरह द्योत्य अर्थ निर्दिष्ट हैं।

महर्षि यास्क ने जहाँ 'प्रति' के केवल 'वैमुख्य' अर्थ का निर्देश किया है वहीं 'वाचस्पत्यम्' में इसके सत्रह प्रतिच्छायित द्योत्य अर्थों का निर्देश करके अन्त में 'इत्यादि' लगा दिया गया है अर्थात् इसके और अनेक प्रतिच्छायायें सम्भावित हैं। 'वाचस्पत्यम्' में निर्दिष्ट अर्थ एवं उनके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

लक्षण, प्रकारविशेषोक्ति, दाय, वीप्सा, विनिमय, प्रातिनिध्य, साम्य, हिंसा, स्वीकार, व्याधि, साम्मुख्य, निषेध, व्याप्ति, अल्पता, निश्चय, विरोध, स्वभाव इत्यादि। इनके उदाहरण क्रमशः द्रष्टव्य हैं—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्, दानं प्रति प्रस्तुतः, पुस्तकं छात्रं प्रति, क्षेत्रं क्षेत्रं प्रति याति, तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्, अभिमन्युः अर्जुनतः प्रति, प्रतिदेवः, प्रतिघात, प्रतिज्ञान, प्रतिश्याय, प्रतिरूपमागत, प्रतिषिद्ध, प्रतिकीर्ण शाकप्रति, प्रतीति, प्रतिपक्षी, प्रतिमूर्ति इत्यादि।

प्रकृत प्रसंग में, जहाँ कि 'प्रत्यय' शब्द शब्दभेद, शाब्दिक इकाई या प्रत्ययस्फोट अर्थ को अभिहित कर रहा है; प्रति के वीप्सा, प्रातिनिध्य, साम्मुख्य अथवा निश्चय ये चार प्रतिभाषित अर्थ सम्भव हैं। अर्थबोधन में समर्थ अतः वाक्य प्रयोगार्ह प्रत्येक पद में जहाँ प्रत्यय की वीप्सा (व्याप्ति) देखी जाती है वहीं पदार्थ में इनका अर्थ प्रधान होने से ये पदों के प्रतिनिधित्व का भी वहन करते हैं। इसी प्रकार प्रकृति मात्र के पर में विहित होने से यदि इनमें साम्मुख्य-भाव देखा जा सकता है तो ये पदार्थ के निश्चायक भी होते हैं, फलतः यहाँ 'निश्चय' को भी 'प्रति' का द्योत्यार्थ माना जा सकता है। एवंच यहाँ 'प्रति' की दो प्रतिच्छायायें शब्दपरक हैं तथा दो अर्थपरक।

(ग) धातु-विचार

धातु का शब्दार्थ : यहाँ तक 'प्रत्यय' पद में प्रयुक्त 'प्रति' उपसर्ग एवं उसके संज्ञान्तर के स्वरूप, प्रकार और अर्थ पर किंचित् विचार

प्रस्तुत किये गये। अब प्रसंग प्राप्त प्रत्यय पद के निर्वचन-क्रम में उपस्थित इण् गतौ के संदर्भ में धातु का सामान्य अध्ययन संगत प्रतीत हो रहा है। धातु शब्द वैयाकरण-सम्प्रदाय में ही नहीं, प्रत्युत लोक में भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक परिवेश में प्रयुक्त होता आ रहा है। जहाँ व्याकरण में शब्द के सार अंश अर्थात् मूलभूत शाब्दिक इकाई प्रकृति के लिए धातु शब्द प्रसिद्ध है वहीं लोक में दैहिक एवं पार्थिव सारवस्तु के बोधनार्थ भी यह शब्द प्रचलित है। शरीर में धातु अंश का तथा बाजार में सुवर्णादि धातुओं का जितना महत्त्व है, उससे कहीं कम महत्ता व उपादेयता शाब्दिक 'धातु' का नहीं है। क्योंकि यह धातु भी व्यवहार निर्वर्त्तक है। किंच इसी पर आधारित व्याकरण एवं भाषाविज्ञान में 'धातुवाद' का सिद्धान्त अटल है। जहाँ महर्षि शाकटायन सभी शब्दों में धातु का सन्दर्शन करते हैं[1] वहीं भाषाविज्ञान में भाषा-विकास का अधार इस धातु को ही माना गया है।[2]

स्थूल परिभाषा : वस्तुतः व्यवहार की भाषा में धातु के सार्थक ध्वनि न होने से[3] इसकी अर्थाश्रित-परिभाषा सामान्यजन के अवबोध से परे की वस्तु होगी। अतः जन-सामान्य के उपयोग के लिए हम धातु का परिचय निम्न रूप में दे सकते हैं—'वे मूलभूत शाब्दिक ध्वनियाँ, जिनके अन्त में प्रत्यय संप्रयोग से निष्पन्न परिनिष्ठित रूप क्रिया के वाचक होते हैं, वे ध्वनि-विशेष भाषाविज्ञान में धातु कहे जाते हैं।' इसी प्रकार की शाब्दिक परिभाषा महर्षि पाणिनि ने भी की है—'भूवादयो धातवः।'[4] यद्यपि पतंजलि ने इसकी व्याख्या 'क्रिया वचनो धातुः' और 'भाववचनो धातुः' कह कर की है, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। इस प्रकार के धातु संस्कृत व्याकरण के

१—"नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। सर्वे शब्दा धातुजाः इति च"—निरुक्त १।१२१

२—"धातु सिद्धान्त"—इस ओर संकेत प्लेटो ने किया था……, भाषा की उत्पत्ति और प्रारम्भिक रूप, भाषाविज्ञान, डॉ० भोलानाथ तिवारी

३—"धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते"—वाक्यपदीय २।२१२, बनारस; १८८७

४—पा० सू० १।३।१

धातुगण पाठ और सूत्र में कुल मिलाकर लगभग दो हजार हैं। इसके अतिरिक्त नाम शब्दों से भी धात्वर्थ में णिच् और क्विप् इत्यादि 'नामधातु प्रत्ययों' के योग के द्वारा अगणित-शब्द निष्पन्न हो सकते हैं। यह है, संस्कृत-धातु की एक स्थूल विशेषता।

कल्पना का आधार : उक्त रीति से हम धातु की आकृतिमूलक परिभाषा कर सकते हैं। किन्तु व्याकरण शास्त्र में भाषा वैज्ञानिकों ने बोधानुभव पर आधारित अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा धातु के शास्त्रीय अर्थ की संकलपना की है और उन अर्थों में सामान्यरूप से प्रतिभासमान एक अखण्ड तत्त्व, जिसे जाति या सामान्य कहते हैं, को आधार मानकर उसके अर्थमूलक स्वरूप का पर्याप्त विवेचन किया है। धातु की उक्त शास्त्रीय सार्थकता को स्वयं भगवान् पतंजलि ने निम्न प्रकार से सिद्ध किया है—"कथं पुनर्ज्ञायतेऽयं प्रकृत्यर्थोऽयं प्रत्ययार्थ इति। अन्वयाच्च व्यतिरेकाच्च। कोऽसावन्वयो व्यतिरेको वा। इह पचतीत्युक्ते कश्चिच्छब्दः श्रूयते। पच् शब्दश्चकारान्तोऽति शब्दश्च प्रत्ययः। अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते, विक्लित्तिः कर्तृत्वमेकत्वं च। पठतीत्युक्ते कश्चिच्छब्दो हीयते, कश्चिदुपजायते, कश्चिदन्वयो। पच्शब्दो हीयते, पठ्शब्द उपजायते, अतिशब्दोऽन्वयी। अर्थोऽपि कश्चिद्धीयते, कश्चिदुपजायते, कश्चिदन्वयी। विक्लित्तिर्हीयते, पठिक्रियोपजायते, कर्तृत्वमेकत्वं चान्वयी। तन्मन्यामहे, यः शब्दो हीयते तस्यासावर्थो योऽर्थो हीयते, यः शब्द उपजायते तस्यासावर्थो योऽर्थ उपजायते, यः शब्दोऽन्वयी तस्यासावर्थो योऽर्थोऽन्वयी (महाभाष्य १।३।१।१, वार्तिक ६ की व्याख्या)।

अर्थात् यह प्रकृत्यर्थ है और यह प्रत्ययार्थ, यह कैसे पहचाना जा सकता है? अन्वय और व्यतिरेक से। अन्वय और व्यतिरेक का क्या स्वरूप है? 'पचति' शब्द के उच्चारण से कोई शब्द श्रवणगोचर होता है—चकारान्त 'पच्' जो कि प्रकृति है तथा 'अति' शब्द जो कि प्रत्यय भाग है। इसी प्रकार उससे कोई अर्थ भी प्रतीत होता है। यह है—विक्लित्ति (पकाना) तथा कर्तृत्व और एकत्व। तदनन्तर 'पठति' कहने पर पूर्व कथित 'पचति' का 'पच्' भाग विनष्ट हो जाता है, 'पठ्' अंश नया उत्पन्न हो जाता है एवं प्रत्यय अंश 'अति' पूर्ववद्

विद्यमान रहता है। एवमेव उससे अर्थ भी हानोपादानान्वयी होते हैं। उसमें विक्लित्ति अर्थ समाप्त हो जाता है, पठन अर्थ उत्पन्न हो जाता है तथा कर्तृत्व और एकत्व अर्थ पूर्ववद् विद्यमान रहते हैं। उस विनाशोत्पत्ति-अन्विति से यह सिद्ध होता है कि 'पठति' उच्चारणानन्तर 'पचति' के प्रकृति-प्रत्यय भागद्वय में से जो भाग विनष्ट हुआ, उसका वही अर्थ है, जो अर्थ विनष्ट हुआ तथा नया उत्पन्न 'पठ्' भाग का वही अर्थ है जो अर्थ नवीन प्रतीत हो रहा है। इसी तरह दोनों क्रियारूपों में अन्वित 'अति' प्रत्ययांश का उभयत्र अन्वयी कर्तृत्व तथा एकत्व अर्थ निश्चित किया जाता है। इस उदाहरण से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि प्रकृतिभूत 'धातु' के अर्थ की शास्त्रीय संकलपना अनुभवपूर्ण, तर्कसंगत एवं प्रामाणिक है। यहाँ यह बात भी सामने आ जाती है कि प्रत्येक क्रिया रूपों में धात्वंश ही परिवर्तमान है, प्रत्यय भाग तो सर्वत्र एक-सा ही अनुस्यूत रहता है। उक्त दृष्टान्त से तीसरा तथ्य जो प्रमाणित होता है वह है—कर्ता, कर्म, संख्या और काल अर्थ प्रत्यय के ही हैं। कौण्डभट्ट ने वैयाकरण—भूषणसार की द्वितीय कारिका में 'आश्रये तु, तिङः स्मृतः' कहकर उक्त तथ्य को ही उद्घाटित किया है।

अर्थाश्रित तीन परिभाषायें : उपर्युक्त रीति से धातु की संकलपना का आधार सिद्ध हो जाने पर व्याकरण के धातु-पाठ में 'भू सत्तायाम्', 'पठ व्यक्तायां वाचि', 'डुपचष् पाके' इत्यादि प्रत्येक धातु के अर्थ-विशेष के निर्देश की वैज्ञानिकता एवं उपयोगिता स्वतः सिद्ध हो जाती है। जैसी कि पहले चर्चा आयी है, धातु के इन भिन्न-भिन्न अर्थों में अनुगत व अविनाभूत सामान्य अर्थ के आधार पर वैयाकरणों ने उसकी अर्थमूलक सामान्य परिभाषा की है। महाभाष्यकार पतंजलि ने धातु की सकर्मक और अकर्मक दो कोटियों को लक्षित कर उसकी दो प्रकार की परिभाषा निर्दिष्ट की है : (१) 'क्रियावचनो धातुः'[१] तथा 'भाववचनो धातुः।'[२] किन्तु सूक्ष्मेक्षिकया विचार करने पर धातु के एक तीसरे स्वरूप का भी निर्देश पतंजलि के विचारों से सूचित होता

१—महाभाष्य १।३।१.

२—वही

है और वह है—'सत्तावचनो धातुः' अर्थात् 'सत्ता' का स्वरूप क्रिया और भाव से भिन्न है, अतः क्रिया और भाव घटक लक्षणों से सत्तार्थक धातुओं का संग्रह नहीं हो सकता। जैसाकि उन्होंने स्वयं यह प्रश्न उठाया है : "सर्वथा 'स्थित' इत्यत्र धातुसंज्ञा न प्राप्नोति। बाह्यो ह्येतेभ्यस्तिष्ठतिः। एवं तर्हि क्रियायाः क्रिया निर्वर्तिका भवति। द्रव्यं द्रव्यस्य निवर्त्तकं भवति। ..... स्थित इत्युक्ते वर्धतेश्चापक्षीयतेश्च निवृत्तिर्भवति"[1] अर्थात् 'स्थिति' भाव नहीं है, क्योंकि वह छह भावविकारों में परिगणित नहीं है। अतः किसी द्रव्य को 'स्थिति' कहने पर वहाँ क्रिया की प्रतीति न होगी। इस प्रश्न का समाधान देते हैं कि जब हम 'स्थितः' के द्वारा किसी अवस्था-विशेष की सूचना देते हैं, तब वहाँ 'वर्द्धते', 'अपक्षीयते' आदि भाव विकारों की स्थिति नहीं रहती है। इस प्रकार जब दो या चार क्रियाओं के प्रयोग की सम्भावना को कोई अन्य प्रयोग मिटा देता है, तब उस निवर्तक प्रयोग को 'क्रिया' ही कहते हैं। इसी बात को भर्तृहरि इस प्रकार समझाते हैं :

ताभ्यां सर्वप्रवृत्तीनामभेदेनोपसंग्रहः।
जन्मैवाश्रितसारूप्यं स्थितिरित्यभिधीयते ॥

—वाक्यपदीय ३।८।२७

अर्थात् 'जन्म' और 'विनाश' का व्यवहार लौकिक दृष्टि से ही उचित कहा जा सकता है। अन्यथा, ये दोनों ही कल्पित स्थितियाँ मात्र हैं, सत्य नहीं। 'स्थिति' को 'जन्म' से मिलती-जुलती होने के कारण, उसी के समरूप रखा जा सकता है। पर, जन्म एक कल्पित भाव है, जो आविर्भाव का अपर पर्याय माना गया है।[2] अतः 'स्थिति' भी एक कल्पित दशा या भाव विकार ही है, जो जन्म के अधिक अनुरूप है। जब हम 'भाव' कहते हैं तब उससे आविर्भाव-तिरोभाव

१—महाभाष्य १।३।१।१

२—आविर्भावतिरोभावौ जन्मनाशौ तथापरैः।
षट्सु भावविकारेषु कल्पितौ व्यावहारिकौ ॥

—वाक्यपदीय ३।२५, पूना, संस्करण १९७३

ही नहीं, अपितु छहों भाव-विकारों का ग्रहण हो जाता है, पर 'स्थिति' के द्वारा केवल एक ही जन्म सदृश-भाव का संकेत मिलता है।

सत्तार्थक धातु की क्रिया-वाचकता को सिद्ध करने के लिए भाष्यकार पतंजलि दूसरा समाधान देते हैं—'अथवा नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्त्तमानाः काला व्यज्यन्ते। अस्त्यादिभिश्च भूतभविष्यद्वर्तमानाः काला व्यज्यन्ते। अथवा नान्यत्पृष्टे नान्यद् व्याख्येयम्। तेन न भविष्यति किं करोति? अस्तीति'[1] अर्थात् क्रिया का एकलक्षण भूत, भविष्यत् अथवा वर्तमान काल की सूचना देना है। यतोहि क्रियान्तर की भाँति सत्तार्थक 'अस्ति', 'वर्तते' इत्यादि स्थिति-क्रिया भी काल की सूचना देती है, अतः इसकी क्रियार्थकता में सन्देह निष्फल है। यहाँ यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है कि 'किं करोति' के उत्तर में 'अस्ति' का प्रयोग नहीं हो सकता।

एवंच भाष्यकार पतंजलि ने अस्त्यादि की क्रिया-सिद्धि में जो शंका-समाधान प्रस्तुत किया है तथा भर्तृहरि ने जो 'स्थिति' को जन्म नामक प्रथम-भाव के सदृश निरूपित किया है, उससे यही सिद्ध होता है कि 'क्रियावचनो धातुः' और 'भाववचनो धातुः' की भाँति 'सत्तावचनो धातुः' की भी आवश्यकता है, अतएव भर्तृहरि ने 'स्थिति' को प्रथम भाव न कहकर, तत्सदृश कहा है।

सामान्य क्रिया : दूसरी बात यह है कि धातु की सामान्य-परिभाषा सामान्य धातु के द्वारा ही की जा सकती है। चूँकि संस्कृत में सामान्य धातुयें तीन हैं, 'अस भुवि', 'भू सत्तायाम्' तथा 'डुकृञ् करणे'। अतः इन धातुओं के संग्रहार्थ तीन प्रकार के लक्षण भी सम्भव हैं। यह अनुभव-सत्य है, प्रत्येक वाक्य सकर्मक दशा में 'करोति' से तथा अकर्मक दशा में 'भवति' या 'अस्ति' से निष्पन्न किये जा सकते हैं, जैसे 'सः पठति' वाक्य को 'सः पठनं करोति' से, 'स उत्पद्यते' को 'स उत्पन्नो भवति' से और 'धनं क्षीयते' को 'धनस्य क्षतिरस्ति' से निष्पन्न किया जा सकता है। यही कारण है, उक्त तीनों धातुओं को अभिन्नरूप से सभी विशेष धातुओं

१—महाभाष्य १।३।१-४

में संयुक्त किया जाता है। इनके इस संयोग को 'कृभ्वस्ति' योग कहते हैं। समस्त आमन्त धातुओं से लिट् लकार में तथा 'विद' से लोट् और लुट् लकार में भी पर्यायेण तीनों ('कृ' 'भू' और 'अस्ति') का योग होता है। विशेष क्रिया एवं सामान्य 'कृभ्वस्ति' का यह योग सामान्य-विशेषभावरूप होता है जैसाकि भट्टोजि दीक्षित ने कहा है—'तेषां क्रियासामान्यवाचित्वादाम्प्रकृतीनां विशेषवाचित्वात्तदर्थयोरभेदे-नान्वयः।'[1] एवं च 'एधाचक्रे', 'एधांम्बभूवे' इत्यादि कृभ्वस्तियोगस्थल में एककर्तृकभूतानद्यतनपरोक्षा वृद्ध्यभिन्ना क्रिया' इस रूप में समान शाब्दबोध होता है। इस स्थिति में 'करोति' और 'भवति' या 'अस्ति' में सकर्मक-अकर्मक-भेद नहीं रह जाता, अपितु जिस समानाधिकरण विशेष के साथ इनका प्रयोग होता है, उसी के अनुसार ये सकर्मक या अकर्मक हो जाती हैं। अतएव महाकवि माघ एवं श्रीहर्ष ने सामान्य क्रिया के रूप में 'भवति' का कर्मवाच्य में प्रयोग किया है—'तस्यातपत्रं बिभराम्बभूवे'[2], 'तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्विभराम्ब-भूविरे।[3]

संस्कृत के ही समान हिन्दी और तत्सम भारोपीय भाषाओं में भी 'कृ', 'भू' और 'अस्' की समानार्थक धातुओं को ही मूलभाव या सामान्य क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। यह कोई अचानक संयोग की बात नहीं है। उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है :—

संस्कृत में : 'एधांचक्रे', 'एधाम्बभूव', 'एधामास'।

हिन्दी में : 'खाया करता हूँ, 'खा रहा होता हूँ, खाता हूँ।

अंग्रेजी में : 'डज् हि गो, हैव बीन डूइंग' और 'हैव डन'।

उपर्युक्त तथ्यों को ही आचार्य भर्तृहरि क्रिया के प्रसंग में अधिक स्पष्टता के साथ प्रतिपादित करते हैं। उनके वक्तव्य का सारांश इस प्रकार है कि 'सत्ता ही सब क्रिया-भेदों, व्यापार-भेदों या भाव-भेदों में

१—वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादिप्रकरण 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि'

—पा० सू० ३।१।४० सूत्र की व्याख्या

२—शिशुपालवधम्, सर्ग ३।२

३—नैषधीयचरितम्, सर्ग १।४१

समवायी या सर्वरूपा होकर स्थित है। सामान्यतः उसे ही क्रिया कह दिया जाता है। उसी का एक रूप 'साध्य' है और दूसरा 'सिद्ध'। एक को तिङ के योग के कारण 'आख्यात' कह दिया जाता है और दूसरे को कृदन्तों के योग से सत्त्वभाव कह दिया जाता है। इस प्रसंग में हेलाराज संभवतः भर्तृहरि की ही एक लुप्त कारिका को उद्धृत करते हैं :

अभिन्ना चैव भिन्ना च प्राहुः कृभ्वस्तयः क्रियाम्।
एकानेकविशेषस्था यथाहुः सार्वनामिकाः।।[1]

अर्थात् अन्य धातु रूपों के साथ मिलकर उससे अभिन्न अथवा स्वतन्त्रावस्था में सर्वथा भिन्न अर्थ को वहन करने वाले 'कृ', 'भू' और 'अस' धातु विविध दशाओं में विविध अर्थों को धारण करते हुए 'सर्वनाम क्रिया' या सर्व-क्रिया जैसा रूप धारण कर लेते हैं। वैयाकरण येस्पर्सन ने तो मजाक में कहा था—"तब तो प्रोनाउन के अनुकरण पर प्रो-वर्ब, प्रो-एडवर्ब, प्रो-एडजैक्टिव, आदि की भी कल्पना करनी पड़ेगी[2], पर भर्तृहरि ने कितनी संजीदगी से सार्वनामिक क्रिया की सत्ता को स्वीकार कर लिया है और यह बात येस्पर्सन से लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व की है।

सारांश : उपर्युक्त कथन से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि धातु की सामान्य परिभाषा तीन सामान्य क्रियाओं के द्वारा की जा सकती है। यद्यपि महाभाष्य में वह 'क्रियावचन' और 'भाववचन' रूप में दो क्रियाओं से ही कथित है, जिन्हें अंग्रेजी में हम क्रमशः एक्शन डिनोटिंग (Action denoting) और एग्जिस्टेंस डिनोटिंग (Existence denoting) कह सकते हैं, तथापि धातु के वर्गीकरण को लक्षित कर, पाणिनि के अनुसार कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि ने उसके तीन रूप स्वीकार किए हैं :

१—क्रियावचन २—भाववचन और ३—सत्तावचन।

पाश्चात्य मत समीक्षा : पाश्चात्य वैयाकरण येस्पर्सन भी धातुओं का त्रिधा विभाजन ही करते हैं। प्रथमतः वे स्वीट के अनुकरण पर

१—वाक्यपदीय ३।८।१२ कारिका की टीका में उद्धृत

२—सत्यकाम वर्मा, व्याकरण की दार्शनिक भूमिका, ७।१२, पृ० २२५, दिल्ली, १६६६

धातु शब्दों को सामान्यतः 'घटनाशब्द' फेनोमेनन वर्ड्स (Phenomenen words) कहते हैं। बाद में वे इन्हें तीन वर्गों में बाँटते हैं। ये तीन वर्ग हैं क्रियावचन (एक्सन डिनोटिंग), प्रक्रमवचन (प्रोसेस डिनोटिंग) और स्थिति या सत्तावचन (कंडीशन डिनोटिंग)।[1] यहाँ येस्पर्सन का प्रक्रमवचन यदि क्रिया के पूर्वापरीभूत क्रम के प्रति निर्देश कर रहा है तो वह अन्यथासिद्ध की ही कोटि में आयेगा। कारण कि उस क्रम को क्रिया शब्द ही स्पष्ट कर रहा है। इसके अतिरिक्त वह क्रम क्रियावचन और सत्तावचन में भी व्याप्त रहता है। फलतः विशेष व्यवच्छेद्य के अभाव में पृथक् कोटि की कल्पना निष्फल होगी। इसकी अपेक्षा भारतीय भाषाज्ञवैानिकों का 'भाववचन' कहीं अधिक तर्क-संगत, सूक्ष्म व सुस्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार उनका 'घटनाशब्द' भी अस्पष्ट व अतिव्याप्त अर्थ की प्रतीति करा रहा है, जबकि 'साध्यावस्था' शब्द क्रिया का अतिस्पष्ट रूप प्रस्तुत करता है।

येस्पर्सन और भारतीय दृष्टि से क्रियाशब्दों का विभाग चित्र

धातु = (घटनाशब्द = क्रियाशब्द)

क्रियावचन	सत्तावचन	भाववचन (भारतीय नाम)
क्रियावचन	सत्तावचन	प्रक्रमवचन (येस्पर्सन नाम)

परिभाषात्रय के आधार : ऊपर के प्रघट्टक में प्रोक्त तीन लक्षण न तो परस्पर सम्बद्ध हैं और न ही धातुमात्र के लक्षण हैं, अपितु वे पृथक्-पृथक् तीन प्रकार के धातुओं को परिभाषित करते हैं। वे धातु-मात्र को तीन वर्गों में विभक्त कर एक-एक वर्ग को संगृहीत करने वाले तीन लक्षण हैं। वस्तुतः उनकी परिकल्पना के आधार ही भिन्न हैं। समझाने की वह दूसरी ही रीति है जो कि सहज बुद्धिगम्य है। "भूवा-

१—सत्यकाम वर्मा, व्याकरण की दार्शनिक भूमिका, ७।२६, पृ० २७०, दिल्ली १९६९

दयो धातवः"[1] की व्याख्या करते हुए भाष्यकार पंतजलि ने उस सरल अवबोधन सरणि के प्रतिपादन में वार्तिककार की वार्तिक 'क्रियावचनो धातुः'[2] के द्वारा उस इतर पद्धति को संवाद की शैली में समझाया है कि पचति, पक्ष्यति, अपाक्षीत् इत्यादि जिन क्रियाओं और क्रियारूपों का करोति क्रिया और क्रियारूपों के साथ सामान्य-विशेषात्मक समानाधिकरण होता है, वे 'पच्', 'गम्', 'पठ्' इत्यादि सकर्मक धातुएँ 'क्रियावचन' से लक्षित होती हैं। उन धातुओं से वाच्य क्रियायें कर्मकारक के व्यापार से विशिष्ट होती हैं, अतः उनकी कोटि पृथक् है। फलतः ऐसी सकर्मक धातुओं को लक्षित करने के दृष्टिकोण से लक्षण बना— 'क्रियावचनो धातुः।' इसी प्रकार अकर्मक धातुओं को दृष्टिगत करते हुए वार्तिककार कात्यायन ने प्रश्न उठाया[3] है कि 'किं करोति' प्रश्न के उत्तर में 'भवति' का प्रयोग नहीं होता, अतः करोति से भवति का सामानाधिकारण्य सम्बन्ध प्रतीत नहीं है। फलतः भवति की प्रकृति 'भू' धातु पदवाच्य नहीं हो सकेगी। एवमेव ऐसा नहीं होता कि 'किं करोति' पूछने पर 'अस्ति' से उत्तर दिया जाय। अतः 'अस्ति' की प्रकृति 'अस्' धातु में भी उक्त 'क्रियावचनो धातुः लक्षण' अव्याप्त है। एवंच उक्त रीति से सकल धातुओं को लक्षित करने के लिए 'क्रियावचन', भाववचन' तथा 'सत्तावचन' इन तीन लक्षणों की आवश्यकता है अर्थात् जो ध्वनिसमूह क्रिया, सत्ता अथवा भाव के वाचक हैं वे धातु कहे जाते हैं। उक्त तीनों लक्षणों में विशेषणतया प्रविष्ट क्रिया, सत्ता भाव शब्द प्रधानतया भाव अर्थ के प्रत्यायक हैं। 'करोतीति क्रिया' 'अस्तीति सत्ता' और 'भवतीति भावः' इस प्रकार संक्षेप में इनकी व्युत्पत्ति हो सकती है। इनमें प्रत्यायर्थ भाव की एकता होने पर भी प्रकृत्यर्थ गत अन्तर से मिथः भेद है।

१—पाठ सू० १।३।१

२—"कथं पुनर्ज्ञायते क्रियावचनाः पचादय इति, यदेतेषां करोतिना समानाधिकरणम्, किं करोति पचति, "किं करिष्यति पक्ष्यति, किमकार्षीत् अपाक्षीदिति"—महाभाष्य १।३।६।६-४

३—"अस्तिभवतिविद्यतीनां च धातुत्वम्"—महाभाष्य १।३।६-७

एक बात और है—'क्रियावचनो धातुः' और 'भाववचनो धातुः' इन दोनों लक्षणों को एक में मिलाकर भी धातु का एक सर्वत्र अनुगत लक्षण संभव है। उस स्थिति में 'भाववचनत्वे सति क्रियावचनत्वं धातुत्वम्' अर्थात् 'भाव के साथ-साथ जो क्रिया का भी वाचक होता है' वही धातु है, ऐसा एक लक्षण सम्पन्न होगा। ऐसी कोई धातु नहीं जिसके वाच्यार्थ में कोई भाव न रहता हो और वह भाव कर्त्ता के व्यापार के बिना ही स्थित हो। प्रत्युत धातु मात्र किसी न किसी भाव के बोधक हैं और वह भाव कर्त्ता के व्यापार से विशिष्ट होता है। एवंच 'तेन भूयते', 'सर्वैर्हस्यते', 'मया स्थीयते' इत्यादि वाक्यों में भी अनुमित 'स्थिति' इत्यादि भाव, कर्तृव्यापार से विशिष्ट रहते ही हैं। अन्यथा स्थिति, भवन इत्यादि का अनुमान ही सम्भव न होगा।

एक परिभाषा—स्मरणीय है कि उक्त तीन लक्षणों का प्रतिपादन केवल बाल-बुद्धि की उपज है। धातु के प्रकारत्रय को समझाने की यह एक सरणि है।[1] अतः भाष्यकार पतंजलि ने इस दृष्टिकोण को पूर्वपक्ष में रखकर सकर्मकाकर्मक धातुमात्र में अनुगत एक ही असाधारण धर्म के माध्यम से धातु को परिभाषित किया है और वह एक परिभाषा है :—

'भाववचनो धातुः[2] अर्थात् जो ध्वनि समूह या मूल शब्द-प्रकृति 'भाव' अर्थ की आख्यायिका है, उसे 'धातु' कहते हैं। भाष्यकार की यह अपनी कोई नयी परिभाषा नहीं है, अपितु यह अनादि व्याकरण परम्परा से प्राप्त है। इनके पूर्ववर्त्ती निरुक्तकार यास्क ने भी धातु की यही परिभाषा दी है—'भावप्रधानमाख्यातम्' अर्थात् जिस तिङन्त पद (आख्यात) से धात्वर्थ भाव प्रधानरूप से अभिहित होता है, उस प्रधान अर्थ का वाचक प्रत्यय तिङ् नहीं है, अपितु उस प्रधान अर्थ की वाचिका प्रकृति धातु ही है। यद्यपि 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्' के अनुसार सभी शब्द-रूपों से प्रधानतया प्रत्ययार्थ ही बोधित होता है, तथापि तिङन्तरूपों

१—उपायाः शिक्षमाणानां बालानां चोपलालना ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥—वाक्यपदीय

२—महाभाष्य १।३।६।१२

में यह वैपरीत्यभाव देखा जाता है कि वहाँ प्रकृत्यर्थ ही प्रधानरूपेण अभिहित होता है तथा वह प्रकृत्यर्थ है—भाव। तिङन्तरूपों की यही विशेषता है, जिसे 'भावप्रधानमाख्यातम्' के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

भाष्यकार पतंजलि भाव की व्याख्या इस प्रकार से करते हैं कि वह धातुमात्र में व्याप्त रहता है। इनकी प्रथम व्याख्या 'भवतः स्वपदार्थो भवनं भाव इति'[1] के अनुसार 'होना' अर्थात् 'सत्ता' ही भाव है। इस व्याख्या में पूर्वोक्त 'सत्तावचनो धातुः' भेद समाहित होता है। दूसरी व्याख्या कर्तृसाधनपरक है—'भवतीति भावः' अर्थात् 'होने वाला' भाव कहा जाता है। इस व्याख्या से जन्मादि और 'छेदः, भेदः' इत्यादि सिद्ध रूप भी भाव की परिधि में समाविष्ट हो जाते हैं। एवंच 'भाववचनो धातुः' को अलग से कहने की अपेक्षा नहीं रह जाती है। इसी प्रकार भाव पद की तीसरी व्याख्या के द्वारा भाष्यकार ने 'क्रियावचनो धातुः' इस लक्षण को भी इसी में अन्तर्हित कर लिया है, जिससे क्रिया की साध्यरूपता को प्रकट करने के लिए लक्षणान्तर की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह तीसरी व्याख्या है—'भाव्यते यः स भावः'[2] अर्थात् कालान्तर में साध्यरूप भी भाव कहा जाता है। फलतः भाव ही सत्ता और क्रिया को भी द्योतित करता है, अतः 'भाववचनो धातुः' यही एकमात्र दोषत्रय-रहित लक्षण स्थिर होता है।

आचार्य भर्तृहरि भी 'भाव' को ही धात्वर्थ स्वीकार करते हैं[3] और क्रिया को उसी में अन्तर्भुक्त मानते हैं। सत्ता भी भाव में ही व्यवस्थित है। भाव और क्रिया के अन्तर को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने कहा है :—

१—महाभाष्य १।३।१।१२

२—वही

३—भाव एव हि धात्वर्थ इत्यविच्छिन्न आगमः ।।
प्रत्यस्तरूपां भावेषु क्रियेति प्रतिजानते ।
जायमानान्न जन्मान्यद् विनाशेऽप्यपदार्थता ।
अतो भावविकारेषु सत्तैका व्यवतिष्ठते ।।—वाक्यपदीय ३।८।२४;२५,२८

कालानुपाति यद् रूपं तदस्तीति प्रतीयते ।
परितस्तु परिच्छिन्नं भाव इत्येव कथ्यते ।।

—वाक्यपदीय ३।८।१२

अर्थात्, काल से सीमित प्रतीत होने वाला रूप 'अस्ति' क्रिया के रूप में ज्ञात होता है, पर वही रूप चारों ओर से कालहीन दशा में 'भाव' कहा जाता है। इसकी व्याख्या में हेलाराज का अभिमत है—'तदेवमाख्याता नियतकालाऽस्ति क्रिया प्रतीयते। सैव च सत्ता नामपदात् सिद्धतया प्रतीयते भाव इति। अपूर्वापरो हि भावः शब्द-शक्त्यनुरोधात् तिङन्तेनासादितपूर्वापरोऽभिधीयते पचतीति।' तिङन्तरूपों से काल की सूचना मिलने के कारण वे 'अस्ति आदि क्रियाओं से सूचित होते हैं। 'तिङ्' आदि का विभाग ही कालानुपाती है। 'सत्ता' रूप में वही भाव नामपद का वाच्य होकर सिद्धभाव कहलाने लगता है। भाव के रूप में स्थित होने पर उसमें क्रम या पूर्वापर की बात नहीं रहती, किन्तु तिङ् प्रत्ययों का योग उसमें पूर्वापर-भावना को समाहित कर देता है। इसके विपरीत कृत् प्रत्ययों का योग अक्रम सिद्धावस्था के सूचक 'पाक' आदि संज्ञारूपों को जन्म देता है।

निष्कर्ष : इस कथन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि काल से विहीन रूप यदि 'भाव' है तो काल से संगत रूप 'क्रिया'। धातु में प्रत्यय संप्रयोग से ही 'क्रिया' की अभिव्यक्ति सम्भव है, 'भाव' तो प्रत्यय रहित धातुमात्र से भी अभिव्यक्त होता है। काल ही दोनों का भेदक तत्त्व है। इसी को इंगित करते हुए भाष्यकार ने 'काल' को क्रिया का लक्षण बताते हुए कहा है—'नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्त्तमानाः काला व्यज्यन्ते। अस्त्यादिभिरपि भूतभविष्यद्वर्त्तमानकाला व्यज्यन्ते।'[1]

भावविकार : ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय वैयाकरणों की परम्परा में 'भाव' को ही धात्वर्थ अंगीकार किया गया है तथा उसकी तीन प्रकार की व्याख्यायें वर्णित

१—महाभाष्य १।३।१, वा० १६

हैं, जिससे यह भाव धातुमात्र के कुक्षिगत होता है। पीछे यह भी निर्देश किया गया है कि भाव कालाननुपाती अर्थात् कालानभिव्यंजक है। उस अखण्ड एवं व्यापी भाव के छह विकार होते हैं, जिसे निरुक्त और महाभाष्यकार ने समान शब्दों में कहा है कि 'षड् भावविकारा इति ह स्माह भगवान् वार्ष्यायिणिः, जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।'[1] आचार्य भर्तृहरि भी इसी बात को दोहराते हैं।

ये छह भावविकार 'भू' के मूलार्थ तक ही सीमित नहीं रहते, अपितु पदार्थों की उत्पत्ति से लेकर विनाश पर्यन्त की घटनाओं के प्रकाशक हैं। अतः यह कहना पड़ेगा कि किसी क्रिया को सत्ता तथा उक्त अनेक स्थितियाँ ही 'भाव' पद वाच्य हैं, जिन्हें छह रूपों में विभक्त किया गया है। एवंच उक्त छह भावविकार एक ही सत्ता को विविध छह दशाओं के सूचक हैं। यह त्रिकाल सत्य है कि द्रव्य की भाँति क्रिया स्थिर-सी प्रतीत नहीं होती। वह प्रवर्तमान क्रम की एक स्थिति या विशेष प्रक्रिया है। उसकी स्थिति काल-क्षणों के व्यवहार के साथ परिवर्तित होती रहती है। वह जन्मा, वह है, वह परिवर्तित हुआ, वह बढ़ा, वह क्षीण हुआ और वह नष्ट हो गया में 'वह' शब्द अपरिवर्तनीय है। इसके साथ संयुक्त क्रियापद विविध अवस्थाओं को सूचित करते हैं। ये सारी क्रिया-स्थितियाँ एक ही क्षण में युगपत् घटित नहीं हो सकती हैं। इनकी सम्भावना विभिन्न कालक्षणों में ही सम्भव है। एवंच काल के ये विविध चरण ही भाव-विकार हैं। यह ध्रुव सत्य है कि जब हम किसी क्रियारूप का प्रयोग करते हैं तो उससे पूर्व या पश्चात् की स्थिति का निषेध अभीष्ट नहीं होता; प्रत्युत तत्क्षण-विशेष की ही स्थिति को उससे प्रकट करना अभिप्रेत होता है। यह बात दूसरी है कि उस क्षण-विशेष में प्रयुक्त क्रियारूप से प्रतीत क्रिया क्षण-विशेष में वर्तमान होती हुई भी विभिन्न चरणों में घटित होती है। जैसे 'वह खाता है' आदि में हम एक क्षण-विशेष को पकड़ने का कितना भी यत्न क्यों न करें, उसके द्वारा एक ऐसी प्रकिया सामने आती है, जिसके अनेक चरण होते हैं तथा उसके निष्पादन में

१—महाभाष्य १।३।१, वा० १६

अनेक क्षण-स्थितियों का योगदान अवश्य रहता है। 'अस्ति' आदि क्रिया रूपों के उच्चारण और श्रवण के उपरान्त प्रतीयमान 'सत्ता' अर्थ उच्चारण से लेकर ज्ञानपर्यन्त अनेक क्षणस्थायी होता है, अतः वहाँ भी अनेक चरणों की स्थिति सुस्पष्ट है। क्रिया के ये 'चरण' ही भाव विकार हैं, जिनके अनेकानेक भेद सम्भव होने पर भी आचार्यों ने समाहार-बुद्धि से छह भेद दिखाये हैं।

उक्त भावविकार या क्रिया-चरण काल पर ही आश्रित रहते हैं। भर्तृहरि के शब्दों में :—

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥
—वाक्यपदीय १।३

सैव भावविकारेषु षडवस्थाः प्रपद्यते।
क्रमेण शक्तिभिस्ताभिरयं प्रत्यवभासते॥
—वाक्यपदीय ३।१।३

अर्थात् भावभेद का उद्भव जन्मादि छह विकारों से ही होता है। उनका आश्रय 'काल' है। इन षड्विध भावविकारों में सर्वत्र 'जाति' या 'सत्ता' ही अनुगत रहती है। स्मरणीय है, काल का उपर्युक्त अन्तर्ग्रहण ही 'क्रम' की भावना को जन्म देता है। जब एक ही क्षण में छहों स्थितियाँ सम्भव नहीं हैं, तब निश्चित ही वे एक-एक करके होंगी। इसे ही 'क्रमशः' होना कहा गया है :—

आत्मभूतः क्रमोऽप्यस्याः यत्रेदं कालदर्शनम्।
पौर्वापर्यादिरूपेण प्रविभक्तमिव स्थितम्॥
—वाक्यपदीय ३।१।३७

क्रमो हि धर्मः कालस्य॥—वाक्यपदीय २।५०
क्रिया तु यौगपद्येऽपि क्रमरूपानुपातिनी॥
—वाक्यपदीय २।४६५

अर्थात् पूर्वापर भाव जैसी स्थिति को क्रम कहते हैं। यह क्रम काल का धर्म है। क्रिया चाहे सुनने में युगपत् घटित प्रतीत होती हो, पर वहाँ भी क्रम की स्थिति रहती ही है। एवञ्च उपर्युक्त कथन से भाव और क्रिया का परस्पर भेद और सम्बन्ध प्रकट हो जाते हैं। यदि काला-

तीत रूप भाव है तो कालप्रतीत रूप क्रिया। भाव के छह भेद ही क्रिया के चरणविशेष हैं। कालातीत भाव ही धातु का अर्थ है। वही कालानुपाती होने पर जहाँ क्रिया कहलाता है, वहीं लिंग और संख्या से अन्वित होने पर 'नाम' पद से अभिहित होता है।[1]

धात्वर्थ : प्राचीन भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने निर्विशेष एवं अखण्ड भाव को ही धातु का अर्थ स्वीकार किया है, किन्तु लोक में केवल धातु का प्रयोग दृष्ट अथवा श्रुत नहीं है।[2] प्रयोग तो प्रत्यय से विशिष्ट धातु का ही होता है और प्रत्यय संप्रयोग होते ही धातु-वाच्य वह अखण्ड 'भाव' निश्चित सखण्ड कालानुपाती क्रिया रूप में प्रतीत होने लगता है। अतएव भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट, नागेश-भट्ट प्रभृति आधुनिक भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने अपने-अपने ग्रन्थों में धातु के उस अर्थ को आधार मान कर लक्षण निर्धारित किया है, जो प्रत्यय-संप्रयोग के अनन्तर प्रतिभासित होता है। स्पष्ट है, प्रत्यय के संप्रयोगानन्तर धातुवाच्य भाव कालानुपाती क्रियारूप ही होता है, अतः इन वैयाकरणों ने क्रिया को धातु का अर्थ स्वीकार किया है तथा 'क्रियावचनत्वमेव धातुत्वम्' को व्यवहारानुभूत और संगत लक्षण माना है।

भाष्यकार पतंजलि ने क्रिया के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे व्यापाररूपा स्वीकार किया है, जैसे—"का पुनः क्रिया ? ईहा। का पुनरीहा ? चेष्टा। का पुनश्चेष्टा ? व्यापारः"[3] अर्थात् क्रिया को ही ईहा, चेष्टा और व्यापार शब्दों से अभिहित किया जाता है। भाष्यकार के इसी आधार पर परवर्ती वैयाकरणों ने क्रिया को व्यापार शब्द से अभिहित किया है। यह व्यापार अथवा क्रिया

१—"लिङ्गसंख्याकारकान्वितं द्रव्यम्"—सि० कौमुदी, बालमनोरमा, प्रथम भाग, सूत्र संख्या २०

२—'भाव एव हि धात्वर्थ इत्यविच्छिन्न आगमः।
प्रत्ययस्तद्रूपां भावेषु क्रियेति प्रतिजानते ॥
धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते ॥'
—वाक्यपदीय ३।८।२४-२५

३—महाभाष्य, १।३।४

अमूर्तरूप होने से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, किन्तु अनुमान-प्रमाण से इसकी सिद्धि होती है। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—"सासावनुमानगम्या। कोऽसावनुमानः? इह सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कदाचित् पचतीत्येतद् भवति कदाचिन्न भवति। यस्मिन् सन्निहिते पचतीत्येतद् भवति, सा नूनं क्रिया। अथवा, यया देवदत्त इह भूत्वा पाटलिपुत्रे भवति सा नूनं क्रिया।"[1] अपने उक्त कथन में भाष्यकार ने अनुभवसिद्ध अन्वय-व्यतिरेक से कार्यानुमान के द्वारा क्रिया की सिद्धि की है। स्मरणीय है, 'जहाँ पर भाष्यकार ने 'क्रियावचनो धातुः' और 'भाववचनो धातुः' का उल्लेख किया है, वहाँ क्रिया अथवा व्यापार से उत्पाद्य या प्रयोज्य फल की चर्चा नहीं की है। किन्तु नव्य वैयाकरणों ने 'पचति', 'भवति' इत्यादि व्यावहारिकरूपों को आधार मानकर धातु के अर्थ को एक सुव्यवस्थित नियम में आवद्ध करने की आकांक्षा से उसके फल और व्यापार दो अर्थ स्वीकार किये हैं।'[2] इन वैयाकरणों ने जहाँ धातु-मात्र के ये दो अर्थ फलतः माने हैं, वहीं इनसे सकर्मक और अकर्मक भेद को भी व्यवस्थित किया है।

फल—वैयाकरणों से मान्य धात्वर्थ फल और व्यापार दोनों ही पारिभाषिक हैं। अन्यथा शब्दशास्त्र में भी लोकप्रसिद्धि से 'अन्येच्छानधीनेच्छा विषयत्वम्' को ही फल स्वीकार करना पड़ता। लोक में तो शास्त्र या लोक को प्रमाण मानकर जिस उद्देश्य से किसी व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है, वह उद्देश्य ही फल शब्द से कहा जाता है। भर्तृहरि ने भी कहा है :—

यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभन्ते पचादयः।
तत्प्रधानं फलं तेषां न लाभादिप्रयोजनम्॥[3]

१—महाभाष्य, १।३।१।४

२—फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृतः।
फले प्रधानं व्यापारः तिङर्थस्तु विशेषणम्॥—वैया० भू० सार १-२

३—वैया० भूषणसार दर्पण, धात्वर्थप्रकरण, अनेक ग्रन्थों में वाक्यपदीय की कारिका के रूप में उद्धृत

'स्वरितञितः०'[1] सूत्र में भी प्रवृत्ति के मुख्य उद्देश्य को ही फल बताया गया है। यदि इस प्रकार के फल को धातु का वाच्य स्वीकार कर लिया जाय तब तो 'तण्डुलं पचति' इत्यादि वाक्यों में 'तण्डुलं' की कर्म संज्ञा सिद्ध नहीं हो सकेगी, क्योंकि तण्डुल न तो प्रवृत्ति के मुख्य उद्देश्य का आश्रय है और न ही इसमें 'अन्येच्छानधीनेच्छा विषयता' ही है। उक्त इच्छा की विषयता सुख-प्राप्ति अथवा दुःख-निवृत्ति में ही रहती है, क्योंकि मनुष्य की सारी इच्छायें सुख-प्राप्ति अथवा दुःख-विनिवृत्ति के लिए होती हैं। अतः पाकेच्छा, बीज–वपनेच्छा अथवा भोगेच्छा इत्यादि सारी इच्छायें किसी न किसी इच्छा के अधीन रहती हुई सुखेच्छा या दुख-निवृत्ति की इच्छा में पर्यवसित होती हैं, किन्तु पूछा जाय, सुखेच्छा किस लिए तो इसका उत्तर नकारात्मक होगा। कहने का तात्पर्य है, सुखेच्छा अथवा दुःखनिवृत्ति की इच्छा किसी भी इच्छा के अधीन नहीं है। अतः लोक में इसी को सभी प्रवृत्तियों का मुख्य उद्देश्य माना गया है। यदि इस मुख्य उद्देश्य को प्रकृत प्रसंग में भी फल स्वीकार कर लिया जाय तब उक्त प्रकार के फल का आश्रय कथमपि तण्डुलादि द्रव्य नहीं हो सकेंगे। ऐसी स्थिति में उनकी कर्मता तथा 'तण्डुलं पचति' इत्यादि प्रयोग असम्भव हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त धातुओं में सकर्मक और अकर्मक की व्यवस्था भी नहीं बनाई जा सकेगी। अतः भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने अपने शास्त्र के लिए फल को परिभाषित किया है और यह परिभाषित फल ही धातु का वाच्य है।

वैयाकरणों ने फल की परिभाषा की है—"धातुनिष्ठवृत्तिविशिष्टत्वं फलत्वम्। वैशिष्ट्यंच-स्वज्ञानजन्योपस्थितिविषयत्व-स्वज्ञानजन्योपस्थितिविषयव्यापारविशिष्टत्व-एतदुभयसम्बन्धेन। व्यापारविशिष्टत्वञ्च - स्वजन्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्व-स्वप्रयोज्यत्वप्रकारक प्रतीतिविषयत्व-एतदन्यतर–सम्बन्धेन।"[2] स्मरणीय है, श्रूयमाण

१–पा० सू० १।३।७२

२–वैया० भू० सारप्रभा, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६९, पृ० १४

सभी पदों में किसी न किसी अर्थ से निरूपित शक्ति रहती है जिसे वृत्तिरूपा माना गया है। इस वृत्ति ज्ञान से ही पद से पदार्थ की 'उपस्थिति' और तदनन्तर 'शाब्दबोध' होने की प्रक्रिया है। पद से यदाकाराकारित वृत्तिज्ञान होता है, तद्‌रूप में ही उपस्थिति तथा शाब्दबोध भी होते हैं। धातु में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा फल और व्यापार निरूपिता शक्ति प्रमाणित है, अतः उसे फल और व्यापार की उपस्थिति तथा उनका परस्पर विशेष्य-विशेषण भाव से शाब्दबोध में भान भी होता है। यहाँ फल के उपर्युक्त लक्षण में यही दर्शाया गया है कि वाक्य में जिस धातु का प्रयोग होगा, उस धातुनिष्ठ वृत्तिज्ञान से जिसकी उपस्थिति होगी तथा उसी धातुनिष्ठ वृत्तिज्ञान के द्वारा उपस्थित व्यापार से जिसकी जन्यतया और प्रयोज्यत्वेन प्रतीति होगी, वही उस धातु का वाच्य फल कहा जायेगा।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सदा स्थायी 'सत्ता' तथा 'प्रागभाव' ये दोनों ही जन्य नहीं होते, अतः ये दोनों क्रमशः √भू एवं √वारि धातु के फल नहीं कहे जायेंगे, जबकि ये दोनों उक्त धातुओं के फलरूप में मान्य हैं। √भू का अर्थ है 'सत्तानुकूलव्यापार' एवं √वारि का अर्थ है 'संयोगानुकूलव्यापाराभावानुकूलव्यापार'। इसके समाधान के लिये उक्त फल-लक्षण में 'स्वजन्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्व' अंश का निवेश किया गया है। एवं च सत्ता और प्रागभाव वस्तुतः जन्य नहीं होते, किन्तु वाक्य में 'भवति' व 'वारयति' क्रियारूपों के उच्चारण से इन फलों की जन्यत्वरूप में प्रतीति अवश्य होती है। एवमेव सभी द्विकर्मक धातुओं के द्वितीय फल, जो कि संयोग, विभाग इत्यादि रूप में प्रसिद्ध हैं और जो मुख्य व्यापार से साक्षात् जन्य नहीं हैं, उन्हें भी क्रोडीकृत करने के लिए लक्षण में 'स्व (मुख्य व्यापार से) प्रयोज्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्व, अंश का उपादान किया गया है। इसी प्रकार 'संयोगानुकूलव्यापार' अर्थ वाली √गम् धातु के व्यापार से एकत्र संयोग तथा अन्यत्र विभाग की प्रतीति होती है, किन्तु वह विभाग √गम् धातुनिष्ठ वृत्तिज्ञान से उपस्थित नहीं है, अतः वह फल की उक्त परिभाषा में न आ जावे, इसके लिए लक्षण में आद्य सम्बन्ध का निवेश किया गया है। किंच मुख्य व्यापार भी, 'स्व' अर्थात् धातु-

निष्ठ वृत्तिज्ञान से जन्य (उपस्थित) होता है, अतः उसमें फल की परिभाषा अतिव्याप्त न हो और जो व्यापार व्यापार से जन्य होता है, वह 'फल' कहलावे, इसके लिये 'फललक्षण' में द्वितीय सम्बन्ध का सन्निवेश किया गया है। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'सत्ता' और 'प्रागभाव' में आरोपित जन्यत्व अंगीकार करके उपर्युक्त फललक्षण में व्यापार के वैशिष्ट्य को रोका जा सकता है, तथापि तथाकथित आरोप 'जन्यत्वाभाववती सत्ता' इस बाध के विद्यमान रहते भ्रम रूप न होकर, आहार्यरूप ही होगा, जिसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना वृत्ति का सहारा लेना पड़ेगा और इस प्रकार गौरव दोष समुपस्थित होगा। अतः उक्त फल–लक्षण में आरोपित जन्यत्व की अपेक्षा 'जन्यत्वप्रकारक प्रतीति' का निवेश लाघव एवं औचित्या-वह है।

ऊपर प्रदर्शित फल का लक्षण दीक्षित एवं कौण्डभट्ट प्रभृति नव्य-वैयाकरणों से सम्मत है, क्योंकि इस प्राचीन परम्परा में फल और व्यापार अर्थ में धातु की खण्डशः शक्ति स्वीकार की गयी है। जैसे एक वृन्त में दो फल लटके रहते हैं, तद्वत् धातुनिष्ठा एक ही शक्ति से फल और व्यापार अर्थों की अलग-अलग उपस्थिति होती है। इस पृथक् शक्ति संकल्पना का प्रयोजन है, कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य दोनों में व्यापार मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध की प्रतीति होती है। क्योंकि खण्डशः शक्ति से उपस्थित फल और व्यापार मिथः विशेषण-विशेष्यभाव से ही अन्वित होते हैं। इसके विपरीत अतिनव्यवैयाकरण नागेशभट्ट ने फलविशिष्ट व्यापार अर्थ में धातु की शक्ति मानी है और पृथक् शक्तिवाद में नाना दोष खड़े किये हैं।[1] उक्त फल-विशिष्ट व्यापार भी एक रूप न होकर विपर्यस्त भी होता है अर्थात् कर्तृवाच्य में फल विशिष्ट व्यापार तथा कर्मवाच्य में व्यापार-विशिष्ट फल की उपस्थिति होती है। फलतः दीक्षित-मत में कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य में क्रिया रूप से एक ही प्रकार का शाब्दबोध होता है, वहीं नागेश

१—"शक्यतावच्छेदकशक्तिद्वयकल्पनापत्तिः; उद्देश्यविधेयभावेन अन्वयापत्तिः, व्युत्पत्तिद्वयकल्पने गौरवम्"—नागेशभावप्रकाशः, धात्वर्थ-निर्णय, भारत सरकार प्रकाशन, १९७०

मत में 'व्यापारमुख्य-विशेष्यक' एवं 'फलमुख्य-विशेष्यक' दो प्रकार के शाब्दबोध होते हैं। इस मत भेद के जागरूक रहते उपर्युक्त फल का लक्षण नागेश मत में घटित नहीं हो सकता। अतः उनके अनुसार 'कर्तृ प्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धातुजन्यशाब्दबोधीयधात्वर्थनिष्ठ-विशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वे सति तद्धातुवाच्यत्वम् फलत्वम्', यह फल की परिभाषा की जा सकती है अर्थात् क्रिया के कर्तृवाच्य होने पर धात्वर्थ व्यापार मुख्य विशेष्य रूप से प्रतीत होता है तो कर्मवाच्य होने पर नागेश मतानुसार कर्म की प्रधानता होने के कारण फल की ही मुख्य रूप में प्रतीति होती है। एवंच हम कह सकते हैं, कर्तृवाच्य में जिसकी प्रतीति विशेषण रूप में हो, साथ ही वह उसी धातु का वाच्य हो तो वह फल है। फल का यह लक्षण सत्तादि अर्थों में भी व्याप्त रहेगा, क्योंकि 'सत्ता' धातुवाच्य होने के साथ-साथ विशेषण रूप में भासित होती ही है। यदि हम उक्त लक्षण में 'धात्वर्थजन्यत्व' अंश का निवेश करेंगे तब उस स्थिति में सत्तादि फल में लक्षण की संगति के लिए जन्यता को 'आरोपित' या 'अनारोपित' स्वीकार करना पड़ेगा। एवमेव 'विभाग जन्यसंयोग' अर्थ वाले √पत् धातु के अर्थ विभाग और संयोग में भी अनभिप्रेत फलत्व का लक्षण घटित नहीं होगा, क्योंकि धात्वर्थ संयोग से 'विभाग' जन्य नहीं होता, प्रत्युत विभाग से संयोग ही जन्य होता है तथा संयोग जन्य है, किन्तु वह प्रकार नहीं है, अतः इन दोनों में नवीन फल लक्षण की अति व्याप्ति संभव नहीं है। स्मरणीय है कि फल की उक्त परिभाषा केवल कर्तृवाच्य के लिये होगी। कर्मवाच्य के लिये परिभाषान्तर की कल्पना करनी पड़ेगी। एवंच इस मत में फल का एक अनुगत लक्षण नहीं बन पाता है।

व्यापार : उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय भाषाशास्त्रियों ने धातु के फल और व्यापार दो अर्थ स्वीकार किये हैं। इनका फल लौकिक न होकर पारिभाषिक है, जिससे सकर्मक और अकर्मक धातु की व्यवस्था भी सम्पन्न होती है। धातु का प्रधान अर्थ व्यापार क्रिया का ही अपरपर्याय है। यह व्यापार भी

१—वैया० भू० सा० प्रभा, चौखम्बा प्रकाशन, १९६९, पृ०, १५

सामान्य लोक प्रसिद्धरूप न होकर परिभाषित रूप में स्वीकार्य है। जैसाकि पहले कहा गया है, पतंजलि ने भी क्रिया को व्यापारस्वरूप ही कहा है। नैयायिकों ने 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम् व्यापार-त्वम्'[1], व्यापार का यह स्वरूप निर्धारित किया है। यदि इस स्वरूप को अविकल रूप से धातु के प्रसंग में भी स्वीकार कर लिया जाय तब उस स्थिति में 'विक्लित्ति' का जनक अन्तिम अग्नि संयोग ही व्यापार ठहरेगा। फलतः 'पचति' प्रयोग करने पर अधिश्रयण से अवश्रयण-पर्यन्त फूत्कारादि नाना क्रियायें व्यापार नहीं कहलायेंगी, जबकि इन्हें भी व्यापार कहना अभीष्ट है।

किंच 'फलप्रयोजकक्रियात्वम् व्यापारत्वम्'[2] व्यापार का यह लक्षण भी अतिप्रसक्त ही है। पहले तो इसमें 'आत्माश्रय' दोष स्पष्ट परिलक्षित है। क्योंकि जिसका लक्षण किया जाय, उसका उसी में अनुप्रवेश ही इस दोष का मूल है। उक्त लक्षण में भी क्रियात्व प्रविष्ट है, जो कि व्यापार ही है। एवंच व्यापार के लक्षण में व्यापार का अनुप्रवेश होने से उक्त लक्षण आत्माश्रयदोषग्रस्त है। दूसरी बात यह है, फल का प्रयोजक दण्डादि के व्यापार भी हो सकते हैं, फलतः उनकी भी कर्तृ संज्ञा तथा उनका आख्यात से अभिधान होने से 'दण्डेन देवदत्तः हन्ति' इस वाक्य के स्थान पर 'दण्डः देवदत्तः हन्ति' ऐसा वाक्य भी प्रयुक्त होने लगेगा, जो कि अनिष्ट है। यदि यह कहा जाय कि 'दण्ड' का कर्तृ संज्ञा के साथ-साथ करणसंज्ञा भी हो जायेगी, तो यह नियम विरुद्ध होगा, क्योंकि एकदा एक ही कारक उभयरूप में दृष्ट या श्रुत नहीं होता। अतएव 'आकडारीय' संज्ञायें एक आश्रय में एक साथ नहीं होती हैं। किंच 'फल प्रयोजकता' को व्यापार मानने पर यदि प्रयोजकता को साक्षात् जनक के रूप में स्वीकार करेंगे तब कर्त्ता के व्यापार को धात्वर्थ नहीं माना जयेगा, क्योंकि वह भी फल का साक्षात् जनक न होकर कारकान्तर के

१—(क) भाषारत्न, पृ० ७२, उद्धृत-भारतीयन्यायशास्त्र : एक अध्ययन, पृ० ३४६, इन्दुप्रकाशन, दिल्ली, १९६७ ई०, परिच्छेद १

(ख) तर्क-संग्रह प्रतिबिम्ब, प्रत्यक्ष

२—वै०भू० सार दर्पण, धात्वर्थ प्रकरण, कारिका १

व्यापार की सहायता से जनक होता है। यदि जनकाजनक साधारण को प्रयोजक मानेंगे तब 'विक्लित्ति' के परम्परया जनक अर्थोपार्जन, हाटक गमन, तण्डुल क्रयण इत्यादि व्यापारों को भी √पच् धातु का अर्थ स्वीकार करना पड़ेगा। अतः फल के प्रयोजक को व्यापार कहना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। हाँ, यदि स्थूल दृष्टि से यहाँ भी फल के प्रयोजक को अथवा नैयायिक मत सिद्ध व्यापार को व्यापार कहा जाय, तो उसमें कोई हानि नहीं होगी। क्योंकि सामान्यतः धात्वर्थ व्यापार फल का प्रयोजक होता है तथा वह कर्तृ-जन्य होता हुआ कर्तृजन्य फल का जनक भी होता है। इस प्रकार से लक्षण की संगति सम्भव है। एवमेव व्यापार अथवा क्रिया के सामान्यतया और भी लक्षण कहे जा सकते हैं। जैसे 'गुणत्वानाश्र-यत्वे सति विभागासमवायिकारणत्वम्', 'व्यापारपदशक्यतावच्छेदक-धर्मत्वम्', 'संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणत्वम्' इत्यादि। किन्तु ये सभी लक्षण सूक्ष्मतया विचार करने पर दोषग्रस्त हैं, अतः कौण्डभट्ट ने इन सबसे भिन्न एक दूसरा ही लक्षण स्वीकार किया है—'व्यापारस्तु भावनाभिधा साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया'[1] अर्थात् 'पचति' इत्यादि सुनने के बाद साध्यत्व-प्रकारक प्रतीति का जो विषय है, उसे ही क्रिया अथवा व्यापार कहते हैं। यद्यपि 'घटं करोति' इत्यादि वाक्य से 'घट' भी साध्यत्व-प्रकारक प्रतीति का विषय होता है, तथापि वह 'करोति' पद के समभिव्याहार से ही वैसा प्रतीत होता है, केवल 'घटं' से वैसी प्रतीति नहीं होती है। अतः उक्त लक्षण में 'पदान्तरसमभिव्याहाराप्रयोज्य' इस विशेषण का सन्निवेश करना आवश्यक हो जाता है। 'पचति' प्रयोग से किसी दूसरे पद के समभिव्याहार के बिना ही अधिश्रयण से अवश्रयण पर्यन्त क्रिया-कलाप की साध्यरूप में प्रतीति होती है, अतः उक्त साध्य को धातु-वाच्य व्यापार मानने में कोई असंगति नहीं होगी।

वस्तुतस्तु सर्वत्र सभी वाक्यों में क्रिया को कारक की सदा अपेक्षा बनी रहती है, अतः उसका सामान्यरूप से सरल लक्षण यह हो सकता है कि 'साधनाकांक्षोत्थापकतावच्छेदक धर्मवत्त्वं क्रियात्वम्' अर्थात्

१—वैयाकरणभूषणसारः, धात्वर्थप्रकरण, कारिका १

साधन की आकांक्षा के उत्थापक धर्म को क्रिया कहा जा सकता है। ऐसा लक्षण करने पर जहाँ 'घटं करोति' इत्यादि में प्रयुक्त घट में क्रियात्व सिद्ध नहीं होगा, वहीं 'कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात्' इत्यादि वाक्यों में जहाँ कि 'नमन' क्रिया साध्यत्वरूप में प्रतीत न होकर 'यायात्' क्रिया में अन्वित है, उक्त लक्षण की संगति सिद्ध हो जाती है। प्रथम उदाहरण में जहाँ 'घटं' को साधन की आकांक्षा नहीं है, वहीं दूसरे उदाहरण 'चेत्' पद के समभिव्याहार से प्राप्तिक्रिया में करणतया 'नमन' की आकांक्षा बनी हुई है। 'भवति पचति' इत्यादि भाष्यकार के उदाहरण में भी सत्ताक्रिया को कर्तृरूप में पाकक्रिया की आकांक्षा रहने से ही ऐसे वाक्यों का प्रयोग संभव है। यह साधनाकांक्षा पाकः, त्यागः, रागः इत्यादि कृदन्त क्रिया में नहीं रहती है, अतः उन्हें साध्य क्रिया नहीं कहा जा सकता।

साध्य व सिद्ध क्रिया—यहाँ इस विषय को इस प्रकार समझा जाय कि क्रिया दो प्रकार की होती है, साध्य एवं सिद्ध। साध्यक्रिया सामान्यतः तिङ् प्रत्यय के योग से अभिहित होती है तथा घञादि कृत् प्रत्ययों के योग से जिस क्रिया की प्रतीति होती है, उसे सिद्ध क्रिया कहते हैं। यद्यपि सिद्ध व साध्य उभयत्र क्रिया का असाधारण लक्षण समान रहता है, पुनरपि यह भेद विशेष्यविशेषण-भाव अर्थात् साधना-कांक्षोत्थापता और तादृशाकांक्षानुत्थापकता पर आधारित है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है :—

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना।
सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादि निबन्धनः ॥[1]

यद्यपि पाकः इत्यादि में घञादि से क्रिया की ही प्रतीति होती है, तथापि साध्यत्वरूप में उसकी प्रतीति न होने से वह हमारे क्रिया-लक्षण से बहिर्भूत है। वहाँ विशेषता यह है कि √पच् धातु से उपस्थित क्रिया अपने सभी धर्मों से संयुक्त होने पर भी भाव अर्थ में विहित घञ् प्रत्यय से उपस्थित सामान्य भाव में विशेषण है। फलतः वहाँ धात्वर्थ

१—वाक्यपदीय, भाग २, क्रियासमुद्देश ४७, पूना, १९७३

विशेषभाव तथा घञादि प्रत्ययार्थ सामान्यभाव का परस्पर विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध सिद्ध होता है। वहाँ सामान्यभाव में विशेषण हो जाने से ही वह 'पचति' से उपस्थित क्रिया से भिन्न हो जाती है। 'पचति' में √पच् से उपस्थित क्रिया जहाँ प्रधानरूप में प्रतीत होती है, वहीं 'पाकः' पद के √पच् से उपस्थित क्रिया गौणरूप में भासित होती है। अतएव पचति से उपस्थित क्रिया को साधन की आकांक्षा बराबर बनी रहती है, किन्तु पाकः से उपस्थित क्रिया को साधन की आकांक्षा नहीं रहती है। क्योंकि वह विशेषण है और विशेषण को विशेष्य की ही आकांक्षा होती है। फलतः वह उसी में अन्वित होकर निकराकांक्ष हो जाता है। यही कारण है कि कृत् प्रत्ययों के योग से जो भी क्रिया उपस्थित होती है, उसे साधन की आकांक्षा न होकर क्रियान्तर की ही आकांक्षा होती है। 'संग्रामं गतः, 'ओदनस्य पाकः', 'धर्मश्चेतव्यः, 'विप्राय देया गौः' इत्यादि सभी वाक्यों में प्रयुक्त कृदन्त क्रिया पदों से उपस्थित अप्रधानीभूत क्रिया को क्रियान्तर की अपेक्षा बनी हुई है। यह बात दूसरी है कि अपेक्षित क्रियान्तर शब्दशः कथित न होकर अध्याहृत हो जाता है। 'ग्रामं गतः' इतने मात्र से वाक्य की परिसमाप्ति नहीं होती है, अपितु काल आदि की अपेक्षा से ग्रामं गतः 'अस्ति' 'आसीत्' 'भविष्यति' इत्यादि सामान्य क्रिया का प्रकरणानुसार अध्याहार होकर ही वाक्य की परिसमाप्ति होती है। यही स्थिति अन्य कृदन्त रूपों से उपस्थित क्रिया की भी है। अतएव कौण्डभट्ट ने स्पष्ट रूप में कहा है कि–"क्रियान्तराकांक्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपं साध्यत्वम्। तद्रूपवत्त्वमसत्त्वभूतत्वम्। एतदेवादाय—असत्त्वभूतो भावश्च तिङपदैरभिधीयते इति वाक्यपदीयमिति द्रष्टव्यम्"[1] अर्थात् लिंग व संख्या से अनन्वित साध्य क्रिया तिङ पदों से अभिहित होती है। लिंग व संख्या से अन्वित सिद्ध क्रिया तो कृत् प्रत्यय का ही वाच्य है।

यहाँ अवधारणीय दो तथ्य हैं, पहला कृत् तथा तिङ सभी प्रत्ययों के योग में केवल धातुवाच्य क्रिया सदा साध्यस्वरूपा ही रहती है तथा दूसरा उक्त क्रिया सभी कृत् प्रत्ययों के योग से सिद्ध, सत्त्व या

१–वैया० भू० सा०, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६९, पृ० १८

साधनरूप को नहीं प्राप्त करती, अपितु उसकी सिद्धता या साध्यता की प्रतीति साधन-सम्बन्ध के अधीन है[1] अर्थात् प्रयोक्ता की विवक्षा यदि क्रिया के साथ साधन-कारक को प्रधानभाव से सम्बद्ध करना चाहती है तो उस स्थिति में वह धातुज शब्द तिङ से निष्पन्न हुआ हो या कृत् प्रत्यय से क्रियोपसर्जन सिद्धक्रिया का हीं वाचक होता है। इसके विपरीत जहाँ साधन सम्बन्ध गौण होगा, वहाँ साध्यक्रिया की ही स्थिति रहती है। एवंच कौण्डभट्ट से प्रतिपादित सिद्ध और साध्य क्रिया के भेदक उपर्युक्त स्वरूप को उपलक्षण या प्रायोवाद कहना अधिक तर्कसंगत होगा। यही कारण है कि 'पश्य मृगो धावति' इत्यादि वाक्यों में धावति पद से, तिङ प्रत्यय का योग होने पर भी तिङवाच्य कर्ता की अपेक्षा से जहाँ धावन क्रिया की साध्यता की प्रतीति होती है, वहीं दर्शन क्रिया की अपेक्षा से वही क्रिया साधनरूपता अर्थात् कर्मता को प्राप्त हो जाती है। यही स्थिति भाष्योदाहृत 'भवति पचति' वाक्य में भी है। यहाँ पचति पद की वाच्य क्रिया तिङ का समभिव्याहार होने पर भी सिद्धरूप में प्रतीत होती है। अतएव इस वाक्य से 'पाको भवति' बोध होता है। कृत् प्रत्ययों में भी भावार्थक 'कृत्य' क्त, क्तवतु, खलर्थ एवं अव्ययकृत् के योग में साध्य क्रिया की प्रतीति होती है। किंच रूढ़ संज्ञाशब्द और घञादि प्रत्ययों से निष्पन्न धातुज शब्दों से भी व्युत्पत्ति करने की दशा में क्रिया साध्यस्वभावा ही अवगत होती है, जैसाकि आचार्य भर्तृहरि ने कहा है :—

लकृत्यक्तखलर्थानां तथाव्ययकृतामपि।
रूढिनिष्ठाघञादीनां धातुः साध्यस्य वाचकः॥

—वाक्य० ३।५२

निष्कर्ष : यहाँ निष्कर्ष के रूप में यह कथ्य है, विवक्षाधीन साधन-सम्बन्ध से ही क्रिया के साध्यभाव और सिद्धभाव का निर्धारण सम्भव है। पर हाँ, सामान्यरूप से कौण्डभट्ट के उपर्युक्त लक्षण से क्रिया की साध्यता व सिद्धता का व्यवस्थापन समीचीन रीति है। चूँकि भवता शयितव्यम्, त्रिर्भुक्तं देवेन, भुक्त्वागतः, गां दत्तवान्, सुकरः कटोऽनेन-

---

१—"अपि तु साधनसम्बन्धायत्ता धात्वर्थस्य साध्यताप्रतीतिः"
—वाक्यपदीय, प्रकीर्णक प्रकाशः, क्रियासमुद्देश, ३।५२

इत्यादि उदाहरण वाक्यों में कृत्य, क्त, क्तवतु एवं खलर्थ प्रत्ययों के योग से निष्पन्न क्रियापदों से क्रियान्तर की आकांक्षा के बिना ही बोध की परिपूर्णता देखी जाती है, अतः इन क्रियाओं को भी साध्य क्रिया कहने में कोई विसंगति दृष्ट नहीं होती।

असाधारण धर्म : ऊपर सिद्ध तथा साध्यरूप से क्रिया के दो भेदों की चर्चा हुई। अब इन दोनों में समानरूप से विद्यमान असाधारण धर्म क्या है, थोड़ा-सा उसके स्वरूप पर विचार कर लेना क्रम-प्राप्त प्रतीत हो रहा है। आचार्य भर्तृहरि के शब्दों में हम उसे क्रमवत्ता, सामूहिकता और भागवत्ता का समुदित रूप कह सकते हैं।

यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते॥

—वाक्य० ३।८।१

आश्रितक्रमरूपत्वादभिधानम् प्रवर्तते॥

—वाक्य० ३।८।३

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्धया प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥

—वाक्य० ३।८।४

सामान्यभूता सा पूर्वं भागशः प्रविभज्यते॥

—वाक्य० ३।८।३८

इन्द्रियैरन्यथा प्राप्तौ भेदांशोपनिपातिभिः।
अलातचक्रवद् रूपं क्रियाणां परिकल्प्यते॥

—वाक्य० ३।८।३९

उपर्युक्त उद्धरणों में रूपत्रय संवलित असाधारण धर्म का कथन हुआ है। पहले तो क्रियाशब्द की रूढ़ि प्रदर्शित की गई है कि भूतकाल की क्रिया हो या भविष्यत् अथवा वर्तमान काल की, यदि वह साध्य रूप में विवक्षित है तो उसे क्रिया कहेंगे। तदनन्तर उसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने उक्त तीनों धर्मों की उपस्थिति का सोदाहरण उल्लेख किया है। यहाँ क्रमवत्ता का तात्पर्य है कि किसी भी क्रिया के सम्पन्न होने में एक क्रम अवश्य रहता है। 'पचति' कहने से एक ऐसी पाकक्रिया की प्रतीति होती है, जिसमें अधिश्रयण, फूत्कार

तदनन्तर परिचालन और क्लेदन इत्यादि रूप से एक क्रम अवश्य रहता है। यह कथमपि सम्भव नहीं है कि बिना किसी क्रम के पाक-क्रिया सम्पन्न हो जाय। उसमें विक्लित्ति पहले हो जाय तथा फूत्कारादि पश्चात् हों, अपितु क्रिया अपने लक्ष्य फल की सिद्धि के प्रति उत्तरोत्तर विकास-क्रम से परिवर्तित होती रहती है। इनमें कुछ क्रम ऐसे भी हो सकते हैं, जो आगे-पीछे घटित हों, किन्तु व्यापकरूप में एक व्यवस्थित क्रम पाया जाता है तथा इन्हीं व्यवस्थित क्रमों से उत्तरोत्तर विकसित होती हुई क्रिया निष्पत्ति अवस्था को प्राप्त होती है। नाम और क्रिया में यही अन्तर है कि नाम में जहाँ क्रम का सर्वथा अभाव होता है वहीं क्रिया में यह क्रम सर्वत्र पाया जाता है। 'राम' या 'घट' आदि नामपदों को सुनते ही हमारे सामने समग्र और एक चित्र आविर्भूत हो जाता है, जबकि क्रियापदों के श्रवण से ऐसा नहीं होता। क्रिया के पूर्वापरीभूत अवयव तो क्रम से ही उत्पन्न होते हैं। अतः क्रमवत्ता क्रिया का असाधारण धर्म है।

क्रिया में क्रम की सिद्धि हो जाने से भाग की सिद्धि स्वतः हो जाती है, क्योंकि प्रश्न होता है, क्रम किसका? स्पष्ट है, क्रिया में अनेक अंश हैं, जिनकी उत्पत्ति क्रमिक होती है। यह ध्रुव सत्य है, क्रिया अपने में कोई स्वयंसिद्ध सत्य वस्तु नहीं है, अपितु करने या होने की स्थिति, जो साध्यरूप है, उसे ही क्रिया कहते हैं। यह करना या होना कालक्रम पर आधारित होता है। काल पर आधारित होने से इसकी निष्पत्ति भागशः होती है, क्योंकि किसी एक क्षण में हो रही क्रिया किसी बृहत्तर क्रिया का अंश ही कही जा सकती है। स्वतः उसे सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। जब हम 'पचति' कहते हैं तो निश्चित ही किसी एक ही क्षण में उससे सम्पाद्यमान क्रिया की प्रतीति नहीं होती है, अपितु उससे ऐसी क्रिया प्रतिभासित होती है, जिसकी अनेक क्षणों में निष्पत्ति होती है। स्पष्ट है, इन अनेक क्षणों में उसके अनेक अवान्तर व्यापार जैसे फूत्कार, अधिश्रयण, उदक-आसेचन इत्यादि प्रतीत होते हैं। यह बात दूसरी है कि इन अवान्तर सभी भागों की सर्वत्र पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है या नहीं। कहीं पर सभी अवयव उद्भूत रूप से होते हैं तो कहीं अनुद्भूत रूप में। जहाँ

पाकक्रिया में अनेक अवयव स्पष्ट रूप में प्रतीत होते हैं, वहीं 'जानाति, अस्ति' इत्यादि क्रियाओं में वे अनुद्भूतरूप में प्रतीत होते हैं। किन्तु क्रियामात्र में ये अवयव या भाग होते हैं अवश्य। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं पायी जाती जो कि एक ही क्षण में सम्पन्न हो जाती हो। ऐसी स्थिति में अनेक भागों का होना अपरिहार्य है। अतएव ज्ञान अथवा सत्ता क्रिया में भी भाग का आरोप किया जाता है। ऐसी सत्ता या ज्ञान क्रिया सम्भव नहीं जो एक ही क्षण में निष्पन्न हो जाय, प्रत्युत सभी दार्शनिक ज्ञान को कम से कम तीन क्षणों में अवश्य सम्पन्न मानते हैं। क्षण-भेद से भाग-भेद अपरिहार्य है। इन भागों की प्रतीति में यह भी विशेषता है कि उसी क्रिया में कहीं कोई भाग तथा अन्यत्र दूसरा भाग प्रमुख रूप से प्रतीत होता है। अथवा यह भी देखा जाता है कि उस बृहत्तर क्रिया के जब किसी एक अंग को प्रमुख रूप से कहना चाहते हैं तब उसे दूसरे क्रिया-शब्द से बोधित करते हैं। जैसे पाकक्रिया में गौण रूप से प्रतीत होने वाले फूत्कार क्रिया को प्रधानतया कहना चाहेंगे, तब वहाँ 'फूत्करोति' का प्रयोग करते हैं। एवंच उपर्युक्त कथन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अनेक-क्षण-व्यापिनी-क्रिया कई भागों में बटी रहती है।

पीछे यह बात स्पष्ट की गयी है कि किसी एक क्रिया में अनेक भाग होते हैं और वे क्रम से घटित होते हैं। उन भागों में कोई प्रधान होता है और दूसरे गौण। 'धावन' में जहाँ 'पादगति' प्रधान है, वहीं हाथों का उठना, मुड़ना, तेज सांस लेना इत्यादि अंश गौण हैं। यह भी कहा गया कि जब गौण को प्रधान रूप से कहना चाहेंगे तब उसे दूसरे क्रियाशब्द से कहते हैं। परन्तु सामान्यतः क्रिया का प्रयोग करने पर उसके सभी अंश समवेत रूप में प्रतीत होते हैं और वस्तुतः उस समवेत रूप को ही क्रिया कहा जाता है। अलात-चक्र की भाँति उसका एक अंश क्रिया नहीं हो सकता। क्रिया सर्वदा भाग समूह में ही रहती है। वह समूह प्रत्येक में भिन्न-भिन्न होता है। यह समूह-भेद भी काल-भेद पर ही आधारित रहता है। भर्तृहरि ने कहा है :

समूहः स तथाभूतः प्रतिभेदं समूहिषु।
समाप्यते ततो भेदे कालभेदस्य सम्भवः॥

—वाक्य० ३।८।५

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्धया प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ।।

—वाक्य० ३।८।४

अर्थात् क्रमजन्मा क्रिया के अवयव गौण रहते हैं तथा उनका समूह, जो बुद्धि के द्वारा अभिन्न और एक रूप में प्रतीत होता है, उसी का नाम क्रिया है । वैयाकरण-भूषणसार इत्यादि नव्यवैयाकरणों के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि धातुनिष्ठ-व्यापार-निरूपिता-शक्ति से नाना व्यापारों की उपस्थिति होने पर भी क्रिया की एकता बनी रहती है । वहाँ पर यह भी शंका उठाई गयी है कि अनुभव के द्वारा अनेक धर्मावच्छिन्न व्यापार की प्रतीति मानने पर धातु को 'हरि' आदि शब्दों की तरह नानार्थक मानना पड़ेगा । इसके समाधान में स्पष्ट किया गया है कि हरि आदि नानार्थक शब्दों के वाच्य अर्थों में एकबुद्धिविषयता नहीं रहती है । किसी एक ही प्रसंग में हरि शब्द से उपस्थित विष्णु, सूर्य, अश्व व वानर प्रभृति अर्थों की एककालिक निर्बाध प्रतीति नहीं देखी जाती । ऐसा होने पर तो वाक्यार्थ ही वाधित होगा और वह अप्रमाण या निष्फल होगा । इसके विपरीत क्रिया की प्रतीति में एक बुद्धि काम करती है । 'पचति' पद से किसी एक ही प्रसंग में फूत्कारादि नानाव्यापारविशिष्ट सामूहिक एक क्रिया की एककालिक प्रतीति निर्बाध अनुभवसिद्ध है । एवंच यहाँ शक्यतावच्छेदक फूत्कारत्वादि धर्मों के नाना होने पर भी शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक एकबुद्धित्व एक ही है, जबकि हरि पद में नाना बुद्धियों का प्रसंग है । तदादि शब्दों से भी किसी एक काल में बुद्धिस्थत्वोपलक्षित किसी एक ही अर्थ की प्रतीति होती है, जबकि उस शब्द की शक्ति जागतिक अर्थमात्र में संकेतित है । अतएव 'पचति' से नानाव्यापार वाले समूह की प्रतीति होने पर भी श्रोता वहाँ एक ही क्रिया समझता है । एवंच उपर्युक्त कथन से सुस्पष्ट हो जाता है कि क्रमवत्ता, भागवत्ता और सामूहिकता समग्र क्रिया के असाधारण धर्म हैं और ये धर्म तिङवाच्य साध्यक्रिया तथा कृत्वाच्य सिद्धक्रिया दोनों में समान हैं ।

क्रिया और जाति : मीमांसकों ने क्रिया को जातिरूप स्वीकार किया है, जिसकी चर्चा वाक्यपदीय में भी की गयी है ।[1] सभी स्थानों तथा सभी कालों में पाकक्रिया के लिए 'पचति' का अनुगत व्यवहार देखा जाता है, अतः सकल पाकक्रिया रूप व्यक्ति में पचित्वरूप से एक जाति की कल्पना सहज सम्भव है । एवंच उन सभी क्रमिक अनेक व्यक्तियों में विद्यमान पचित्वादि जाति ही क्रिया है । किन्तु इस जातिपक्ष का आदर शाब्दिकों ने नहीं किया है, क्योंकि जाति नित्य होती है, जबकि क्रिया अनित्य और साध्य है । अनित्य में नित्य का आरोप जल में थल के आरोप के समान सर्वथा भ्रमात्मक ही है । भाषाशास्त्र में क्रिया एक प्रमुख व सर्वथा सत्य तत्त्व है । एवंच उसी के स्वरूप में आरोप कहाँ तक उचित होगा, यह एक प्रश्नचिह्न है । किंच आरोप करने पर भी तो इससे केवल सामान्य सत्ता की ही प्रतीति सम्भव है ।

मुख्य क्रिया : यहाँ भारतीय भाषावैज्ञानिकों की एक प्रसिद्ध 'एकतिङ वाक्यम्' पर भी थोड़ा-सा ध्यान देना प्रासंगिक होगा । इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि एक ही तिङ रहने पर वाक्य होता है, अनेक तिङ रहने पर नहीं । ऐसा मानने पर भाष्यकार का 'पचति, भवति' यह प्रयोग भी एकवाक्यतापन्न नहीं हो पायेगा । किंच 'पश्य मृगो धावति' इत्यादि स्थलों में सिद्ध एकवाक्यता भी नहीं बन पायेगी । अतः इस उक्ति का तात्पर्य यह है कि वाक्य में किसी एक ही क्रिया की प्रधानता रहती है । जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कर्ता सभी साधनों के साथ व्यापार में प्रवृत्ति करता है, उस उद्देश्य की सम्पादिका कोई एक ही क्रिया होती है, जो वाक्य में प्रधान कही जाती है तथा जिसके बिना वाक्य की स्थिति असम्भव है । 'भवति, पचति' अथवा अन्यत्र जहाँ अनेक तिङन्तपद अथवा कृदन्तपद से उपस्थित क्रियायें भाषित होती हैं, वहाँ भी वाक्य एक ही रहता है । वे अनेक क्रियायें प्रधान उद्देशय की साधिका क्रिया में अंगभूत होती हैं । 'कृत्वा, गत्वा' इत्यादि भाववाचक क्रियायें वाक्य में प्रयुक्त होने

१—जातिमन्ये क्रियामाहुः अनेकव्यक्तिवर्तिनाम् ।
असाध्या व्यक्तिरूपेण सा साध्येवोपलक्ष्यते ।। —वाक्य० ३।८।२१

पर मुख्यक्रिया से अपनी पूर्वता को अभिव्यक्त करती हुई उसी में विशेषणतया अन्वित हो जाती हैं। अतः वहाँ भी प्रधान क्रिया एक ही रहती है। एवंच 'एक तिङ वाक्यम्' का तात्पर्य वाक्य में प्रधान एक क्रिया से है, जिसे तिङ शब्द से कहने का अभिप्राय, उसकी साध्य-रूपता को द्योतित करना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वाक्य में अनेक क्रिया रहने पर भी सभी क्रिया कहलाने का सामर्थ्य नहीं रखती हैं, अपितु फलनिष्पादनरूप वह सामर्थ्य केवल मुख्यक्रिया में ही रहता है। इसी में 'एकतिङ वाक्यम्' का तात्पर्य है।

व्यापक नियम : भारतीय भाषावैज्ञानिकों के क्रियाविषयक कुछ सूक्ष्म चिन्तन विश्व की भाषाओं पर समान रूप से लागू हो सकते हैं। नीचे कुछ बिन्दु प्रदर्शित किये जा रहे हैं, जो विश्व की भाषाओं में पाये जा सकते हैं :

१. फल अथवा प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य यदि एक है तो वाक्य में अनेक क्रिया रहने पर भी एकता (एकवाक्यता) बनी रहती है।

२. क्रिया साध्यावस्था को कहते हैं, जिसमें क्रम व अनेक क्षणों की आवश्यकता नितान्त अपेक्षित है।

३. वाक्य में मुख्यक्रिया के वाचक से भिन्न पद क्रिया के प्रतिपादक नहीं हो सकते हैं।

४. क्रिया काल-सापेक्ष होती है, अतः फल उसका जन्य या प्रयोज्य है।

५. पूर्वापरीभूत-अवयव-समूह में अभेद-बुद्धि क्रिया का असाधारण धर्म है, अतः वे अवयव व्यक्ति या विशेष न होकर सामान्यी-कृत होते हैं।

६. क्रिया के सकर्मक और अकर्मक दो भेद होते हैं तथा उसका फल आत्मगामी, परगामी व उभयगामी भी हो सकता है।

इस प्रकार ऊपर बिन्दुवार प्रदर्शित कतिपय नियम विश्व के समस्त भाषाओं में देखे जा सकते हैं, जो सैकड़ों वर्ष पूर्व भारतीय भाषावैज्ञानिकों की महान् देन है।

उपसंहार : यहाँ तक धातु के स्वरूप को बताने के लिए उसकी शब्दमूलक व अर्थमूलक विस्तृत परिभाषा तथा उसके अर्थ फल और व्यापार की चर्चा की गयी । चूँकि अर्थ की प्रतीति व्यक्ति मात्र को होती है, अर्थ-दर्शन से ही उसके नाम के प्रति जिज्ञासा उदित होती है, अतः हम कह सकते हैं कि अर्थ का साक्षात्कार होने के अनन्तर नाम की सम्यक् पहिचान होती है। इसी अनुभव के आधार पर हमने पहले विस्तार से धातु के अर्थ फल और व्यापार की चर्चा की, ताकि धातु का स्वरूप सम्यक् रूप से सामने आ जाय। इस चर्चा में संकेतरूप से यह भी बताया गया है कि क्रिया को सकर्मक व अकर्मक रूपों में भी देखा जा सकता है। इन सकर्मक और अकर्मक क्रियाओं के वाचक धातु को भी अर्थ के आधार पर सकर्मक और अकर्मक कहा जाता है। फल और व्यापार का स्पष्ट परिज्ञान हो जाने पर सकर्मक और अकर्मक का भेद सुस्पष्ट हो जाता है। धातुवाच्य फल और व्यापार की एकनिष्ठता होने पर वह क्रिया या वाचक धातु अकर्मक कहा जाता है। अकर्मक धातु का वाच्य फल तथा व्यापार केवल एक कर्ता में ही आश्रित रहते हैं, जबकि इससे भिन्न सकर्मक वाच्य फल और व्यापार भिन्न-भिन्न आश्रयों में अवस्थित रहते हैं। उसका व्यापार जहाँ कर्ता में रहता है वहीं फल कर्म में।[1] इस प्रकार सकर्मक और अकर्मक ये दोनों सार्थक संज्ञायें हैं।

इसी प्रकार अर्थ की दृष्टि से एक और भेद गिनाया जा सकता है, जिसे 'सामान्य और विशेष' कह सकते हैं। सामान्य धातु वह है, जो सामान्य क्रिया अर्थ को अभिहित करती है और वे सामान्य अर्थ तीन हैं—करना, होना या पाया जाना। इन्हें हम करोति, भवति तथा अस्ति शब्दों से कहते हैं। इन अर्थों से भिन्न पाक आदि शेष अर्थों के वाचक धातु विशेष शब्द से कहे जा सकते हैं। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से धातु के 'सामान्य' और 'विशेष' ये

१—'फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम् सकर्मकत्वम्।
फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् अकर्मकत्वम्॥'
—वैया० भू० सा०, सरला, धात्वर्थ प्रकरणम्

दो भेद और हैं। भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने रूप की दृष्टि से धातुओं के १० भेद बताये हैं। उन्हें ही हम दस गुणों के रूप में जानते हैं। इस विभाजन से जहाँ सहस्रों रूपों का अवबोध सरल हो जाता है, वहीं अर्थविज्ञान में भी सहायता मिलती है। रूप की दृष्टि से इस भेद के अतिरिक्त एक भेद और है, जो रूप ही पर आधारित तथा आत्मनेपदी, परस्मैपदी और उभयपदी नामों से जाना जाता है। इस भेद की विशेषता है कि यह धातु को रूपीय आधार के साथ-साथ आर्थिक आधार भी प्रदान करता है। एवंच धातु के ये संक्षिप्त प्रकार हैं; जिनका विवेचन अलग अध्याय का विषय है।

(घ) प्रत्यय-विचार

प्रत्यय-पदार्थ : प्रत्यय-प्रतिपादक प्रकृत प्रबन्ध में सर्वप्रथम प्रत्यय पद निरुक्ति-प्रकार प्रदर्शित कर, उसमें विद्यमान सार्थक इकाई उपसर्ग का सामान्य विवेचन, तदनन्तर द्वितीय सार्थक मूलध्वनि धातु के विषय में कतिपय विचार रखे गये। अब मूलविषय प्रत्यय के विवेचन से पहले कोष-ग्रंथों में प्रदत्त प्रत्यय शब्द के अर्थ को हृदयंगम कर लेना अपेक्षित प्रतीत होता है। 'संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ' में इसके निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं–"प्रत्यय (पुँलिल्ङ्ग) (प्रति + √इ + अच्) प्रतीति, विश्वास, भरोसा, ज्ञान, बुद्धि, समझ (निश्चय) अनुभव। कारण, हेतु (ख्याति) वह अक्षर या शब्द जो किसी धातु या मूल शब्द के अन्त में जोड़ा जाय। शपथ (परमुखापेक्षी) चाल, प्रचलन (छन्दों की संख्या जानने की एक रीति) छिद्र।"

इस प्रकार उक्त कोष में इसके १३ अर्थ बताये गये हैं। अमरकोष[1] में जहाँ आठ ही अर्थ प्रदर्शित किये गये हैं, वहाँ वाचस्पत्यम् में इसके १३ अर्थ गिनाये गये हैं। संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ और वाचस्पत्यम् इन दोनों ही में १३-१३ अर्थ प्रदत्त हैं, जिनका आपस में समाहार करने पर भी वाचस्पत्यम् में जहाँ 'सहकारिकारण' और 'स्वाद' अर्थ नवीन प्रतीत होते हैं, वहाँ संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ में 'भरोसा' और

१—'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु। रन्ध्रेशब्दे'—अमरकोष ३।३।१४७

'छन्दसंख्या' अर्थ नये दिये गये हैं। यद्यपि भरोसा का प्रतीति में अन्तर्भाव शक्य है, पुनरपि भरोसा में आशा का अंश अधिक मानने पर कोषग्रंथों में प्रत्यय शब्द के प्रदर्शित अर्थ पन्द्रह हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त शब्दकल्पद्रुम में इसका 'आधार' अर्थ अधिक बताया गया है, यद्यपि उसमें इसके कुल १० ही अर्थ गिनाये गये हैं। एवंच कोषग्रंथों के आधार से इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि प्रत्यय शब्द के कुल १६ अर्थ होते हैं।

प्रत्यय शब्द के उपर्युक्त १६ अर्थों में से 'शब्द-भेद' अर्थ ही प्रकृत ग्रंथ में उपादेय एवं विवेच्य है। जैसाकि प्रारम्भ में सामान्य चर्चा की गयी है कि संस्कार से युक्त पदों वाली भाषा ही संस्कृत है और यह संस्कार प्रकृति-प्रत्यय-विभागमूलक है। भाषाविज्ञान या व्याकरण की एक मुख्य विशेषता है कि वह लोकव्यवहार को प्रमाण मानकर अपना सिद्धान्त निश्चित करता है। शब्द-संस्कार के प्रसंग में भी इस बात को देखा जा सकता है। समाज में संस्कार जहाँ व्यक्ति में व्यक्तिगत एवं यादृच्छिक स्वातन्त्र्य को कम करके उसमें पारम्परिक आदर्श भावना को भरता है, वहाँ व्याकरण से प्रतिपादित संस्कार भी शब्द को अपनी रूपात्मक या अर्थात्मक भावना को कम कर उसमें नियमबद्ध, पारम्परिक और आदर्शयुक्त एक भावना का आधान करता है। भाषा की मुख्य इकाई तो वस्तुतः वाक्य ही है, वही प्रवृत्ति या निवृत्ति का जनक है। उसमें पद और पदार्थ, प्रकृति और प्रकृत्यर्थ, प्रत्यय और प्रत्ययार्थ आदि तो वस्तुतः काल्पनिक ही हैं। व्याकरण-शास्त्र लघु उपाय से भाषा-ज्ञान कराने के निमित्त इन माध्यमों का सहारा लेता है। जैसाकि भाष्यकार ने 'पस्पशाह्निक' में व्याकरण का प्रयोजन गिनाते समय 'लघ्वर्थम् चाध्येयम् व्याकरणम् कहा है। वहाँ पर यह भी बताया गया है कि शब्द का विषय इतना विशाल है कि उसका अध्ययन तो दूर, एकत्र समाहार भी असम्भव है। यहाँ यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि व्याकरण कुम्भकार की भाँति नवीन शब्दों का निर्माण नहीं करता है, प्रत्युत व्यवहार या शास्त्र में प्रचलित भाषा का सांगोपांग अध्ययन कर एक व्यवस्थित नियम निकालता है, जिसके सहारे भाषा का अध्ययन सरल और सुबोध हो जाता है। भाषा की इकाई पद के सहज ज्ञान के लिए व्याकरण ने

जो प्रकृति और प्रत्यय की परिकल्पना एवं उनके अर्थों की भी संकल्पना की है, वही शब्द का, परंपरया भाषा का संस्कार है। इस संस्कार के सम्पन्न हो जाने के उपरान्त वह भाषा सुव्यवस्थित और सुस्थित हो जाती है। उसमें दूसरे शब्द संस्कारहीन होने से समाहित नहीं हो सकते हैं। विश्व की सभी समृद्ध भाषायें इस संस्कार से युक्त होना चाहती हैं, ताकि वे चिरकाल तक सुस्थिर रह सकें। किन्तु संस्कृत के वैयाकरणों ने संस्कृत भाषा में जो गणितीय संस्कार डाले हैं, वे दूसरी भाषाओं के लिए आकाशकुसुम हैं। इसकी प्रशंसा पाश्चात्य-पौरस्त्य और प्राचीन-अर्वाचीन सभी भाषावैज्ञानिकों ने मुक्तकण्ठों से की है। यह संस्कार भाषा का दूषण नहीं, भूषण है। यदि इस संस्कार को हटा कर देखें तो संस्कृत भाषा असंस्कृत प्रतीत होगी। इसी संस्कार की पहचान कराने वाले ध्वनि-संकेत या चिह्न-विशेष को हम 'प्रत्यय' कहते हैं। वह संस्कार का साक्षात् जनक न होकर प्रयोजक होता है। इन संकेतों से अर्थभावना या उद्देशजा-बुद्धि की पहचान होती है, जिसके लिए भाषावैज्ञानिक-शब्द 'सम्बन्ध-तत्त्व' है अर्थात् 'प्रत्यय' मूलशब्द या प्रकृति के अर्थ-विस्तार या सम्बन्ध के बोधक होते हैं।

प्रत्यय-परिभाषा : विश्व की भाषाओं के संदर्भ में भाषावैज्ञानिकों के अनुसार प्रत्ययों की आदि, मध्य तथा अन्त स्थिति पर विचार करने से पूर्व कतिपय भारतीय वैयाकरणों की दृष्टि में प्रत्यय का जो स्वरूप अथवा लक्षण है, सम्प्रति उस पर दृष्टपात कर लेना भी संगत प्रतीत हो रहा है। नैयायिक-मूर्धन्य जगदीश तर्कालंकार ने 'शब्द-शक्तिप्रकाशिका' में प्रत्यय के स्वरूप और विभाग को निरूपित करते हुए कहा है :—

"यादृशार्थे प्रकृत्यन्यो निपातान्यश्च वृत्तिमान्।
स तादृशार्थे शब्दः स्यात् प्रत्ययोऽसौ चतुर्विधः।"[1]

अर्थात् प्रकृति से भिन्न और निपात से भिन्न अर्थबोधक शाब्दिक इकाई ही प्रत्यय है, जो सुप्, तिङ्, कृत् एवं तद्धित भेद से चार प्रकार का होता है। इसी बात को अर्थ के आधार पर और अधिक स्पष्टता के साथ दूसरी कारिका से वहीं पर कहा गया है :—

1—शब्दशक्तिप्रकाशिका कारिका ६

"इतरार्थानवच्छिन्ने स्वार्थे यो बोधनाक्षमः ।
तिङर्थस्य निभाद्यन्यः स वा प्रत्यय उच्यते ॥"[1]

अर्थात् जो शाब्दिक इकाई किसी दूसरे शब्द के अर्थ से अविशेषित होने पर अपने अर्थ (प्रत्ययार्थ) में तिङर्थ का सम्बन्ध स्थापित न कर सके, स्वरूपतः अयोग्य हो, निभ आदि निपातों से भिन्न वह इकाई प्रत्यय कहलाती है। जैसे 'चैत्रः अस्ति' इत्यादि वाक्य में इतरार्थ (नामार्थ) से असंबद्ध स्वार्थ (केवल सुबर्थ) में तिङर्थान्वय नहीं होता, वह तो नामार्थ से प्रत्यय का सम्बन्ध होने पर ही होता है, केवल प्रत्यय तो तिङर्थान्वय के बोधन में आयोग्य ही है। अतः कारिकोक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नामशब्दों में नहीं हो सकती। एवमेव 'यजेत' 'स्थीयेत' इत्यादि स्थल में तिङर्थान्वय-बोधकता यजादि धातुओं में है, न कि प्रत्ययों में। एवंच प्रत्यय-लक्षण की अतिव्याप्ति धातु में भी सम्भव नहीं है। 'पचति' इत्यादि में तिङ्, 'पाचकोऽस्ति' इत्यादि में कृत् एवं 'काश्यपिः' इत्यादि में तद्धित प्रत्यय प्रकृत्यर्थ से विशिष्ट स्वार्थ में ही तिङर्थ वर्त्तमानत्वादि के बोधन की योग्यता रखते हैं। प्रकृत्यर्थ से अनवच्छिन्न केवल स्वार्थ में तिङर्थ वर्त्तमानत्वादि के बोधन की योग्यता इनमें सम्भव नहीं है। अतः प्रकृत्यर्थ से अनवच्छिन्न जिस अर्थ में तिङर्थ का सम्बन्ध अयोग्य हो, उस अर्थ के वाचक व निभ आदि निपातों से भिन्न वर्ण या वर्णसमूह प्रत्यय शब्द से कहे जाते हैं। निभ आदि निपात भी शब्दान्तरार्थ से अनवच्छिन्न सदृश समुच्चय आदि अपने अर्थ में तिङर्थ का सम्बन्ध कराने में असमर्थ होते हैं। अतः प्रत्यय का उक्त लक्षण उनमें भी घटित होता है। अतएव लक्षण-कुक्षि में निभ आदि का सन्निवेश किया गया है। एवंच नैयायिकों के उक्त लक्षण का यह सारांश है कि जो केवल अपने अर्थ में तिङर्थ सम्बन्ध स्थापित न कर सके, अपितु प्रकृत्यर्थ-विशिष्ट होने पर ही उक्त सम्बन्ध-बोधन में समर्थ हो सके, वे शब्द विशेष प्रत्यय हैं।

वैयाकरणों के मत से प्रत्यय का सामान्य लक्षण है—"प्रकृति को अवधि बना कर जिसका विधान किया जाय, वह सार्थक शब्दविशेष

१.—शब्दशक्तिप्रकाशिका, कारिका १०

प्रत्यय है।"[1] भाष्यकार ने भी 'प्रत्यय' सूत्र की व्याख्या में प्रत्यय को सार्थक इकाई स्वीकार करते हुए–'स्वीयम् अर्थम् प्रत्याययतीति'[2] कहा है। इसके अतिरिक्त वहाँ यह भी कहा गया है कि 'प्रत्यय' इस महासंज्ञा के विधान से ही सिद्ध होता है कि महर्षि पाणिनि इसे सार्थक इकाई स्वीकार करते हैं, अन्यथा 'टि' 'घु' 'भ' आदि की भाँति लघुसंज्ञा का ही विधान करते, किन्तु ऐसा न कर अन्वर्थक महासंज्ञा का विधान ही इसकी सार्थकता को सिद्ध करता है। भट्टोजिदीक्षित ने भी "प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः[3]" इन शब्दों से विधीयमान को ही प्रत्यय माना है तथा प्रौढमनोरमा में इसकी सार्थकता को ही अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा निश्चित किया है। वहाँ पर आचार्य भर्तृहरि के सिद्धान्त को उत्तर पक्ष में प्रस्तुत करके पारमार्थिक सार्थक इकाई यद्यपि वाक्यस्फोट को स्वीकार किया गया है, तथापि व्यवहार-निर्वर्तक होने से प्रकृति एवं प्रत्यय का विभाग और तत्तत् अर्थ-विभाग को भी आवश्यक माना गया है। किंच प्रत्याहाराह्निक भाष्य के 'अर्थवन्तो वर्णाः' इस प्रघट्टक में 'अध्येति' 'अधीतः' शब्दों के केवल इकार को सार्थक स्वीकार करने के प्रसंग में अत्यन्त स्वार्थिक 'कन्' प्रत्यय को भी सार्थक कहा गया है तथा वहाँ पर बताया गया है कि उसका स्वयं का कोई विशिष्ट अर्थ न होने पर भी वह प्रकृति के अर्थ से अर्थवान् है। इस विषय में महर्षि पाणिनि के 'द्वितीयतृतीयचतुर्थ०[4]' सूत्र को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करके भाष्यकार ने कहा है कि पूरणार्थक प्रकृति से स्वार्थ में विहित 'अन्' प्रत्यय भी पूरणार्थक होता है। कातन्त्रवृत्ति में भी प्रकृति और प्रत्यय की परिभाषा करते हुए 'प्रतीयते येनार्थः स प्रत्ययः[5]' ऐसी अर्थकमूलक रूढि बताई गयी है।

१—द्रष्टव्य शब्दरत्न—'आरोपितार्थवत्त्वात्' अजन्त पुंल्लिङ्ग, अर्थवत् सूत्र

२—महाभाष्य ३।१।१

३—वै० सि० कौ०, संज्ञाप्रकरण, सू० सं० १४

४—पा० सू० २।२।३

५—का० वृ० ३।२।१

सारस्वत व्याकरण के 'कार्ययित्'[1] सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में प्रकृति और प्रत्यय की परिभाषा करते हुए नवल किशोर शास्त्री ने अपनी 'मनोरमा' टीका में कहा है—"प्रत्ययः परस्यबोधः, तदादि कारणम् उत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगः, तदतिरिक्तः इति" अर्थात् दूसरों को बोध कराने में जो सक्षम कारण है तथा जिसके संयोग से पद वाक्य-प्रयोगार्ह होता है, वह आदि कारण 'प्रत्यय' है एवं उससे अतिरिक्त व्यवहारदशा में अप्रयोगार्ह शब्दरूप 'प्रकृति' है। इसी बात को प्रसाद टीका में वासुदेव भट्ट ने स्पष्ट किया है, तद्यथा—"प्रत्ययः प्रतीतिः प्रयोज्यवृद्धबोधः, तस्यादिः प्रयोजकवृद्धप्रयोगः, तद्रहितः व्यवहारावस्थायामवर्त्तमानः।" इन दोनों ही व्याख्याओं में प्रत्यय शब्द का लोकप्रसिद्ध 'प्रतीति' अर्थ स्वीकृत कर, स्वरूप समझाने की चेष्टा की गयी है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यय, पद की सार्थक एवं आवश्यक इकाई है वैयाकरणों ने इसके लोकप्रसिद्ध अर्थ को भी व्याकरण के प्रसंग में संगत करने की चेष्टा की है तथा सभी आचार्यों ने इसकी पारमार्थिक सत्ता को न मानते हुए भी व्यावहारिक रूप में इसे स्वीकार किया है एवं प्रकृति को अवधि मानकर इसका विधान किया जाता है। यह अवधि पूर्वापर उभय रूप में ग्राह्य है, ऐसा कहने से 'बहुच्' में प्रत्ययत्व की अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वह भी प्रकृति को अवधि मानकर ही विहित होता है। परन्तु केवल बहुच् प्रत्यय को ध्यान में रखकर प्रत्यय को पूर्वापर उभय रूप मानना उचित नहीं है। क्योंकि नियम एक नहीं, अनेक उदाहरणों के लिए होता है। अतः बहुच् प्रत्यय को अपवाद मानकर सिद्धान्त रूप से यही कहना उचित है कि प्रकृति से पर में ही प्रत्यय होता है। 'परश्च'[2] सूत्र का स्वारस्य भी यही है। किंच सिद्धान्ततः पूरे शब्द में एक शक्ति स्वीकार की जाती है। एवंच केवल बहुच् इत्यादि प्रत्ययों के निरर्थक होने से न तो उनमें मुख्यप्रत्ययत्व है और न ही उनके लिए पूर्वत्वरूप अवधि को स्वीकार करना उचित है।

१—सारस्वतप्रक्रिया, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १६६७ ई०, पृ० २०

२—पा० सू० ३।१।२

अतएव आचार्य भर्तृहरि ने 'प्रत्ययः परः'[1] कह कर प्रकृति से पर में विधीयमान को ही प्रत्यय स्वीकार किया है तथा वहाँ दूसरे विशेषण तो उसकी मुख्यता, स्वार्थिकता एवं साकांक्षता को प्रकट करने के लिए संगृहीत हैं।

निष्कर्ष : उपर्युक्त विवेचन से सिद्धान्त रूप में प्रत्यय का यह लक्षण फलित होता है कि 'तदर्थान्वित-स्वार्थबोधने तदपेक्षत्वे सति तत्परावधिकत्वेन विधीयमानत्वम्, तत् प्रत्ययत्वम् इति' अर्थात् प्रकृत्यर्थ से अन्वित अपने अर्थ के बोधन में प्रकृति की अपेक्षा रखता हुआ जो प्रकृति को अवधि मानकर पर में विहित होता है, उस शाब्दिक इकाई को उस प्रकृति का प्रत्यय कहते हैं। इस लक्षण से प्रत्यय के विषय में तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं : १—प्रत्यय का अर्थ सर्वदा प्रकृत्यर्थ से सम्पृक्त रहता है अर्थात् प्रत्यय अर्थबोधन में स्वतन्त्र इकाई नहीं है, अतः पृथक् प्रयोगार्ह भी नहीं है। २—प्रत्यय को हमेशा प्रकृति की अपेक्षा बनी रहती है, तथा ३—वह प्रकृति के पर में विहित होता है। प्रत्ययार्थ का प्रकृत्यर्थ में अन्वय अधिकतर विशेष्य रूप में तो कहीं विशेषण रूप में भी दृष्टिगत होता है। वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार जहाँ तिङ् प्रत्यय के कर्ता कर्मादि अर्थ प्रकृत्यर्थ धात्वर्थ में विशेषण रूप से अन्वित होते हैं, वहाँ उससे इतर कृत्, तद्धित प्रभृति प्रत्यय प्रकृत्यर्थ में विशेष्यभाव से ही संबद्ध होते हैं। अतएव 'प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः, तयोश्चप्रत्ययार्थः प्रधानम्'[2] यह प्रवाद प्रसिद्ध है। एवंच प्रत्यय का उक्त लक्षण सिद्धान्तपक्ष में 'समुदाय-शक्तिवाद' को लक्षित कर कहा जा सकता है।

यदि वृत्तिविशिष्ट शब्दों में 'अवयव-शक्तिवाद' पक्ष मानते हैं, तब प्रकृति, प्रत्यय आदि समस्त अवयवों में शक्ति स्वीकार करनी होगी तथा प्रत्यय के लक्षण में पर पद का तात्पर्य अवधिमत्व मानना होगा और यह अवधि पूर्वापर-अन्यतररूप में ग्राह्य होगी। उस स्थिति में

१—द्रष्टव्य, डॉ० राम सुरेश त्रिपाठी, 'व्याकरण की दार्शनिक भूमिका', प्रकृति और प्रत्यय, दिल्ली १९७१

२—वैयाकरणभूषणसारप्रभा, धात्वर्थनिर्णयः, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६९, पृ० ४४ .

'प्रकृत्यवधिकत्वेन विधीयमानत्वम् प्रत्ययत्वम्' केवल यही प्रत्यय का लक्षण होगा। अवयवशक्तिवाद पक्ष में विकरण, आगम इत्यादि अवयव भी प्रत्यय की कोटि में समाहित हो जाते हैं; क्योंकि प्रकृति के प्रत्यय-निमित्तक अंगकार्य-विशेष में उन्हें भी प्रत्यय कहना उचित होगा। इसके अतिरिक्त प्रत्यय की एक दूसरी सरल एवं स्पष्ट परिभाषा यह हो सकती है कि 'प्रत्ययः'[1] सूत्र से लेकर पाँचवें अध्याय की परिसमाप्ति पर्यन्त प्रकृति को उद्दिष्ट कर उससे विधीयमान शब्द-राशि शाब्दिक प्रत्यय हैं। इस परिभाषा में इतना और ध्यान रखना पड़ेगा कि प्रत्ययरूप से अभीष्ट शाब्दिक इकाई प्रकृति से विहित होने के साथ-साथ सार्थक भी हो।

सार्थकता : प्रत्यय के उपरिनिर्दिष्ट कतिपय लक्षणों से अवश्य ही उसकी स्वरूपावगति स्पष्ट हुई होगी। इन सभी लक्षणों में उसके अर्थ को ही मुख्याधार बनाया गया है। यहाँ यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि लोक-व्यवहार पर चलने वाला व्याकरणशास्त्र वाक्य-स्फोट को वास्तविक इकाई स्वीकार करके भी व्यवहार-दशा में भाषा का लघु उपाय से सरल शिक्षक होने से वर्णस्फोट अथवा प्रकृति-प्रत्यय-स्फोट को व्याख्यात करता है। ऐसी स्थिति में सभी प्रत्ययों का सार्थक होना सभी आचार्यों के मत से अभिप्रेत है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि यह अर्थ प्रकृत्यर्थ से सर्वथा भिन्न न होकर उसी का विस्तार करता है, अथवा उसी के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है अतएव भाषा-वैज्ञानिकों ने इसे सम्बन्धतत्त्व का वाहक माना है। इन प्रत्ययों में सुप् और तिङ् जहाँ क्रियाकारकभाव-सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं, वहीं काल, संख्या, साधन व पुरुष आदि अर्थों को भी द्योतित करते हैं। तद्धित प्रत्ययों में कतिपय प्रत्यय सार्थक, कुछ विभक्त्यर्थक, कुछ स्वार्थिक तथा दूसरे अत्यन्त स्वार्थिक हैं। विभक्त्यर्थ-तद्धित जहाँ प्रायः उपादान एवं अधिकरण शक्ति प्रधान हैं अर्थात् कारक अर्थ या संबंध-तत्त्व के वाचक हैं तो वहीं स्वार्थिक, स्व अर्थात् प्रकृति के अर्थ के उपस्कारक भी हैं। यद्यपि आचार्यों ने स्वार्थिक प्रत्ययों को प्रकृत्य-र्थानुवादी कहा है :

१—पा० सू० ३।१।१

तथैव स्वार्थिकाः केचित् संघातान्तरवृत्तयः ।
अनर्थकेन संसृष्टाः प्रकृत्यर्थानुवादिनः ।।[1]

यहाँ अनुवादी से केवल प्रकृत्यर्थ का अनुवाद करने वाला नहीं समझना चाहिए, अपितु ये प्रकृत्यर्थ के उपस्कारक हैं, अन्यथा 'पटुः' और 'पटुतमः-पटिष्ठः' अथवा 'रामः' और 'रामकः', 'वृक्षः' और 'वृक्षकः' में प्रतीयमान भेद सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः यहाँ अनुवादी से विशेष-धर्माधानरूप उपस्कार-संवलित प्रकृत्यर्थानुवादी समझना चाहिए। अथवा उक्त कारिका को या इस विषय में आचार्यों के मत को अत्यन्त स्वार्थिक तद्धितों के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए; क्योंकि अत्यन्त स्वार्थिक प्रत्यय केवल प्रकृति के अर्थ के अनुवादक होते हैं। यथा—याव एव यावकः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः इत्यादि। किन्तु इन्हें भी आचार्यों ने प्रकृत्यर्थारोप से अर्थवान् स्वीकार किया है।[2] अर्थवान् न मानने पर तो ये आगम कहे जाने लगेंगे, जबकि इनका स्वभाव या गुण-धर्म प्रत्यय-तुल्य है। चूँकि इनमें प्रत्ययत्व रहे, एतदर्थ इनमें अर्थ का आरोप अंगीकार किया गया है।

उक्त तीनों प्रकारों से भिन्न सार्थक तद्धित हैं। ये प्रकृत्यर्थ से संबद्ध व उससे सर्वथा भिन्न अर्थ-भावना को उपस्थित करते हैं। इनके उदाहरण यथास्थान निर्दिष्ट हैं। अतएव भाषाशास्त्रियों ने जहाँ इनका विधान सुबन्तपदरूप प्रकृति से किया है, वहीं प्रकृत्यर्थ में विशेषाधान करने वाले या प्रकृत्यर्थानुवादी प्रत्ययों का विधान प्रातिपदिक प्रकृति से किया है।[3] एवमेव कृत् प्रत्यय भी सार्थक हैं। कहीं साध्यक्रिया के बोधक होते हैं, कहीं सिद्धभाव को प्रकट करते हैं, कुत्रचित् साधन की प्रतीति बनाते हैं तो क्वचित् रूढसंज्ञा के निष्पादक

१—वाक्यपदीय, २।१६३

२—'स्वार्थिकानां प्रकृत्यर्थेनैवार्थवत्त्वात्' (प्रौढमनोरमा, अजन्तपुंल्लिग, अर्थवद्धातु प्रतीक) 'आरोपितार्थवत्त्वात्' (शब्दरत्न, वहीं पर)

३—द्रष्टव्य—(क) लघुशब्देन्दुशेखरः, अजन्त पुंल्लिग, 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्' सूत्र
(ख) कुत्सिते (पा० सू० ५।३।७४) पर महाभाष्य

होते हैं। एवंच संस्कृत के सभी प्रत्यय सार्थक इकाई के रूप में स्वीकृत हैं। इसी के अनुरोध पर भट्ट नागेश ने शब्देन्दुशेखर में प्रत्ययों के विषय में कहा है—'स्वस्वप्रकृत्यर्थान्यितरप्रत्यायकत्वम् प्रत्ययानाम्'[1] अर्थात् कुछ प्रत्यय अपने अर्थ को प्रगट करते हैं तथा कतिपय स्वार्थिक प्रत्यय अपने प्रकृत्यर्थ को ही अभिहित करते हैं। एवंच उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि सभी प्रत्यय सार्थक इकाई हैं, पर पृथक् प्रयोगार्ह नहीं हैं। ये सर्वथा प्रकृति के साथ मिलकर ही अर्थभावना को प्रकट करते हैं। यद्यपि 'इयती' 'इयान्' इत्यादि कतिपय स्वतन्त्र एवं पृथक् प्रयोगार्ह पदों में केवल प्रत्यय की स्थिति देखी जाती है, तथापि उक्त स्थल में भी प्रकृति का अनुसन्धान अपेक्षित होता है, अन्यथा अर्थभावना की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं हो पायेगी। किंच उक्त स्थल में भी केवल एक प्रत्यय न होकर 'वतुप्' 'घ' इत्यादि प्रत्ययों का समूह समवस्थित होता है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि केवल प्रत्यय का अथवा केवल प्रकृति का प्रयोग भाषा में नहीं होता है।[2]

प्रत्यय में मिथ : पार्थक्य : जैसी कि पूर्व में चर्चा की गयी है, सुप् व तिङ् से कृत्, तद्धित, एवं सनादि प्रत्ययों में मौलिक भेद है। इस विषय में संक्षेप से यह अवधेय तथ्य है, सुप् और तिङ् के संयोग से शब्द के मूल अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता। इन्हें साधन, कारक या पुरुष के अन्तर्गत माना जाता है, क्योंकि ये क्रिया और कर्तादि के सम्बन्ध व संख्या साधन, काल तथा पुरुष को मुख्य-रूप से द्योतित करते हैं। इसके विपरीत कृत् तद्धित और सनादि प्रत्यय मूलशब्द धातु या प्रातिपदिक से विहित होकर उसके मूल अर्थ में अन्तर उत्पन्न करते हैं। ये अपने प्रभाव से उस अर्थ में संकोच या विस्तार भावना को भरते हैं। इनकी यह भी विशेषता है कि सुप् और तिङ् विभक्ति प्रत्ययों के आगमन से पूर्व ही प्रकृति

१–अजन्त पुँल्लिग, 'प्रत्ययः' सूत्र, 'अधिकारोऽयम्' प्रतीक

२–'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः' (उद्धृत—ल० श० शे०, अजन्त पुँल्लिग, 'परश्च' प्रतीक), 'प्रत्ययो वाचकत्वेऽपि केवलो न प्रयुज्यते', वाक्य०, काण्ड २, कारिका १६६

से संयुक्त होकर, उस पर अपना प्रभाव डाल चुके होते हैं तथा अपनी सत्ता को सर्वथा विलीन कर स्वयं भी धातु या प्रातिपदिक रूप हो गये होते हैं। इसके विपरीत सुप् और तिङ् प्रत्यय सर्वथा अन्त में होते हैं और अपनी पृथक् पहचान बनाये रखते हैं। किंच नैयायिकों की दृष्टि से तो सुप् और तिङ् को भी 'पद' की कोटि में रखा जा सकता है।[1] महर्षि पाणिनि के कृत् तद्धितसमासाश्च[2], सनाद्यन्ता धातवः[3], ङ्याप् प्रातिपदिकात्,[4] धातोः,[5] प्रत्ययः[6] और परश्च[7] ये सूत्र उपर्युक्त तथ्य को ही अभिहित करते हैं। यह सम्भव है कि उक्त सभी सिद्धान्त विश्व की समस्त भाषाओं पर लागू नहीं होते हैं, पुनरपि इसके पर्याप्त अंश उन सभी भाषाओं में अन्वेषित किये जा सकते हैं।

आगमादि से अन्तर : प्रत्यय को सार्थक इकाई स्वीकार करने से ही विकरण तथा आगम से इसकी भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि प्रत्यय जहाँ सार्थक स्वीकार किये गये हैं वहाँ विकरण तथा आगम निरर्थक माने गये हैं। उन्हें प्रकृति और प्रत्ययार्थ से बोधित अर्थ में सहायक अथवा द्योतक भले ही मान लिया जाय, पर प्रत्यय की भाँति उनकी सार्थक इकाई नहीं स्वीकार की जा सकती; क्योंकि उनके बिना भी कृदादि में, जहाँ केवल धातु और प्रत्यय की स्थिति है, अर्थ प्रतीति होती है। अतः अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा उनकी सार्थकता को सिद्ध करना सम्भव नहीं है। जैसा कि आचार्य भर्तृहरि ने कहा है :—

यत्र वाऽव्यभिचारेण तयोः शक्तिप्रकल्पनम्।
नियमः तत्त्वनियमो नत्वेवंश्यन्शबादिषु ॥

—वाक्य० २।१६६

१—तुलनीय 'शक्तं पदम्' —न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड, कारिका ८१

२—पा० सू० १।२।४६ ३—पा० सू० ३।१।३२

४—वही ४।१।१ ५—वही ३।१।८१

६—वही ३।१।१ ७—वही ३।१।२

अर्थात् जिस पद से अव्यभिचरित रूप में अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अर्थप्रतीति अवश्य होती है, उस पद में विद्यमान प्रकृति और प्रत्यय में अर्थबोधिका शक्ति स्वीकार करके उन्हें सार्थक मानना समीचीन है, किन्तु जिनसे अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अर्थप्रतीति निश्चित न हो, उन श्यन्, शबादि विकरणों अथवा अट्, आट्, नुट्, धुट् आदि आगमों में शक्ति स्वीकार करना अथवा उन्हें सार्थक कहना तर्कसंगत नहीं है। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि स्य, सिच्, यक् इत्यादि विकरण सार्थक हैं; क्योंकि सिच् अथवा 'स्थान्यर्थाभिधानमादेशानाम्'[1] सिद्धान्त से सिजादेश चिण्, चङ्, अङ् इत्यादि जहाँ सामान्यभूत काल के प्रत्यायक हैं, वहीं यक् कर्म या भाव का द्योतक है। इसी प्रकार 'स्य' भी लकार या कृत् प्रत्ययों के योग में भविष्यकाल की प्रतीति कराता है। अतएव भवति-भविष्यति, पठति-पठिष्यति, कुर्वाणः-करिष्यमाणः, खेलन्तम्-खेलिष्यन्तम् इत्यादि अनेक रूपों में प्रकृति और प्रत्यय के समान रहने पर भी अर्थभेद प्रतीत होता है। यहाँ जो अर्थ नवीन उपजात हुआ, वह निश्चय ही नवीन उपजात 'स्य' का हो सकता है। एवंच अन्वयव्यतिरेक के द्वारा 'स्य' की सार्थकता सिद्ध होती है। एवमेव अट्, आट् इत्यादि आगम भी भूतकाल के क्रियारूपों में अवश्य पाये जाते हैं। अतएव भाषावैज्ञानिकों ने इन्हें सार्थक प्रत्यय स्वीकार किया है।[2] एवंच विकरण और आगम भी सार्थक हैं। प्रत्ययों से इनका मात्र स्थान भेद है।

किन्तु उपर्युक्त कथन केवल रभसाभिधान किंवा अविचारित रमणीय है; क्योंकि वैयाकरण-परम्परा ने जब भूतकाल या भविष्यकाल, कर्म अथवा भाव में लकारों की अथवा तत्स्थानापन्न प्रत्ययों की शक्ति स्वीकार कर ली, तब उसी अर्थ में पुनः विकरण या आगम की शक्ति मानना मात्र शक्तिगौरव होगा। इसी बात को भर्तृहरि ने अपनी उक्त कारिका में स्पष्ट किया है। जहाँ तक अर्थानुभूति का प्रसंग है, वह तो पूरे पद से होता है, क्योंकि पदस्फोट ही सत्य है,

---

१—'स्थानिवदादेशो०' —पा० सू० १।१।५५

२—द्रष्टव्य—'संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन', चतुर्थ संस्करण, १९७१ ई०, पृ० १८६ व २१६

अन्य विभाग तो सर्वथा काल्पनिक ही हैं। दूसरी बात यह है कि 'स्य' विकरण सदा भविष्य काल में ही प्रयुक्त नहीं होता, अपितु लृङ् लकार में प्रयुक्त होकर सर्वथा विपरीत अर्थ भूतकाल व सम्भावनादि को भी व्यक्त करता है। इसी प्रकार अट्, आट् आगम भी भूतकालिक क्रिया रूपों के अतिरिक्त लृङ् लकार की क्रिया के रूपों में भी पाये जाते हैं तथा इट्, नुट्, धुट्, आदि आगम तो सर्वथा निरर्थक ही हैं। केवल पद संस्कारार्थ उनका उपयोग होता है। इसी प्रकार सिच् या तत्स्थानापन्न विकरणों की लुङ् लकार के क्रियारूप में स्थिति होने से ही भूतकाल की प्रतीति होती हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि 'अभूत्', 'अगात्' इत्यादि रूपों में उनके बिना भी भूतकाल की प्रतीति होती है। एतावता यह सिद्ध होता है कि विकरण व आगम सर्वथा निरर्थक होते हैं, किन्तु प्रत्यय सार्थक।

यद्यपि सूक्ष्म रीति से विचार करने पर लाघवात् काल-निरूपिता शक्ति लकारों में कल्पित कर लेने के अनन्तर पुनः 'स्य' 'सिच्' आदि विकरणों को उसका बोधक मानना गौरव होगा। इन्हें तो उस शक्ति का तात्पर्य ग्राहक कहना अधिक उचित होगा, पुनरपि जो लोग शक्ति-गौरव को सहने के लिए तैयार हैं[1], तात्पर्य ग्राहकरूप गलगण्डु को मानने में हिचकते हैं, उनकी दृष्टि से विकरणों को सार्थक प्रत्यय कहने में कोई आपत्ति नहीं है। अतएव प्रत्यय की परिभाषा करते समय भट्ट नागेश ने व्यावर्त्य की कोटि में 'विकार' और 'आगमों' को ही रखा है।[2] वहाँ विकरणों की चर्चा नहीं की है। किंच यहाँ विकरणों को प्रत्यय मानने या न मानने के विषय में विचार काकदन्त-परीक्षावत् उपेक्ष्य है। एवंच विकरण तथा आगम के निरर्थक होने से, उनका स्थान निश्चित न होने से तथा उनके सार्वत्रिक न होने से हम उन्हें प्रत्ययों से अलग पाते हैं।

ऊपर कतिपय संक्षिप्त कारणों से प्रत्यय को आगम और विकरण से भिन्न बताया गया है। यहीं पर भी समझ लेना चाहिए कि ये

१–'संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन', चतुर्थ संस्करण १९७१ ई०, पृ० १८६ व २१६

२–'विकारागमानान्तु न तत्संज्ञा'—ल० श० शे० अजन्त पुंल्लिग, ३।१।१

प्रत्यय प्रिपोजिशन (Preposition) की कोटि में भी नहीं आते। प्रिपोजिशनों को अव्यय या निपात कह सकते हैं, जो सार्थक इकाई होने के साथ-साथ वाक्य में स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त नहीं होते हैं, किन्तु इतने मात्र से प्रत्ययों के साथ उनकी तुलना भी उचित प्रतीत नहीं होती। किंच प्रिपोजिशन या अव्यय और निपात में भी प्रत्ययों के स्पष्ट या अस्पष्ट चिह्न अवश्य जुड़े होते हैं। अतः प्रत्यय को हम सर्वथा प्रिपोजिशन, अव्यय या निपात से भी भिन्न पाते हैं।

विश्व की भाषायें और प्रत्यय की स्थिति : भारतीय भाषा-वैज्ञानिकों के मत से प्रत्यय का सामान्यलक्षण, स्थान, अर्थ और प्रकारादि के विषय में कुछ विचार करने के उपरान्त विश्व की भाषाओं के सम्बन्ध में अधुनातन प्रचलित अध्ययन के आधार पर किंचित् दृक्पात भी उपयोगी सिद्ध होगा। विश्व की भाषायें रूपात्मक दृष्टि से मुख्यतः योगात्मक और अयोगात्मक दो रूपों में विभक्त की गयी हैं। जिन भाषाओं के शब्द प्रकृति-प्रत्यय के संयोग से अपने मूल रूप में परिवर्तन लाने के साथ-साथ अर्थभावना को भी अभिहित करते हैं, ऐसी भाषायें योगात्मक कही जाती हैं। इसके विपरीत अयोगात्मक भाषाओं के शब्दों में हम किसी प्रकार की मूलध्वनि की पहचान ही नहीं कर सकते हैं। ऐसी भाषायें या तो एकाक्षर होती हैं अथवा उनके अक्षरों का विभाग ही सम्भव नहीं होता है। उन भाषाओं के शब्द स्थान-भेद और साहचर्य-भेद से अनेक अर्थ-भावनाओं का बोध कराते हैं, जिससे व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ऐसी भाषायें अमरीकीवर्ग और चीनीवर्ग में परिगणित की गयी हैं। चीनी, बर्मी, अन्नामी आदि भाषायें तो प्रत्ययों के साथ-साथ समासादि से भी विहीन रहती हैं। चीनीवर्ग की भाषाओं के शब्द प्रमुखतः स्थान, स्वर आदि के परिवर्तन अथवा निपातों आदि के प्रयोग से ही वाक्य में सम्बन्धतत्त्व का बोध कराते हैं। इसके विपरीत योगात्मक भाषाओं को कई उपवर्गों में विभक्त किया जा सकता है। भाषावैज्ञानिकों ने इन उपवर्गों के 'श्लिष्ट योगात्मक' और 'अश्लिष्टयोगात्मक' ये दो नाम दिये हैं। शब्द के मूलरूप अर्थात् प्रकृति पर रूपीय और अर्थ-

मूलक प्रभाव डालने वाले संकेतचिह्न या प्रत्यय जिनमें उपलब्ध हैं, वे श्लिष्ट योगात्मक भाषायें हैं तथा जिन भाषाओं के सम्बन्ध बोधक संकेत मूलशब्द में रूपात्मक परिवर्तन नहीं लाते, वे भाषायें अश्लिष्ट योगात्मक कही जाती हैं। प्रथम वर्ग में यदि उत्तरी और दक्षिणी अमरीका की तथा सामीवर्ग की भाषायें आती हैं तो द्वितीय वर्ग में तुर्की, तमिल, अफ्रीकी आदि भाषायें मानी जाती हैं।

विश्व की इन समस्त भाषाओं में रूपात्मक दृष्टि से जो-जो विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं, वे समस्त विशेषतायें और उनके उदाहरण संस्कृत भाषा में सरलता से खोजे जा सकते हैं, क्योंकि यह इतनी विशाल और प्राचीन है कि इसमें इन विशेषताओं की उपलब्धि आश्चर्यजनिका नहीं है। यदि विश्व की भाषाओं में आदिस्वर, अन्तस्वर या मध्यस्वर का परिवर्तन देखा जाता है तो कौन नहीं जानता कि संस्कृतभाषा के पदों में 'अपिधानम्-पिधानम्, बुधः-बोधः, भवितव्यम्-भवनीयम्' इत्यादि रूप से उक्त स्वर-परिवर्तन नहीं होते। इसी प्रकार यदि समासबहुला कुछ भाषायें हैं तो संस्कृत भी कादम्बरी के लम्बे समासों से युक्त और साथ-साथ समास से रहित प्रसाद शैली में प्रचुरतया व्यवहृत है। संस्कृत में प्रत्यय जहाँ प्रकृति से एकीकृत रूप में प्रयुक्त होते हैं, वहीं भ्याम्, भिस्, और क्त-क्तवतु तव्यदादि प्रत्यय भी स्पष्ट रूप में प्रकृति से अलग अपने अर्थ और रूप को सुरक्षित किये रहते हैं। एवंच संक्षेप में कह सकते हैं कि संस्कृत विश्व की भाषाओं की प्रतिनिधि के रूप में अध्येतव्य है। इसके निपातगण एकाक्षर रूप में ही अर्थ को स्पष्ट अभिव्यक्त करके अपने को एकाक्षर भाषाओं का प्रतिनिधि भी सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृतभाषा में ऐसे मूलशब्द भी नित्यशः व्यवहृत होते हैं, जो अपने स्वरूप में किंचित् परिवर्तन किये बिना भी वाक्यगत विभिन्न भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं, जैसाकि विश्व की अयोगात्मक भाषाओं में देखा जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। किम्, यद्, तद्, एतद्, अस्मद् आदि शब्द तथा प्रथमा एकवचन स्त्रीलिङ्ग में आकारान्त, ईकारान्त शब्द एवं कतिपय हलन्त शब्द भी अपने रूप में अपरिवर्तित रहते हुए ही सम्बन्ध-भावना का बोध कराते हैं।

विश्व की योगात्मक भाषाओं में, जहाँ निरपवाद रूप से प्रत्यय की स्वीकृति है, भाषावैज्ञानिकों ने प्रत्ययों के आदि, मध्य और अन्त तीन स्थान माने हैं। यहाँ विशेषरूप में यह ध्यान रखना चाहिए कि संस्कृत या अन्य भारोपीय भाषाओं में प्रत्ययों की जो व्यवस्थित स्थिति है तथा प्रकृति के संयोग से जो अनेक शब्द संरचना होती है, वह दूसरी भाषाओं में दुर्लभ-सी है। शब्दों के आदि में प्रत्यय के संयोजन की जो व्यवस्था है, वह भारोपीय और अन्य अनेक परिवारों की भाषाओं में देखी जा सकती है। जर्मन का 'गे,' ग्रीक का 'ए' और 'हे', डच का 'गे' इत्यादि प्रत्यय तथा अफ्रीकी भाषाओं के प्रत्यय मूलशब्द के आदि में ही संयुक्त किये जाते हैं। यद्यपि संस्कृत में यह प्रवृत्ति नहीं है, पुनरपि इसके ७३८ प्रत्ययों में से केवल एक 'बहुच्' प्रत्यय ही शब्द के आदि में प्रयुक्त होता है। इसके लिए महर्षि पाणिनि ने विशेष प्रयास किया है।[1] यदि यह कहा जाय कि संस्कृत में भी धातुप्रकृति के आदि में अट्-आट् इत्यादि प्रत्यय देखे जाते हैं, तो हमने इनके प्रत्ययत्व का प्रतिषेध कर इन्हें आगम कोटि में रखा है।

तुर्की आदि भाषाओं में यद्यपि सामान्यरूप से प्रत्ययों की स्थिति मध्यवर्ती मानी जाती है, तथापि इसके बहुलतया अपवाद भी पाये जाते हैं। यद्यपि मध्यवर्ती प्रत्ययों पर किसी एक भाषा का अधिकार नहीं कहा जा सकता है, पुनरपि मध्ययूरोप की भाषाओं में यह प्रवृत्ति प्रायः देखी जा सकती है। इटालवी भाषा में भी भविष्यत् काल सूचक 'र' प्रत्यय मध्य में पाया जाता है। जैसे—'आब्रो', 'स्कीब्रो' आदि। ग्रीक, जर्मन आदि भाषाओं में भी मध्यवर्ती प्रत्यय पाये जाते हैं। संस्कृत के स्य, सिच्, चङ्, स्यन्, अङ्, तास्, यक् इत्यादि लगभग बीस विकरण-प्रत्यय धातु और तिङ्प्रत्यय के मध्य में स्थित होकर यद्यपि भूत, भविष्यत् व वर्तमान काल तथा कर्मादि अन्य अर्थों की सूचना देते हैं, फिर भी भारतीय परम्परा ने[2]

१—'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु'—पा० सू० ५।३।६८

२—'शबादीनां विकरणसंज्ञा प्राचीनाचार्यसिद्धा'—वैया० सि० कौमुदी, बालमनोरमा, भ्वादिप्रकरण, सू० २।६७, मोतीलाल०, वाराणसी, संस्करण १९६५ ई०, पृ० १३

इन्हें प्रत्यय के रूप में स्वीकार नहीं किया है। उसने इन्हें 'विकरण'[1] संज्ञा से व्यवहृत किया है। किन्तु इन सार्थक विकरणों को प्रत्यय शब्द से कहा भी जाय तो इसमें कोई दोष दिखाई नहीं पड़ता। किंच इनको प्रत्यय न मानने के पक्ष में भी एक 'अकच्' प्रत्यय को निर्विवादरूप से मध्यवर्ती कहा जा सकता है, क्योंकि महर्षि पाणिनि प्रत्ययों को अन्तस्थानीय मान करके भी इसके लिए विशेष वचन का उपस्थापन करते हैं।[2] स्मरणीय है, महर्षि की यह प्रतिज्ञा भी विकरणों को प्रत्यय मानने में बाधक है। एवंच विश्वजनीन दृष्टि से संस्कृत को मध्यवर्ती प्रत्ययों से अछूता नहीं कहा जा सकता है।

संस्कृत प्रत्ययों की पद में अवस्थिति :—पीछे के पृष्ठों में हमने देखा कि विश्व की भाषाओं में से कुछ आदि प्रत्यय प्रधान एवं कतिपय मध्य प्रत्यय प्रधान भाषायें हैं, किन्तु संस्कृत की स्थिति उन सबसे भिन्न है। संस्कृत के शब्दों के आदि में जो ध्वनि या ध्वनि-समूह संयुक्त होते हैं, उन्हें उपसर्ग या आगम कहा जाता है, प्रत्यय का लक्षण उनमें घटित नहीं होता है। उपसर्ग जहाँ द्योतक इकाई है, वहाँ आगम निरर्थक रूप में स्वीकृत हैं, इसके विपरीत प्रत्यय सार्थक हैं। अतः यह भाषा आदिप्रत्ययवाली नहीं कही जा सकती। इस भाषा के शब्दों के मध्य में जो ध्वनि या ध्वनि-समूह संयुक्त होते हैं, वे दो प्रकार के हैं। एक को 'विकरण' कहा जाता है तथा दूसरे को प्रत्यय। विकरण भी प्रत्यय के ही प्रकरण में पठित हैं तथा उन्हें भी सार्थक मानने में पर्याप्त मत प्राप्त हैं। दूसरा प्रकार उन प्रत्ययों का है, जिन्हें हम मध्यवर्ती कह सकते हैं, वे कृत्, तद्धित एवं सनादि नामों से व्यपदिष्ट होते हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये सार्थक इकाईरूप में मान्य हैं तथा प्रातिपदिक एवं धातु की दृष्टि से अन्त में रहते हुए भी प्रयोगार्ह पद की दृष्टि से मध्यवर्ती हैं। संस्कृतभाषा के शब्द अपने पूरे अर्थ की अभिव्यक्ति वाक्य या पद के रूप में करते हैं। 'अपदं न प्रयुञ्जीत'[3]

१—'प्रकृतिप्रत्यययोर्मध्यपातित्वं विकरणत्वम्'—द्रष्टव्य—सारस्वतप्रक्रिया, चन्द्रकीर्ति, भाग २, उत्तरार्ध भ्वादि, पृ०७, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, १९७१

२—'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः'—पा० सू० ५।३।७१

३—प्रौढमनोरमाशब्दरत्न, अजन्त पुँल्लिग, 'कृत्तद्धितसमासाश्च'—प्रतीक में उद्धृत

संस्कृत का यह सर्वमान्य सिद्धान्त इसी ओर इंगित करता है। इसके अनुसार (ध्वनि समूह-विशेष) पद के अन्त में सम्बन्धतत्त्व के अभिव्यञ्जक जो प्रत्यय रहते हैं, वे निश्चित और सीमित हैं तथा उन्हें 'सुप्' और 'तिङ' कहा जाता है। सिद्धान्तानुसार पद मात्र के अन्त में इनकी स्थिति अपरिहार्य है। इन्हें ही विभक्ति प्रत्यय भी कहा जाता है। इनकी अपेक्षा कृत्, तद्धित एवं सनादि प्रत्यय मध्यवर्ती हैं तथा मूलशब्द धातु एवं प्रातिपदिक के अर्थ का विस्तार करते हैं। एवंच सुप् तथा तिङ् प्रत्यय अर्थ एवं स्थान की दृष्टि से इनसे भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न प्रकरण में पठित भी हैं। फिर भी भारतीय भाषाशास्त्री इन दोनों को प्रत्यय मानते हैं और दोनों को ही अन्तस्थानीय स्वीकार करते हैं।[१] अन्तर यही है कि जहाँ मूलशब्द धातु के अन्त में सनादि प्रत्यय संयुक्त होकर पुनः उसे धातुरूप प्रदान करते हैं, वहाँ कृत् प्रत्यय के संयोग से प्रातिपदिकरूप निष्पन्न होते हैं। स्त्रीप्रत्यय और तद्धित प्रत्यय भी सदा प्रातिप्रदिकरूप प्रकृति के ही अन्त में संयुक्त होते हैं और इनके संयोग के अनन्तर जो शब्दरूप निष्पन्न होता है, उसे भी प्रातिपदिक ही कहते हैं। इसके विपरीत तिङ व सुप् उक्तविध धातु व प्रातिपदिक के भी अन्त में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार कृत्, तद्धित एवं सनादि प्रत्यय भी मूलशब्द प्रकृति के अन्त में ही होते हैं। अतएव संस्कृत के शब्दों को अन्तप्रत्यय-प्रधान माना गया है।

जहाँ तक 'बहुच्' की बात है। यद्यपि महर्षि पाणिनि ने उसे प्रत्यय स्वीकार किया है तथा उसका विधान भी प्रकृति के आदि में ही किया है[२], तथापि या तो उसे अपवाद समझना चाहिए अथवा अधिकार्थ बोधक स्वतन्त्र 'बहु' प्रातिपादिक को ही ईषदूनार्थक भी मानकर 'बहुपटुः' इत्यादि उदाहरणों में उसे ही पटु शब्द के साथ समासयुक्त कर देने से भी रूपसिद्धि सम्भव है। एवंच इसे स्वतन्त्र प्रातिपदिक मान लेने से रूप की निष्पत्ति तो हो जाती है, किन्तु महर्षि को अभिप्रेत अन्तोदात्तस्वर की सिद्धि नहीं हो पाती, जिसके लिए विशेष-वचन की आवश्यकता रह ही जाती है। दूसरी बात यह

१-'प्रत्ययः' 'परश्च' —पा० सू० ३।१।२

२-'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु'—पा० सू० ५।३।६८

है कि 'अधिक और ईषद् ऊन' ये दोनों ही अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं, ऐसी स्थिति में एक ही शब्द को परस्पर विरुद्धार्थवाची मानना भी खटकता है। इन सभी कारणों से ऊनार्थक 'बहुच्' को प्रत्यय ही मानना उचित होगा तथा प्रत्ययों की सिद्ध अन्तस्थानिता के सन्दर्भ में केवल इसे अपवाद मानना अधिक तर्कसंगत होगा। एवंच पूर्वोक्त रीति से विचार करने के अनन्तर यह निश्चित किया जा सकता है कि संस्कृत जहाँ प्रयोगार्हरूप की अपेक्षा अन्त व मध्य प्रत्यय प्रधान है वहाँ प्रातिपदिक एवं धातु की अपेक्षा अन्तप्रत्ययप्रधान ही है। यहाँ यह तथ्य सदा अवधेय है कि प्रयोगार्हरूप के अन्त में सर्वदा प्रत्यय का सद्भाव रहता ही है। अतएव पाणिनीय परम्परा प्रत्ययों को अन्तस्थानीय स्वीकार करती है। उस स्थिति में हमने जो मध्यप्रत्यय की चर्चा की है, वह 'भूतपूर्वगति' के आश्रयण से अर्थात् प्रकृति एवं सुप् तथा प्रकृति व तिङ्प्रत्यय के मध्य में कृत्, तद्धित व सनादि प्रत्ययों की स्थिति को देखकर संस्कृत में मध्यप्रत्यय की चर्चा की गयी है। पर वस्तुतः भाषा वैज्ञानिकों ने संस्कृत को अन्तप्रत्ययप्रधान स्वीकृत किया है। अतएव वैयाकरण संस्कृत के शब्दों को अन्त शब्द से सम्बोधित करते हुए उन्हें कृदन्त, णिजन्त, सन्नन्त, तद्धितान्त, सुबन्त एवं तिङन्त नामों से व्यपदिष्ट करते हैं।

उपसंहार : यहाँ तक हमने प्रत्ययों के स्वरूप और अर्थ पर विचार किया तथा विभिन्न अस्वतन्त्र सार्थक इकाई से उसके भेद को भी स्पष्ट करने की चेष्टा की है। साथ ही यह भी दिखाया गया है कि उनके स्थान और अर्थ निश्चित हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इनमें मुख्य और गौण भेद मानकर अध्ययन प्रस्तुत किया है।[1] ये भेद भी उनके स्थान को लक्षित करके ही किये गये हैं। मूलप्रकृति धातु के अन्त में जुड़ने वाले कृत् या उणादि प्रत्ययों को जहाँ मुख्य प्रत्यय की संज्ञा दी गयी है, वहाँ उक्त प्रत्ययों के संयोग के अनन्तर जो प्रातिपदिक रूप निष्पन्न होते हैं, उनसे संयुक्त होने वाले तद्धित

१—नामिक प्रत्ययों को दो बड़े वर्गों में विभक्त किया जाता है, मुख्य और गौण। संस्कृत भाषा नामिक शब्दों की रचना, चौखम्बा प्रकाशन, १९६५ ई०, पृ० १४३

प्रत्ययों को गौण प्रत्यय की संज्ञा दी गयी है। सुप् तथा तिङ विभक्ति प्रत्यय तो मुख्य प्रत्यय या गौण प्रत्यय होने के अनन्तर निष्पन्न रूप के अन्त में संयुक्त होते हैं और वे वस्तुतः मुख्य व गौण प्रत्ययों की कोटि में नहीं आते हैं। उनकी स्थिति अन्य प्रत्ययों से सर्वथा भिन्न होती है, क्योंकि वे सर्वदा संख्या, काल, दिक्, कारक आदि की सूचना देते हैं। इनके अतिरिक्त जो प्रत्ययों की एक विशाल राशि है, उसे एक स्थूल वर्गीकरण में परिगणित किया जा सकता है। अर्थ की दृष्टि से इस वर्गीकरण को विनिश्चायक नहीं कहा जा सकता है। यह स्थिति केवल संस्कृत भाषा की ही नहीं, अपितु समस्त प्रत्यय संयुक्त भाषाओं की है। अंग्रेजी के मेन्ट (Ment), इक् (Ic), ली (Ly), इव् (Ive), इङ् (Ing), शन् (Tion), अन् (On, En), इश् (Ish), इफ् (If), एड् (Ed), ड् (D) एवं ट् (T) आदि प्रत्ययों के अर्थ भी सर्वथा निश्चित नहीं हैं। ये बहुधा भिन्नार्थ में प्रयुक्त होते हैं या कहीं प्रयुक्त होकर भी निश्चित समझे जाने वाले अर्थ को व्यक्त नहीं करते हैं। ग्रीक और लातीनी भाषाओं के प्रत्ययों का वर्गीकरण तो स्पष्टतः संस्कृत भाषा के वर्गीकरण से मिलता-जुलता है। किंच उनमें बहुत से प्रत्ययों का स्वरूप एक-सा पाया जाता है। एवमेव तुर्की, अफ्रीकी, सामी और हामी परिवार की भाषाओं में भी संस्कृत के समान ही प्रत्ययों का वर्गीकरण, स्थान एवं अर्थ का निर्धारण किया जा सकता है। एवंच संस्कृत के प्रत्यय से अन्य प्रत्ययसंयुक्त-भाषाओं के प्रत्ययों की समानता देखकर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि महर्षि पाणिनि की प्रत्यय सम्बन्धी दृष्टि व्यापक, सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक थी, अतः योगात्मक भाषाओं के प्रत्ययों के स्थान के विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता की वे उनकी मध्यवर्तिता या अन्त्यवर्तिता से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसके विपरीत वे सम्यक् रूप से जानते थे कि कुछ प्रत्यय मूलप्रकृति धातु या प्रातिपदिक के अन्त में होते हैं तथा कुछ प्रत्यय प्रत्ययान्तरूप के अन्त में होते हैं।

ऊपर के अध्ययन से हम कतिपय विश्वजनीन तथ्यात्मक निष्कर्ष निम्नलिखितरूप में प्रस्तुत कर सकते हैं :

१. प्रत्यय का शाब्दिक अर्थ संकेत-चिह्न है।

२. इनका निष्पादन विश्व के आदिमतम भाषा में भी होता है।

३. इनका सशरीर प्रयोग हो या न हो, पर सम्बन्ध और विभक्ति के भेदों को बताने में ये एक या अनेक रूपों में समर्थ होते हैं।

४. सभी शब्दों में इनकी शारीरिक सत्ता स्पष्ट रूपों में नहीं देखी जा सकती है।

५. आवश्यक नहीं की मूलशब्दों से उनका पार्थक्य सर्वदा सम्भव ही हो।

६. इनका स्थान शब्द के पूर्व, मध्य या अन्त में होने पर भी एक निश्चित है।

७. ये मूलशब्द पर प्रभाव डाल सकते हैं और प्रभाव डाले बिना भी अपनी अभिव्यक्ति करते हैं।

८. ये अर्थ-तत्त्व में परिवर्तन या परिवर्धन अवश्य करते हैं।

९. इनका अर्थ निश्चित होने पर भी ये वाक्य में स्वतन्त्र रूप से पृथक् प्रयोगार्हरूप नहीं हैं।

प्रत्ययों के विषय में प्रदर्शित ये कतिपय निष्कर्ष विश्व की समस्त प्रत्यय संयुक्त भाषाओं में न्यूनाधिक रूप से देखे जा सकते हैं।



प्रकृति : प्रत्यय के अध्ययनक्रम में प्रकृति शब्द का बार-बार उल्लेख हुआ है। किंच प्रकृति के बिना प्रत्यय के सामान्य लक्षण का निर्वचन भी सम्भव नहीं है; अतः प्रकृति के स्वरूप के विषय में कुछ जानकारी अपेक्षित प्रतीत हो रही है। संस्कृत व्याकरण एवं भाषाविज्ञान लघुतम उपाय से भाषा ज्ञान कराने के लिए ही प्रवृत्त होते हैं। ऐसी स्थिति में जहाँ वाक्यों से पद का एवं पद से प्रत्यय का अपोद्धार करके अध्ययन किया जाता है, वहाँ पद से अपोध्दृत प्रत्ययांश से पूर्व में स्थित शब्द की लघुतम इकाई 'प्रकृति' शब्द से जानी जाती है। यदि शब्द की वाक्यगत प्रयोगावस्था का नाम 'पद' है तो उसकी प्रयोग पूर्व अवस्था को प्रकृति कहना उचित है। प्रकृति अर्थ से परिपूर्ण वह

शाब्दिक इकाई है, जो प्रयोग से पूर्व पदरूप में भी रूपान्तरित हो सकती है और यथापूर्व रूप में भी रह सकती है। दोनों ही अवस्थाओं में प्रत्यय के संयोग और असंयोग से प्रकृति के रूप में अन्तर होता है और नहीं भी होता है। इस कथन से यह स्पष्ट है कि जब पदरूप से प्रकृति का रूप अभिन्न होता है, तब शब्द की अर्थभावना में प्रत्यय की अर्थभावना मिली रहती है, भले ही प्रत्यय की बाह्य अभिव्यक्ति भौतिक रूप में नहीं हो पाती। जहाँ प्रत्यय का भौतिक प्रयोग होता है और वह प्रकृति के रूप से स्पष्टतः पृथक् प्रतीत होता है, वहाँ प्रकृति के बाहरी रूप में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है। कहने का तात्पर्य है कि प्रकृति प्रयोगरूप में प्रत्यय से भिन्न अथवा अभिन्न भले हो, किन्तु उक्त दोनों ही स्थितियों में संयोग-विभाग या अन्वय-व्यतिरेक की प्रक्रिया के माध्यम से स्पष्ट रूप में प्रत्यय की पहचान की जा सकती है। प्रयोगरूप में भौतिकरूप से अनुपलब्ध रहने पर भी प्रयोगाश्रित विवेचन के आधार पर उसकी सत्ता स्वीकार कर ली जाती है। यह बात दूसरी है कि सार्वनामिक या कुछ धातु प्रकृतियों को प्रत्यय से अलग करके दिखाना वैयाकरण की बुद्धि के ऊपर ही आश्रित रहता है। यथा—त्वम्, ते, मे, वः, नः, अहम् इत्यादिरूपों में युष्मद् एवं अस्मद् प्रकृति का निर्धारण तथा अध्यगात्, अघसत् इत्यादि क्रियारूपों में इण् व अद् प्रकृति का विनिश्चय सामान्य-बुद्धि से परे की बात है। एवंच संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रयोगावस्था से पूर्व शब्द की लघुतम सार्थक इकाई ही प्रकृति है, जिसके पर में प्रत्यय की भावना अवश्य रहती है, भले ही वह भौतिक रूप से दृष्टिगोचर होता हो या न होता हो।

विनिश्चय : प्रकृति के विनिश्चय को अधिक स्पष्टरूप में समझने के लिए उसकी प्रक्रिया पर किंचित् दृष्टिपात करना आवश्यक होता है। क्रियारूपों तथा नामरूपों को निष्पन्न करने वाले विभक्तिप्रत्यय विश्व की प्रत्ययप्रधान-भाषाओं में प्रायः निश्चित और पृथक्-पृथक् होते हैं। कहीं-कहीं उनके स्थान पर कुछ दूसरे प्रत्यय भी देखे जाते हैं, जिसके संयोग से निष्पन्नरूप को संस्कृत व्याकरण 'अव्यय' की संज्ञा

देता है, किन्तु उनकी संख्या नगण्य है। इन विभक्तिप्रत्ययों से संयुक्त शब्दराशि में से मूलरूप को पहचानना बहुत कठिन नहीं होता है। जैसे—श्रीमान्, श्रीमन्तः, श्रीमते, श्रीमद्भ्याम्, श्रीमद्भ्यः इत्यादि विविध रूप वाले पदों में से 'श्रीमत्' के रूपमें एक समान आधारवाला 'प्रातिपदिक' प्रकृति सरलतया पहचानी जा सकती है। निरुक्ति करते समय इस 'श्रीमत्' को भी प्रकृति और प्रत्यय के रूप में पुनर्विभाजित किया जा सकता है। किन्तु अर्थतत्त्व की दृष्टि से 'श्रीमत्' उसी प्रकार एक स्वतन्त्र इकाई है, जिस प्रकार इससे अलग किया जा सकने वाला 'श्री' शब्द। इस श्री शब्द में भी वैयाकरण निरुक्ति करते समय पुनः प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करता है और इसके आधार पर अपोद्धृत या कल्पित 'श्रि' धातु उसी प्रकार एक स्वतन्त्र आर्थिक इकाई है, जिस प्रकार श्री शब्द। इस प्रकार हम एक ही 'श्रीमान्' रूप में अपोद्धार बुद्धि से तीन बार विभाजन करके उसमें तीन प्रकृतियों एवं तीन प्रत्ययों का विनिश्चय स्पष्ट रूप में कर सकते हैं। एक ही रूप में बैठी हुई तीनों प्रकृतियाँ अर्थतत्त्व की दृष्टि से सर्वथा भिन्न-भिन्न कही जायेंगी। एवंच प्रकृति के विनिश्चय में मुख्य आधार अर्थदृष्टि ही है। यह बात दूसरी है कि सरलता के लिए नियम को ध्यान में रखकर प्रकृति के स्वरूप-निर्धारण में यत्रकुत्रचित् खींचातानी भी की जा सकती है। यह बात युष्मद् और अस्मद् प्रकृति पर विशेषतया घटित होती है। त्वम्, ते, युवाम्, युष्मभ्यम्, वः इत्यादि रूपों में से युष्मद् प्रकृति को पहचानना अवश्य ही आयास साध्य है, किन्तु इनमें भिन्न-भिन्न प्रकृतियों की संकल्पना भी व्याकरण के प्रमुख लक्ष्य से दूर पड़ती है। वस्तुतः सूक्ष्म विवेचन या तर्क के आधार पर इनमें प्रकृति-वैभिन्न्य की स्थापना भी सरल नहीं है। अंग्रेजी या अन्य भारोपीय भाषाओं में भी प्रकृति सरल रीति से पहचानी जा सकती है, किन्तु कहीं-कहीं वहाँ भी उसकी पहचान दिमागी कसरत सिद्ध होती है। जैसे अंग्रेजी के (Is, Are, be) इज, आर, बी आदि भिन्न-भिन्न शब्दरूपों में वैयाकरणों से कल्पित 'बी' (be) धातु को खोज निकालना आसान नहीं है। पर्याप्त गवेषणा के अनन्तर वैयाकरण इन सत्यों को स्वीकार करता है। भारतीय वैयाकरण गणितज्ञ की भाँति जोड़-तोड़ की प्रक्रिया के द्वारा उस मूलशब्द धातु और प्राति-

पदिक को निश्चित करता है, जिससे कोई अन्य लघु तथा अर्थतत्त्व की दृष्टि से अखण्डरूप न हो सके। एवंच वाक्यगत प्रयोगरूप भिन्न-भिन्न होने पर भी उसका मूलरूप कुछ अन्य ही स्वीकार कर लिया जाता है। प्रकृति के रूप परिवर्तन की यह स्थिति प्रत्यय संयुक्त भाषाओं में ही परिलक्षित होती है। चीनी, बर्मी, आदि अयोगात्मक भाषाओं में रूप परिवर्तन का कभी प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु, इसके विपरीत प्रत्यय विहीन होने पर भी अमरीकी भाषायें ऐसी हैं, जहाँ प्रयोगावस्था में समासादि के कारण मूलरूप इतना परिर्वातत हो जाता है कि उनका विनिश्चय सामान्य बुद्धि से परे की बात होती है। 'नाधोलिनिन' में से 'नातेन' 'अमोखोल्' व 'निन्' को खोज निकालना भारोपीय भाषाओं में से प्रातिपदिक के विनिश्चय से किसी प्रकार कम दुरूह नहीं है। एवंच यदि प्रकृति का विनिश्चय उस भाषावेत्ता के लिए सरल है तो कहीं-कहीं कठिन भी है।

शब्दकोषों में जो शब्दरूप दिये गये रहते हैं, वे प्रयोग में प्रचलित पदरूप से भिन्न तो रहते ही हैं, किन्तु उन्हें सर्वांश में प्रकृतिरूप मानना भी उचित नहीं है। व्याकरण शास्त्र की भाँति शब्दकोष का लक्ष्य भी लघुतम उपाय से भाषा का अवबोधन ही है। इस बात को ध्यान में रखकर कोषकार क्रियाशब्दों के विषय में केवल कृ, भू, वृ आदि धातुओं को ही शब्दकोष में उल्लिखित करते हैं। यदि इन धातुओं से प्रत्यय संयोग के द्वारा निष्पन्न समस्त पदरूपों को कोष में स्थान दिया जाय, तब सम्भव है उसका निर्माण ही असंभव हो जाय। ऐसी स्थिति में पतंजलि की 'सप्तद्वीपा वसुमती' एवं पंचतन्त्र की 'अनन्तपारम् किल शब्दशास्त्रम्' वाली बात अक्षरशः सिद्ध हो जायेगी। अतः कोषग्रन्थों में केवल धातु का ही उल्लेख रहता है। प्रत्ययों के एक निश्चित वर्ग का ज्ञान कर लेने के बाद इन धातुओं से प्रयोगरूप का निर्माण एवं प्रयोगरूप से धातुओं का विभाजन बहुत सरल हो जाता है। शब्दकोषों में धातुओं के अतिरिक्त संज्ञारूपों की स्थिति भिन्न होती है। संज्ञा शब्दों का प्रायः वही रूप हम वहाँ देखते हैं, जो प्रकृति के नाम से अभिहित होता है। कुछ कोषकार संज्ञारूपों के प्रकृति, जिसे हम प्रातिपदिक भी कहते हैं, को उल्लिखित करते हैं तो

कतिपय कोषकार उसके प्रथमान्तरूप को स्थान देते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि कोषग्रन्थों में व्याकरण की अपेक्षा शब्दरूपों को अधिक व्यावहारिकरूप में देने का प्रयास किया जाता है। ऐसी स्थिति में शब्दकोष में प्रदत्त प्रथमान्त रूप भी प्रयोगजन्य सम्वन्ध-भावना से विहीन होते हैं, अतः प्रयोग करते समय उन रूपों में भी यत्किंचित् अन्तर आ ही जाता है। एवंच कोषग्रन्थों के माध्यम से भी प्रकृति का निर्धारण सम्भव है, किन्तु वहाँ भी यदि संज्ञा शब्दों में लिंग-बोधनार्थ प्रथमा एकवचन विभक्ति का संयोग किया गया हो तो तदतिरिक्त पूर्वांश को ही प्रकृति समझना चाहिए।

दो भेद—प्रकृति के प्रसंग में हमने उसके धातु और प्रातिपादिक इन दो रूपों की चर्चा की है। प्रकृति के ये दोनों रूप भारोपीय परिवार की समस्त भाषाओं में समान रूप से देखे जा सकते हैं। भारोपीय भाषाओं में ही नहीं, अपितु विश्व की सभी भाषाओं में शब्दों के उक्त दो भेद किये जा सकते हैं, क्योंकि ऐसी कोई भी भाषा नहीं जिसमें क्रिया एवं कारक न हों। धातु प्रकृति जहाँ क्रियारूप को अभिव्यक्त करती है वहाँ प्रातिपदिकप्रकृति से कारक की अभिव्यक्ति होती है। इसके अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जिनमें कारकत्व या क्रियात्व की स्थिति नहीं रहती। वे केवल कारकों या क्रियाओं के परस्पर सम्बन्ध के बोधक होते हैं। फिर भी ऐसे अव्यय शब्दों को संस्कृत व्याकरण ने प्रातिपदिक की कोटि में ही माना है।[1] अब नीचे दोनों प्रकृतियों के सम्बन्ध में किंचित् विचार किया जायेगा, ताकि प्रातिपदिक की धातु से उत्पत्ति होने पर भी उसकी पृथक् संज्ञा की आवश्यकता हृदयंगम हो सके। यहाँ पर यह भी अवधेय है कि जिस प्रकार धातु से प्रातिपदिक की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार कतिपय धातुएँ प्रातिपदिक से उत्पन्न होती हुई दिखायी गयी हैं, जिन्हें संस्कृत व्याकरण में 'नामधातु' शब्द से व्यपदिष्ट किया जाता है।[2]

१—'अव्ययादाप्सुपः'—पा० सू० २।४।८२; सूत्र का महाभाष्य एवं प्रातिपादिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा, पा०, २।३।६४ सू० का लघुशब्देन्दुशेखरः।

२—द्रष्टव्य—वैया० सि० कौमुदी, नामधातु प्रकरण

धातु-प्रकृति : यह शब्द की ऐसी लघुतम एवं सार्थक इकाई है, जो एक ही क्रिया के विविध काल और भावों को प्रकट करने वाले क्रियारूपों में समान रूप से उपलब्ध होती है। एक ही क्रिया के सभी रूपों को एकत्र करने के पश्चात् उन सभी में अनायास मूल-रूप से प्रतीत होने वाला अंश ही धातुपद वाच्य होता है। प्रतिबन्ध यही है कि वह मूलअंश लघु से लघुतम एवं सार्थक होना चाहिए। किन्हीं-किन्हीं क्रियाओं में वह एकाक्षर एवं अधिकतर द्व्यक्षर रूप में पाया जाता है। इससे अधिक अक्षरों में भी कतिपय धातुएँ उपलब्ध हैं। एवंच निर्धारिकतत्त्व की समानता अर्थात् सभी रूपों में उसकी उप-लब्धता एवं अर्थवत्ता ही धातुत्व है। इस धातु प्रकृति से ही कृदन्त प्रत्ययों के संयोग से संज्ञा या नामशब्दों की उत्पत्ति होती है, जिन्हें प्रातिपदिक कहा गया है।[1] संस्कृत व्याकरण में इन प्रातिपदिकों के अर्थ को क्रिया-अर्थ से भावित करके प्रयोग करने की भी परम्परा विद्यमान है। अतः प्रत्ययों का एक ऐसा भी समूह है, जो प्रातिपदिकों को पुनः धातुरूप में परिणत कर देता है। ऐसी धातुओं को नामधातु कहा जाता है तथा अर्थवत्ता की दृष्टि से सामान्य धातुओं से अलग व आकार में बड़ी होने पर भी उनकी पृथक् सत्ता स्पष्टतः प्रतीत होती है। इस प्रकार धातु प्रकृति को मुख्य और गौण (लाक्षणिक) इन दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है। मुख्यधातुएँ वे हैं, जो संस्कृत के धातुपाठ में पठित हैं और लघुतम होने के साथ-साथ प्राति-पदिक-निर्माण में समर्थ होती हैं। यहाँ गौण धातुओं से अभिप्राय नामधातुओं से है, जो प्रातिपदिक से प्रत्यय के संयोग के अनन्तर उत्पन्न होती हैं। उनकी विशेषता है कि वे प्रातिपदिक के अर्थ को क्रिया की अर्थभावना से भावित किये रहती हैं। यहाँ गौण नाम-धातुओं के अतिरिक्त एक और वर्ग की भी चर्चा की जा सकती है और वह वर्ग है—ण्यन्त, सन्नत, यङन्त व यङलुगन्त धातुओं का। इन्हें भी गौण अथवा लाक्षणिक शब्द से व्यपदिष्ट किया जा सकता है, क्योंकि ये भी धातुपाठ पठित न होकर लक्षण=सूत्र से समागत हैं। किन्तु नामधातुओं से इनका सर्वथा पार्थक्य है। ये मूल धात्वर्थ-

१–'कृत्तद्धितसमासाश्च', पा० सू० १।२।४६

भावना का ही अधिक विस्तार या उपस्कार करती हैं। जबकि नामधातुयें नामार्थ को क्रियार्थ में परिवर्द्धित करती हैं। इसके अतिरिक्त धातुओं का एक चौथा प्रकार भी है, जिसे हम यक्, आय, इयङ व णिङ प्रत्ययान्त कह सकते हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनमें ये प्रत्यय कतिपय मूल धातु से ही होते हैं तथा उस धातु के अर्थ में लेशमात्र परिवर्तन या परिवर्धन भी नहीं करते, अर्थात् सर्वथा निरर्थक हैं, पुनरपि इनके संयोग के अनन्तर जो रूप निष्पन्न होता है उसे भी धातु कहते हैं[1] और उनका सभी लकारों में प्रयोग होता है, किन्तु आर्धधातुक लकारों में इनका योग वैकल्पिक है।[2] ये प्रत्यय सभी धातुओं से नहीं होते हैं। जिनसे ये होते हैं, उनसे नित्य होते हैं, किन्तु उनका प्रयोग केवल सार्वधातुक लकारों में नहीं मिलता है। वस्तुतः इन्हें आगम की कोटि में भी रखा जा सकता है। किन्तु इनके वैकल्पिक विधान एवं अव्यापकता के दृष्टिकोण से ही कदाचित् महर्षि पाणिनि ने इन्हें प्रत्यय की कोटि में रखा है।

धातु या प्रातिपदिक में से धातु को अत्यन्त अव्यावहारिक तथा प्रातिपदिक को अपेक्षाकृत कम अव्यावहारिक मानने में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा प्रतीत नहीं होती। क्योंकि यदि प्रातिपदिक कहीं-कहीं अभिन्न प्रयोगार्ह पद के रूप में दृष्टिगोचर होता है तो धातु भी अविकल रूप से प्रयोगार्ह पद के रूप में देखी जाती है। लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन के परस्मैपद में 'गद' 'वद' 'अत' इत्यादि रूप अपने-अपने धातुओं से अभिन्न ही हैं। किंच धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने के अनन्तर निष्पन्न द्रुह्, मुह्, इत्यादि संज्ञारूप धातु से अभिन्न ही रहते हैं। यह कहा जा चुका है, धातु या प्रातिपदिक जब प्रयोगार्ह पद के रूप में परिणत होते हैं तो उनमें रूपात्मक अन्तर न रहने पर भी अर्थ भावना अवश्य परिवर्तित हो जाती है। अतः उक्त दोनों प्रकृतियों में से एक को अव्यावहारिक तथा दूसरे को व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। जहाँ व्याकरण की दृष्टि से लघुतम उपाय के द्वारा भाषा सीखने के लिए यदि दोनों प्रकृतियों के साथ प्रत्यय भी वास्तविक सत्य हैं तो लोक व्यवहार की अपेक्षा ये सभी सर्वथा असत्य

१—सनाद्यन्ता धातवः—पा० सू० ३।१।३२
२—आयादय आर्धधातुके वा—पा० सू० ३।१।३१

एवं काल्पनिक हैं। किंच भर्तृहरि के शब्दों में 'पद' भी अवास्तविक एवं काल्पनिक हैं। इनका अपोद्धार शास्त्रीय महत्त्व की वस्तु है। व्यवहार जगत् में तो ये भी महत्त्व हीन हैं।[1]

प्रातिपदिक प्रकृति : ऊपर धातु प्रकृति के सम्बन्ध में बताया गया है कि वह प्रत्यय से पूर्व में विद्यमान शब्द की एक लघुतम सार्थक इकाई है तथा उससे प्रातिपदिक की भी उत्पत्ति होती है और प्रातिपदिक से पुनः कतिपय धातुएँ भी निष्पन्न हो सकती हैं, जिन्हें गौण धातु के रूप में ऊपर कहा गया है। धातु के समान प्रातिपदिक का लघुतम होना अनिवार्य नहीं है, किन्तु अर्थभावना की एकता ही इनमें अनिवार्य तत्त्व है। जैसे—'श्रीमत्' इत्यादि प्रातिपदिकों में 'श्री' शब्द एवं 'वत्' प्रत्यय तथा 'श्री' शब्द में 'श्रि' धातु और 'क्विप्' (०) प्रत्यय पृथक्-पृथक् रूप में प्रतीत होते हैं, किन्तु अर्थमूलक दृष्टिकोण से ये सभी एक और अविभाज्य इकाई होकर 'श्रीमत्' के रूप में एक प्रातिपदिक कहलाते हैं। अर्थात्मक एकता की दृष्टि से वहाँ तथाकथित प्रातिपदिक, धातु एवं प्रत्यय का कोई महत्त्व नहीं होता। एवंच अधिकांश प्रातिपदिकों में से धातुओं का विभाजन संभव होने पर भी प्रातिपदिकों को एक अविभाज्य इकाई माना जाता है। यह बात दूसरी है कि धातु सबसे छोटी इकाई है, जिसका पुनर्विभाजन सम्भव नहीं। एवमेव यह भी आवश्यक नहीं की प्रत्येक प्रातिपदिक में धातु की सत्ता अनिवार्य ही हो। यद्यपि शाकटायन प्रभृति कतिपय वैयाकरण 'सर्वे शब्दाः धातुजाः[2]' के प्रतिपादक हैं, किन्तु पाणिनीय परम्परा इस सिद्धान्त को सर्वांश में स्वीकार नहीं करती है।[3] धातु और प्रातिपदिक प्रकृति में समानता यही है कि धातु की भाँति प्रातिपदिक भी एक शब्द के अनेक पदरूपों में समान रूप से अनुस्यूत रहता है। राम शब्द के रामः, रामान्, रामाभ्याम् इत्यादि सभी पद-

---

१—'वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन'—वाक्य०, १।७३। 'वाक्यसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वस्य **पदे** प्रतिपादनात्'—वाक्यपदीयभावप्रदीप, चौखम्बा, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९६१, पृ०, ८२

२—नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च—निरुक्त १।१२

३—'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'—पा० सू० १।२।४५

रूपों में अर्थ और रूप की अपेक्षा से राम प्रातिपदिक अनुस्यूत है और इसका विभाग अनायासेन सम्भव है। प्रातिपदिक शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी ओर इंगित करती है।[1] एक शब्द के विभिन्न रूपों में मिलने वाला समानशब्दांश ही प्रातिपदिक कहलाता है। महर्षि पाणिनि ने इसकी पहचान निम्नलिखित शब्दों से कराई है। तद्यथा 'अर्थवद् अधातुः अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' अर्थात् धातु और प्रत्यय से भिन्न सार्थक शब्द स्वरूप को प्रातिपदिक कहते हैं। एक अर्थ के प्रतिपादक शब्द विभिन्न वचन और कारकों की सूचना देने के लिए जब अनेक रूप में परिवर्तित होते हैं, तो उन रूपों में प्रातिपदिक महत्तम व समान अंश में विद्यमान रहता है। भले ही वाक्य-प्रयोग में इनका रूप परिवर्तित हो जाता हो। यह परिवर्तन कहीं कम और कहीं अधिक रहता है। अंग्रेजी और हिन्दी आदि भाषाओं में तो संज्ञाओं को बहुधा वचन और विभक्ति से हीन मूल प्रातिपदिक के रूप में माना जाता है, परन्तु वहाँ भी कुछ संज्ञा शब्द विभक्ति और वचन से सम्बद्ध रूप में व्यवहृत पाये जाते हैं। कहने का अभिप्राय है कि इन भाषाओं में भी वाक्य में प्रयुक्त रूप सदा प्रातिपदिक से अभिन्न नहीं होते। हिन्दी में प्रचलित कर्त्ता, महान्, विद्वान् आदि को प्रातिपदिक माना जाय तब उनका 'कर्तृत्व', 'महत्त्व', 'विद्वत्ता' आदि शब्दों से सम्बन्ध बताना असम्भव हो जायेगा। उसके लिए 'कर्तृ' 'महत्' आदि अन्य मूल शब्दों की कल्पना करनी पड़ेगी। यही बात भ्राता, भ्रातृत्व आदि शब्दों में भी देखी जा सकती है। भाषावैज्ञानिक नियमानुसार या तो भ्राता और भ्रातृ को अलग-अलग दो प्रकृतियों के रूप में स्वीकार किया जाय या फिर संस्कृत की भाँति 'भ्रातृ' को ही मूल प्रातिपदिक माना जाय, क्योंकि भाषायी नियमानुसार ऋ को 'आर' होना सम्भव है, इसके विपरीत नहीं। एवंच संस्कृत की प्रातिपदिक कल्पना सर्वथा भाषा-वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय है।

निष्कर्ष : प्रत्यय संयोग से पूर्व प्रकृति जिस अर्थभावना को अभि-व्यक्त करती है, निश्चित ही वह अर्थ शुद्ध शास्त्रीय होता है। वैया-

---

१–'पदं पदमिति प्रतिपदं, प्रतिपदि भवं प्रातिपदिकम्'

करणों ने वृत्तिमत्ता के रूप में उस अर्थवत्ता को अंगीकार किया है, अतः उस अर्थ को हम अलौकिक या अव्यावहारिक भी कह सकते हैं। अर्थ के अव्यावहारिक होने से ही तद्बोधिका प्रकृति को भी अव्यावहारिक कहा गया है। प्रत्यय सम्प्रयोग ही प्रकृति का ऐसा शाब्दिक संस्कार है, जो उसे वाक्य-व्यवहार्य रूप प्रदान करता है। संस्कार में हानोपादान अथवा दोषांश का परित्याग और गुणांश का आधान ही होता है। एवंच प्रकृति-प्रत्यय के संस्कार में एक दूसरे अपने भौतिक और अभौतिक रूपों का हानोपादान स्वीकार करते हैं। इसी ओर इंगित करते हुए महर्षि पाणिनि ने 'यस्मात् प्रत्ययविधिः तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' (पा० सू० १।४।१३) से यह ध्वनित किया है कि प्रकृति अपने को वाक्यप्रयोगार्ह पदरूप में परिवर्तित करने के लिए पद से शब्द एवं अर्थगत समझौता करती है और उसमें विशेषण या अंगभूत होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शास्त्रीय, अलौकिक या स्वतन्त्र प्रकृति प्रत्यय के अधीन होकर वाक्य में प्रयोग होने के योग्य संस्कृत होती है।

अध्येष्यमाण प्रत्यय विभाग : ऊपर यह कहा जा चुका है कि उभयरूप प्रकृति को संस्कृत करने वाले प्रत्यय अन्वय और व्यतिरेक या प्रमाणान्तर से सार्थक सिद्ध होते हैं। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इनके उद्देश, रूप, अर्थ और स्थान को दृष्टिगत करके इन्हें चार प्रधान शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है। वस्तुतः उपर्युक्त चारों दृष्टियों के रहने पर भी अधोऽकित शीर्षक—विभाजन में उद्देशभूता प्रकृति ही केन्द्रविन्दु है। पर हाँ, यहाँ विभक्ति प्रत्ययों का विभाजन अर्थमूलक व रूपीय है :

(क) विभक्ति प्रत्यय
(ख) विभक्त्यन्त प्रत्यय
(ग) प्रातिपदिक प्रत्यय
(घ) धातु प्रत्यय

प्रत्ययों का उपर्युक्त वर्गीकरण विश्व की प्रायः सभी प्रत्यय-संयुक्त भाषाओं में देखा जा सकता है। क्योंकि सभी भाषाओं में संज्ञा और

क्रिया शब्द होते हैं तथा उन दोनों अर्थों के प्रतिपादक प्रातिपदिक और धातु कल्पित ही होते हैं। उन उभय रूप प्रकृतियों को आधार मानकर विधीयमान प्रत्ययों में उक्त रीति से ही समान वर्गीकरण किया जा सकता है। जिन भाषाओं में प्रत्यय का सर्वथा अभाव है, उनमें प्रत्यय विषयक वर्गीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु जिनमें प्रत्यय हैं, उनमें प्रत्ययों का वर्गीकरण संस्कृत के समान देखा जा सकता है। उपर्युक्त वर्गीकरण में से प्रथम वर्ग के प्रत्यय प्रातिपदिक तथा धातु दोनों के बाद जुड़ते हैं[1] और उन्हें वाक्यप्रयोगार्ह पदरूप प्रदान करते हैं।[2] दूसरे वर्ग के प्रत्ययों का सम्बन्ध केवल विभक्त्यन्त रूप प्रकृतियों से है। ऐसे प्रत्ययों को संस्कृत व्याकरण में सार्थक तद्धित तथा नामधातु प्रत्यय नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। तृतीय वर्ग के प्रत्यय विभक्त्यन्त पद से न होकर, उसकी प्रकृति प्रातिपदिक से विधीयमान होते हैं। इन प्रत्ययों को विभक्त्यर्थक, स्वार्थिक व अत्यन्तस्वार्थिक तद्धित, समासान्त एवं स्त्री प्रत्यय के नाम से भी जाना जाता है। अन्तिम चतुर्थ वर्ग के प्रत्ययों का सम्बन्ध केवल धातुओं से होता है। इन प्रत्ययों को दूसरे शब्दों में कृत् तथा उणादि नाम से भी कहा जाता है। इनकी संख्या एवं क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है।

[क] **विभक्ति प्रत्यय** : इस प्रबन्ध के द्वितीयस्तबक में इन प्रत्ययों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा। वाक्य-निर्माण की दृष्टि से इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुप् और तिङ नाम से इनके दो उपवर्ग प्रसिद्ध हैं। इन दोनों से सुबन्त तथा तिङन्त दो प्रकार के पद निष्पन्न किये जाते हैं। इन्हीं दोनों प्रकार के पदों से संस्कृत के समस्त वाक्य परिपूर्ण रहते हैं। भाषाज्ञान में प्राथमिक एवं उपादेय होने से इनका अध्ययन सबसे पहले प्रस्तुत किया जायेगा। इस वर्ग में प्रत्ययों की संख्या निश्चित होती है। भाषा-भेद और प्रयोग-भेद की दृष्टि से इस संख्या में न्यूनाधिक्य सम्भव है। संस्कृत में द्विवचन की विद्यमानता के कारण जहाँ इनकी संख्या डेढ़ गुनी बढ़ जाती है,

---

१—ङ्याप्प्रातिपदिकात्—पा० सू० ४।१।१

२—सुप्तिङन्तं पदम्—पा० सू० १।४।१४

वहाँ दूसरे भाषाओं में इनकी संख्या अत्यल्प है। संस्कृत में ही समाहार बुद्धि से देखा जाय तो इनकी संख्या और भी कम हो जायेगी। इन प्रत्ययों की न्यूनाधिकता से कारक, वचन या वाक्य-सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि उस स्थिति में एक ही पद स्थानभेद और साहचर्य-भेद से दूसरे पद के सम्बन्ध को अभिव्यक्त कर देता है। अर्थात् एक ही विभक्ति अनेक विभक्तियों का कार्य करती हुई देखी जाती है। पालि तथा प्राकृत आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं में भी यह स्थिति देखी जा सकती है। एकाक्षर परिवार के भाषाओं के शब्द भी विभक्ति के विना ही अपने रूप में परिवर्तन न करते हुए सभी विभक्तियों के कार्य को आसानी से सम्पन्न करते हैं। अतः यह भाषावैज्ञानिक सत्य है कि सीमित विभक्ति या विभक्ति का सर्वथा अभाव भी भाषा के प्रयोग में बाधक तत्त्व नहीं है।

(ख) विभक्त्यन्त प्रत्यय : इस वर्ग के प्रत्यय केवल विभक्त्यन्त पद से ही विहित होते हैं तथा इन्हें सार्थक तद्धित नाम से भी जाना जाता है। इन प्रत्ययों का विवेचन इस प्रबन्ध के तृतीय स्तवक में प्रस्तुत किया जायेगा। ये प्रत्यय संज्ञाओं के साथ ही जुड़ते हैं, किन्तु संज्ञाओं को विभक्त्यन्त पद रूप में स्थित होना अनिवार्य है। यह सूक्ष्मता अर्थतत्त्व पर आधारित है, जो इनसे स्वार्थिक तद्धित के अन्तर को स्पष्ट करती है। इनके योग के बाद शब्द एक नवीन परिवेश में नई अर्थभावना के साथ उपस्थित होता है। इन प्रत्ययों को समास का स्थानापन्न भी कहा जा सकता है। भारोपीय परिवार की सभी भाषाओं में या अन्य प्रत्यय प्रधान भाषाओं में भी इनकी सत्ता समान रूप से देखी जा सकती है। संस्कृत के पुत्रार्थक प्रत्ययों की तरह रूसी भाषा के 'ओविच्' आदि तथा कन्नड़ के 'अप्पा' 'ऐय्या' आदि प्रत्यय इसी वर्ग में आते हैं। अंग्रेजी के 'इश' (Ish), लाइक् (Like), 'ई' (ee), इज्म (Ism), ऑयड (Oid) आदि प्रत्यय भी सार्थक तद्धित की कोटि में आते हैं। इनका कार्य मूल अर्थ या उसके सम्बन्ध का विस्तार करके एक बड़े अर्थ-वृत्त को परिवेष्टित करना है। अंग्रेजी के 'लण्डनर', 'न्यूयार्कर' आदि का, जर्मन के 'हैम्बेर्गेर', 'बेर्लिनेर' आदि का, हिन्दी के 'इटालवी' 'लायपुरी' भोजपुरी आदि का एवं संस्कृत के 'कान्यकुब्जः', 'माथुरः' आदि का एक ही अर्थ होता है—उस नगर

या क्षेत्रविशेष का निवासी। कहीं-कहीं इन प्रत्ययों के बिना भी तद्धितार्थ की प्रतीति होती है। प्रयोगात्मक भाषाओं की भाँति संस्कृत इत्यादि अनेक भाषाओं में भी अंगाः, बंगा इत्यादि शब्द अपने मूल रूप से ही उपर्युक्त अर्थ-भावना का विस्तार करते हुए देखे जाते हैं, किन्तु ऐसे शब्दों में भी संस्कृत-व्याकरण प्रत्ययों की कल्पना करके उनके लोप या विशून्यीकरण की स्थिति मानता है। इस प्रक्रिया के महान् विद्वान् जोशुआ व्हाटमाऊ ने इसे 'जीरो तकनीक' कहकर इसकी प्रशंसा की है।

[ग] **प्रातिपदिक प्रत्यय** : इस वर्ग के प्रत्यय भी संस्कृत व्याकरण में तद्धित के अन्तर्गत ही परिगणित हैं, किन्तु इनका विधान प्रातिपदिक से होने के कारण हम इनका अध्ययन इस ग्रन्थ के चतुर्थस्तबक में प्रस्तुत करेंगे। चूँकि इस वर्ग के प्रत्यय अत्यन्तस्वार्थिक भी होते हैं, प्रकृत्यर्थ में विशेष अन्तर का आपादन नहीं करते, इनके साथ संयुक्त होने में प्रातिपदिक को अपने अर्थ से परिपूर्ण होने की आवश्यकता नहीं होती, अतः ये विभक्त्यन्त की अपेक्षा न कर, प्रातिपदिक से ही संयुक्त होते हैं तथा तदनन्तर सुबुत्पत्ति होती है। इस वर्ग के प्रत्ययों को विभक्त्यर्थक, स्वार्थिक, अत्यन्तस्वार्थिक तद्धित, समासान्त एवं स्त्री-प्रत्यय इन पाँच उपवर्गों में विभक्त करके इनका अध्ययन किया जायेगा। इसी कोटि में कतिपय विभक्ति स्थानीय प्रत्यय भी आते हैं, जिनके संयोग से निष्पन्न पद अव्यय संज्ञक होते हैं। अंग्रेजी में 'एन्स' (Ens) इटालवी में 'न्दे' जर्मन में 'अर्' तथा डच् में 'ना' प्रत्यय भी वर्ग के अन्दर गृहीत किये जा सकते हैं।

[घ] **धातु प्रत्यय** : इस वर्ग के प्रत्ययों का क्षेत्र बहुत विशाल है तथा इनकी संख्या भी बहुत बड़ी है। योगात्मक सभी भाषाओं में ये पर्याप्त रूप से देखे जा सकते हैं। इनकी यह भी एक विशेषता है कि ये क्रिया की क्रमरूपता को अक्रम में परिवर्तित करके उसे संज्ञारूप प्रदान करते हैं, अतः क्रियामूलक होने पर भी इन्हें क्रिया के वर्ग में नहीं रखा जा सकता। संस्कृत व्याकरण में इन्हें 'कृत्' एवं 'उणादि' नाम से अभिहित किया गया है। धातु से संयोग के अनन्तर जो प्राति-पदिक रूप निष्पन्न होते हैं, उन संज्ञारूपों और क्रियारूपों में वही

अन्तर है, जो क्रिया और नाम के बीच पाया जाता है। हम इस वर्ग के प्रत्ययों का अध्ययन इस ग्रन्थ के पंचमस्तवक में प्रस्तुत करेंगे। हमारे अध्ययन के विषय पाणिनि-व्याकरण में व्यवस्थित कृत् संज्ञक प्रत्यय ही होंगे। उणादि प्रत्ययों में व्यवस्थित अर्थभावना का अभाव होने से तथा उनकी संख्या का नैश्चित्य न किया जा सकने से हम उन प्रत्ययों का विशेष अध्ययन यहाँ नहीं कर सकेंगे। अंग्रेजी भाषा के 'मेन्ट' (Ment), 'इक्' (Ic), 'ली' (Ly), 'इव्' (Ive), 'इङ' (Ing), 'शन' (Tion), 'इश' (Ish), इत्यादि प्रत्यय, इतालवी के 'इयो' (Io), 'आरसी' (Arsi), 'ओ' (O), 'ऊतो' (Uto) आदि प्रत्यय, जर्मन के 'उङ्' (Ung), 'इश' (Iesh), 'एन्' (En), 'एन्ड' (End), आदि प्रत्यय एवं फ्रेंच के 'इयों' (Ion,), 'आसियों' (Acion), 'मो' (Mo), 'औं' (En) आदि प्रत्यय इसी वर्ग में आते हैं। भारोपीय भाषाओं के ये प्रत्यय उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इसके अतिरिक्त इनकी एक विशाल राशि है, जिनसे संज्ञा रूपों का निर्माण होता है।

सम्बन्धन : यहाँ तक प्रत्ययों का विशेष अध्ययन करने के लिए उसके कतिपय सामान्य विन्दुओं पर दृष्टिपात करने का प्रयास किया गया है। सबसे पहले प्रत्यय शब्द की निरुक्ति में समागत शाब्दिक सार्थक इकाई उपसर्ग एवं धातु के विषय में कुछ विस्तार से प्रकाश डाला गया, जिससे उनके स्वरूप, अर्थ एवं अन्यान्य वैशिष्टच सुस्पष्ट हो सकें। यहाँ स्मरणीय है, उपसर्ग, धातु एवं प्रातिपदिक ही प्रतिपाद्य प्रत्ययों की मुख्यतः प्रकृति हैं। तदनन्तर नैयायिक एवं शाब्दिक दृष्टि से प्रत्यय की सामान्य परिभाषा, विश्व की भाषाओं में उसकी स्थिति, उसकी सार्थकता एवं उससे अभिन्न व सहयोगिभूता प्रकृति का परिचय दिया गया है। अन्त में प्रतिपाद्य विषय लौकिक प्रत्ययों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है। आगे के स्तबकों में क्रमशः इन्हीं वर्गों का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

—०—

द्वितीयस्तबक

विभक्ति प्रत्यय

सामान्य परिचय : 'वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मत-स्थितिः''[1] व्याकरण दर्शन के इस चरम सत्य के अनुसार प्रत्यय प्रतिपादक प्रकृत प्रबन्ध का प्रारम्भ वाक्य-निष्पादन में समर्थ पदत्व-साधक प्रत्ययों के विवेचन से किया जा रहा है। धातु अथवा प्राति-पदिक के अन्त में इनका संयोग होने के अनन्तर जो पदरूप निष्पन्न होते हैं, उन्हें ही परिनिष्ठितरूप या वाक्यप्रयोगार्ह शब्द से कहा जाता है। यद्यपि वाक्य में पदों की पृथक् सत्ता अवास्तविक है, उसके समग्र पद एक वक्तव्य के अंगभूत होते हैं, वह एक अखण्ड, अविभाज्य इकाई के रूप में होता है; तथापि अपोद्धार बुद्धि से अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा उनका पार्थक्य करके भाषाशास्त्र में उनके रूप और अर्थ का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार पदरूप की स्थिति वाक्य और प्रकृति-प्रत्यय के मध्य की होती है। प्रकृति और प्रत्यय की अपेक्षा इन रूपों या अर्थों को अधिक व्याव-

---

१-वैया० भू० सा०, कारिका ६१

हारिक या लौकिक कहा जाता है। इस प्रकरण में इन्हीं रूपों के निष्पादक प्रत्यय का अध्ययन किया जायेगा। जैसा कि कहा जा चुका है, भारतीय वैयाकरण पदमात्र में इनकी स्थिति स्वीकार करते हैं। यह बात दूसरी है कि किन्हीं-किन्हीं पदरूपों में इनकी भौतिक स्थिति का विशून्यीकरण अथवा प्रत्ययलोप हो जाता है, परन्तु अधिकांश रूपों में इन्हें स्पष्ट तथा अलग से पहचाना जा सकता है। सभी भाषाओं में ऐसे प्रत्ययों की संख्या और उनसे अर्थबोधन प्रायः निश्चित और समान होता है। कहने का तात्पर्य है, किसी भी भाषा में विभक्ति प्रत्यय कम हों या अधिक, इससे भाषा के कार्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अधिक प्रत्यय जिस अथवा जितने क्रिया-कारक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करते हैं, किसी दूसरी भाषा के कम प्रत्यय भी उन समस्त सम्बन्धों की अभिव्यक्ति करने में सर्वथा समर्थ देखे जाते हैं।

पदरूप के परिनिष्ठापक और निश्चित संख्यावाले इन प्रत्ययों को भारतीय भाषाशास्त्रीय परम्परा में विभक्ति नाम से जाना जाता है। इनके लिए विभक्ति शब्द का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों[1] से लेकर अद्यावधि निरवच्छिन्न रूप से होता आ रहा है। अतः 'विभक्तिश्च' (पा० सू० १।४।१०४) सूत्र के द्वारा सुप् तथा तिङ की विभक्ति संज्ञा का विधान करने वाले महर्षि पाणिनि की यह स्वोपज्ञ संज्ञा नहीं है, अपितु पूर्वाचार्यों से परम्परा-प्राप्त है।

विभक्ति व्युत्पत्ति : सार्थक अन्य संज्ञाओं की भाँति विभक्तिसंज्ञा भी 'विभाग' अर्थ को अभिव्यक्त करती है। 'वि' उपसर्गक 'भज्' धातु से भावार्थक क्ति प्रत्यय जुड़ने पर विभक्ति शब्द निष्पन्न होता है। इसकी व्युत्पत्ति 'विशिष्टो विभागः, विभजनम्, विभज्यते इति' इत्यादि रूपों में की जा सकती है। कारकादि का विभाग करने में साधनीभूत होने से 'विभज्यन्तेऽनयेति' करणसाधनपरक व्युत्पत्ति भी औचित्यावह होगी।[2] एवंच वाक्य के विभिन्न द्रव्यगत कर्तृत्व

१—'ओंकारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकम् किं नामाख्यातम्, किं लिंगम्, किं वचनम्, का विभक्तिः, कः प्रत्यय इति'—गोपथ ब्राह्मण, प्रथम प्रपाठक १।२४

२—चन्द्रकीर्ति, सारस्वतप्रक्रिया पूर्वार्द्ध, द्वितीय संस्करण, चौखम्बा वाराणसी, १९६७ पृ०, ६८

भावनाओं को अथवा खण्डशः प्रतीयमान साधनों व क्रिया को विभक्त करने वाला तत्त्व को विभक्ति कहा जाता है। इस प्रकार विभक्ति के अन्वर्थ की संगति की जा सकती है। यही क्रिया के साथ वाक्यगत प्रत्येक द्रव्य के संभावित सम्बन्ध को प्रकट करता हुआ वस्तुतः एक विशिष्ट कर्ता, कर्म आदि विभाग को इंगित करता है।

मौलिक प्रकार : संस्कृतव्याकरण में विभक्ति के मूलतः दो भेद किये गये हैं। प्रथम सुप् प्रत्यय विभक्ति द्रव्यवाची नाम शब्दों से संयुक्त होती है, जिसके सात भेद माने गये हैं तथा दूसरा भेद तिङ विभक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह क्रियावाचक धातु शब्द के अन्त में संयुक्त होती है एवं आत्मनेपद और परस्मैपद नाम से इसके दो भेद हो जाते हैं। क्रिया के पुरुष और वचन अर्थ को प्रकट करने के कारण इसके दोनों ही भेदों में नव-नव स्वरूप भेद माने गये हैं। वस्तुतः तिङविभक्ति सुप्विभक्ति के समान स्वतन्त्र प्रत्यय न होकर लकारों के आदेशरूप हैं,[1] परन्तु प्रकरण एवं परम्परा से यह प्रत्ययवत् ही व्यवहार्य है।

इसके अतिरिक्त तद्धित प्रत्ययों के प्राग्दिशीय प्रकरण में तसिलादि १८ प्रत्ययों का उल्लेख हुआ है, जो विभक्ति के ही अर्थ में प्रातिपदिक से विहित होता है। महर्षि पाणिनि ने 'प्राग्दिशो विभक्तिः' (पा० सू० ५।३।१) सूत्र के द्वारा इनकी विभक्ति-संज्ञा का विधान किया है। इस संज्ञा का प्रयोजन आर्थिक दृष्टि से कम, किन्तु भौतिक-दृष्टि से अधिक है। विभक्तिसंज्ञानिमित्तक जो भी रूपीय कार्य ध्वनि-परिवर्तन आदि प्रतिपादित हैं, वे सब इन प्रत्ययों के होने पर भी होते हैं। यह अवधेय तथ्य है, विभक्तिसंज्ञा तथा तन्निमित्तक कार्य होने पर भी ये 'पदत्व' निष्पादक नहीं हैं। पदसंज्ञा तो सुप् और तिङ के सम्बन्ध से ही होती है।[2] लोक में भी यह प्रवाद है कि विभक्ति लगने के बाद ही शब्द पदरूप' में परिणत होता है। इस विभक्ति का तात्पर्य सुप् और तिङ् से ही है। प्राग्दिशीय प्रत्यय तो विभक्तिसंज्ञक

१—लस्य—पा० सू० ३।४।७७

२—'सुप्तिङन्तम् पदम्'—पा० सू० १।४।१४

होने पर भी पदत्व के निष्पादक नहीं हैं, अतएव इनकी विभक्तिसंज्ञा केवल शास्त्रीय है। अतएव महर्षि पाणिनि ने इनकी विभक्तिसंज्ञा के लिए पृथक् सूत्र की संकल्पना की है। अतः इन प्रत्ययों का संयोग होने पर जो शब्दरूप निष्पन्न होते हैं, उनसे पुनः सुप्विभक्ति उत्पन्न होती है। यह बात दूसरी है, उनकी अव्यय संज्ञा होने से उनका लोप हो जाता है और वे अविकल 'यदा तदा कुत्र' इत्यादि रूपों में ही वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत व्याकरण में इन्हें स्वार्थिक प्रत्यय के नाम से भी जाना जाता है तथा भाषावैज्ञानिक विभक्तिस्थानीय प्रत्यय कहते हैं।[1] अतः इनके विषय में विशेष विवेचन प्रातिपदिक प्रत्ययों के अध्ययन-क्रम में किया जायेगा। यद्यपि सुप्, तिङ् और प्राग्दिशीया या विभक्त्यर्थक तद्धित नाम से विभक्तियों के तीन मौलिक भेद हो जाते हैं तथापि यहाँ द्वितीयस्तवक में सुप् और तिङ विभक्तियों के ही स्वरूप, अर्थ, प्रकृति एवं प्रक्रिया का क्रमशः विवेचन किया जायेगा।

सुप्विभक्ति

स्वरूप :—क्रिया से भिन्न द्रव्य आदि समग्र अर्थों के वाचक प्रातिपदिक से इस विभक्ति का विधान होता है। विभिन्न भाषाओं में इनकी संख्या भिन्न-भिन्न होती है। संस्कृत भाषा में इनकी कुल संख्या इक्कीस है, यद्यपि अनुबन्ध हटाने पर यह संख्या तेरह रह जाती है, यथा—सु (स्), औ, जस् (अस्), अम्, औट् (औ), शस् (अस्), टा (आ), भ्याम्, भिस्, ङे. (ए), भ्याम्, भ्यस् ङसि (अस्), भ्याम्, भ्यस्, ङस् (अस्), ओस्, आम्, ङि (इ), ओस्, सुप् (सु)। यहाँ पाणिनीय परम्परा से इनके मूलरूप एवं कोष्ठक में अनुबन्ध विनिर्मुक्त रूप प्रदर्शित किये गये हैं। प्राचीन परम्परा से ही सु, औ, जस् को प्रथमा, अम्, औट् शस् को द्वितीया, टा भ्याम्, भिस् को तृतीया, ङे, भ्याम्, भ्यस् को चतुर्थी, ङसि, भ्याम्, भ्यस् को पंचमी, ङस्, ओस् आम् को षष्ठी तथा ङि, ओस्, सुप् को सप्तमी विभक्ति की संज्ञा

१—द्रष्टव्य—व्याकरण की दार्शनिक भूमिका, दिल्ली, १९७१, पृ० १९९

प्रचलित है।[१] इसके अतिरिक्त संबोधन नाम की कोई आठवीं विभक्ति नहीं मानी जाती है, क्योंकि प्रथमा विभक्ति का ही संबोधन एक अर्थ है।

पाणिनि-परम्परा से अपने को भिन्न मानने वाले कतिपय भारतीय वैयाकरणों ने विभक्ति प्रत्ययों के स्वरूप में अनुबन्धगत किंचित् परिवर्तन भी स्वीकार किया है। रूपावतार, रूपकौमुदी, प्रक्रियासर्वस्व, सिद्धान्तकौमुदी, लघुकौमुदी, काशिका एवं चान्द्र इत्यादि अष्टाध्यायी सूत्रों पर आधारित परवर्त्ती वैयाकरणों के उक्त ग्रन्थों में जहाँ उपरि निर्दिष्ट विभक्तिस्वरूप स्वीकार किये गये हैं, वहीं कातन्त्र, सारस्वत एवं सिद्धहैमशब्दानुशासन ग्रन्थों में सु विभक्ति के स्थान पर 'सि' तथा 'औट्' के स्थान पर केवल 'औ' रूप ही स्वीकार किया गया है।[२] इसके अतिरिक्त शेष सुप्विभक्तियों के अनुबन्धादि स्वरूप पाणिनीय ही हैं। वस्तुतः पाणिनीय परम्परा से अपने को पृथक् मानने वाले इन व्याकरण-ग्रन्थों में सूत्र, शैली व प्रक्रियाबोधन की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। यह सामान्य भेद तो मात्र परम्परान्तर-अवलम्बन का व्याज है। सम्प्रति संस्कृत व्याकरण में सुव्यवस्थित होने से सुप् विभक्तियों का पूर्वोक्त पाणिनीयस्वरूप ही प्रायः सर्वसम्मत एवं सर्वत्र प्रसिद्ध है।

प्रकृति :—सुप् विभक्ति को भाषावैज्ञानिकों ने केवल विभक्ति प्रत्यय के नाम से अभिहित किया है, क्योंकि इनमें प्रत्यय का लक्षण पूर्णतया घटित होता है। महर्षि पाणिनि ने भी इन्हें प्रत्यय प्रकरण में ही पढ़ा है तथा 'परत्व' रूप लक्षण भी इनमें व्याप्त है। अवधिरूप में कल्पित प्रकृति से परत्वेन विधीयमानत्व एवं प्रकृत्यर्थान्वितत्वरूप लक्षण इन विभक्ति प्रत्ययों में सर्वत्र अनुस्यूत है। अन्य प्रत्ययों से भेदबोधन हेतु ही इन सुप् प्रत्ययों में विभक्ति विशेषण संगत किया जाता है। भूमिका में चर्चा की गयी है कि मूलतः प्रकृति धातु और प्रातिपदिक इन दो रूपों में है। इनमें से प्रातिपदिक प्रकृति से पर

१—'प्रथमादयः सप्तम्यन्ताः प्राचां संज्ञाः'—वैया० सि० कौ०, अजन्तपुंल्लिग सू० सं० १८४

२—का० २।१।५, सा० स्वरान्त पुंल्लिग १, चा० २।१।१, हैम० १।१।१८

में इन सुप् विभक्ति प्रत्ययों का विधान होता है। स्वरूप एवं अर्थ की दृष्टि से प्रातिपादिक प्रकृति के अनेक भेदोपभेद किये जाते हैं। इन्हें ही 'नाम' शब्दों से भी कहा जाता है।[1] ये ही सत्त्व-द्रव्य के वाचक कहे गये हैं।[2] द्रव्य की पहचान लिंग और संख्या है। ये दोनों तत्त्व जिसमें विद्यमान रहते हैं, उसे ही द्रव्य कहा जाता है।[3] वस्तुतः प्रातिपदिक द्रव्यवाची नाम की अपेक्षा व्यापक परिवेश का पारिमापक है। नाम जहाँ लिंग और संख्या से अन्वित पदार्थ का बोधन करता है, वहाँ प्रातिपदिक लिंग और संख्या से अनन्वित भाववाची एवं अव्यय शब्दों के लिए भी प्रयुक्त होता है। एवंच नाम और प्रातिपदिक व्याप्य-व्यापक भाव सम्वन्ध परिस्फुट है। अब सुप् प्रत्ययों की अवधिभूता प्रातिपदिक-प्रकृति के भेदोपभेदों पर किंचिद् विचार कर लेना अपेक्षित है।

प्रातिपदिक परिभाषा :—"अर्थवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम्:' (पा० सू० १-२-४५) सूत्र की व्याख्या में वैयाकरणों ने धातु एवं प्रत्यय से भिन्न अर्थवान् शाब्दिक इकाई को प्रातिपदिक कहा है। इससे स्पष्ट है, धातु एवं प्रत्यय प्रातिपदिक नहीं हैं, अपितु इनसे भिन्न यावान् अर्थवान् वर्गसमूह ही प्रातिपदिक है। वर्णसमूह या वर्ण में अर्थवत्ता ही वह तत्त्व है, जो उसे प्रातिपदिक रूप प्रदान करता है। भट्टोजिदीक्षित ने इस अर्थवत्ता को जहाँ वृत्तिमत्ता[4] रूप में स्वीकार किया है, वहाँ नागेशभट्ट ने लोक में 'अर्थविषयकबोधजनकता' को अर्थवत्ता माना है। वस्तुतः यहाँ प्रातिपदिक की अर्थवत्ता के उक्त दोनों ही स्वरूप अपेक्षित हैं। जब शब्द में प्रकृति-प्रत्यय-विभाग सामान्य बुद्धि से अगम्य होता है, वहाँ लौकिक बोधजनकता ही प्रातिपदिकत्व की आधायिका होती है, किन्तु जब शब्द में विद्यमान

१—'प्रातिपदिकमिति नाम पर्यायः'—सा०, चन्द्रकीर्ति, चौखम्बा वाराणसी, १९६७, पृ० ६९

२—'सत्त्वाभिधायकं नाम'—दुर्गाचार्यवृत्ति, निरुक्त १।९; चादयोऽसत्त्वे—पा०, सू०१।४।५७; 'अद्रव्यार्थाश्चादयः'—वैया० सि० कौ, संज्ञा प्र०, सू० सं० २०.

३—'लिंगसंख्यान्वितं द्रव्यम्'—प्रौढ मनोरमा, संज्ञाप्रकरण, 'चादयः' प्रतीक

४—'वृत्तिमत्त्वम् अर्थवत्त्वम्'—प्रौढमनोरमा, अजन्तपुंल्लिंग १।२।४५

वृत्त्यात्मक व्युत्पत्ति सामान्य बुद्धिगम्य होती है, वहाँ वृत्तिमत्त्वरूप अर्थवत्त्व स्वीकार करने में सर्वथा क्षति-विरह है। एवंच जब वृत्तिमत्त्व सामान्यबुद्धिगम्य होगा, उस स्थिति में लौकिकार्थ बोधजनकता की स्थिति भी अपरिहार्य होगी। अतः हम कह सकते हैं, लौकिकार्थ-बोधजनकता ही वह कसौटी है, जिस पर प्रातिपदिकत्व आधारित है।

यह भी चरम सत्य है कि लोक में अर्थ बोधन में समर्थ वाक्य के अनन्तर पद की ही स्थिति है। यह पद प्रातिपदिक का ही अग्रिम विकसित रूप है। अन्वय-व्यतिरेक तथा आवापोद्वाप के द्वारा लोक अर्थ की बोधन शक्ति को पद में प्रतिष्ठापित करता है। पद ही वाक्य-प्रयोगार्ह परिनिष्ठित रूप है, अर्थात् उसी में लौकिकार्थ बोधजनकता निहित रहती है। ऐसी स्थिति में प्रातिपदिक को लौकिकार्थ बोध-जनक मानना यद्यपि उचित नहीं है, पुनरपि यत्र कुत्रचित् वाक्य में परिनिष्ठित पद के रूप में प्रातिपदिक मात्र का प्रयोग दृष्टिगत होने से एवं सभी प्रातिपदिकों में विभक्ति संयोजन के अनन्तर लौकिकार्थ बोधन शक्ति के निहित होने से तथा पद के अनन्तर अर्थबोधन समर्थ शक्ति संपन्न शाब्दिक इकाई के रूप में प्रातिपदिक के ही प्रतिष्ठित होने से, उसे लौकिकार्थ बोधजनक मानने में कोई आपत्ति नहीं है। नागेशभट्ट ने इस दिशा की ओर इंगित करते हुए कहा है—'एतत्-संज्ञाफलभूतविभक्तीतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोके अर्थविषयकबोध-जनकत्वम् तत्त्वम्' अर्थात् जो शब्दस्वरूप सामान्य बुद्धि में अर्थ-बोधन के लिए विभक्ति से अतिरिक्त अन्य वर्ण या वर्णसमूह या प्रत्ययादि की अपेक्षा न करता हो, वह शब्दस्वरूप ही प्रातिपदिक है। एतादृश अर्थवत्त्वरूप प्रातिपदिकत्व जहाँ अव्युत्पन्न शब्दस्वरूप में निहित रहता है, वहाँ कृदन्त, तद्धितान्त एवं समासादि शब्दस्वरूप में भी उसकी स्थिति परिस्फुट होती है। स्मरणीय है कि नागेशभट्ट की अर्थवत्त्व विषयक उक्त परिभाषा के अध्ययन की एक लम्बी सरणि है। इसका सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर विभक्ति से अति-रिक्त टाप् आदि प्रत्ययों की अपेक्षा रखने वाले खट्वा, पवित्रम्, सांकूटिनम् एधांचक्रे इत्यादि उदाहरणों में परिभाषा की अव्याप्ति तथा पंचनावप्रियः इत्यादि उदाहरणों में अतिव्याप्ति दोष दृष्टिगत होते हैं, अतः वैयाकरणों ने परिभाषा का परिष्कृत स्वरूप इस प्रकार दिया है—

'एतत्संज्ञाफलभूतप्रत्यय-तिङ् — स्ववृत्तिसमासत्वाभाववत्पद-स्वादिष्विति पदत्वानाश्रयनियतपूर्वत्ववत्सुबन्त एतद् अन्यतमेतर-समभिव्याहारानपेक्षया लोके अर्थविषयकबोधजनकत्वमर्थवत्त्वम्' अर्थात् इस प्रातिपदिक संज्ञा के फलस्वरूप जो शब्दस्वरूप प्रत्यय, तिङ्, समासत्वाभाववत्पद और 'स्वादिषु असर्वनामस्थाने'[1] सूत्र से विहित पदसंज्ञा के अनाश्रय नियतपूर्वत्ववत् सुबन्त से भिन्न शब्द के समभिव्याहार की अपेक्षा के बिना ही लोक में अर्थविषयक बोध का जनक है, वही अर्थवान् प्रातिपदिक है। इस प्रकार परिभाषा में चार अंशों का निवेश कर देने से अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि खट्वा इत्यादि उदाहरणों में यदि प्रत्यय की अपेक्षा है तो एधांचक्रे इत्यादि उदाहरणों में तिङ् की। वहाँ इनसे भिन्न की अपेक्षा न होने से प्रातिपदिक संज्ञा की अव्याप्ति नहीं होगी। इसके विपरीत 'पंचनावप्रियः' एवं 'चंचासु' इत्यादि उदाहरणों में क्रमशः समासत्ववत् पद एवं स्वादिष्विति पदत्वाश्रयत्व की अपेक्षा होने से वहाँ प्राति-पदिक संज्ञा की प्राप्ति ही नहीं होगी। एवंच नागेशभट्ट की परिभाषा का उक्त रीति से परिष्कार कर देने पर दोषों की आशंका सर्वथा निर्मूल हो जाती है। इसके अतिरिक्त भिन्नशैली में भी प्रातिपदिक की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी हैं, जो स्वतन्त्र अध्ययन का विषय होने से यहाँ नहीं दी जा रही हैं।

वृत्तिमत्त्वरूप अर्थवत्ता का तात्पर्य यह है कि जिस शब्द में वृत्ति रहेगी, वह शब्द अवश्य अर्थवान् होगा, क्योंकि वृत्तियाँ अर्थाश्रित होती हैं। संस्कृत वैयाकरणों ने पाँच प्रकार की वृत्तियों का निरूपण किया है।[2] जिस शब्द में कृत् प्रत्यय हुआ हो वहाँ कृद् वृत्ति, जहाँ तद्धित प्रत्यय होता है, उसमें तद्धित वृत्ति तथा जहाँ समास हुआ हो, वहाँ समास वृत्ति, जहाँ अनेक शब्दों में एक शेष हो, वहाँ एकशेष-वृत्ति तथा जहाँ सनादि आदि प्रत्यय हुए हों, वहाँ सनाद्यन्तधातुरूप वृत्ति होती है। जिस शब्द में कोई वृत्ति होती है, वह शब्द अवश्य

१–पा० सू० १।४।१७

२–"कृत्ताद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चवृत्तयः"—लघुकौमुदी, केवल समासः, चौखम्बा वाराणसी, १९७०, पृ० १८९

व्युत्पन्न एवं अर्थबोधक होता है। इस प्रकार वृत्तिमत्त्वरूप अर्थवत्ता भी सामान्य बुद्धिगम्य होती है।

आर्थिक भेद : उपरि निर्दिष्ट प्रातिपदिक को शब्दस्वरूप की दृष्टि से एवं अर्थात्मक दृष्टि से अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है। ये विभाग उसके स्वरूप एवं अर्थबोधन में पर्याप्त सहायक होते हैं, अतः नीचे विभागों की चर्चा की जा रही है। ये हैं : (१) संज्ञा, (२) सर्वनाम, (३) विशेषण, और (४) अव्यय। यद्यपि उक्त विभागों का विस्तार और संकोच बुद्धि-सापेक्ष है, अतः इनमें उपजन या अपजन सम्भव है। किंच उपसंहार की दृष्टि से इन विभागों का कोई मूल्य नहीं और अर्थव्यक्ति की अपेक्षा ये विभाग मूल्यहीन ठहरते हैं, क्योंकि अर्थव्यक्ति असंख्यात हैं तथा तत्तद् व्यक्तित्व रूप वैशिष्ट्य से उपहित हैं, पृथक् इकाई हैं। तथापि अनेक अर्थव्यक्तियों के कतिपय साधारण धर्म की अपेक्षा से परिकल्पित समूह को पृथक् करके अध्ययन करने में सारल्य व सौकर्य अवश्यम्भावी है। अतएव प्रकृत में प्रातिपदिक के अर्थमूलक चार भेद प्रदर्शित किये गये हैं।

संज्ञा : किसी जाति, व्यक्ति अथवा भाव के वाचक शब्द संज्ञा नाम से कहे जाते हैं। जैसे—लज्जा, सत्ता, पठन, गमन, त्याग, राग इत्यादि शब्द भावविशेष के वाचक होने के कारण भाववाची प्रातिपदिक हैं। एवमेव गो, ब्राह्मण, घट, पट इत्यादि व्यक्तिसमूह के वाचक शब्द जातिवाची प्रातिपदिक हैं तथा गंगा, यमुना, सिन्धु, हिमालय इत्यादि व्यक्तिविशेष के वाचक शब्द व्यक्तिवाची प्रातिपदिक हैं। एवंच प्रातिपदिक के संज्ञा स्वरूप प्रकार को तीन रूपों में विभक्त कर इनका अर्थमूलक अध्ययन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आगे विशेषणरूप में व्याख्यास्यमान शब्दों को यदि गुणवाची संज्ञा के रूप में इसी में अन्तर्भुक्त कर लिया जाय तथा संख्यावाची शब्दों का अन्तर्भाव सर्वनाम भेद में या संज्ञा शब्दों में ही कर दिया जाय तब संज्ञा के जहाँ चार उपभेद हो जायेंगे, वहीं प्रातिपदिक के तीन भेद ही रह जायेंगे।

सर्वनाम : उक्त तीनों प्रकार की संज्ञाओं का निर्देश प्रकारान्तर से भी किया जा सकता है। यह प्रकारान्तर है सर्वनाम। इस नाम से

ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये 'सबके नाम' हैं[1] अर्थात् जाति, व्यक्ति या भाववाचक शब्दों का जब वाक्य में प्रयोग नहीं किया जाता है, उस स्थिति में जाति, व्यक्ति या भाव अर्थ का अभिधान जिस शब्द से होता है, वे शब्द-विशेष सर्वनाम शब्द से जाने जाते हैं। संस्कृत व्याकरण में इनकी संख्या पैंतीस है, जिनमें से कुछ संख्यावाचक हैं, कतिपय निर्धारणार्थक, कुछ पुरुषवाचक एवं दो प्रत्यय हैं। किन्तु ये सब जब प्रधान रूप में संज्ञा के अवबोधन हेतु प्रयुक्त होते हैं, तभी सर्वनाम शब्द से व्यपदेश्य होते हैं, अन्यथा ये भी संज्ञा की कोटि में ही परिगणित हो जाते हैं। जैसे यदि किसी व्यक्ति या जाति का वाचक रूढ़ शब्द 'सर्व' होगा, उस स्थिति में इसकी सर्वनाम संज्ञा और सर्वादि-गण प्रयुक्त कार्य नहीं होंगे।[2] तब चतुर्थी एकवचन में 'सर्वस्मै' रूप नहीं बनेगा, अपितु 'सर्वाय' रूप ही प्रयुक्त होगा। इस प्रकार सर्वनाम संज्ञक प्रातिपदिक मूलतः संज्ञा शब्द के विशेषण ही ठहरते हैं।

स्वरूप : ऊपर संकेत किया गया है कि सर्वनाम शब्द परिगणित हैं। चूँकि इनकी संख्या ३५ है, अतः प्रत्येक के विषय में कुछ चर्चा की जा सकती है। पाणिनीय, सारस्वत, चान्द्र एवं कातन्त्र व्याकरण ग्रन्थों में तथा हैमशब्दानुशासन एवं रूपावतारादि समस्त प्रक्रिया ग्रन्थों में इनकी संख्या समान ही है, किन्तु स्वरूप के विषय में किंचित् मतभेद है। इनका पाणिनीयस्वरूप अधोनिर्दिष्ट है—सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम, पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व, अन्तर, त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु और किम्। आचार्य अनुभूति स्वरूप ने सारस्वत व्याकरण में सर्वनाम शब्दों की संख्या तो ३५ मानी है, किन्तु सर्वादिगण में त्वत् और त्व का पाठ नहीं किया है, अपितु उसके स्थान पर पाणिनि से अतिरिक्त कतर और कतम शब्दों का पाठ किया है, जबकि 'डतर और डतम' प्रत्ययों के परिगणन से ही 'कतर और कतम' शब्दों की सर्वनामता सिद्ध हो

१—'सर्वेषां नामानीत्यन्वर्थसंज्ञा'—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, सू० सं० २२२ 'महासंज्ञा' प्रतीक

२—'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः'—वार्तिक २२५

सकती है। एवंच सारस्वत के अनुसार 'त्वत्' एवं 'त्व' शब्द सर्वनाम नहीं कहे जायेंगे।[1] एवमेव आचार्य हेमचन्द्र ने पाणिनि से अतिरिक्त केवल उभय शब्द में 'ट्' अनुवन्ध का आसंजन करके उसका स्वरूप 'उभयट् स्वीकार किया है।[2] इसके अतिरिक्त और सब समान हैं। यहाँ तक की सर्वादि में पठित 'भवतु' शब्द के उकारानुबन्ध को भी हेमचन्द्र ने उसी रूप में अंगीकार किया है, जबकि अनुभूतिस्वरूप ने अनुबन्ध विनिर्मुक्त केवल 'भवत्' रूप का ही पाठ किया है।

परिगणन प्रयोजन : सर्व शब्द समस्त अर्थ का वाचक है तथा विश्व शब्द की भी इसी अर्थ में सर्वनाम संज्ञा होती है। जगत् का वाचक होने पर उसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है। उभ शब्द द्वित्व विशिष्ट बुद्धिस्थ अर्थ का वाचक है। अतः वह नित्य ही द्विवचनान्त होता है। उसकी सर्वनाम संज्ञा होने से तदवधिक अकच् प्रत्यय का विधान हो पाता है और उभकौ, उभकाभ्याम्, इत्यादि अकच् प्रत्यय विशिष्ट रूपों की सिद्धि होती है। अकच् प्रत्यय का विधान 'टि' से पूर्व[3] होने के कारण वह मध्यपतित होता है और जैसे गंगा में गिरने वाला गन्दा नाला गंगा शब्द से गृहीत होता है, तद्वत् अकच् भी उसी शब्द से गृहीत होता है।[4] ऐसी स्थिति में अकच् विशिष्ट 'उभक' उभत्वधर्मावच्छिन्न ही रहता है और उसके पर में द्विवचन 'औ' विभक्ति का विधान होने पर 'उभक+औ' इस स्थिति में उभ शब्द से अव्यवहित पर में द्विवचन की ही स्थिति रहती है, फलतः विभक्ति से पूर्व अयच् प्रत्यय का विधान[5] नहीं हो पाता। अन्यथा 'क' प्रत्यय करने पर उभ और द्विवचन विभक्ति के मध्य 'क' का व्यवधान होने से द्विवचन परकत्वाभाव मिलता और अयच् प्रत्यय का विधान अवश्य प्राप्त होता, जो कि अनिष्ट है। अयच् प्रत्यय 'द्विवचनपरकत्वाभाव' में ही विहित होता है, अतएव उभयतः, उभयत्र इत्यादि रूपों की

१–सारस्वतव्याकरणम्, पूर्वार्ध, चौखम्बा, वाराणसी, १६६७, पृ० ७८

२–सिद्धहैमशब्दानुशासनम्, सूत्र संख्या १।४।७ काशी मुद्रण, १६०५

३–'अव्यय सर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः'—पा० सू० ५।३।७

४–'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते',—परिभाषेन्दुशेखरः, प्रकरण ३६०

५–'उभादुदात्तो नित्यम्'—पा० सू० ५।२।४४

सिद्धि होती है, इस कथन में 'उभयोऽन्यत्र' (वार्तिक २३२) भी प्रमाण है। एवंच कार्यान्तर-विशेष न होने पर भी केवल अकच् प्रत्यय के विधान हेतु सर्वादिगण में उभ शब्द का परिगणन किया गया है।

सर्वादि गण में उभ शब्द के अतिरिक्त उभय शब्द का भी परिगणन किया गया है, जिसका अर्थ है 'दो अवयवों से युक्त'। आचार्य कैयट के अनुसार इसमें द्विवचन का सर्वथा अभाव रहता है, जबकि हरदत्त इसमें द्विवचन भी स्वीकार करते हैं।[1] भाष्यकार पतंजलि के संकेतानुसार उभय शब्द की रूपसिद्धि दो प्रकार से की जाती है। प्रथम प्रकार में 'उभौ अवयवौ यस्य' इस विग्रह में उभ शब्द के संख्यावाचक होने से 'संख्यायाः अवयवे तयप्' (पा० सू० ५।२।४२) सूत्र से तयप् प्रत्यय का विधान होने के अनन्तर 'उभादुदात्तो नित्यं' (पा० सू० ५।२।४४) सूत्र से तयप् के स्थान पर यच् आदेश होकर 'उभय' रूप की सिद्धि होती है। द्वितीय प्रकार में अयच् को स्वतन्त्र प्रत्यय माना जाता है।[2] एवंच बीच में तयप् प्रत्यय के विधान की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। इनमें से प्रथम पक्ष में यद्यपि स्थानिवद्भाव के द्वारा 'तयप्' की स्थिति से उभय शब्द की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होती है, तथापि वैकल्पिक सर्वनाम संज्ञा विधायक 'प्रथम चरम०' (पा० सू० १।१।३३) से पूर्व में संज्ञा-प्राप्ति होने पर भी अन्तरंग[3] होने के कारण नित्य ही सर्वनाम संज्ञा होती है। एवंच यहाँ उभ और 'उभय' इन दोनों शब्दों का पाठ रूपनिर्माण एवं अर्थभेद की दृष्टि से सर्वथा उचित है।

सर्वनाम शब्दों में परिगणित 'डतर' और 'डतम' प्रत्यय हैं। चूंकि प्रत्यय का स्वतन्त्र प्रयोग सम्भव न होने से उनकी सर्वनामता निष्फल है, अतः 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' इस परिभाषा के बाधक होने पर भी 'तदन्तग्रहण' होता है 'अर्थात् 'डतर' और 'डतम'

१–'उभय शब्दस्य द्विवचनं नास्तीति कैयटः, अस्तीति हरदत्तः'—सिद्धान्त-कौमुदी, सू० सं० २१७

२–'अयच् प्रत्ययान्तरम्'–ल० श० शेखरः, अजन्तपुंल्लिग, उभयशब्द विवेचन में उद्धृत

३–'असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे'–परिभाषेन्दुशेखर, प्रकरण २-५०

प्रत्यय डतरप्रत्ययान्त तथा डतमप्रत्ययान्त शब्द के बोधक होते हैं। डतरप्रत्ययान्त शब्द चार हैं तथा डतमप्रत्ययान्त भी चार ही हैं। इस प्रकार एकतर, कतर, यतर, और ततर तथा एकतम, कतम, यतम एवं ततम इन आठ 'डतरडतमान्त' शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है और ये आठों शब्द सर्वनाम कहे जाते हैं। इनमें से प्रथम चार डतरान्त शब्द दो में से एक तथा डतमान्त शब्द बहुतों में से किसी एक अर्थ के निर्धारण में प्रयुक्त होते हैं।

इसके अतिरिक्त 'अन्यतर' और 'इतर' शब्द भी 'डतर' प्रत्ययान्त प्रतीत होते हैं, किन्तु वैयाकरणों ने इन्हें प्रकृति-प्रत्यय से हीन अव्युत्पन्न रूप में माना है, जबकि इनका अर्थ भी 'निर्धारण' ही है। ये दोनों शब्द सर्वनाम में परिगणित हैं। 'निर्धारण' में ही प्रयुक्त होने वाला 'अन्यतम' शब्द सर्वनाम नहीं है, क्योंकि वह न तो सर्वादिगण में पठित है और न ही उसमें डतम प्रत्यय हुआ है। 'अन्य', 'त्वत्' और त्व' शब्द पर्यायवाची हैं और सर्वनाम हैं। इनमें से 'अन्य' शब्द ही अधिक प्रचलित है। 'अर्ध' का वाचक 'नेम' शब्द, 'सर्व' का पर्याय 'सम' और 'सिम' शब्द भी सर्वादिगण में पठित होने से गणकार्य के भागीदार हैं।

विकल्प विधान : अवधि-सापेक्ष अर्थ के वाचक पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर और अधर शब्द भी सर्वनाम हैं। ये सातों शब्द जब 'दिशा' या 'काल' अर्थ के वाचक होंगे, तभी अवधि-सापेक्ष होंगे और अवधि-सापेक्षता में ही इनकी सर्वनाम संज्ञा होती है। इन सातों शब्दों से अवधि या काल अर्थ होने पर भी प्रथमा बहुवचन में 'जस्' विभक्ति परे रहने पर उक्त सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है। फलतः उक्त विभक्ति में इनके 'पूर्वे, पूर्वाः', 'परे, पराः' इत्यादि दो-दो रूप होते हैं। निरपेक्ष या संज्ञा अर्थ के वाचक होने पर इनकी कथमपि सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है। जैसे—'दक्षिण' शब्द जब 'चतुर' अर्थ का या 'अधर' शब्द 'ओष्ठ' अर्थ का वाचक होगा अथवा 'पूर्व' इत्यादि जब किसी व्यक्ति विशेष में रूढ़ होंगे, तब इनकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। क्योंकि उस स्थिति में ये 'सबके नाम' न होकर, अर्थ-विशेष में ही रूढ़ हो जायेंगे। एवमेव 'आत्मा' और 'आत्मीय' अर्थ में 'स्व' की तथा 'बाह्य' और 'परिधानीय वस्त्र' अर्थ में 'अन्तर' शब्द की भी

सर्वनाम संज्ञा होती है। यदि बाह्य 'पुर' है, तब भी अन्तर की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है। इनसे भिन्न अर्थों में इन दोनों शब्दों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है। पूर्वादि सातों शब्दों की भाँति इन दोनों शब्दों की भी प्रथमा बहुवचन 'जस्' विभक्ति तथा पंचमी और सप्तमी के एकवचन 'ङसि' और 'ङि' विभक्ति में भी सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है।[1] फलतः उक्त तीनों विभक्तियों में इन नवों शब्दों के दो-दो रूप होते हैं। उक्त व्यवस्था के लिए वैयाकरण निकाय में एक कारिका[2] प्रसिद्ध है।

बुद्धिस्थत्वोपलक्षित समीपस्थ वस्तु के वाचक त्यद्, एतद् और इदम् शब्द तथा दूरस्थ वस्तु के वाचक 'तद्' और 'अदस्' शब्द एवं निर्धार्यमाण तथा सदा सापेक्ष 'जो' अर्थ का परामर्शक 'यद्' शब्द की नित्य ही सर्वनाम संज्ञा होती है। इसके अतिरिक्त एकत्व और द्वित्व से विशिष्ट अर्थ के वाचक 'एक' और 'द्वि' शब्द, क्रमशः मध्यमपुरुष, उत्तमपुरुष और प्रथमपुरुष के वाचक युष्मद्, अस्मद् और भवतु (भवत्) शब्द एवं प्रश्नविषयीभूत अर्थ का वाचक 'किम्' शब्द नित्य ही सर्वनाम हैं।

उक्त पैंतीस सर्वनाम शब्दों में पठित 'नेम' शब्द की भी प्रथम बहुवचन 'जस्' विभक्ति में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है तथा पूर्व प्रोक्त पैंतीस शब्दों के अतिरिक्त प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त शब्द, अल्प, अर्ध और कतिपय शब्दों की भी केवल 'जस्' विभक्ति में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। द्वितीय और तृतीय शब्दों की भी ङे, ङसि, ङस् और ङि विभक्तियों में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।[3]

ये सभी सर्वनाम शब्द समास के घटक के रूप में जब किसी शब्द के अन्त में रहेंगे, तब भी इनकी सर्वनाम संज्ञा और तत्प्रयुक्त कार्य

१–'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा—पा० सू० ७।१।१६

२–,सर्वादिः सर्वनामाख्यो न चेद्गौणोऽथवाऽभिधा। पूर्वादिश्च व्यवस्थायां समोऽतुल्येऽन्तरोऽपुरि। परिधाने बहिर्योगे स्वोऽर्थज्ञात्यन्तवाच्यपि'—सारस्वतव्याकरण, चन्द्रकीर्ति, पूर्वार्द्ध, चौखम्बा वाराणसी, १९६७, पृ० ७८

३–'विभाषा प्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम्'—वार्तिक २४२

होंगे, किन्तु उक्त सभी स्थितियों में इनके वाच्यार्थ को प्रधान ही रहना चाहिए। समास में विशेषणीभूत हो जाने पर अथवा अर्थ-विशेष की संज्ञा हो जाने पर इनकी सर्वनामता समाप्त हो जाती है। तृतीया-तत्पुरुष समास या इस समास के विग्रह वाक्य में 'प्रधानरूपता' की स्थिति रहने पर भी उक्त शब्दों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती।[1] एवमेव द्वन्द्वसमास में भी सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है किन्तु जस् विभक्ति में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा हो जाती है।[2]

एवंच संस्कृत-व्याकरण में योग और रूढ़ि के आधार पर जिन शब्दों को सर्वनाम के रूप में अंगीकार किया गया है, उन सभी का दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। ये सर्वनाम शब्द संज्ञा के 'बदले' में प्रयुक्त होते हैं, अतः ये संज्ञा के ही विशेषण होते हैं। यद्यपि इनका परिगणन विशेषण के अन्तर्गत ही सम्भव है, तथापि रूप निष्पत्ति की दृष्टि से भिन्न होने के कारण और संख्या में अल्प होने के कारण भी इनका पृथक् उल्लेख कर दिया गया है। विशेषण होने से ये प्रायः विशेष्यानुसार तीनों लिंगों में प्रयुक्त होते हैं। प्रायः कहने का तात्पर्य है, 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों के रूप तीनों लिंगों में समान होते हैं, अतः उन्हें तीनों लिंगों से विशिष्ट कह सकते हैं अथवा अलिंग भी कह सकते हैं।[3]

विशेषण : संज्ञा और सर्वनाम के अतिरिक्त प्रातिपदिक के तीसरे भेद को 'विशेषण' कहा गया है। संख्या की दृष्टि से इनका परिगणन सम्भव नहीं, अतः प्रत्येक विशेषण का उल्लेख नहीं किया जा सकता। किन्तु वाक्य की विशेष्यभूत कर्ता आदि समग्र इकाई के विशेषण होते हैं। जैसे—क्रिया, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन, ये नव वाक्य की विशेष्यभूता इकाइयाँ हैं। इन सभी इकाइयों के विशेषण होते हैं और उन्हीं नामों से व्यपदिष्ट होते हैं। जैसे—क्रिया-विशेषण, कर्तृ-

---

१—'तृतीया समासे'—पा० सू० १।१।३०

२—'द्वन्द्वे च'—पा० सू० १।१।३१

३—(क) 'अलिंगे युष्मदस्मदी'—अमरकोष (ख) "षट्संज्ञकास्त्रिषु समा युष्मदस्मत्तिङव्ययम्'—अमरकोष ३।५।४६

विशेषण इत्यादि। विशेष्यानुसार विशेषणों में लिंग परिवर्तित भी हो जाते हैं। किन्तु जो विशेषणवाची शब्द नियतलिंगक होता है, उसमें लिंग परिवर्तन नहीं देखा जाता।

उक्त विशेषणों में गुणवाची और संख्यावाची शब्द रूढ़ विशेषण है, किन्तु अधिकतर विशेषण शब्द यौगिक होते हैं। बहुव्रीहि समास, जिसमें कि अन्यपदार्थ की प्रधानता रहती है तथा तद्धित और कृत् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होने वाले विशेषण शब्दों की संख्या बहुत बड़ी है। उक्त सभी विशेषण प्रातिपदिक की ही कोटि में आते हैं और इनसे प्रयोगार्ह पद-निष्पत्ति के लिए 'सुप्' विभक्ति का योग अवश्यम्भावी होता है।

अव्यय : संस्कृत व्याकरण की यह एक सार्थक संज्ञा है। इसमें नञ् और व्यय इन दो शब्दों का योग है। व्यय शब्द 'व्येति इति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार खर्च, विनाश या परिवर्तन का बोधक है। कर्ता अर्थ में अच् प्रत्यय के होने से खर्चीला, विनाशी या परिवर्तनशील अर्थ होगा। नञ् शब्द अपने छः अर्थों में से यहाँ अभाव या ईषद् अर्थ का बोधक है।[१] नञ् और व्यय इन दोनों शब्दों में तत्पुरुष समास होने के अनन्तर अव्यय शब्द की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार अव्यय शब्द का यौगिकार्थ यह होगा कि जो शब्दरूप विभक्ति-योग के अनन्तर भी परिवर्तनशील न हों, वह शब्दरूप अव्यय प्रातिपदिक कहा जाता है अथवा जिस शब्दरूप में विभक्ति-योग के अनन्तर कतिपय विभक्तियों में ही रूप परिवर्तित होता हो उसे भी अव्यय ही कहेंगे।[२] योग से लब्ध अव्यय प्रातिपदिक की उक्त दोनों ही परिभाषायें मान्य हैं, अतः यह संज्ञा सार्थक मानी जाती है। व्याकरण निकाय में प्रसिद्ध यह कारिका अव्यय के स्वरूप को बहुत स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करती है—

सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

१—'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥'

२—'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः'— पा० सू० १।१।३८

भाष्यकार पतंजलि से प्रोक्त यह कारिका अव्यय शब्दों में लिंग, संख्या और प्रायः कारक के अभाव को निर्दिष्ट करती है। किन्तु लिंग, संख्या और कारक का सर्वथा अभाव चादिगणपठित निपात शब्दों में ही समझना चाहिए, स्वरादि-गण-पठित अव्यय शब्दों में तो लिंग, संख्या तथा कारक की स्थिति रहती ही है।[1]

जिन अव्यय प्रातिपदिकों में रूप परिवर्तन का सर्वथा अभाव रहता है, वे स्वरादि और चादिगण में पठित हैं। स्वरादिगण में सत्त्व और असत्त्व भूत अर्थ के वाचक १३६ शब्द परिगणित हैं तथा एक 'वत्' प्रत्यय भी इसी गण में पठित है। इन सभी शब्दों में तथा वत् प्रत्ययान्त शब्दों में सर्वथा रूप-परिवर्तन नहीं होता है। चादिगण में ६१ शब्दों का पाठ है, जो केवल असत्त्व अर्थ के ही वाचक हैं और इनमें भी रूप परिवर्तन का सर्वथा अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित तद्धित प्रत्ययों के योग से भी कतिपय अव्यय प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं—"तसिल्, त्रल्, ह, अत्, दा, हिर्ल्, अधुना, दानीम्, द्यस्, उत्, आरि, समसण्, एद्यदि, द्य, एद्युस्, द्युस्, थाल्, थमु, अस्ताति, असि, अतसुच्, रिल्, रिष्टातिल्, आति, एनप्, आच्, आहि, धा, ध्यमुञ्, शस्, तसि, च्वि, साति, त्रा, डाच्, अम्, आम्, कृत्वसुच्, सुच्, धा, ना, और नाञ्। इन बयालीस तद्धित प्रत्ययों के योग से जो प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं, वे अव्यय कहे जाते हैं तथा विभक्ति संयोग के अनन्तर इनमें भी रूप परिवर्तन का सर्वथा अभाव होता है। कृत् प्रत्ययों से भी कुछ अव्यय प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं।[2] वे कृत् प्रत्यय हैं—मान्त, एजन्त, क्त्वा, तोसुन्, और कसुन्। इसके अतिरिक्त जिन शब्दों में अव्ययीभाव समास होता है, वे भी अव्यय कहे जाते हैं[3], किन्तु अकारान्त अव्ययीभाव से तृतीया, पंचमी तथा सप्तमी विभक्ति में विकल्प से भिन्न-भिन्न पदरूप भी पाये जाते हैं।

१—चादीनामसत्त्ववचनानामेव संज्ञा। स्वरादीनां तु सत्त्ववचनानामसत्त्ववचनां च"—महाभाष्य १।१।६।३७

२—'कृन्मेजन्तः'—पा० सू० १।१।३९

३—'अव्ययीभावश्च'—पा० सू० १।१।४१

एवंच संस्कृत व्याकरण में परिगणित अव्यय शब्दों पर किंचित् दृष्टिपात करके उनके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। पूर्वोक्त सभी अव्यय प्रातिपदिक हैं, अतः उनसे भी सुप् विभक्ति का विधान होता है। यह बात दूसरी है कि उन विभक्तियों का लोप करके वैयाकरण उनमें पदत्व की सिद्ध करते हैं।

शब्दमूलक भेद : प्रातिपदिक के प्रकारों को बतलाने की दृष्टि से यहाँ तक उसके आर्थिक भेदों को प्रस्तुत किया गया। अब प्रातिपदिक के शब्दमूलक भेद को प्रस्तुत किया जा रहा है। शब्द रूप की दृष्टि से हम प्रातिपदिक को प्रत्ययान्त तथा अप्रत्ययान्त इन दो भेदों में विभक्त कर सकते हैं। इन्हें ही व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न शब्दों से भी कहा जा सकता है। अव्युत्पन्न या अप्रत्ययान्त प्रातिपदिक वे हैं, जिनमें प्रकृति-प्रत्यय की संकल्पना नहीं रहती है। यद्यपि स्फोटायन प्रभृति कतिपय वैयाकरणों के अनुसार प्रकृति-प्रत्यय की संकल्पना प्रातिपदिक मात्र में निहित है, तथापि महर्षि पाणिनि के अनुसार कुछ ऐसे भी प्रातिपदिक हैं, जिनमें प्रकृति-प्रत्यय की संकल्पना काकदन्तपरीक्षावत् उपेक्ष्य है। ऐसे ही शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा के विधान हेतु महर्षि पाणिनि ने 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र की संचरना की है। डित्थ, डवित्थ इत्यादि परसहस्र ऐसे शब्द हैं, जिनमें प्रकृति-प्रत्यय-विभाग का कोई मूल्य नहीं है, किन्तु अर्थवान् होने से उनकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

व्युत्पन्न या प्रत्ययान्त प्रातिपदिक कृदन्त, तद्धितान्त, स्त्रीप्रत्ययान्त और समास के भेद से ४ प्रकार के होते हैं। धातु से कृत् प्रत्यय का विधान होने पर कृदन्त रूप निष्पन्न होते हैं, जो कृदन्तप्रातिपदिक कहे जाते हैं। सुबन्त प्रातिपदिक से तद्धित प्रत्यय का विधान होने के अनन्तर जो तद्धितान्त रूप निष्पन्न होते हैं, उनकी भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है और वे तद्धितान्त प्रातिपदिक कहे जाते हैं। स्त्रीलिंग बोधक प्रत्ययों में 'ति' प्रत्यय को छोड़कर शेष स्त्रीप्रत्यय तद्धित से बहिर्भूत माने गये हैं।[1] लिंग बोधन हेतु प्रातिपदिक से इन प्रत्ययों का विधान होता है और तदनन्तर जो स्त्री-प्रत्ययान्त

१–'स च तद्धितः'—सिद्धान्तकौमुदी, स्त्रीप्रत्ययप्रकरण, सू० स० ५३१

रूप निष्पन्न होता है, उसकी भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है। इसके अतिरिक्त अनेक पदों के सामासिक योग के अनन्तर जो शब्दरूप सम्पन्न होता है, उसे समास कहते हैं और उस रूप की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है। इन सबकी प्रातिपदिक संज्ञा के लिए महर्षि पाणिनि ने 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र की रचना की है। यद्यपि इस सूत्र में स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द के प्रातिपदिकत्व की चर्चा नहीं की गयी है तथापि स्त्रीलिंग बोधक प्रत्यय से विशिष्ट शब्द उसी प्रकार प्रातिपदिक है, जैसे उससे रहित शब्द।[1]

प्रातिपदिक को उसके अन्तिमाक्षर की दृष्टि से अजन्त और हलन्त अथवा स्वरान्त और व्यञ्जनान्त इन दो भागों में भी विभक्त किया जाता है और इन्हें पुनः प्रत्येक वर्णों के आधार पर अकारान्त, इकारान्त, हकारान्त, तकारान्त इत्यादि वर्ण समसंख्यक उपभेदों में विभक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रातिपदिकार्थ में सत्त्वादि तीनों गुणों के उपचयापचय और साम्यावस्था के कारण अवस्थित पुँल्लिगादि तीनों लिंगों के आधार पर भी समस्त प्रातिपदिक को तीन भेदों में विभक्त कर सकते हैं।

उपसंहार : इस प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं से प्रातिपदिक को नाना भेदों और उपभेदों में विभक्त किया जाता है। अतः भेदों की संख्या और अपेक्षा के प्रकार का कोई मूल्य नहीं होता। मूल्य उसके तथ्यात्मक स्वरूप के आश्रित है, जो सभी प्रकारों में समान है। इस प्रातिपदिक को संस्कृत के वैयाकरण नाम[2] एवं लिंग[3] शब्द से भी जानते हैं। महर्षि पाणिनि ने प्रातिपदिक की जो परिभाषा निर्धारित की है अन्य वैयाकरणों ने नाम और लिंग के लिए भी उसी परिभाषा का प्रयोग किया है। अतः प्रातिपदिक के विषय में उपरि प्रोक्त

१–'प्रातिपदिकग्रहणे लिंगविशिष्टस्यापि ग्रहणम्'—परिभाषेन्दुशेखरः तीसरा प्रकरण, परिभाषा ७२

२–'अविभक्ति नाम। विभक्तिरहितं धातुर्वजितं चार्थवत् शब्दरूपं नामोच्यते'—सारस्वत व्याकरण, स्वारान्त पुँल्लिग, चौखम्बा वाराणसी, १९६७, पृ० ६८

३–'धातुविभक्तिवर्जमर्थवल्लिगम्। तस्मात् पराविभक्तयः,—कातन्त्रव्याकरण, अध्याय २, पाद १, सूत्र १।२

समस्त विचार नाम और लिंग के परिप्रेक्ष में भी देखना चाहिए। सत्त्वादि गुणत्रय की स्थिति होने से इनमें लिंग, संख्या और कारक की प्रतीति होती है। एवंच लिंग और संख्यादि अर्थ के प्रत्यायक होने के कारण ही लिंग या नाम शब्द से जाना जाता है। इस प्रकार प्रातिपादिक के ही नाम, लिंग और संज्ञा शब्द पर्यायवाची हैं। इस प्रातिपदिक से पर में ही स्वादि विभक्तियों का विधान होता है। क्रियार्थक धातु से तो इन विभक्तियों का विधान सम्भव नहीं, क्योंकि असत्त्वभूत क्रिया में लिंग एवं संख्यादि के साथ सम्बन्ध बाधित है तथा ये विभक्तियाँ तव्यत् आदि तिङ् प्रत्ययों की अपवाद्यभूता हैं। तिङन्त पदों से भी इनकी संभावना नहीं की जा सकती, क्योंकि एकत्वादि संख्या तिङ्. से ही कथित हो जाती हैं। अतः परिशेषात् प्रातिपदिक मात्र से इनका विधान होता है।

प्रातिपदिक से इन विभक्तियों के विधान के अनन्तर प्रकृति और प्रत्येक प्रत्यय में प्रायः कुछ न कुछ परिवर्तन होता है। अब यहाँ इन परिवर्तनों पर किंचित् दृष्टिपात करते हुए प्रथमादि विभक्ति-विशेष के अर्थ-विशेष पर भी क्रम से विचार प्रस्तुत किया जायगा।

●

प्रथमा विभक्ति

सु, औ, अस् ये तीनों प्रत्यय प्रथम विभक्ति के नाम से जाने जाते हैं। इन तीनों की एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञायें होती हैं।[१] उनमें से एकत्व संख्या विशिष्ट प्रातिपदिक की विवक्षा में एक-वचन सु विभक्ति का विधान होता है। जब द्वित्व संख्या से विशिष्ट प्रातिपदिक की विवक्षा होती है, तब द्विवचन संज्ञक औ विभक्ति और बहुत्व संख्या विशिष्ट प्रातिपदिक की विवक्षा में उससे बहुवचन संज्ञक 'जस्' विभक्ति का विधान होता है।[२]

१—'सुपः। सुपस्त्रीणि-त्रीणि वचनानि एकश एकवचनद्विचनबहुवचनसंज्ञानि स्युः' —सिद्धान्तकौमुदी, अजन्त पुंल्लिग, चौखम्बा वाराणसी, १९४८, पृ० १२१

२—'द्वयकयोर्द्विवचनैकवचने', 'बहुषु बहुवचनम्'—अष्टाध्यायी १।४।२२ व २१

विविधरूप : सु, (स्) एकत्वसंख्या विशिष्ट अर्थवाची प्रातिपदिक से अथवा संख्या रहित अर्थवाची प्रातिपदिक से प्रथम विभक्ति एकवचन 'सु' प्रत्यय का विधान होता है। जैसा कि पूर्व में संकेत किया गया है कि पाणिनि-परम्परा में यह प्रत्यय उकारानुबन्ध विशिष्ट है, किन्तु कातन्त्र, सारस्वत एवं हैमशब्दानुशासन में इसका स्वरूप इकारानुबन्ध विशिष्ट माना गया है। 'उ' अनुबंधासंजन में हेतु प्रस्तुत करते समय यह कहा जा सकता है कि ब्राह्म-बेला में सूत्र-प्रणयन करने वाले महर्षि पाणिनि को कदाचित् श्रुत कुक्कट-ध्वनि के अनुकरण पर यहाँ अनुबन्ध अधिक भाया हो। जैसा कि 'ऊकालोऽच्' (पा० सु० १।२।२७) सूत्र की व्याख्या में आचार्यों ने दृष्टान्त दिया है।[1] किन्तु 'इ' अनुबन्ध में यही कहा जा सकता है कि वह वर्णक्रम में पहिले है। यहाँ स्मरणीय है, 'अ' वर्ण सबसे पहिले है। अनुबन्धायोजन इसलिए आवश्यक है कि उसके बिना केवल 'स्' का उच्चारण संभव नहीं। अस्तु, दोनों ही मतों में विधान होने के अनन्तर अनुबन्ध का श्रवण नहीं होता है अर्थात् उसका लोप हो जाता है। अवशिष्ट अंश केवल 'स्' बचता है। विभिन्न प्रकृति में विशेषों से विहित होने पर यह प्रत्यय चार रूपों में परिवर्तित हो जाता है। यद्यपि प्रकृति-विशेष में भी यत्किंचित् परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं, तथापि उनका उल्लेख यहाँ मुख्यतः नहीं किया जायेगा। क्योंकि प्रकृत-प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य प्रत्ययों का ही पर्यालोचन है। ऐसी स्थिति में प्रकृति-विशेष के परिवर्तन का उल्लेख करने से जहाँ ग्रन्थ गौरव होगा, वहीं अप्रासंगिक भी है। अतः आगे की पंक्तियों में प्रत्येक प्रत्यय के ही परिवर्तित सभी रूपों का अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

ऊपर चर्चा की गयी है कि 'सु' प्रत्यय के चार रूप पाये जाते हैं।

(१) अकारान्त अव्ययी भाव, अकारान्त नपुंसक प्रकृति एवं युस्मद, अस्मद, शब्द से विहित होने पर इसको 'अम्' आदेश हो

१—'कुक्कुटरुते उकारे'—ल० श० शेखर, संज्ञाप्रकरण, ऊकालोऽच् प्रतीक

जाता है। जैसे––उपकृष्णम्, ज्ञानम्, त्वम्, अहम् इत्यादि।[1]

(२) नपुंसक लिंग में एकतर शब्द से भिन्न डतर प्रत्ययान्त, डतम प्रत्ययान्त, अन्य, अन्यतर एवं इतर प्रकृतियों से परे इसे 'अदड्' (अत्) आदेश हो जाता है। आचार्य चन्द्रगोमी ने यहाँ 'त्' आदेश का ही विधान किया है।[2] जैसे––कतरत्, हे कतरत् इत्यादि।[3]

(३) एकारान्त, ओकारान्त तथा ह्रस्वान्त प्रकृति से विहित होने पर केवल सम्बोधनार्थक 'स्' का लोप होता है एवं हलन्त, स्त्रीलिंग आकारान्त व ईकारान्त प्रकृति एवं अकारान्त भिन्न नपुंसक शब्द, अव्यय और एकार्थीभाव में भी सम्बोधन एवं प्रथमा दोनों ही 'स्' का लोप हो जाता है। जैसे—हे हरे, हे प्रभो, हे राम, हे ज्ञान, दृषद्, हे दृषद्, रमा, हे रमे, नदी, वारि, मधु, मनः, उच्चैः, च, पुत्रीयति, राजपुरुषः, औपगवः इत्यादि।[4]

(४) उपर्युक्त तीनों परिस्थितियों से भिन्न तथा अवी तन्त्री-तरी लक्ष्मी-धी-ह्री-श्री[5] प्रकृतियों से विहित होने पर यह अपने रूप में ही रहता है अथवा विसर्गरूप हो जाता है। जैसे––रामः, हरिः, भानुः, गौः, वधूः, अवीः इत्यादि।

एवंच प्रथमा एकवचन 'सु' प्रत्यय कुल चार रूपों में पाया जाता है, जिसका निर्देश ऊपर किया गया है। यह अवधेय तथ्य है कि प्रातिपदिक से एकत्वसंख्या की प्रतीति होने पर जहाँ यह प्रत्यय होता

१–'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपंचम्याः'—पा० सू० २।४।८३, 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्'—पा० सू० २।४।८४, 'अतोऽम्'—पा० सू० ७।१।२४, 'ङे० प्रथमयोरम्'—पा० सू० ७।१।२८

२–'डतरादिभ्यः पंचभ्योऽनेकतरात्तः'—चा० २५१-२५. पूना, १९५३

३–'अदड्डतरादिभ्यः पंचभ्यः'—पा० सू० ७।१।२५

४–'एङ्ह्रस्वात्संबुद्धेः'—पा० सू० ६।१।६८ हल्ङ्याब्भ्यो, दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्—पा० सू० ६।१।६८

५–अवीतन्त्रीतरीलक्ष्मीधीह्रीश्रीणामुणादिषु।
सप्तस्त्रीलिंगशब्दानां सुलोपो न कदाचन॥

—उद्धृत—लघुसिद्धान्तकौमुदी, इन्दुमती, १९७० संस्करण, पृ०, ५०

है वहीं अव्यय प्रातिपदिकों से संख्या की प्रतीति न होने पर भी यह विहित होता है अर्थात् प्रातिपदिक अर्थ में इस प्रत्यय का विधान शास्त्रों में प्रतिपादित है। क्योंकि पदत्व निष्पादन हेतु इसका विधान आवश्यक है, भले ही विधान होने से अनन्तर इसका लोप हो जाय। यह भी स्मरणीय है कि अपद का प्रयोग होता ही नहीं है। अतः संख्या से रहित अव्यय प्रातिपदिक को पद बनाने के लिए कुछ आचार्यों ने केवल एकवचन प्रत्यय के विधान की व्यवस्था की है[1] तथा कतिपय आचार्य सभी सुप् प्रत्ययों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। यद्यपि उत्पत्ति के अनन्तर विहित सभी विभक्तियों का लोप हो जाता है।

औ : द्वित्वसंख्याविशिष्टार्थवाची प्रातिपदिक से प्रथमा विभक्ति द्विवचन 'औ' प्रत्यय का विधान होता है। महर्षि पाणिनि के अनुसार ही सभी वैयाकरणों ने इस प्रत्यय का अनुबन्ध से विनिर्मुक्त यही स्वरूप स्वीकार किया है। प्रकृति से विहित होने पर यह प्रत्यय पाँच रूपों में पाया जाता है, जिसका विवेचन अधोऽकित है।

(१) पुँल्लिग इकारान्त और उकारान्त प्रकृति से विहित होने पर यह प्रकृति के अन्तिम स्वर के दीर्घ रूप में परिवर्तित हो जाता है।[2] जैसे—हरी, भानू इत्यादि।

(२) आकारान्त स्त्रीलिंग एवं नपुंसक प्रकृति से विहित होने पर इसको 'शी' (ई) आदेश हो जाता है।[3] जैसे : रमे, ज्ञाने, वारिणी इत्यादि।

(३) अकारान्त अव्ययीभाव और युष्मद्-अस्मद् शब्द से परे होने पर यह 'अम्' रूप में परिवर्तित हो जाता है। जैसे : अनुग्रामम्, युवाम्, आवाम् इत्यादि।

(४) अव्यय तथा एकार्थीभाव में इसका लोप हो जाता है। जैसे : रामकृष्णभक्तौ, च, वा इत्यादि।

१—'अव्ययेभ्यश्चैकवचनम्'—ल० श० शेखर, अव्ययप्रकरण, यस्मात्सर्वेति प्रतीक, 'सर्वाः सप्तापि विभक्तयोऽव्ययेभ्यः'—वहीं पर

२—'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'—पा० सू० ६।१।१०२

३—'औङ आपः, नपुंसकाच्च'—पा० सू० ७।१।१८, १९

(५) उपर्युक्त बिन्दुओं में उल्लिखित से अवशिष्ट प्रकृतियों के आगे विहित होने पर यह अपने 'औ' रूप में ही स्थित रह जाता है। जैसे : कुमार्यौ, वध्वौ, राजानौ, दृषदौ इत्यादि।

जस् : बहुत्वसंख्याविशिष्टप्रातिपदिकार्थ की विवक्षा में प्रातिपदिक के प्रथमा बहुवचन 'जस्' प्रत्यय का विधान होता है। कातन्त्र, चान्द्र, सारस्वत एवं हैमशब्दानुशासन इत्यादि सभी व्याकरण ग्रन्थों में इसका यही रूप स्वीकार किया गया है। इस प्रत्यय में जकार केवल उच्चारणार्थक है, अतः प्रत्यय में 'अस्' रूप ही अवशिष्ट रहता है। प्रकृति विशेष से विहित होने पर यह पाँच रूपों में परिवर्तित हो जाता है। तद्यथा :

(१) नपुंसक प्रकृति एवं सर्वनाम शब्दों से विहित होने पर जहाँ इसको 'शि' (इ) आदेश नित्य होता है, वहीं द्वन्द्व-समास में सर्वनाम प्रकृति से एवं प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त, अयच्प्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम प्रकृतियों से तथा पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व और अन्तर प्रकृतियों से विहित होने पर विकल्प से 'शि' आदेश होता है।[1] जैसे—ज्ञानानि, सर्वे, वर्णाश्रमेतरे-वर्णाश्रमेतराः, प्रथमे-प्रथमाः, पूर्वे-पूर्वाः इत्यादि।

(२) अष्टन् शब्द से विहित होने पर इसको विकल्प से 'औश्' (औ) आदेश हो जाता है। जैसे—अष्टौ। औश् आदेश न होने पर इसका लोप हो जाता है।[2] जैसे—अष्ट।

(३) युष्मद्, अस्मद् शब्द एवं अकारान्त अव्ययीभाव प्रकृति से विहित होने पर यह 'अम्' रूप में परिवर्तित हो जाता है। जैसे—यूयम्, वयम्, उपकूलम् इत्यादि।

१—'जाश्शसोः शिः, विभाषा जसि; प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च, पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्, स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्, अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः'—पा० सू० ७।१।२०, ७।१।१।३२, ३४, ३५, ३६

२—'अष्टाभ्य औश्, षड्भ्यो लुक्'—पा० सू० ७।१।२१, २२

(४) षान्त और नान्त संख्यावाची शब्द, कति शब्द तथा अव्यय और एकार्थीभाव में इसका लोप देखा जाता है। जैसे-षट्, नव, कति, उच्चैः इत्यादि।

(५) उक्त चारों विन्दुओं में प्रदर्शित प्रकृतियों से भिन्न स्थल में यह अपने मूल रूप अस् में ही रहता है तथा ऐसी स्थिति में यथा-प्राप्त दीर्घ, यणादि प्रकृतिगत परिवर्तन होकर अन्तिम स् का विसर्ग भी हो जाता है। जैसे—रामाः, हरयः गौर्यः, दृषदः इत्यादि।

प्रथमा विभक्ति के दृष्ट सभी रूपों का विवेचन ऊपर की पंक्तियों में किया गया है। यह स्मरणीय है कि विभक्ति के रूप-परिवर्तन के साथ-साथ प्रकृति के रूप में भी यत् किंचित् परिवर्तन देखा जाता है। जैसे—पुँल्लिग इकारान्त और उकारान्त प्रकृति से सम्बोधन में विहित सु प्रत्यय का लोप होता है तथा प्रकृति के इकार व उकार का एकार और ओकार हो जाता है। एवमेव औ प्रत्यय के होने पर प्रकृति के अन्तिम स्वर में वृद्धि या यण् भाव देखा जाता है तथा जस् प्रत्यय के होने पर कहीं पूर्वसवर्णदीर्घ तो ईकारान्त ऊकारान्त प्रकृतियों में यण्भाव होता है। इसी प्रकार एकारान्त और ओकारान्त प्रकृतियों में अयादि आदेश भी होते हैं। अवधेय है कि प्रकृतियों के परिवर्तन प्रत्ययरूप ज्ञात होने पर सहज ही अनुमित हो जाते हैं। यहाँ पर प्रकृतियों में जायमान परिवर्तन का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

प्रथमार्थ :—सु, औ, जस् प्रत्ययों के स्वरूप के अध्ययन के पश्चात् इनके अर्थ का विचार भी अवसर-प्राप्त है। जैसा कि पहले कहा गया है ये तीनों प्रत्यय प्रथमा विभक्ति के नाम से जाने जाते हैं। इनके अर्थ में परस्पर भेद इतना ही है कि सु प्रत्यय एकत्व अर्थ का बोधक है तो औ प्रत्यय द्वित्त्व विशिष्ट अर्थ को द्योतित करता है तथा जस् प्रत्यय बहुत्व संख्या को अभिव्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त ये तीनों प्रत्यय समानार्थक हैं।

वस्तुतः वैयाकरण सम्प्रदाय में विभक्तिप्रत्यय द्योतक माने गये हैं। यद्यपि इसके विपरीत इनके वाचकत्व की भी चर्चा हुई है, तथापि

सिद्धान्त रूप में प्रतिपाद्य सभी अर्थ प्रकृति के ही माने गये हैं। चूँकि केवल प्रकृति वाक्य में प्रयोगानर्ह है, विभक्तिप्रत्यय का योग आवश्यक है, अतः इन्हें प्रकृत्यर्थ का अभिव्यंजक या द्योतक स्वीकार किया गया है।[1] विभक्ति प्रत्ययों के अर्थ के विचार में इस सिद्धान्त को सर्वत्र ध्यान में रखना अपेक्षित है।

हैमशब्दानुशासन, कातन्त्रव्याकरण, रूपावतार एवं चान्द्रव्याकरण में प्रथमा विभक्ति के अर्थ पर सामान्य या नहीं के बराबर दृष्टिपात हुआ है, किन्तु सारस्वत व्याकरण में कुछ विस्तार से विचार करते हुए अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने 'सत्ता' अर्थ में प्रथमा विभक्ति मानी है।[2] सारस्वत व्याकरण के इस कथन की, आगे प्रतिपाद्य नागेश के मत से संपुष्टि होती है। इन्होंने केवल 'लिंगार्थे प्रथमा' यही सूत्र बनाया है। 'लिंग्यन्ते चिह्न्यन्ते ज्ञायन्ते पुंस्त्रीनपुंसकतया शब्दा अनेनेति लिंगम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार लिंग शब्द नाम अर्थ का वाचक है। जैसा कि कौमारव्याकरण में भी कहा गया है 'नामैव लिंगम्' इति। सारस्वत व्याकरण के अनुसार लिंगार्थ की केवल सत्ता अर्थात् प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। लिंगार्थ की सत्ता यद्यपि सर्वत्र अनुस्यूत रहती है, पुनरपि कर्मादि अर्थविशेष की विवक्षा होने पर वहाँ द्वितीया आदि अनेक विशेष विभक्तियाँ प्रथमा की बाधिका हो जाती हैं। किंच लिंगार्थ सत्ता अर्थ में प्रथमा का विधान करके अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने वहाँ 'केचित्' शब्द द्वारा पाणिनीय मत की भी चर्चा की है।[3]

महर्षि पाणिनि ने प्रथमा विभक्ति के अर्थ को बताने के लिए 'प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (पा० सू० २।३।४६)

१—द्योतिका वाचिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः'—वाक्यपदीय, उद्धृत-वैया० भू० सार, नामार्थनिर्णय', अत्र प्रत्ययस्य वाचकत्वसमर्थन-मयुक्तम्'—वैया० भू० सारप्रभा, १९६९, पृ० २५१

२—'धातु प्रत्ययातिरिक्तमर्थवच्छब्दरूपं लिंगम् तस्यैवार्थे सन्मात्रे प्रथमा'—सारस्वतव्याकरण, कारक प्रक्रिया—१

३—'लिंगादयोऽपि प्रथमार्था इति केचित्, आदिशब्दात् लिंगवचनपरिमाण-मात्रेऽपि प्रथमा'—सारस्वतव्याकरण, कारकप्रक्रिया, चौखम्बा प्रकाशन १९६७, पृ० २०७

सूत्र का प्रयणन किया है। इसके अतिरिक्त एक और सूत्र है—'सम्बोधने च' (पा० सू० २।३।४७)। तदनुसार प्रथमाविभक्ति प्रातिपदिकार्थ, लिंग, परिणाम, वचन और संबोधन अर्थ में विहित होती है। इसके अतिरिक्त तिङ् प्रत्यय, कृत् प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय और समास के द्वारा कारकों के उक्त होने पर भी अवशिष्ट प्रातिपदिकार्थ के प्रतिपत्त्यर्थ उसमें प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे—'कटः क्रियते, भुक्तः ओदनः, शतिकः पटः, आरूढो वानरो यं वृक्षं स आरूढवानरो वृक्षः' इत्यादि उदाहरणों में क्रमशः तिङ आदि के द्वारा कट आदि की कर्मता उक्त होने से कट आदि में प्रथमा विभक्ति हुई है। करण कारक के उक्त होने पर भी प्रथमा विभक्ति होती है। यथा—'स्नाति येन तत् स्नानीयं चूर्णम्' यहाँ पर चूर्ण की करणता को अनीयर् प्रत्यय व्यक्त कर रहा है। अतः अवशिष्ट अर्थ प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति विहित होती है। इसी प्रकार सम्प्रदानादि कारकों की अनुद्भूता अवस्था या अभिहित भाव के उदाहरण क्रमशः ये हैं—दीयते यस्मै स दानीयः, विभेति अस्मात् इति भीमः, आस्यते अस्मिन् इति आसनम्, वीराः पुरुषा यस्मिन् स वीरपुरुषकः इत्यादि।

संबोधन :—ऊपर कारकों की प्रत्ययान्तर से उक्तावस्था होने पर अवशिष्ट अर्थ प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा के उदाहरण प्रस्तुत किये गये। सम्बोधन अर्थ में प्रथमा विभक्ति का उदाहरण जैसे—हे राम, भो हरे इत्यादि हैं। इन उदाहरण वाक्यों में प्रथमा विभक्ति प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त सम्बोधन अर्थ को भी अभिहित करती है। यहाँ संबोधनार्थक हे, भो आदि अव्ययों का प्रयोग 'द्विर्बद्धं सुबुद्धं भवति' इस न्याय से होता है। किंच सम्बोधनार्थक प्रथमा का विषय अनुवाद्य रहता है। यहाँ विधेयांश तो क्रियावाच्य ही प्रतीत होता है। जैसे—'हे राजन् सार्वभौमो भव' इस वाक्य में राजत्व पहले से ही सिद्ध है, उसे उद्देश्य बनाकर यहाँ सार्वभौमत्व के विधान की आशंसा या प्रवर्तना की गयी है। उसी प्रवर्तनारूपा व विधेयभूता क्रिया में प्रकृत्यर्थान्वित प्रथमार्थ संबोधन का उद्देश्यरूप से अन्वय होता है।[1]

१—'अतएव विधेयभूतक्रियायामेवैतदर्थान्वय उद्देश्यतया'—लघुशब्देन्दुशेखर, कारक प्रकरण, २।३।४७.

एवंच 'राम मां पाहि' का शाब्दबोध' अभिमुखीभवद्-रामादि-उद्देश्यक-प्रवर्तनाविषयमद्रक्षणम्' इस रूप में होता है। 'संमुखीकृत्य बोधनं संबोधनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संबोधन का अभिमुखीकरण अर्थ में शक्ति निश्चित की गयी है। अभिमुखीकरण का फल क्रिया-विशेष में प्रवृत्ति या निवृत्ति है। इस प्रकार संबोधनपद क्रिया का विशेषण सिद्ध होता है। तद्यथा वाक्यपदीय में—

"सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः।
प्राप्ताभिमुख्यो ह्यर्थात्मा क्रियासु विनियुज्यते ।।
"सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषणम् ।।[१]

संबोधन पद की शक्ति के विषय में भारतीय शब्द-चिन्तकों में मत वैभिन्य है। प्राचीन नैयायिक उक्त पद में खण्डशः शक्ति अंगीकार कर समीहा तथा बोधन ये दो अर्थ मानते हैं,[२] किन्तु गदाधर भट्टाचार्य समीहा अर्थ का लाभ प्रत्यासत्तिन्याय से करते हैं, अतः उनके अनुसार सम्बोधन पद केवल बोधन अर्थ को ही प्रकट करता है।[३] प्राचीन वैयाकरण तो 'बोधनाय संमुखीकरणं सम्बोधनम्' इस व्युत्पत्ति से 'अभिमुखीभावरूपव्यापारानुकूल-व्यापार' अर्थ में सम्बोधन पद की शक्ति स्वीकार करते हैं। एवंच भारतीय भाषाचिन्तकों में इस पद के पदार्थ पर विचार करने की एक अपनी गहन परम्परा है।

उपर्युक्त अर्थों के अलावा दो ऐसी स्थितियाँ हैं, जहाँ प्रथमा विभक्ति विकल्प से पायी जाती है :

(१) देश या समय की दूरी मापने में अवधिभूत शब्द से जो पंचमी विभक्ति होती है, उससे सम्बद्ध मार्गमापकवाची शब्दों से विकल्प

१—वाक्यपदीय, काण्ड ३, साधन १६३ एवं ल० श० शेखर दीपक, कारकप्रकरण, संबोधने च प्रतीक

२—'केचिन्नैयायिकाः······ समीहा बोधनं च खण्डशो विभक्तिशक्यम्'—द्रष्टव्य-ल० श० शेखर दीपक, कारकप्रकरण, 'संबोधने च' प्रतीक

३—'गदाधरभट्टाचार्यास्तु······प्रत्यासत्त्या श्रोतृसमवेतबोधेच्छाया लाभात् ···बोधाश्रयत्वप्रकारकेच्छां विक्त्यर्थमंगीकृत्य'—द्रष्टव्य-वहीं

से प्रथमा विभक्ति होती हैं। इसके अभाव में वहाँ सप्तमी विभक्ति भी होती है। जैसे—वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा।[1]

(२) निमित्त शब्द या इसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करने पर उनसे प्रायः सभी विभक्तियाँ होती हैं। ऐसी स्थिति में वहाँ प्रथमा भी देखी जाती है। जैसे "किंकारणम्, को हेतुः, किंच निमित्तम्, इत्यादि। अवधेय है कि उक्त उदाहरण वाक्य में 'किं' शब्द के स्थान पर यदि सर्वनाम-भिन्न शब्द का प्रयोग होता है, तब उसमें और निमित्त पर्याय शब्द में प्रथमा और द्वितीया नहीं होती है।[2]

उक्त दोनों स्थितियों में विधीयमान प्रथमा जहाँ 'निमित्तपर्याय' उपपद के योग में विहित होने से उपपद विभक्ति कही जायेगी, वहीं परिच्छिन्न अध्व के परिमाणवाची शब्द से स्व(परिमाण योजन) अव्य-वहितोत्तर दैशिक आधार की प्रत्यायिका होने से कारक विभक्ति होगी। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण में कुल मिलाकर पाँच वाक्यों के द्वारा प्रथमा का विधान प्रतिपादित है। इनमें प्रथम वाक्य पर सामान्य चर्चा हुई है। अब आगे उसी पर कुछ विस्तार से चर्चा की जायेगी।

प्रातिपदिकार्थ :—उक्त प्रथम वाक्य में चार अर्थों का निर्देश किया गया है, जिनमें प्रथमा विभक्ति होती है। ये चार अर्थ हैं—प्रातिपदिकार्थ, लिंग, परिमाण और वचन। इनमें से प्रातिपदिकार्थ पर पहले विचार करना आवश्यक होगा, क्योंकि प्रथमार्थ के संदर्भ में प्रातिपदिकार्थ का वह अर्थ गृहीत नहीं होता है जो कि पाणिनीय व्याकरण में अन्यत्र स्वीकृत हुआ है। तद्यथा कौण्डभट्ट ने चर्चा की है—

'एकं द्विकं त्रिकं चाथ चतुष्कं पंचकं तथा।
नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः ।।[3]

१—'तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ'—वार्तिक १४७६

२—'निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्'—वा० १४७३। 'प्रायग्रहणा-दसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः'—सिद्धान्तकौमुदी, कारकप्रकरण, सू० सं० ६०८

३—वैया० भू० सा०, नामार्थनिर्णय, कारिका १

उक्त कारिका के द्वारा विभिन्न शास्त्रों में प्रसिद्ध प्रातिपदिक के पाँच अर्थ बताये गये हैं। मीमांसकों ने प्रवृत्ति-निमित्त जाति को ही प्रातिपदिकार्थ माना है, जिसे महर्षि पाणिनि ने 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १।२।५८) सूत्र के द्वारा स्वीकार किया है। इसके विपरीत जाति में प्रवृत्त्यादि कार्य का अभाव देखकर केवल व्यक्ति अर्थ को प्रातिपदिकार्थ मानने के पक्षपाती आचार्य व्याडि हैं। इसे भी प्रातिपदिकार्थ मानने में प्रमाण 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२।६४) यह सूत्र है। प्रत्येक व्यक्ति अर्थ के बोधन के लिए एक नवीन शब्द का उपप्लव होता[1] है। यथा—दो राम व्यक्ति के बोधन के लिए दो राम शब्दों का प्रयोग होता है। प्रयोग होने पर 'राम राम+औ' इस स्थिति में 'सरूपाणां' सूत्र एक ही राम शब्द के उच्चारर्ण को साधु मानता है, फलतः अन्य राम शब्दों के लोप का विधान करता है। एवंच व्यक्तिपक्ष में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति सम्भव है। विशिष्टवादी नैयायिक तो जाति और व्यक्ति दोनों को प्रातिपदिकार्थ मानता है। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (पा० सू० १।२।४७) इत्यादि सूत्र के प्रामाण्य से प्रातिपदिक का एक तीसरा लिंग अर्थ भी निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त 'शुद्धं मधु आनय' इत्यादि व्यवहार-प्रमाण से संख्या और कारक को भी प्रातिपदिक का अर्थ सुनिश्चित किया गया है। एवंच प्रत्येक पद में विद्यमान प्रातिपदिक के जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या और कारक ये पाँच अर्थ वैयाकरणों को स्वीकार हैं। किन्तु प्रथमा विधायक वाक्य में प्रातिपदिकार्थ से यदि ये पाँचों अर्थ गृहीत होंवे तो ऐसी स्थिति में वहाँ लिंग और वचन अर्थ का पृथक् उल्लेख निष्फल होगा। इस निष्फलता को ध्यान में रखकर उक्त वाक्य में भट्टोजिदीक्षित प्रभृति प्राचीन वैयाकरणों ने प्रातिपदिक का अर्थ 'नियतोपस्थितिकः' माना है।[2] अर्थात् जिस प्रातिपदिक का उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियमतः अवगति होती है,

---

१—'प्रत्यर्थं शब्दनिवेशस्यापि दर्शनेन'—ल० श० शेखर० अजन्तपुँल्लिग, 'सरूपाणामे०' प्रतीक

२—'नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः'—सिद्धान्तकौमुदी, कारक, सू० सं० ५३२

वह अर्थ उसका प्रातिपदिकार्थ है और उसी अर्थ के द्योतन के लिए प्रथमा विभक्ति होती है। उक्त वाक्य में मात्र शब्द का भी निवेश किया गया है, जिसका चारों शब्दों के साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि नियम है 'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' अर्थात् द्वन्द्व समास के आदि, मध्य और अन्त के शब्द का घटिकीभूत सभी शब्दों से सम्बन्ध होता है। मात्र शब्द की तीन अर्थों में खण्डशः शक्ति प्रतिपादित है। ये तीन अर्थ हैं—इतर, योग और व्यवच्छेद। इतर भेदाश्रय को कहते हैं और योग सम्बन्ध का पर्यायवाची है। उस सम्बन्ध का स्वरूप 'स्वनिष्ठ विषयता निरूपक बोधजनत्व' है। व्यवच्छेद का अभाव अर्थ होता है। मात्र पद का सम्बन्ध होने के अनन्तर 'प्रातिपदिकात् प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा स्यात्' यह वाक्य सम्पन्न होता है। वैयाकरणों के अनुसार यदि इस वाक्य का शाब्दबोध किया जाय तो निम्नलिखित प्रकार होगा :

स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धावच्छिन्न-प्रातिपदिकार्थत्वावच्छिन्न-प्रातिपदिकार्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितभेदत्वावच्छिन्न-विशेष्यत्वावच्छिन्न-स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नभेदत्वावच्छिन्न-प्रकारतानिरूपित-आश्रयत्वावच्छिन्न-विशेष्यत्वावच्छिन्ननिष्ठत्वसम्बन्धावच्छिन्न-आश्रयत्वावच्छिन्न-प्रकारतानिरूपितविषयतात्वावच्छिन्न—विशेष्यत्वावच्छिन्न-निरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्न - विषयतात्वावछिन्नप्रकारतानिरूपित - बाधत्वावच्छि-न्नविशेष्यत्वावच्छिन्न-स्वनिष्ठजन्यतानिरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्न-बोधत्वावछिन्न प्रकारतानिरूपित-जनकतात्वावच्छिन्न-विशेष्यत्वावच्छिन्नस्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्न—जनकतात्वावछिन्न-प्रकारतानिरूपित—अभावत्वावच्छिन्नविशेष्यत्वावछिन्न—स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न—अभावत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित—प्रातिपदिकत्वावच्छिन्न-विशेष्यत्वावच्छिन्न,—स्वनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयत्वसम्बन्धावछिन्न-प्रातिपदिकत्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित-प्रथमात्वावच्छिन्न-विशेष्यत्वावच्छिन्न-अभेदसम्बन्धावच्छिन्न-प्रथमात्वावच्छिन्नप्रकारता-निरूपित-कर्तृत्वावछिन्न-विशेष्यत्वावच्छिन्न—वृत्तित्वसम्बन्धावच्छिन्न-कर्तृत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता अथ च स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न-इष्टसाधनतात्वावछिन्न-इष्टसाधनतानिष्ठप्रकारतानिरूपिता या सत्तात्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यताको बोधः।

ऊपर वैयाकरणों के अनुसार 'प्रातिपदिकात् प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा' इस वाक्य का शाब्दबोध मनोरंजनवश परिष्कृत शैली का दिङ मात्र उदाहरण है। इस स्वरूप को इस प्रकार समझना चाहिए—उक्त सूत्रवाक्य का 'स्वौजस्०' सूत्र से एकवाक्यता होने पर यहाँ 'प्रातिपदकात्' पद का लाभ होता है। उसमें प्रातिपदिकार्थमात्रे का अन्वय होने पर 'प्रातिपदिकार्थेतरार्थबोधाजनक प्रातिपदिक' अर्थ सम्पन्न होता है, क्योंकि 'मात्र' पद का 'इतर, योग और व्यवच्छेद (अभाव), तीन अर्थ होते हैं। प्रातिपदिकात् का अन्वय उद्देश्य विधेयभाव सम्बन्ध से प्रथमा के साथ होता है। प्रथमा का अन्वय अध्याहृत 'स्यात्' क्रिया के साथ होता है। 'स्यात्' पद में तिङर्थ कर्ता है, जिसके साथ प्रथमा का अभेद सम्बन्ध से अन्वय है और उस कर्ता का 'अस्' धात्वर्थ सत्ता में अन्वय है। 'स्यात्' में लिङ लकार का अर्थ इष्टसाधनत्व है। उसका भी अन्वय धात्वर्थ सत्ता में है। इस प्रकार अन्वय होने पर प्रातिपादिकार्थप्रतियोगिकभेदाश्रयनिष्ठविषयतानिरूपकबोधजनकताऽभाववत्प्रातिपदिकोद्देश्यकप्रथमाऽभिन्नकर्तृका इष्टसाधनवती सत्ता' यह स्वरूप निष्पन्न होता है।

इस स्वरूप में प्रकार, विशेष्य एवं प्रकारतावच्छेदक सम्बन्ध का विश्लेषण इस प्रकार है। मात्र पद के प्रथम अर्थ 'भेदाश्रय' के 'भेद' में 'स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्व' सम्बन्ध से प्रातिपदिकार्थ का अन्वय होने पर प्रातिपदिकार्थ विशेषण एवं भेद विशेष्य है। भेद का अन्वय 'स्वरूपसम्बन्ध' से आश्रय में होने पर भेद विशेषण एवं आश्रय विशेष्य है। आश्रय का अन्वय 'निष्ठत्व सम्बन्ध' से विषयता में होने पर आश्रय विशेषण और विषयता विशेष्य है। विषयता का अन्वय निरूपकत्व सम्बन्ध से बोध में होने पर विषयता विशेषण और बोध विशेष्य है। बोध का अन्वय स्वनिष्ठजन्यतानिरूपितत्व सम्बन्ध से जनकता में। इस जनकता का अन्वय स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अभाव में। अभाव का अन्वय स्वरूपसम्बन्ध से प्रातिपदिक में। प्रातिपदिक का अन्वय उद्देश्यविधेयभाव सम्बन्ध से प्रथमा में। प्रथमा का अन्वय अभेद सम्बन्ध से आख्यातार्थ कर्ता में। कर्ता का अन्वय वृत्तित्व सम्बन्ध से धात्वर्थ सत्ता में। उसी सत्ता में लिङर्थ इष्टसाधनत्व का स्वरूप सम्बन्ध से अन्वय होता है। स्मरणीय है,

'जिसका' सम्बन्ध होता है वह प्रकार या विशेषण है तथा 'जिसमें' सम्बन्ध होता है वह विशेष्य है।

उपर्युक्त परिष्कार में इसी विश्लेषण को प्रकारता, विशेष्यता एवं प्रकारतावच्छेदक सम्वन्ध से घटित रूप में निर्दिष्ट किया गया है। उसमें प्रकार एवं विशेष्य के धर्म प्रकारतावच्छेदक एवं विशेष्यता-वच्छेदक के रूप में प्रदर्शित हुए हैं। जैसे—प्रातिपदिकार्थ विशेषण है, इसलिए प्रातिपदिकार्थत्वावच्छिन्न प्रकारता। भेद विशेष्य है, इस-लिए भेदत्वावच्छिन्न विशेष्यता। यहाँ तत्तत् सम्बन्धों को प्रकारता-वच्छेदक सम्बन्ध के रूप में बताया गया है। जैसे—स्वनिष्ठप्रति-योगिताकत्वसम्बन्धावच्छिन्न—प्रातिपदिकार्थत्वावच्छिन्न-प्रकारता। एक ही वस्तु में रहने वाली एक के प्रति विशेष्यता एवं दूसरे के प्रति प्रकारता को अवच्छेदकावच्छेद्यभावापन्न मानकर 'भेदत्वावच्छिन्न-विशेष्यत्वावच्छिन्न-भेदत्वावच्छिन्न-प्रकारता' इस तरह जहाँ-तहाँ निवेश किया गया है।

सूत्रवाक्य में 'मात्र' शब्द के सन्निवेश का फल अनर्थक निपातों से भी प्रथमाविभक्ति की सिद्धि है। यहाँ यह अवधेय तथ्य है कि विभक्ति विधायक 'कर्मणि द्वितीया' (पा० सू० २।३।२) इत्यादि सूत्र नियमार्थक माने गये हैं, क्योंकि इनके अभाव में भी सामान्य सूत्र 'स्वौजस्०' से सभी विभक्तियाँ विहित हो जातीं, पुनः 'कर्मणि द्वितीया' इत्यादि सूत्र अचरितार्थ होकर नियम बनाते हैं—'कर्मणि सत्येव द्वितीया, न तु तदसत्वे' "अर्थात् कर्म की सत्ता होने पर ही द्वितीया होती है। ऐसी स्थिति में 'गां दोग्धि पयः' इत्यादि उदाहरणों में अपादान के होने पर भी कर्म की सत्ता होने से द्वितीया निष्पन्न हो जाती है। एवमेव मात्र शब्द के अभाव में प्रातिपदिकार्थ सूत्र से भी पूर्ववत् 'प्रातिपदिकार्थसत्त्वे एव प्रथमा, न तु तदसत्त्वे' इस प्रकार का नियम बनेगा। एवंच प्रातिपदिकार्थ की सत्ता का अभाव होने से अनर्थक निपातों से प्रथमा की सिद्धि दुर्घट होगी। सूत्र में 'मात्र' पद का सन्निवेश करने से पूर्वोक्त नियमाकार पर्युदासन्याय से परिवर्तित होकर 'कर्मादियोग्यार्थकप्रातिपदिकाच्चेत् तद्रहिते तत्सदृशे प्रातिपदि-कार्थे एव प्रथमा' इस रूप में परिणत हो जायेगा। अब इस नियम से

उन्हीं प्रातिपदिकों के पर में प्रथमा का विधान होगा, जो कर्मादि की योग्यता रखने पर भी उससे रहित होंगे । अनर्थक निपातों में कर्म आदि की योग्यता नहीं है । अतः ये नियम के घेरे से बाहर हैं । ऐसी स्थिति में सामान्य सूत्र के द्वारा ही इनसे प्रथमा की सिद्धि हो जाती है । इस प्रकार 'मात्र' का ग्रहण करने से प्रत्ययविषयक नियम सिद्ध होता है और अनर्थकनिपातों से प्रथमा विभक्ति विहित होती है ।

दीक्षितमत : 'प्रातिपदिकार्थ०' सूत्र की दो प्रकार की व्याख्यायें प्रचलित हैं : इनमें प्राचीन वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित की व्याख्या के अनुसार सूत्र में 'लिंग' ग्रहण से तथा इसमें 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' 'बहुषु बहुवचनम्', एवं 'अनभिहिते'[1] सूत्रों का अन्वय होने से सूत्रार्थ होता है—अनियतलिंग से भिन्न जो नियतोपस्थितिकरूप प्रातिपदिकार्थेतर, उस अर्थ में अविद्यमान तथा संख्या और अनुद्भूत कारक अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से प्रथमा होती है । ऐसा अर्थ होने पर उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम् इत्यादि अव्यय और नियतलिंगक प्रातिपदिक इस अंश के उदाहरण होते हैं । लिंगेतर जो प्रातिपदिकार्थेतर, उस अर्थ में अविद्यमान तथा संख्या व अनुद्भूत कारकार्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से प्रथमा हो यह द्वितीय अंश का अर्थ होता है, क्योंकि प्रातिपदिकार्थ के बिना केवल लिंग अर्थ की सत्ता कहीं भी असम्भव है । अतः इस अंश का अर्थ करते समय यह कहना पड़ेगा कि प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त यदि कोई अर्थभासित होता हो तो वह केवल लिंग अर्थ ही हो । एवंच उसके आधिक्य में भी प्रथमा होती है । यथा—तटः, तटी, तटम्, इत्यादि अनियतलिंगक शब्द इस अंश के उदाहरण हैं ।

तृतीय अंश का अर्थ होता है—'परिमाणत्व और तद्व्याप्य धर्मेतर से अनवच्छिन्न विषयता प्रयोजक प्रातिपदिक से परिमाणार्थ में प्रथमा होती है । यथा—'द्रोणो व्रीहिः' इत्यादि उदाहरण में प्रत्ययार्थ परिमाण होने से प्रकृत्यर्थ द्रोणत्व का अभेद सम्बन्ध होने के अनन्तर परिच्छेद्य-

१—पा० सू० क्रमशः १।४।२२, २१ व २।३।१

परिच्छेदकभाव से व्रीहि में अन्वय होता है, अतः 'द्रोणरूप परिमाण से परिच्छिन्न व्रीहि' यह अर्थ निष्पन्न होता है। यदि प्रथमा का परिमाण अर्थ न माना जाय, तब भी 'द्रोण' शब्द से नियतोपस्थितिक अर्थ द्रोण, द्रोणत्व, पुंस्त्व, पुंस्त्वत्व और समवाय की उपस्थिति होने से प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा सिद्ध हो जायेगी, किन्तु इस अर्थ का व्रीहि में अभेद सम्बन्ध से ही अन्वय[1] होगा; क्योंकि यह प्रत्ययार्थ नहीं, नामार्थ है। फलतः 'द्रोणाभिन्न व्रीहि' यह असम्भव अर्थ प्रतीत होने लगेगा। अतः प्रथमा का परिमाण-सामान्य अर्थ मानना आवश्यक होता है। फलस्वरूप व्रीहि में प्रत्ययार्थ का परिच्छेद्यपरिच्छेदक भाव सम्बन्ध निर्वाधिरूप से सम्पन्न हो जाता है। अतः सभी प्रकार के परिमापवाचक प्रातिपदिक से परिमाणार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। सूत्र के चौथे अंश का अर्थ होता है—संख्यात्व और तद्व्याप्य धर्मेतर से अनवच्छिन्न विषयता प्रयोजक प्रातिपदिक से संख्या अर्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। यथा—एकः द्वौ, बहवः इत्यादि उदाहरणों में एक, द्वि एवं बहु इत्यादि प्रातिपदिक से ही संख्या अर्थ उक्त हो रहा है, अतः 'उक्तार्थानाम प्रयोगः' इस न्याय से यहाँ प्रथमा की प्राप्ति ही असम्भव है, किन्तु सूत्र में वचनग्रहण सामर्थ्य से 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस न्याय के सहारे संख्यावाचक समस्त प्रातिपदिक से संख्या अर्थ में प्रथमा विभक्ति सिद्ध होती है।

नागेशमत : प्राचीनों के अनुसार नियतोपस्थितिक अर्थ को प्रातिपदिकार्थ कहा गया तथा अलिंग अव्यय और नियतलिंग प्रातिपदिक इसके उदाहरण दिये गये हैं। नवीनवैयाकरण नागेशभट्ट ने यहाँ जाति और व्यक्ति अर्थ को ही प्रातिपदिकार्थ स्वीकार किया है।[2] तदनुसार इसमें प्रमाण उपर्युक्त सूत्र का परिमाण ग्रहण ही है। अन्यथा द्रोण आदि परिमाणवाचक शब्दों से नियतोपस्थितिक द्रोण-द्रोणत्व, पुंस्त्व-

---

१—'नामार्थयोरभेदादतिरिक्तः सम्बन्धः अव्युत्पन्नः'—तुलनीय—'नामार्थयोरभेदान्वय एव'—व्युत्पत्तिवाद जया, प्रथमा, पृ० ३, तृतीय संस्करण, सं० २०१०

२—'प्रातिपदिकार्थशब्देन प्रवृत्तिनिमित्तं तदाश्रयश्च—लघुशब्देन्दुशेखर, कारक, चौखम्बा, वाराणसी, १६३८, पृ० ५२२

पुंस्त्वत्व और समवायरूप अर्थ की ही सदा उपस्थिति होने के कारण 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इतने से ही प्रथमा विहित हो जाती, अतः परिमाण शब्द का और लिंग शब्द का भी निवेश व्यर्थ होगा। महामहोपाध्याय नित्यानन्द पर्वतीय भी इसी मत के पक्षपाती हैं।[1] वृत्तिग्रन्थ एवं सारस्वतव्याकरण में भी प्रातिपदिकार्थ को सत्ता तथा उसे ही जाति-व्यक्ति का उपलक्षण स्वीकार किया गया है। उक्त जाति को ही प्रवृत्तिनिमित्त शब्द से भी कहा जाता है, जिसका लक्षण पक्षधर मिश्र ने इस प्रकार किया है—'वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितीयप्रकारताश्रयत्वम्' अर्थात् शब्द मात्र का जाति और व्यक्ति अर्थ होता है, जिसमें जाति अर्थ विशेषण या प्रकार होता है और सदा व्यक्तिनिष्ठ रहता है।

जाति और व्यक्ति को प्रातिपदिकार्थ स्वीकार करने पर सूत्रार्थ होगा—'लिंगेतर, परिमाणेतर, संख्येतर, अनुद्भूतकर्मत्वादि शक्ति से इतर जो प्रवृत्ति-निमित्त और तदाश्रयरूप प्रातिपदिकार्थ, उससे भिन्न जो उद्भूत कर्मत्वादि या स्वस्वामिभावादि अर्थ, उस अर्थ के बोधन के तात्पर्य से अनुच्चरित प्रातिपदिक से प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा हो। एवंच प्रातिपदिकार्थ अंश के अव्यय, स्त्री व नपुंसक ये तीन शब्द ही उदाहरण होंगे। नियतलिंगक या अनियतलिंगक सभी प्रातिपदिक लिंगाधिक्य के उदाहरण होंगे। इस मत में उक्त प्रातिपदिकार्थ मुख्य हो या आरोपित दोनों ही रूपों में प्रथमा का वाच्य होता है। अतएव 'गोपी' इत्यादि आरोपस्थल में भी प्रथमा का विधान होता है।

परिमाण-विशेष के वाचक द्रोणादि प्रातिपदिकों से लिंग के समान परिमाण अर्थ की अतिरिक्त प्रतीति होती है। इस अतिरिक्त परिमाण अर्थ में भी प्रथमा होती है। इसके उदाहरण हैं—द्रोणः, खारी, आढकम् इत्यादि। भट्टोजिदीक्षित ने परिमाण का जो 'द्रोणो व्रीहिः' उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह भी चिन्तनीय है, क्योंकि 'सिंहो' माणवकः'

१—'प्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रययोरेव प्रातिपदिकार्थपदेन ग्रहणं युक्तमिति न कापि एतन्मते क्लिष्टकल्पना इति'—लघुशब्देन्दुशेखर, दीपक कारक, चौखम्बा, बाराणसी, १९३८, पृ० ५२८

इत्यादि आरोपस्थल में माणवक से संबन्ध होने के पूर्व ही जैसे सिंह से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विहित हो जाती है, वैसे 'द्रोणो व्रीहिः' इत्यादि उदाहरणों में व्रीहि से सम्बन्ध होने से पूर्व ही द्रोण से प्रथमा विहित हो जायेगी। एवंच प्रथमा विभक्ति की उत्पत्ति के अनन्तर स्वार्थ में परिपूर्ण पद का पदान्तर से सम्बन्ध मानने में कोई असंगति नहीं है। अतः 'द्रोणो व्रीहिः' इत्यादि वाक्य इसके उदाहरण नहीं हैं, अपितु 'द्रोणः, प्रस्थः' इत्यादि पद ही इसके उदाहरण हैं।

प्रथमा और कारक : प्रथमा भी कारक विभक्ति है। यद्यपि तार्किकों ने 'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' कारक का यह सामान्य लक्षण किया है। इसके विवरण में उन्होंने कहा है कि जिस नामार्थ का विभक्त्यर्थद्वारक क्रियासम्बन्ध होता है, उसे ही कारक कहते हैं। चूँकि 'स्तोकं पचति' में स्तोक का सम्बन्ध विभक्त्यर्थ द्वारा नहीं होता, इसी प्रकार 'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति' में क्रिया से ब्राह्मण का विभक्त्यर्थ द्वारा सम्बन्ध नहीं होता, अतएव क्रिया-विशेषण तथा षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध कारक नहीं कहे जाते। तथापि 'भूमौ शेते', 'स्थाल्यां पचति' इत्यादि उदाहरणों में क्रिया के साथ भूमि और स्थाली का विभक्त्यर्थ द्वारा सम्बन्ध न होकर कर्तृ-कर्मद्वारक सम्बन्ध होने से वैयाकरणों ने नैयायिकों की उक्त कारक परिभाषा को अंगीकार नहीं किया है। अपितु 'करोति-क्रियां निर्वर्तयति' इति कारकः' इस भाष्योक्त व्युत्पत्ति के आधार पर क्रिया के निष्पादक को कारक कहा है। यह निष्पादक ही उत्पादक और जनक है, जो कारण-रूप में विवक्षित होता है। चूँकि 'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति' में ब्राह्मण क्रियोत्पत्ति में अन्यथासिद्ध है, अतः वह कारक नहीं है। यद्यपि सम्प्रदान कारक भी पूर्वतः सिद्ध न होने से कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्ति-अत्यन्ताभावीय-प्रतियोगिता का अनवच्छेदक न होकर अवच्छेदक ही होता है, अतः वह क्रिया का कारण नहीं हो सकता, तथापि वैयाकरण सम्प्रदाय में अर्थ को बुद्धिस्थ सिद्धान्तित किये जाने से सम्प्रदान एवं 'घटं करोति, घटं स्मरति' में कर्मीभूत घट की भी उक्तविध कारणता साधूपपन्न हो जाती है। एवंच कारक का

१–'क्रियानिष्पादकत्वं कारकत्वम्'—परमलघुमंजूषा, कारकार्थविचार

'क्रियाजनकत्वम्' या क्रियाकारणत्वं कारकत्वम्' यही सामान्य लक्षण उचित है।

आचार्य हेमचन्द्र, शर्ववर्मा, अनुभूतिस्वरूप प्रभृति वैयाकरणों ने भी उपर्युक्त कारणता को ही विभिन्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है।[1] प्रत्यय के द्वारा कर्त्ता या कर्म कारक अर्थ के उक्त हो जाने पर अवशिष्ट प्रातिपदिकार्थ में प्रथमाविभक्ति उस उक्त कर्त्ता, कर्म आदि कारकों का अनुवाद करती है। उसका साक्षात् सम्बन्ध क्रिया से ही होता है। वह साक्षात् या परम्परारूप से कारकों के परस्पर सम्बन्ध का बोधन नहीं करती है, अतः उसकी स्थिति षष्ठी से भिन्न है। एवञ्च प्रथमा भी द्वितीयादि की भाँति कारकविभक्ति है। जहाँ हम 'रामः, कृष्णः' इत्यादि प्रथमा का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, वहाँ सर्वत्र 'अस्ति' क्रिया का अध्याहार होकर 'राम है' इत्यादि रूप में सत्ता की प्रतीति होती है। एवंच प्रथमार्थ का तिङर्थ कर्त्ता के द्वारा क्रियार्थ सत्ता में ही अन्वय होता है, अतः इसमें जहाँ 'क्रियान्वयित्वरूप कारकत्व' घटित होता है, वहीं क्रिया का जनक होने से उसमें क्रिया-निष्पादकत्व धर्म भी है। महर्षि पतंजलि ने 'सह युक्तेऽप्रधाने' (पा० सू० २।३।१९) सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में अप्रधान पद को निष्फल बतलाते हुए कहा है—अप्रधान शब्द के अभाव में भी 'पुत्रेण सहागतः पिता' इत्यादि उदाहरणों में पिता शब्द से तृतीया विभक्ति नहीं होगी, क्योंकि कारकविभक्ति होने से प्रथमा उपपद तृतीया की बाधिका हो जायेगी।[2] एवंच इस प्रकरण में भाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में प्रथमा का कारकत्व स्वीकार किया है। 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' यह वार्तिक भी इसमें प्रमाण है, क्योंकि तिङ् की समानाधि-करणता तिङ्बोध्य कारक की बोधकता ही है। एवंच सूत्र, वार्तिक और भाष्य के प्रमाण से प्रथमा को कारकविभक्ति मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

अनुबन्ध प्रयोजन : यहाँ तक 'सु औ जस्' प्रत्ययों के विभिन्न परिवर्तित रूपों का एवं इनके अर्थों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया।

१—'क्रियाहेतुः कारकम्'—हैम २।२।१
२—'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी'—परिभाषा

अधुना पर्यवसान में अनुबन्धों के प्रयोजन पर किंचित् दृष्टिपात किया जा रहा है। 'सु' प्रत्यय में कुछ विद्वानों ने 'उ' अनुबन्ध और कुछ ने 'इ' अनुन्बध का प्रयोग किया है, जिस पर प्रारम्भ में विस्तार से चर्चा की गयी है। यहाँ संक्षेप से एक शास्त्रीय प्रयोजन की चर्चा की जा रही है—यदि अनुबन्ध का प्रयोग न किया जाय, तब उस स्थिति में इसका स्वरूप केवल 'स्' रहेगा तथा असकारादि के पर में रहते अर्वन् के 'न्' को 'तृ' आदेश प्राप्त होगा।[1] फलतः अर्वत्सु' इत्यादि उदाहरणों में भी तृ आदेश की अप्राप्ति होने लगेगी। अनुबन्ध रहने पर तो 'सु' से भिन्न में तृ आदेश का विधान करके लाघव से ही इस स्थिति को रोका जा सकता है। इसी प्रकार जस् प्रत्यय का 'ज्' अनुबन्ध प्रत्यय की स्पष्ट पृथक् प्रतीति के लिए प्रयुक्त हुआ है। अन्यथा शस् के अनुबन्ध विनिर्मुक्त रूप से इसका कोई अन्तर नहीं रह जाता और सूत्रों से अन्तरमूलक भिन्न-भिन्न कार्यों का विधान दुरुपपाद होता। एवंच अनुबन्ध अपने उद्देश्य लाघवपूर्वक स्पष्ट प्रतिपत्ति में यहाँ सर्वथा सफल है।

द्वितीया विभक्त

अम्, औट्, शत् : ये तीनों प्रत्यय द्वितीयाविभक्ति नाम से प्रसिद्ध हैं। एकत्वविशिष्ट अर्थ के बोधन के लिए एकवचन अम्, द्वित्वसंख्याविशिष्ट अर्थ के अभिधान हेतु द्विवचन औट् और बहुत्वसंख्या से युक्त अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए बहुवचन शस् का प्रयोग होता है। प्रकृतिविशेष से इनके स्वरूप में यत्रकुत्रचित् परिवर्तन परिलक्षित होते हैं, जिनका विवरण प्रस्तुत करते हुए इनके अर्थ और अनुबन्ध का भी अध्ययन क्रमशः किया जायेगा।

१–'अर्वणस्त्रसावनञः'—पा० सू० ६।४।११७

विविध रूप : अम्—इस प्रत्यय के तीन रूप हमारे समाने आते हैं :

(i) अकारान्त भिन्न नपुंसक प्रकृति से विहित होने पर तथा अकारान्त अव्ययीभाव से भिन्न अव्यय और एकार्थीभाव में इसका लोप हो जाता है । यथा—वारि, मधु, उच्चैः, अधिहरि, कृष्णश्रितः इत्यादि ।

(ii) अ-आ, इ–ई, उ–ऊ वर्णान्त प्रकृति से विहित होने पर यह केवल 'म्' रूप में दृष्टिगत होता है ।[1] जैसे—रामम्, रमाम्, हरिम्, नदीम्, भानुम, वधूम् इत्यादि ।

(iii) अवशिष्ट प्रकृतियों से विहित होने पर यह अपने 'अम्' रूप में ही स्थित रहता है । यदि पूर्व में प्रकृति का चरम वर्ण ए, ओ, ऐ, औ होगा तो ऐसी स्थिति में अयादि संधि व यथाप्राप्त यण् इयङ उवङ आदेश भी होते हैं । प्रकृति के हलन्त होने पर स्वर से सम्मेलन मात्र हो जाता है । यथा–रायम् गाम्, राजानम् दृषदम्, त्वाम्, माम् इत्यादि ।

एवंच अम् प्रत्यय के उक्त तीन रूप हो जाते हैं । इस प्रत्यय के स्वरूप में कोई मतभेद नहीं है । चान्द्र, हैम, सारस्वत एवं कातन्त्र इत्यादि सभी व्याकरण ग्रन्थों में इसका पाणिनि-प्रोक्त रूप ही स्वीकार किया गया है । यहाँ प्रत्यय के परिवर्तन के साथ प्रकृति के रूप में भी यत्रकुत्रचित् यत्किंचित् परिवर्तन देखे जाते हैं, जो बहुत नगण्य हैं । यथा पूर्व में संयोग न रहने पर धातु का स्वर अपने ह्रस्वरूप में परिवर्तित हो जाता है तथा 'भ्रू' शब्द का उकार भी ह्रस्व हो जाता है ।[2]

औट् (औ) : द्वितीया द्विवचन औट् प्रत्यय के स्वरूप को सारस्वत और हैम व्याकरण में अनुबन्ध रहित स्वीकार किया गया है । किन्तु चान्द्र व्याकरण में पाणिनि के अनुसार 'ट्' अनुबन्ध का अनुसंजन किया गया है । इस प्रत्यय के पाँच स्वरूप दृष्टिगत होते हैं, जिनका विवरण अधोऽकित है :

१—'अमिपूर्वः'—पा० सू०, ६।१।१०७

२—तुलनीय—'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' 'न भूसुधियोः'—पा० सू० ६।४।७७।८२ व ८५

(i) पुँल्लिग इकारान्त और उकारान्त प्रकृति से विहित होने पर यह प्रकृति के अन्तिम स्वर के दीर्घरूप में परिवर्तित हो जाता है। यथा—मुनी, विभू इत्यादि।

(ii) स्त्रीलिंग अकारान्त तथा नपुंसक प्रकृति से विहित होने पर इसका रूप 'शी' (ई) हो जाता है।[1] तदनन्तर अकारान्त या आकारान्त होने पर प्रकृति का गुणी भाव होता है, अन्यथा उसमें 'न्' का संयोग हो जाता है।[2] यथा-विद्ये, ज्ञाने वारिणी, मधुनी इत्यादि।

(iii) युष्मद् अस्मद् शब्द एवं अकारान्त अव्ययीभाव से पर होने पर इसको 'अम्' आदेश हो जाता है। जैसे—युवाम्, आवाम्, अनुग्रामम् इत्यादि।

(iv) अव्यय एवं एकार्थीभाव में इसका शून्यीकरण हो जाता है। यथा—उच्चैः, नीचैः, आत्मनः पुत्रौ इच्छतीति पुत्रीयति इत्यादि।

(v) शेष प्रकृतियों में यह अपने 'औ' रूप में ही रहता है। यथा—रामौ, पप्यौ, विश्वयौ, नद्यौ, गावौ, सरितौ, राजानौ इत्यादि। प्रकृति के अन्तिम वर्ण में उद्देश्यानुसार वृद्धि, यण्, गुण एवं अयादि आदेश होते हैं।

एवंच इस प्रत्यय के पाँच रूप विभिन्न प्रकृतियों में बताये गये। उनके प्रभाव से जायमान प्रकृति के परिवर्तन को भी यत्किंचित् निर्दिष्ट किया गया।

शस् (अस्) : संस्कृत के सभी वैयाकरणों ने द्वितीया बहुवचन के इस प्रत्यय का निर्देश 'श्' अनुबन्ध के साथ ही किया है।[3] इसके सात रूप दृष्टिगत होते हैं। प्रकृति में रूप-परिवर्तन की दृष्टि से यह अम् और औट् प्रत्ययों से भिन्न है। इसके सातों रूपों को नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है :

१—'औङ आपः' नपुंसकाच्च'—पा० सू० ७।१।१८ व १९

२—'नपुंसकस्य झलचः'—पा० सू० ७।१।७२

३—द्रष्टव्य—हैम०, १।१।१८, चा० २।१।१ व अन्य व्याकरण

(i) अकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त एवं ऋकारान्त पुँल्लिग प्रकृतियों से विहित होने पर एवं युष्मद् अस्मद् से भी पर होने पर यह 'न्' रूप में परिवर्तित हो जाता है[1] तथा ऐसी स्थिति में प्रकृति का अन्तिम स्वर या व्यंजन दीर्घ हो जाता है। जैसे—रामान्, कवीन्, वातप्रमीन्, भानून् भ्रातॄन्, युष्मान्, अस्मान् इत्यादि।

(ii) नपुंसक प्रकृति से विहित होने पर इसे 'शि' (इ) हो जाता है तथा प्रकृति के अन्त में 'न्' का आगम और पूर्व स्वर को दीर्घ भी होता है।[2] यथा—ज्ञानानि, सानूनि, वारीणि इत्यादि।

(iii) स्वरान्त स्त्रीलिंग, प्रकृति से विधान होने पर इसका विसर्ग रूप हो जाता है, तथा ऐसी स्थिति में प्रकृति के चरम स्वर को दीर्घ भी होता है। जैसे—रमाः, मतीः, वधूः इत्यादि।

(iv) अकारान्त अव्ययीभाव से विहित होने पर इसका 'अम्' रूप हो जाता है। जैसे—उपरामम् इत्यादि।

(v) अष्टन् शब्द से विहित होने पर विकल्प से इसका रूप 'औ' हो जाता है। जैसे—अष्टौ। अभाव पक्ष में इसका लोप हो जाता है।

(vi) षकारान्त एवं नकारान्त संख्यावाची शब्द तथा कति शब्द से एवं अव्यय और एकार्थीभाव से विधान होने पर इसका लोप हो जाता है। यथा-षट्, पञ्च, कति, रामान् श्रितः इति रामाश्रितः इत्यादि।

(vii) अवशिष्ट प्रकृतियों से विहित होने पर यह अपने अनुबंध रहित अस् रूप में ही रहता है किन्तु ऐसी स्थित में 'स्' को विसर्ग भी हो जाता है और प्रकृति का अन्तिम वर्ण धातु का अवयव आकार होने पर उसका लोप हो जाता है[3] तथा प्रत्ययांश अकार प्रकृति में संयुक्त हो जाता है। जैसे—विश्वपः, दृषदः, सरितः इत्यादि।

१–तस्माच्छसा नः पुंसि'—पा० सू० ६।१।१०३

२–'सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ', 'शिसर्वनामस्थानम्'—पा० सू० ६।४।८ व १।१।४२

३–'आतो धातोः'—पा० सू० ६।४।१४०

यहाँ तक द्वितीया विभक्ति के तीनों प्रत्ययों के विभिन्न परिवर्तित स्वरूपों का प्रतिपादन किया गया। बीच-बीच में प्रकृति उद्देश्यक उपजन और अपजन को भी किंचित् इंगित किया गया। इ-ई, उ-ऊ स्वरान्त प्रकृति का अन्तिम स्वर धातु का अवयव होने पर तथा उस स्वर के पूर्व में संयोग या उस प्रकृति में एक ही स्वर के न रहने पर सभी स्वरादि प्रत्ययों से विधान के अनन्तर उस प्रकृति का अन्तिम स्वर अपने ह्रस्व रूप में परिवर्तित हो जाता है। 'भ्रू' शब्द में भी यही परिवर्तन होता है। इसे ही व्याकरण में इयङ और उवङ आदेश कहते हैं।

द्वितीयार्थ : प्रक्रिया दिग्दर्शन के पश्चात् अवसर प्राप्त द्वितीया-विभक्ति के अर्थविज्ञान का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रथमा विभक्ति के अर्थविज्ञान के अध्ययन क्रम में यह चर्चा की गयी है कि वह कारकविभक्ति और उपपदविभक्ति इन दो रूपों में उपलब्ध होती है। तद्वत् द्वितीया भी कारक अर्थ में एवं पद-विशेष के आश्रय से विहित होने के कारण कारक विभक्ति और उपपदविभक्ति इन दो रूपों में प्राप्त होती है।

कारक-विशेष अर्थ में विहित होनेवाली विभक्ति कही जाती है। यहाँ द्वितीया विभक्ति मुख्यतः कर्मकारक अर्थ में विहित होती है। 'क्रियते यत् तत् कर्म, इस व्युत्पत्ति के अनुसार कर्त्ता अपनी क्रिया से जिसे करता है अर्थात् जिस वस्तु से साक्षात् जन्य-जनक या प्रयोज्य-प्रयोजक सम्बन्ध स्थापित करता है, उसे कर्म कारक कहा गया है। इसी बात को महर्षि पाणिनि ने "कर्तुरोप्सितमम् कर्म" (पा० सू० १।४।४९) के द्वारा व्यक्त किया है अर्थात् कर्त्ता को क्रिया के द्वारा सम्बन्ध करने में जो इष्टतम् वस्तु प्रतीत होती है, वही कर्म कारक है। हेमचन्द्र भी 'कर्तुर्व्याप्यं कर्म' (२।२।३) सूत्र से पूर्वोक्त सम्बन्ध को ही इंगित करते हैं। सारस्वतव्याकरण में इसे कार्य शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है।[1] चान्द्रव्याकरण में क्रिया के व्याप्य को कर्म कहा गया है।[2]

१—'कार्यं कर्म कारक'—सारस्वतव्याकरण, कारक-प्रक्रिया

२—'क्रियाया व्याप्ये द्वितीयाविभक्तिर्भवति'—चान्द्रव्याकरण, २।१।४३

कर्म को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए पाणिनीय-परम्परा में प्रवेश करना पड़ता है। जैसा कि पहले कहा गया है, प्रत्येक धातु के फल और व्यापार ये दो अर्थ होते हैं। व्यापार को ही क्रिया शब्द से कहा जाता है। इस व्यापार का आश्रय कर्त्ता होता है, तथा उसके उक्त व्यापार से जन्य फल के आश्रय को कर्म कहते हैं। इसी परिभाषा को परिष्कृत शैली में इस प्रकार कहा गया है—"प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वप्रकारक-इच्छोद्देश्यं कर्म।" यह परिभाषा कर्म के स्वरूप को सर्वथा स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करती है। ईप्सित या अनीप्सित अर्थ का केवल संज्ञा में उपयोग होने से अनन्यलभ्य आश्रय मात्र द्वितीया विभक्ति का अर्थ निश्चित होता है। यथा—ओदनं पचति, घटं करोति, तम् जानाति इत्यादि उदाहरणों में धात्वर्थ फल विक्लित्ति, उत्पत्ति एवं आवरण-भंग का ओदनादि आश्रय होने से वे तत्तत् क्रियाओं के फल हैं। 'चैत्रो ग्रामं गच्छति' इत्यादि उदाहरणों में यद्यपि ग्राम के समान क्रिया जन्य संयोगरूप फल का आश्रय होने से चैत्र की भी कर्म संज्ञा प्राप्त होती है किन्तु वह व्यापाराश्रय भी है, अतः व्यापाराश्रय की कर्तृ संज्ञा से उसकी कर्मसंज्ञा बाधित हो जात है।[1] एवंच कर्मसंज्ञा के अभाव में चैत्र पद से द्वितीया नहीं होती, क्योंकि विभक्ति की उत्पत्ति में संज्ञा नियमिका होती है। अन्यथा 'गमयति कृष्णम् गोकुलम्' की भाँति 'पाचयति चैत्रः कृष्णेन' इत्यादि उदाहरणों में कृष्ण पद से भी द्वितीया की प्राप्ति होने लगेगी। एवमेव 'प्रयागात् काशीम् गच्छति' इत्यादि उदाहरणों में यद्यपि प्रयाग विभाग का आश्रय है, तथापि विभागरूप फल गम् धातु का अर्थ न होने से तदाश्रय प्रयाग की कर्मता सम्भव नहीं है। एवंच समभिव्याहृत धात्वर्थ-प्रधानीभूत व्यापार से प्रयोज्य फलाश्रय को कर्म कहते हैं, यह बात यहाँ तक निश्चय हो जाती है।

क्रियाविशेषण स्थल में केवल धात्वर्थ फल की व्यपदेशिवद्भाव

१–'कर्तृ संज्ञया कर्मसंज्ञाया बाधात्'—वैया० भू० सार, सुबर्थ, चौखम्बा, वाराणसी, १९६९, पृ० १९३

से कर्मसंज्ञा होती है।[1] अतएव 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं क्लीबत्वं च' यह नियम प्रसिद्ध है। यथा—'स्तोकं पचति' इत्यादि उदाहरणों में 'स्तोकं' का धात्वर्थ फल में अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। यहाँ स्तोक विक्लित्ति का आश्रय न होकर उसकी विशेषता को प्रगट करता है। एवंच धात्वर्थ फल में अभेदेन अन्वित अर्थ की भी कर्मसंज्ञा एवं नित्यनपुंसकता समझनी चाहिए। इसके अतिरिक्त देश, काल, भाव एवं गन्तव्य मार्ग ये चार अर्थ धातु मात्र के कर्म होते हैं। अत: जिनमें कर्म नहीं होता है, ऐसी अकर्मकधातुओं के योग में भी उपर्युक्त कर्म रहते ही हैं। अतएव कात्यायन ने अकर्मक धातुओं के योग में उक्त चारों अर्थों की कर्मसंज्ञा तथा उसमें द्वितीया विभक्ति का अनुशासन किया है।[2]

ईप्सिततम कर्म : महर्षि पाणिनि ने ईप्सिततम को कर्म कहा है। इस कर्म अर्थ को प्रकट करने के लिए पद में द्वितीया का प्रयोग किया जाता है। इस कर्म को भर्तृहरि ने सात भागों में विभक्त किया है, जिसे पाणिनीय व्याकरण में २३ सूत्र-वाक्यों के द्वारा सुस्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया गया है। चूँकि विभाग दृष्टि-सापेक्ष होते हैं, अत: हेमचन्द्र[3] और अनुभूतिस्वरूप ने[4] इसके तीन ही विभाग किये हैं। आचार्य भर्तृहरि पहले कर्म को ईप्सिततम और अनीप्सित इन दो भागों में बाँटते हैं। पुन: ईप्सिततम के तीन भेद प्रतिपादित करते हैं। यहाँ इनका क्रमश: विवरण नीचे प्रस्तुत है।

१—'विक्लित्तिरूपफलस्यापि व्यवदेशिवद्भावेन फलाश्रयत्वात्'—वैया० भू० सारप्रभा, चौखम्बा, वाराणसी, १९६९, पृ० ३२

२—'अकर्मकधातुभिर्योगे देश: कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्'—वार्तिक—११०३-४, सिद्धान्तकौमुदी सूत्रसंख्या ५३२, कारक प्रकरण

३—'निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं च, कटं करोति; काष्ठं दहति, ग्रामं याति'—हैमशब्दानुशासन, स्वोपज्ञ वृत्ति, २।२।३

४—'उत्पाद्ये आप्ये संस्कार्ये च द्वितीया विभक्तिर्भवति'—सारस्वतव्याकरण, कारक—प्रक्रिया

(१) **निर्वर्त्य** : कारण में सत् या असत् की उत्पत्ति को निर्वर्त्य या उत्पाद्य कहते हैं। यथा—'कटं करोति' इत्यादि उदाहरणों में कारणों से नवीन उत्पाद्यमान कट निर्वर्त्य कर्म है।

(२) **विकार्य** : अपनी प्रकृति का उच्छेद या अनुच्छेद करके जो अवस्थान्तर को प्राप्त हो जाता है उसे विकार्य कर्म कहते हैं। यथा—'काष्ठं भस्म करोति' 'सुवर्णं कुण्डलं करोति' इत्यादि उदाहरणों में भस्म एवं कुण्डल क्रमशः अपनी प्रकृति काष्ठ और सुवर्ण का उच्छेद तथा अनुच्छेद करते हुए संज्ञान्तर में निमित्त अवस्थान्तर को प्राप्त करते हैं, अतः ये दोनों ही विकार्य कर्म हैं। एवंच विकार्य के दो भेद विकार्य और संस्कार्य रूप में प्रसिद्ध हैं। अतएव कतिपय वैयाकरणों ने ईप्सिततम कर्म को चतुर्विध स्वीकार किया है।[1] विकार पूर्वावस्था के परित्याग से सम्भावित अवस्थान्तर की प्राप्ति को कहते हैं, किन्तु संस्कार इससे भिन्न होता है। इसके भी चार भेद कथित हैं—प्राक्तन कर्म से जायमान गुण, गुणों का अतिशय, गुणों का आधान और मलापकर्ष।[2] संस्कार के योग्य वस्तु संस्कार्य कर्म है तो विकार के योग्य वस्तु विकार्य कर्म। यथा—राज्यं प्राप्नोति धर्मिष्ठः, ब्रीहिन् प्रोक्षति, वस्त्रं रंजयति, वस्त्रं क्षालयति इत्यादि संस्कार्य कर्म के उदाहरण हैं।

(३) **प्राप्य** : जो वस्तु सिद्ध रूप में प्राप्त की जाती है अर्थात् जिस वस्तु में क्रियाकृत विशेष की उपलब्धि नहीं होती है, उसे प्राप्य कर्म कहते हैं। यथा—रूपं पश्यति, ग्रामं गच्छति इत्यादि उदाहरणों में दर्शन या गमन क्रिया के द्वारा प्रयोज्य जो असाधारण धर्म तत्प्रकारक प्रतीति की विषयता का आश्रय रूप या ग्राम नहीं होते हैं। किसी के गमन करने से या देखने से पूर्वसिद्ध ग्राम पदार्थ या रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, अतः ये प्राप्य कर्म के उदाहरण हैं।

अनीप्सित कर्म : ऊपर की पंक्तियों में ईप्सिततम कर्म के भेदों को प्रस्तुत किया गया। अब अनीप्सित कर्म के चार भेदों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—उत्पाद्ये, आप्ये, संस्कार्ये, विकार्ये एवं चतुर्विधे—सार० चन्द्रकीर्ति०, चौखम्बा, वाराणसी, पृ० २११, १९६९ २—द्रष्टव्य—वहीं

(१) **उदासीन कर्म** : कर्त्ता का रागद्वेष न होने पर भी क्रिया की व्याप्यता जिस वस्तु में चली जाती है, वह हानोपादान बुद्धि का विषय न होने से उदासीन कर्म कहलाता है । यथा—ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति, संलापं कुर्वन् गजं पश्यति इत्यादि उदाहरणों में कर्त्ता तृण-स्पर्श या गजदर्शन की न तो इच्छा करता है और न अनिच्छा, अतः ये उदासीन कर्म हैं ।

(२) **अनीप्सित कर्म** : कर्त्ता क्रिया के द्वारा जिस वस्तु से सम्बन्ध करना नहीं चाहता है, उसे अनीप्सित कर्म कहते हैं । यथा 'ओदनं भुंजानो विषम् भुङ्क्ते' इत्यादि उदाहरणों में कर्त्ता ओदन मात्र से भोजन क्रिया का सम्बन्ध करना चाहता है, अतः वह तो ईप्सिततम कर्म है, किन्तु न चाहते हुए भी ज्ञाताज्ञातरूप में द्वेष्य विष से भी क्रिया के माध्यम से सम्बन्ध कर बैठता है, अतः विष अनीप्सित कर्म का उदाहरण है । इस कर्म को महर्षि पाणिनि ने 'तथायुक्तं चानी-प्सितम्' (पा० सू०१।४।५०) के द्वारा प्रतिपादित किया है ।

(३) **अकथित कर्म** : परिगणित क्रियाओं के अपादानादि कारक विशेषों की अविवक्षा में उसकी कर्मसंज्ञा होती है और वह अकथित कर्म कहलाता है । भर्तृहरि ने संज्ञान्तरैरनाख्यातम्' शब्द से इसका निर्देश किया है । महर्षि पाणिनि ने एतदर्थ 'अकथितम् च' (पा० सू० १।४।५१) सूत्र का प्रणयन किया है । अपादान आदि की यह अवि-वक्षा सर्वत्र न होकर परिगणित क्रियाओं में ही होती है । वे क्रियायें अधोऽकित हैं :

दुह् याच् पच् दण्ड रुधि प्रच्छि, चि, ब्रू, शासु, जि, मथ्, मुषाम् ।
कर्मयुक्स्यादकथितम् तथास्यान्नीहृकृष्वहाम् ।।

उक्त दुह्यादि १२ धातुओं और इनके अर्थ में वर्तमान अन्य धातुओं तथा नी, हृ, कृष्, वह् धातुओं के कर्मसम्बन्धी अपादानादि की अविवक्षा होने पर और उनकी कर्मत्व या सम्बन्धरूप में विवक्षा होने पर वे अकथित कर्म कहे जाते हैं । यथा :

गां दुदोह धरामन्नं ययाचे वसुधां बलिम् ।
रुरोध दैत्यान् पातालं पप्रच्छेदं च वांछितम् ।।

धर्मानवाचिनोद् वेदमब्रवीत् तम् स्वसेविनः ।
पार्थिवानन्वशाद् भक्तिं त्रिलोकीमजयद् रिपून् ।।
द्वारकामनयद् वन्धून् रुक्मिणीमहरत् पुरम् ।
चकर्ष कंसम् विपिनं ममन्थ क्षीरधिम् सुधाम् ।।
अवहन् मन्दरं सिन्धुमदण्डयदरीन् सुरान् ।
जग्राह द्युतरुन् शक्रमभुष्णात् दितिजान् सुधाम् ।।
पचति प्राणिनां कर्म यः फलं तं हरिं भजे ।

सारस्वत व्याकरण की प्रसाद टीका में उद्धृत ये श्लोक अकथित कर्म को प्रत्येक क्रियाओं के उदाहरण हैं। अकथित कर्म संज्ञा अर्थनिवन्धना है[1], अतः परिगणित धातुओं के पर्यायवाची धातुओं के अपादानादि की अविवक्षा में भी यह संज्ञा होती है। उक्त अपादानादि की विवक्षा की स्थिति में कर्म संज्ञा न होकर, तत्तत् संज्ञायें ही होती हैं और उनमें तत्तत् विभक्तियों का प्रयोग किया जाता है। अतः 'गां दोग्धि पयः' की भाँति अपादान की विवक्षा की स्थिति में 'गोः पयः' ये रूप भी साधु हैं। अकथित का तात्पर्य अविवक्षित से है। उसे अप्रधानपरक नहीं समझना चाहिए। अन्यथा 'पाणिना कांस्यपात्र्यां दोग्धि' इत्यादि उदाहरणों में अप्रधानकरण और अधिकरण की भी कर्मसंज्ञा प्राप्त होगी, क्योंकि ये संज्ञायें परिगणित धातुओं से भिन्न में चरितार्थ हैं। अतः अपादानादि विधि की प्रसक्तिपूर्वक उनकी अविवक्षा में तथा अपादानादि की सर्वथा प्रसक्ति न होने पर अकथित कर्म की प्रवृत्ति होती है।

यद्यपि दुह्यादि परिगणित धातुओं के व्यापारद्वय घटित 'विभागानुकूल-व्यापारानुकूलव्यापार'[2] अर्थ स्वीकार करने पर विभागा-

---

१—'अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा'—सिद्धान्तकौमुदी, कारक, चौखम्बा, वाराणसी, १९६३, पृ० ४१६

२—[क] 'वस्तुतो विभागावच्छिन्नक्षरणानुकूलोव्यापारो दुह्यर्थः'—व्युत्पत्तिवादः, द्वितीया, तृतीय संस्करण, प्रयाग, १९५३, पृ० १९७

[ख] 'दुहादीनां व्यापारद्वयार्थकत्वे'—ल० श० शेखरः, कारक, १९३८, पृ० ५६२

नुकूल व्यापार के आश्रय 'गो' आदि की धातुजन्य फलाश्रय होने से ईप्सिततम कर्मता ही सिद्ध हो सकती है तथा कर्मवाच्य की व्यवस्था भी उत्पन्न हो सकती है। एवंच अकथितकर्म अन्यथा सिद्ध रूप में भासित होता है, तथापि 'विभागानुकूल व्यापार' मात्र को दुह्यादि धातुओं का अर्थ मानने पर अपादानत्व को अविवक्षा में सूत्रान्तर से अप्राप्त कर्म की सिद्धि हेतु इसकी अपेक्षा है। ऐसी स्थिति में गवादि की अप्रधानकर्मता भी अधिक स्पष्ट होती है और 'गौणे कर्मणि दुह्यादेः'[1] इस अनुशासन के अनुसार गौण गवादि के कर्म में लकार विधान की व्यवस्था भी सुस्थिर रहती है।

वस्तुतः दुह्यादि धातुओं का 'विभागानुकूल व्यापार' अर्थ ही उचित है। ऐसा अर्थ मानने पर धात्वर्थ व्यापारजन्यविभागाश्रय 'पय' इत्यादि ईप्सिततम कर्म होंगे तथा उनसे भिन्न धात्वर्थफला-नाश्रय गवादि गौण कर्म। उनके अपादानत्वादि की अविवक्षा में गौण कर्मता एवं उसमें लकार के विधान की सिद्धि होगी तथा अपादान-त्वादि की विवक्षा में पंचमी आदि विभक्तियाँ होंगी। स्मरणीय है, गवादि का 'पय' आदि से सम्बन्ध प्रकट करने हेतु तो उनमें षष्ठी विभक्ति ही होगी। एवंच अकथित कर्म की इस व्यवस्था में कोई असंगति सम्भव नहीं है। इसके विपरीत धातु को द्वयर्थक मानने में 'ज्ञान-गौरव' है।

(४) **अन्यपूर्वक कर्म :** आधारादि अर्थों में सूत्रान्तर से प्राप्त संज्ञान्तर के बाधनपुरस्सर विभिन्न सूत्रों से विधीयमान कर्मसंज्ञक को 'अन्यपूर्वक कर्म' कहते हैं। इस कर्म का क्षेत्र बहुत व्यापक है। सिद्धान्तकौमुदी में १२ सूत्र वाक्यों के द्वारा इस कर्म का प्रकथन किया गया है। यथा :

१—गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम्।
बुद्धिभक्षार्थयोः शब्दकर्मकाणां निजेच्छया ॥
प्रयोज्यकर्मण्यन्येषांण्यन्तां लादयो मताः ॥
उद्धृत—सिद्धान्तकौमुदी, भावकर्मतिङ् प्रकरण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७१, पृ० ६०७

(i) विश धातु के पूर्व में 'अभि' और 'नि' दो उपसर्गों का समस्त प्रयोग होने पर इस धातु के आधार को कर्म कहते हैं। जैसे—'अभिनिविशते सन्मार्गम' इत्यादि।[१]

(ii) 'वस् धातु के पूर्व में उप, अनु, अधि और आङ उपसर्ग समस्त या व्यस्त रूप में जब प्रयुक्त होते हैं तब इस धातु के आधार की कर्म संज्ञा होती है।[२] यथा—'उपवसति वैकुण्ठम्' इत्यादि।

(iii) सोपसर्गक 'क्रुध्' और द्रुह्' धातु का कोप अर्थ में प्रयोग करने पर प्राप्त सम्प्रदाय संज्ञा का निषेध करके उसकी कर्मसंज्ञा होती है।[३] यथा—'क्रूरम् अभिक्रुध्यति' इत्यादि।

(iv) शीङ, स्था और आस् धातुओं के पूर्व में अधि उपसर्ग का प्रयोग करने पर उनके आधार की कर्मसंज्ञा होती है।[४] यथा—'अधितिष्ठति ग्रामम्' इत्यादि।

(v) दूर और अन्तिकार्थक शब्दों के अद्रव्यवाची होने पर उनमें विकल्प से कर्मत्व और द्वितीया विभक्ति होती है।[५] इसके अभावपक्ष में पंचमी या तृतीया। इसे उपपद द्वितीया का उदाहरण भी समझा जा सकता है। किन्तु दूर और अन्तिकार्थक शब्द अधिकरण प्रधान होते हैं, अतः इनसे द्विर्बद्धम् सुबद्धम्' न्याय से अधिकरण में सप्तमी प्राप्त है अथवा 'उक्तार्थानामप्रयोगः' से उक्तार्थ में प्रथमा। एवंच अधिकरण का निषेध करके कर्मत्व एवं द्वितीया का विधान करने के कारण इसे भी अन्यपूर्वककर्म में परिगणित किया गया है। यथा—'ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा' इत्यादि।

(vi) गत्यर्थक, बोधार्थक, भक्षणार्थक शब्दकर्मक और अकर्मक धातुओं से प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय करने पर उनके प्रयोज्य

१—'अभिनिविशश्च'—पा० सू० १।४।४७
२—'उपान्वध्याङ्वसः'—पा० सू० १।४।४८
३—'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म'—पा० सू० १।४।३८
४—'अधिशीङ्स्थासां कर्म'—पा० सू० १।४।४६
५—'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च'—पा० सू० २।३।३५

कर्त्ता की कर्मसंज्ञा होती है।[1] यथा—'शत्रून् अगमयत् स्वर्गम्' इत्यादि।

(vii) प्रेरणार्थक 'वह्' धातु का कर्त्ता यदि नियन्ता (सारथि) हो तो प्रेरणार्थक णिच् में इसके प्रयोज्यकर्त्ता की कर्मसंज्ञा होती है,[2] अन्यथा नी और वह के प्रयोज्यकर्त्ता की कर्म-संज्ञा नहीं होती है। यथा—'वाहयति रथं वाहान् सूतः' इत्यादि।

(viii) जल्प् और भास् धातु से प्रेरणार्थक णिच् में उनके प्रयोज्य-कर्त्ता की कर्मसंज्ञा होती है।[3] यथा—'जल्पयति धर्मं पुत्रं देवः' इत्यादि।

(ix) दृश् धातु से प्रेरणार्थक णिच् में उसके प्रयोज्यकर्त्ता की भी कर्मसंज्ञा होती है।[4] यथा—दर्शयति हरिं भक्तान् इत्यादि।

(x) हृ और कृ धातु से प्रेरणार्थक णिच् में उनके प्रयोज्यकर्त्ता की विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है।[5] इसके अभाव में कर्तृसंज्ञा तदवस्थित रहेगी। यथा—'हारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्' इत्यादि।

(xi) अभि उपसर्गक 'वादि' धातु एवं दृश् धातु का आत्मनेपद में प्रयोग करने पर उनके प्रयोज्यकर्त्ता की विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है।[6] यथा—'अभिवादयते गुरुं देवदत्तं देवदत्तेन वा' इत्यादि।

(xii) द्विकर्मक दुह्यादि धातुओं के कृत्प्रत्ययान्तरूप का यदि प्रयोग होगा तो उनके गौण कर्म (अकथित) की विकल्प

१–'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ'—पा० सू० १।४।५२

२–'नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः', 'नीवह्योर्न'—वार्तिक १११० व ११०६

३–जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम्'—वार्तिक ११०७

४–'दृशेश्च'—वार्तिक ११०८

५–'हृक्रोरन्यतरस्याम्'—पा० सू० १।४।५३

६–'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति बाच्यम्'—वार्तिक १११४

से कर्मसंज्ञा होगी। इसके अभाव में कृद्योग में प्राप्त षष्ठी विभक्ति होगी।[1] यथा—'नेता अश्वस्य प्रयागं प्रयागस्य वा वा' इत्यादि।

एवंच उक्त १२ बिन्दुओं में प्रतिपादित कर्म विभिन्न कारकों को बाधित करते हैं, अतः ये अन्यपूर्वककर्म कहे जाते हैं। ऊपर गत्यर्थक तथा शब्द कर्मक धातुओं के प्रयोज्यकर्त्ता की कर्मसंज्ञा का विधान किया गया है, किन्तु प्रापणार्थ नी, खाद्, अद्, आह्वयवाय्, शब्दाय्, क्रन्द् तथा अहिंसार्थक भक्ष् धातुओं के प्रयोज्यकर्त्ता की कर्मसंज्ञा नहीं होती है। फलतः उनमें तृतीयाविभक्ति का ही प्रयोग होता है।

इस प्रकार आर्य भर्तृहरि ने व्याकरण शास्त्र में विभिन्न सूत्रवाक्यों से प्रतिपादित कर्म का समाहार बुद्धि से ७ विभाग प्रतिपादित किये हैं[2], जिनका यहाँ सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों के आधार पर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अकर्मक के सम्बन्ध में हेमचन्द्र एक विशेष बात कहते हैं कि अविवक्षित कर्मवाली धातुओं के अप्रयोज्यकर्त्ता की भी विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है।[3] यथा—चैत्रं चैत्रेण वा पाचयति। आचार्य चन्द्रगोमी इस स्थान पर भाष्यकार पतञ्जलि की 'विवक्षातो हि कारकाणि भवन्ति' इस पंक्ति का स्मरण करते हैं।[4]

ऊपर प्रतिपादित सप्तविधि कर्मों की वैकल्पिक व्यवस्था का अध्ययन कर लेना भी आवश्यक होगा। यह वैकल्पिक व्यवस्था

१—'गुणकर्मणि वेष्यते'—वार्तिक ५०४२

२—'निवर्त्त्यं च विकार्यं च प्राप्यं चेति त्रिधा मतम्।
तच्चेप्सिततमं कर्म्म चतुर्धाऽन्यत्तु कल्पितम्॥
औदासीन्येन यत् प्राप्यं यच्च कर्त्तुरनीप्सितम्।
'संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद्यच्चाप्यन्यपूर्वकम्॥'
—वाक्यपदीय काण्ड ३, साधन समुद्देश, ४५,४६, पूना, १९६३

३—'वा कर्मणामणि कर्त्ताणौ—हैमव्याकरण २।२।४,

४—'तद्यथा बलाहको विद्योतते विद्युत् बलाहकम् बलाहकाय, बलाहकात्, बलाहके बलाहकेन इति'—चान्द्रव्याकरण २।१।४९, पूना, १९५३

५ स्थितियों से सम्बन्धित है, जिसका उल्लेख बिन्दुवार किया जा रहा है :

(१) दिव् धातु के करण की विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है। इसके अभावपक्ष में करणसंज्ञा और तृतीयाविभक्ति होगी।[1] यथा—अक्षान् अक्षैर्वा दीव्यति :

(२) नौ, काक, अन्न, शुक, सृगाल से भिन्न 'मन्य' धातु के कर्म की विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है। इसके अभाव में सम्प्रदानसंज्ञा एवं चतुर्थी विभक्ति होगी।[2] यथा—'न त्वां तृणं तृणाय वा मन्ये' इत्यादि।

(३) गत्यर्थक धातुओं का कर्म यदि मार्ग से भिन्न हो तो धातु से चेष्टा अर्थ गम्य होने पर उसकी विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है। इसके अभाव पक्ष में चतुर्थी विभक्ति होगी।[3] यथा, 'ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति' इत्यादि।

(४) दिव् धातु के द्यूतार्थ या क्रय-विक्रयरूप व्यवहारार्थक कर्म की विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है। इसके अभाव पक्ष में षष्ठी विभक्ति होगी।[4] यथा—'शतं शतस्य वा प्रतिदीव्यति' इत्यादि।

(५) षष्ठी विभक्ति के क्रम में यह बतलाया जायेगा कि धातुओं से कृत् प्रत्यय का संयोग करने पर उसके कर्त्ता और कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। यहाँ पर इस नियम के अपवाद एवं विकल्प की स्थिति की चर्चा कर लेना आवश्यक होगा। यथा—द्विष् धातु से शतृ (अत्) प्रत्यय का विधान करने पर उसके कर्म में विकल्प से द्वितीया एवं षष्ठी विभक्तियाँ होती हैं।[5] 'मुरस्य, मुरं वा द्विषन्' इत्यादि इस व्यवस्था के उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित कृत् प्रत्ययों के योग में कृद्योगा षष्ठी न होकर द्वितीया विभक्ति ही

१—'दिवः कर्म च'—पा० सू० १।४।४३

२—'मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु'—पा० सू० २।३।१ 'नौकाकान्नशुक-सृगालवर्जेष्विति वाच्यम्'—वार्तिक १४६४

३—'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि'—पा० सू० २।३।१२

४—'दिवस्तदर्थस्य'—पा० सू० २।३।५८

५—'द्विषः शतुर्वा'—वार्तिक १५२२

होती है। तद्यथा लादेश तिङन्त, उ, उक, अव्ययकृत्, निष्ठा, खलर्थ, शतृ, शानच्, शानन्, चानश्, तृन्, भविष्य अर्थ में विहित अक एवं भविष्य तथा आधमर्ण्य अर्थों में विहित 'इन्' प्रत्ययों के योग में द्वितीया ही होती है, अर्थात् कृद्योगा षष्ठी नहीं होगी।[1] यथा, 'सृष्टिं कुर्वन्, व्रजं गामी' इत्यादि।

उपपद द्वितीया : यहाँ तक द्वितीयाविभक्ति का वाच्यार्थ सभी प्रकार के कर्म एवं उनकी वैकल्पिक व्यवस्था का अध्ययन प्रस्तुत किया गया। द्वितीया विभक्ति उक्त समस्त कर्म समूह में तो होती ही है। इसके अतिरिक्त कतिपय पदों के सम्बन्ध अर्थ को प्रकट करने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है, जिसे उपपदद्वितीया कहते हैं। सभी उपपद विभक्तियाँ षष्ठी की अपवादिका होती हैं। अतः उनका अर्थ सम्बन्ध ही होता है। एवंच कारकद्वितीया का प्रतिपादन करने के पश्चात् सम्प्रति उपपद द्वितीया की चर्चा की जा रही है।

(१) उभयतः, सर्वतः, धिक्, उपर्युपरि, अध्यधि, अधोऽधः, अभितः परितः, समया, निकषा, हा, प्रति, अन्तरा, अन्तरेण, एनप् प्रत्ययान्त, पृथक्, विना एवं नाना पदों के योग में सम्बन्ध अर्थ को प्रकट करने के लिए द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—उभयतः कृष्णं, त्वाम् माम् च अन्तरा हरिः, अभितः ग्रामं, रामं विना, ग्रामम् दक्षिणेन इत्यादि। इन सभी उदाहरणों में सम्बन्धिवाचक शब्दों से द्वितीया का विधान हुआ है। इसके अतिरिक्त शिष्ट प्रयोग के आधार पर 'ऋते' पद के योग में भी सम्बन्ध में द्वितीया होती है। पृथक्, विना तथा नाना पदों के योग में उक्त द्वितीया विकल्प से पायी जाती है। इसके अभाव में तृतीया या पञ्चमी विभक्ति होती है। एनप् प्रत्ययान्त के योग में भी द्वितीया विकल्प से होती है तथा इसके अभाव में षष्ठी विभक्ति होती है।[2]

(२) निमित्त के पर्यायवाची शब्दों के योग से सर्वनाम शब्द से द्वितीया विभक्ति विकल्प से होती है। यथा—'किम् निमित्तम्' इत्यादि। इसके अभाव में सभी विभक्तियाँ पायी जाती हैं।

१–'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्'—पा० सू० २।३।६९

२–वार्तिक १४४२, १४४३, १४४४—पा० सू० २।३।४।३१ व ३२

(३) कर्मप्रवचनीय के योग में भी सम्बन्धी के वाचक शब्द से सम्बन्ध अर्थ के अभिधानार्थ द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है। पीछे कर्मप्रवचनीय के अध्ययनक्रम में यह निर्दिष्ट किया गया है कि किस 'प्रादि' की किस अर्थ-विशेष में कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है। उस कर्मप्रवचनीय से जिसका सम्बन्ध होता है, उसमें द्वितीया होती है।[1] इस प्रकार के नव प्रादि शब्द हैं, जिनकी अर्थ-विशेष में कर्मप्रवचनीय संज्ञा एवं उनके योग में द्वितीया होती है।[2] तद्यथा—

(i) 'अनु की लक्षण, तृतीयार्थ, हीन, इत्थंभूताख्यान, भाग एवं वीप्सा अर्थों में कर्मप्रवचनीयसंज्ञा एवं द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—'जपमनु प्रावर्षत्' इत्यादि।

(ii) अधिक और हीन अर्थों में 'उप' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा एवं द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—'उपहरिम् सुराः' इत्यादि।

(iii) लक्षण, इत्थंभूताख्यान, भाग एवं वीप्सा अर्थों में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा एवं द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—'वृक्षम् वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्' इत्यादि।

(iv) लक्षण, इत्थंभूताख्यान, भाग और वीप्सा में एवं विशेष अर्थ का द्योतन न करने पर भी 'परि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा एवं द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—'वृक्षम् परि प्रकाशते सूर्यः' इत्यादि।

(v) लक्षण, इत्थंभूताख्यान एवं वीप्सा अर्थों में 'अभि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा एवं द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—'भक्तो हरिमभि' इत्यादि।

(vi) अर्थविशेष के द्योतनाभाव में भी 'अधि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा एवं द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—'कुतोऽध्यागच्छति' इत्यादि।

१—'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया'—पा० सू० २।३।८

२—१।४।८३, ८४, ८५, ८६, ८६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, व ६५

(vii) पूजा अर्थ में 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा एवं द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—'सुसिक्तम्' इत्यादि।

(viii) अतिक्रमण अर्थ में 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा एवं द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—'अतिदेवान् कृष्णः' इत्यादि।

(ix) पदार्थ सम्भावन, अन्ववसर्ग, गर्हा एवं समुच्चय अर्थों में 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा एवं द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—'सर्पिषोऽपि स्यात्' इत्यादि।

सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार ऊपर विवरण प्रस्तुत किया गया, किन्तु कातन्त्रव्याकरण के अध्येता संग्रामसिंह ने अभि, परि, प्रति, अनु और उप इन्हीं कर्मप्रवचनीयों के योग में द्वितीया का अनुशासन किया है। उनकी कारिका है—

"लक्षणवीप्सेत्थंभूतऽभिर्भागेच परिप्रती।
अनुरेषु सहार्थे च हीने चोपश्च कथ्यते ॥"[१]

कर्मप्रवचनीय के योग में विधीयमान यह द्वितीया भी पद-सापेक्ष होने से उपपद द्वितीया में ही परिगणित की गयी है। इसके अतिरिक्त व्यापकत्व अर्थ में भी द्वितीया विभक्ति देखी जाती है।[२] तद्यथा-काल एवं मार्गवाची शब्दों से अत्यन्तसंयोग अर्थात् व्यापकता अर्थ के बोधनार्थ द्वितीया विभक्ति होती है। यथा–'मासमधीते' इत्यादि उदाहरणों में अध्ययन एवं काल मास का अत्यन्तसंयोग अर्थात् काल की व्यापकता को मास पदोत्तर द्वितीया अभिव्यक्त कर रही है। इस व्यापकता में किंचिदपि न्यूनता होने पर द्वितीया का विधान नहीं होगा।

उपर्युक्त चार बिन्दुओं में उपपद द्वितीया का विवरण प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार द्वितीया विभक्ति के सम्भावित सभी लक्ष्यों को ध्यान में रखकर यहाँ उसके अर्थविज्ञान का संक्षेप से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

१–बालशिक्षा, कारक—प्रक्रम, प्राच्य वि० प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६८, पृ० ३४

२–'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'—पा० सू० २।३।५

अनुबन्ध-प्रयोजन : अम्, औट्, शस् प्रत्ययों का अध्ययन पूर्ण करने से पूर्व औट् और शस् प्रत्ययों में अनुषक्त अनुबन्ध के प्रयोजन पर भी ध्यान दे लेना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। पहले चर्चा आयी है कि हेमचन्द्र, अनुभूतिस्वरूप एवं शर्ववर्मा की परम्परा में 'ट्' अनुबन्ध नहीं प्रचलित है, किन्तु 'श्' अनुबन्ध का प्रयोग वहाँ भी होता है। पाणिनीय परम्परा के अनुसार उक्त दोनों अनुबन्ध आवश्यक हैं। 'ट्' अनुबन्ध द्वितीया द्विवचन प्रत्यय का प्रथमा द्विवचन प्रत्यय से जहाँ भेद इंगित करता है वहाँ पदनिर्माण में सहायक प्रक्रिया में भी उपयोगी सिद्ध होता है।[1] हलन्त, तान्त और नान्त प्रकृतियों में प्रथमा और द्वितीया के क्रमिक ५ रूपों में उपधादीर्घ, नुम् और नलोपादि कार्य समान रूप से देखे जाते हैं। एतदर्थ 'सु' से लेकर औट् के 'ट्' अनुबन्ध तक 'सुट्' प्रत्याहार की परिकल्पना करके इन प्रत्ययों के परे रहते समान कार्यों की व्यवस्था के लिए पाणिनीय सूत्रों में इन पाँचों प्रत्ययों का निर्देश केवल 'सुट्' शब्द से ही किया गया है। एवञ्च प्रथमा से द्वितीया के भेद-बोधन एवं प्रत्याहारार्थ 'ट्' अनुबन्ध की आवश्यकता है। एवमेव शस् में प्रयुक्त 'श्' अनुबन्ध भी जहाँ अपने स्वरूप का व्यावर्तक है वहाँ इसके अभाव में इत्संज्ञाविधायक सूत्र[2] व्यर्थ होगा और रूपविज्ञान की प्रचलित व्यवस्था भंग होगी। अतएव सभी वैयाकरणों ने इस अनुबन्ध का आदर किया है।

यहाँ तक अम्, औट्, शस् प्रत्ययों का पदों में दृष्टिगोचर विविध स्वरूप बताये गये। इनके प्रयोग का लक्ष्य-स्थल भी निर्दिष्ट हुए। तदनन्तर अर्थ-विज्ञान एवं अनुबन्धप्रयोजन के विषय में किंचित् पर्यालोचन प्रस्तुत किया गया है।

तृतीया विभक्ति

टा, भ्याम्, भिस् : ये तीनों प्रत्यय तृतीयाविभक्ति एकवचन, द्विवचन और बहुवचन नाम से प्रतीत हैं। इनमें परस्पर

१—'सुडनपुंसकस्य'—पा० सु० १।१।४२

२—'लशक्वतद्धिते—पा० सू० १।३।८

स्वरूपभेद होने पर भी अर्थ की समानता है, केवल संख्या अर्थ की प्रतीति भिन्न-भिन्न होती है। यथा–'टा' से एकत्वविशिष्ट, 'भ्याम्' से द्वित्वसंख्या-विशिष्ट अर्थ एवं 'भिस्' से बहुत्वसंख्या विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति होती है । इसके अतिरिक्त ये तीनों प्रत्यय अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से समान हैं। इनके स्वरूप के विषय में सभी वैयाकरण एकमत हैं। इनमें से भ्याम् और भिस् में कोई अनुबन्ध नहीं है। केवल 'टा' प्रत्यय में 'ट्' अनुबन्ध है । आगे की पंक्तियों में इनके प्राप्यमाण विविध स्वरूप अर्थ-विज्ञान एवं अनुबन्ध प्रयोजन आदि विषयों पर चर्चा की जायेगी।

विविधरूपः—टा (आ) :—यह प्रत्यय ५ रूपों में पाया जाता है,[1] जिनका विवरण क्रमशः निम्नलिखित है :

(१) अकारान्त प्रकृति से विहित होने पर इसका रूप 'इन' हो जाता है । तदनन्तर प्रकृति का चरम वर्ण 'अ' और प्रत्ययांश 'इ' मिलकर गुणी भाव में परिर्वातित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति में 'र्' या 'ष्' वर्ण की स्थिति होने पर उससे पर में विद्यमान प्रत्ययांश 'न' को 'ण' हो जाता है। किन्तु 'र्' या 'ष्' के तत्काल पर में प्रययांश 'न्' की स्थिति होनी चाहिए। यदि मध्य में वर्णों का व्यवधान हो तो केवल स्वर, ह, य, व, र, कवर्ग, पवर्ग, आ और न् इन्हीं वर्णों का हो, अन्यथा उक्त णत्वविधि नहीं होगी। णत्वविधि का यह नियम सर्वत्र इसी रूप में समझना चाहिए। जिस 'न' को णत्व करना है, उसे प्रत्यय या प्रत्यय का अवयव होना भी अनिवार्य है। यथा—रामेण, बालेन और रामनाम इत्यादि उदाहरणों में तीनों स्थितियाँ अवधेय हैं।

(२) स्त्रीलिंग एवं सखि और पति शब्दों से भिन्न इकरान्त व उकारान्त प्रकृति से विहित होने पर इसे 'ना' अदेश हो जाता है। पूर्वोक्त स्थिति में इसको णत्व भी होता है। यथा—हरिणा, कविना, भानुना, प्रभुणा, सख्या, पत्या इत्यादि।

१—पा० सू० ७।१।१२, ८।४।२ व ७।३।१२१

(३) अकारान्त अव्ययीभाव से विहित होने पर इसको विकल्प से 'अम्' आदेश होता है। इसके अभाव में पूर्वोक्त 'इन' रूप ही रहता है। यथा—उपनगरम्, उपनगरेण इत्यादि।

(४) अव्यय एवं एकार्थीभाव में इसका लोप होता है। यथा—कदा, सदा, शङ्कुलाखण्डः इत्यादि।

(५) अवशिष्ट स्वरान्त एवं व्यञ्जनान्त प्रकृतियों से विहित होने पर यह अपने 'आ' रूप में ही वर्तमान रहता है। किन्तु इकरान्त-ईकारान्त, उकारान्त-ऊकारान्त तथा ऋकारान्त प्रकृतियों के अन्तिम वर्ण को यण् आदेश एवं आकारान्त प्रकृति का अन्तिम वर्ण धात्ववयव होने पर उसका लोप हो जाता है। इसके अतिरिक्त ए, ऐ, ओ, औ वर्णान्त प्रकृतियों में अयादि आदेश होता है वहाँ इ, ई, उ, ऊ, वर्णान्त प्रकृति का अन्तिम वर्ण धात्ववयव होने पर, उसमें एवं 'भ्रू शब्द में यण् न होकर 'य्' और व् आगम हो जाते हैं, किन्तु उक्त आगम धात्ववयव संयोग से रहित अनेकाच्प्रकृति में ही होते हैं। हलन्त प्रकृतियों में कोई परिवर्तन नहीं होता। केवल प्रत्ययस्वरूप का सम्मेलन हो जाता है। यथा—नद्या, वध्वा, विश्वपा, हाहा, सुधिया, दृषदा इत्यादि।

(२) भ्याम् :- यह प्रत्यय सर्वत्र अपने स्वरूप में ही उपलब्ध होता है। इसके प्रयोग से प्रकृति में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता। केवला अकारान्त प्रकृति के चरम वर्ण को दीर्घ हो जाता है[1], अन्यत्र प्रकृति अपने स्वरूप में ही स्थित रहती है, किन्तु प्रकृति में जश्त्व संधि एवं नलोपादि पदत्व कार्य यथाप्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त अकारान्त अव्ययीभाव से विहित होने पर इसका विकल्प से अम् रूप हो जाता है। इसके अभाव में 'भ्याम्' रूप ही रहता है। अव्यय एवं एकार्थीभाव में इसका सर्वथा लोप हो जाता है। यथा—रामाभ्याम्, हरिभ्याम्, राजभ्याम्, लिड्भ्याम्, कुठाराभ्याम् छेदः इति कुठारच्छेदः इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(३) भिस् :—इस प्रत्यय के स्वरूप में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता। केवल पुँल्लिंग अकारान्त प्रकृति से विहित होने पर

१—'सुपि च'—पा० सू० ७।३।१०२

इसे 'ऐस्' आदेश हो जाता है।[1] तदनन्तर प्रकृति में वृद्धि एवं 'स्' को विसर्ग होते हैं। यथा—रामैः। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकृतियों से विहित होने पर यह स्वस्वरूप में ही अवस्थित रहता है तथा इसके 'स्' को यथाप्राप्त विसर्ग आदि होते हैं। यथा—हरिभिः, दृषद्भिः धुड्भिः इत्यादि। भ्याम् की भाँति इसके भी सम्प्रयोग से प्रकृति में जश्त्व एवं नलोपादि पदत्वकार्य पाये जाते हैं।[2] इसके अतिरिक्त अकारान्त अव्ययीभाव में वैकल्पिक 'अम्' आदेश एवं अव्यय तथा एकार्थीभाव में लोप होते हैं। यथा—अनुवनम्,-अनुवनैः, दात्रैः लवनम् इति दात्रलवनम् इत्यादि।

इस प्रकार उक्त तीनों प्रत्ययों के उपलब्ध सभी स्वरूपों का दिग्दर्शन कराया गया तथा उनके संयोग से प्रकृति के स्वरूप में होने वाले परिवर्तन का भी आलोचन उपस्थित किया गया। आगे की पंक्तियों में इनके अर्थ-विज्ञान का अध्ययन किया जायेगा। जैसा कि कहा गया है, इन तीनों प्रत्ययों को तृतीया विभक्ति शब्द से व्यपदिष्ट किया जाता है। यह तृतीया विभक्ति जहाँ क्रियासम्बन्धि-कारक अर्थ को अभिव्यक्त करने के कारण कारक तृतीया कही जाती है, वहाँ पद-विशेष के सन्निधान में सम्बन्धादि अर्थ-विशेष के द्योतन के कारण उपपद तृतीया भी कहलाती है। एवंच कारकतृतीया एवं उपपदतृतीया इन दो रूपों में इसके अर्थ व समग्र लक्ष्यों को यहाँ क्रोडीकृत करने का प्रयास किया जयेगा।

तृतीयार्थ :—प्रथमा विभक्ति के अध्ययन प्रसंग में स्पष्ट किया गया है कि प्रत्यय एवं समास के द्वारा कारकों की उक्तावस्था में तदर्थप्रतिपादक प्रातिपदिक से प्रथमाविभक्ति होती है। अतः कारकों के अनुक्त रहने पर ही द्वितीयादि तत्तत् विभक्तियाँ उसे अभिहित करती हैं। उनमें तृतीया विभक्ति अनुक्त कर्त्ता एवं अनुक्तकरण अर्थों में विहित होती है। तद्यथा 'कर्तृ करणयोस्तृतीया' (पा० सू० २।३।१८) इसमें सभी वैयाकरण एक मत हैं कि तृतीया विभक्ति कर्त्ताकारक और करणकारक अर्थ को प्रगट करती है।

१—'अतो भिस ऐस्'—पा० सू० ७।१।६

२—'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने'—पा० सू० १।४।१७ एवं ८।२।७ इत्यादि

कर्तृकारक :—कर्त्ता कारक के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने कहा है :—'धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते'[1] अर्थात् जिस कारक की क्रिया धातु से उक्त हो, वह कर्तृकारक है। यह कारकचक्र का प्रयोक्ता होने से प्रधान होता है, अतएव इसे स्वतन्त्र कहा गया है। वाक्य में उपात्त प्रधानीभूत धात्वर्थ—व्यापार का आश्रय होना ही इसका स्वातन्त्र्य है। यह कहा गया है कि प्रत्येक धातु के फल और व्यापार दो अर्थ होते हैं। इसमें से जहाँ फलाश्रय को कर्म कहा गया है, वहीं व्यापाराश्रय को कर्त्ता समझना चाहिए। चूँकि फल और व्यापार अर्थ धातु से कथित हो जाते हैं, अतः अवशिष्ट अर्थ 'आश्रय' ही तृतीयार्थ स्थित होता है, चूँकि वाक्य में क्रिया प्रधान होती है, अतः उसके प्रधान अर्थ का आश्रय होने से यह प्रधान कारक एवं स्वतन्त्र रूप में सभी वैयाकरणों से व्याख्यात है।[2] इसके विपरीत नैयायिक कृत्याश्रय को कर्त्ता कहते हैं, किन्तु कृति केवल चेतन-निष्ठ होती है, अतः 'दण्डः करोति' इत्यादि उदाहरणों में अचेतन दण्डादि में कर्तृलक्षण की अव्याप्ति होगी। अतः वैयाकरणों ने अपने लक्षण में कृति का सन्निवेश नहीं किया है। एवंच धातु जब जिस कारक के व्यापार को अभिहित करती है तब वह कारक कर्त्ता होता है, यही लक्षण सर्वथा उचित है। अतएव पाक-क्रिया जब चैत्र के व्यापार को अभिहित करेगी तब 'चैत्रः पचति', जब स्थाली के व्यापार को कहेगी तब 'स्थाली पचति' एवं जब काष्ठ के व्यापार को अभिहित करेगी तब 'काष्ठः पचति' इत्यादि वाक्यों में स्थाली एवं काष्ठ भी कर्त्ता होते हैं। अतएव यह कहा गया है कि कारक विवक्षाधीन होते हैं अर्थात् जब जिस कारक की जिस रूप में विवक्षा होगी तब वह उस कारक के रूप में परिवर्तित हो जायेगा। जैसे—उक्त उदाहरण वाक्यों में कर्तृत्वेन विवक्षा होने पर स्थाली एवं काष्ठ जहाँ कर्त्ता हो गये हैं, वहीं करण एवं अधिकरण रूप से विवक्षा करने पर 'स्थाल्याम्' व 'काष्ठैः' इत्यादि करण एवं अधिकरण कारक हो जाते हैं।

१—वाक्यपदीय, काण्ड ३, साधनसमुद्देश

२—'स्वतन्त्रः कर्त्ता'—पा० सू० १।४।५४, 'स्वतन्त्रः कर्त्ता'—हैम० २।२।२, 'कर्त्तरि प्रधाने क्रियाश्रये साधने च'—'सारस्वत व्याकरण, कारकप्रक्रिया

उपर्युक्त लक्षणों से उपहित कर्त्ता को तीन भागों में विभक्ति किया जा सकता है। शुद्ध, प्रयोजक हेतु एवं कर्मकर्त्ता। मूल धातु के प्रधान अर्थ व्यापार के आश्रय को शुद्ध कर्त्ता कहते हैं। यथा—'मया सेव्यते हरिः, 'देवदत्तः पचति' इत्यादि। प्रयोजक-हेतु कर्त्ता वह कहलाता है, जो प्रेरणार्थक ण्यन्त धातु के प्रधान व्यापार का आश्रय होता है,यथा—'कार्यते हरिणा' देवदत्तः यज्ञदत्तेन पाचयति' इत्यादि। किन्तु इसी स्थिति में प्रयोज्यकर्त्ता की गत्यर्थक आदि पूर्वनिर्दिष्ट धातुओं के समभिव्याहार में जब कर्म संज्ञा होती है, तब उसे कर्मकर्त्ता कहते हैं। इसी प्रकार जब कर्मादि की कर्तृ रूप में विवक्षा होती है, तब भी वह कर्मकर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध है। वैसे भूषणकार ने उसे शुद्धकर्त्ता के रूप में ही परिगणित किया है।[1] सारस्वत व्याकरण की प्रसाद टीका में कर्त्ता के स्वतन्त्र और प्रयोजक दो भेद किये गये हैं। स्वतन्त्र के भी अभिहित और अनभिहित दो उपभेद हो जाते हैं। वहाँ प्रयोजक कर्त्ता के प्रेषक, अध्येषक और आनुकूल्यभागी ये तीन उपभेद प्रदर्शित हैं।[2] छोटे व्यक्ति को प्रेरणा देने वाला प्रेषक होता है। यथा—गुरुः शिष्येण कारयति इत्यादि। प्रेरक जब छोटा होता है, तब वह अध्येषक शब्द से व्यपदिष्ट होता है। इसके अतिरिक्त उत्कृष्ट या अपकृष्ट भावना से रहित होकर मात्र अनुकूलता से प्रेरित करने वाला आनुकूल्यभागी कर्त्ता कहलाता है। एवंच उपर्युक्त त्रिविध कर्त्ता को ५ भेदों में विभक्त करके भी देखा जा सकता है।

वैकल्पिक स्थिति :—उपरि प्रतिपादित समग्र अनुक्तकर्त्ता अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है। सम्प्रति कतिपय स्थितियाँ प्रदर्शित की जा रही हैं, जिनमें कर्त्ता अर्थ को व्यक्त करने के लिए विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है।

(१) कृत् प्रत्यय के संयोग से धातु जिस क्रिया को बोधित करती है, उसके फलाश्रय कर्म और व्यापाराश्रय कर्त्ता दोनों में षष्ठी

१—द्रष्टव्य—वैया० भू० सार, सुबर्थ० चौखम्भा, वाराणसी, १९६९, पृ० १९६

२—सारस्वतव्याकरणप्रसाद, कारक, चौखम्भा, वाराणसी, १९६७, पृ० २१४

विभक्ति प्राप्त होती है, किन्तु ऐसी स्थिति में 'अक' एवं 'अ' प्रत्यय से भिन्न कृत् प्रत्यय का संयोग होने पर कर्त्ता में विकल्प से तृतीया होती है।[1] इसके अभाव पक्ष में षष्ठी विभक्ति होती है। यथा—'जगतः कृतिः हरिणा हरेर्वा' इत्यादि।

(२) द्वितीया विभक्ति के प्रतिपादन में यह कहा गया है कि हृ, कृ एवं आत्मनेपदी अभिवादि तथा दृश् धातु के प्रयोज्य कर्त्ता की विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है। इसके अभाव पक्ष में विकल्प से तृतीया भी होगी।[2] यथा—'हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम्, अभिवादयते दर्शयते वा देवं भक्तेन' इत्यादि।

इन दो परिस्थितियों के अतिरिक्त यह भी अवधेय है कि गत्यर्थक धातुओं के प्रयोज्यकर्त्ता की कर्मसंज्ञा का विधान अनुशिष्ट होने पर भी 'नी' एवं 'वह्' धातु के प्रयोज्यकर्त्ता की, भोजनार्थक धातुओं के प्रयोज्यकर्त्ता की कर्मसंज्ञा का अनुशासन होने पर भी अहिंसार्थक 'भक्ष' 'आदि' एवं 'खादि' धातुओं के प्रयोज्यकर्त्ता की तथा शब्द-कर्मक धातुओं के प्रयोज्यकर्त्ता की कर्मसंज्ञा का विधान अनुशिष्ट होने पर भी 'शब्दाय' धातु के प्रयोज्य कर्त्ता की नित्य कर्मसंज्ञा नहीं होती है। फलतः उक्त स्थितियों के कर्त्ता के अनुक्त होने के कारण इनमें तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है।[3] यथा—'नाययति वाहयति व भारं भृत्येन' 'आदयति खादयति भक्षयति वा अन्नं वटुना' 'शब्दाययति देवेन' इत्यादि।

अनेकार्थ :—कर्तृ तृतीया के अध्ययन के पश्चात् कर्म में विकल्प से जायमान तृतीया का उल्लेख भी स्मरणीय है। ऐसी कुल दो धातुएँ हैं जिनके कर्म में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती हैं।[4] पहली सम्पूर्वक ज्ञा धातु, जिसका अर्थ है सम्यक् ज्ञान और दूसरी दिवादिगण की प्रथम दिव् धातु। यथा—'पित्रा पितरं वा संजानीयते' 'अक्षैः आक्षान् वा दीव्यति' इत्यादि। द्वितीया विभक्ति के प्रकरण में यह प्रोक्त है कि काल एवं मार्ग से क्रिया की व्यापकता होने पर उसमें द्वितीया

१—पा० सू० २।३।६५, ६६ व वार्तिक १५१३ २—पा० सू० १।४।५३
३—वार्तिक ११०६, ११०५ ४—पा० सू० २।३।२२, १।४।४३

विभक्ति होती है, किन्तु जिस फल की प्राप्ति के लिए क्रिया का व्यापन किया जाता है, यदि उस फल की प्राप्ति द्योतित करनी है तो उस काल एवं मार्गवाची शब्दों से द्वितीया का प्रयोग न कर, तृतीया-विभक्ति का प्रयोग किया जाता है।[1] एवंच तृतीयाविभक्ति क्रिया के फल की सिद्धि को प्रकट करने के लिए भी विहित होती है। यथा—'अह्ना अनुवाकोऽधीतः' इत्यादि उदाहरणों में तृतीया अध्ययन की सिद्धि को भी प्रकट कर रही है। यहीं पर यदि दिन भर के अध्ययन के पश्चात् भी फल की सिद्धि नहीं हुई, अर्थात् अनुवाक का ज्ञान नहीं हो सका, तब उस स्थिति में व्यापकता को द्योतित करने के लिए द्वितीयाविभक्ति का ही प्रयोग किया जयेगा। इसके अतिरिक्त सम्प्रदान की अशिष्टाचारिता गम्य होने पर चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में तृतीया विभक्ति का विधान होता है।[2] यह तृतीया ही उस अशिष्टाचारिता को प्रगट करती है। नक्षत्रवाची शब्दों से 'युक्तः कालः इस अर्थ में विहित प्रत्यय का लोप हो जाने पर अवशिष्ट नक्षत्र-वाचक प्रकृति मात्र से अधिकरण कारक को अभिव्यक्त करने के लिए तृतीया एवं सप्तमी विभक्तियाँ विकल्प से होती हैं।[3] यथा—'मूलेन मूले वा आवाहयेत् देवीम्' इत्यादि।

करण :—कर्त्ता, कर्म, सम्प्रदान एवं अधिकरण कारकों में विहित होने वाली तृतीयाविभक्ति क्रिया की सिद्धि में अतिशय सहायक करणकारक अर्थ को भी अभिहित करती है। करणकारक के स्वरूप की व्याख्या महर्षि पाणिनि के अनुसार हेमचन्द्र ने 'साधकतम शब्द से[4] अनुभूतिस्वरूप ने क्रियासिध्युपकारक' शब्द से एवं शर्ववर्मा ने 'येन क्रियते तत् शब्द से[5] प्रस्तुत की है। नैयायिकों ने असाधारण कारण को करण की संज्ञा दी है,[6] जो क्रिया के जनक मात्र में वर्तमानव्यापारवान् धर्म है। व्यापार का लक्षण 'तज्जन्यत्वे सतितज्जन्यजनकत्वम्'[7] इस

१—पा० सू० २।३।६ २—वार्तिक ५०४० ३—पा० सू० २।३।४५

४—'साधकतमं करणम्'—पा० सू० १ ४।४२; साधकतमं करम्—हेम० २।२।२४

५—का० २।४।१२

६—'असाधारणं कारणं करम्'—तर्कसंग्रह, पृ० ५२, भार्गव पुस्तकालय, बनारस

७—तर्कसंग्रहप्रतिबिम्ब, वहीं

रूप में किया गया है। यथा—'वाणेन हतः' इत्यादि उदाहरणों में सव्यापार वाण हननक्रिया की सिद्धि में अत्यन्त सहायक रूप में विवक्षित होने से करण कारक है, क्योंकि वाण का लक्ष्यस्थानपर्यन्त गमनादि व्यापार वाण से जन्य होने के साथ-साथ वाण से जन्य 'हनन' क्रिया का जनक भी है। एवंच कर्त्ता अपनी क्रिया की सिद्धि के लिए अत्यन्त सहायक जिस व्यापारवान् अर्थ का उपादान करता है, वह क्रिया का अत्यन्त सहायक अर्थ करण कारक शब्द से व्यवहृत होता है। भर्तृहरि के शब्दों में इसका स्वरूप निम्नलिखित प्रकार है :

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद् व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम्।।
वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तु व्यवस्थितम्।
स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः।।[1]

किसी निश्चित जाति की किसी वस्तु को 'यही करण है' इस प्रकार निश्चयाकार में निरूपित नहीं किया जा सकता; क्योंकि कोई वस्तु नियतरूप में करण नहीं है। अधिकरणरूप में प्रख्यात स्थाली भी पतली होने से पाकक्रिया में अत्यन्त सहायक होने के कारण करणकारक रूप में विवक्षित होकर 'स्थाल्या पच्यते' इत्यादि उदाहरणों में करणरूप में व्यवहृत हो सकती है।

करण व हेतु : यहीं पर करण और हेतु शब्दों के अर्थों के भेद को जान लेना भी प्रासंगिक होगा; क्योंकि तृतीयाविभक्ति करण और हेतु इन दोनों अर्थों को प्रगट करती है। करण का स्वरूप जैसा की प्रोक्त है, केवल क्रिया के जनक में रहने वाला व्यापारवान् धर्म है, जबकि हेतु उसका व्यापक धर्म है। क्योंकि वह केवल क्रिया का साधक न हो कर द्रव्य, गुण और क्रिया इन तीनों अर्थों का साधक है।[2] उसमें व्यापार रह भी सकता है और नहीं भी। यथा—दण्डेन घटः समुत्पन्नः

१–वाक्यपदीय, काण्ड ३, साधनसमुद्देश ९०।९१

२–'द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम्। करणत्वं तु क्रियामात्र-विषयं व्यापारनियतं च'—सिद्धान्तकौमुदी, कारक, सू० ५६८

इत्यादि उदाहरणों में दण्ड व्यापारवान् होने पर भी क्रिया का जनक न होकर घटरूप द्रव्य का जनक होने से वह करणकारक नहीं है, अपितु हेतु है। किन्तु 'दण्डेन जनयति घटं' इत्यादि उदाहरणों में वही दण्ड अपने व्यापार से जनि-क्रिया में अत्यन्त सहायक होने से करण-कारक कहा जयेगा। एवंच करण और हेतु इन दोनों अर्थों के बोधन के लिए तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया जा सकता है।

ऊपर करणकारक में नित्य विधीयमान तृतीयाविभक्ति की चर्चा की गयी, किन्तु दो स्थितियों में तृतीयाविभक्ति विकल्प से करणकारक की वाचिका होती है[१] :

१—जब लिंग व संख्या से रहित और द्रव्य अर्थ में विद्यमान 'स्तोक, अल्प, कृच्छ् एवं कतिपय शब्दों के अर्थों की करण रूप में विवक्षा होती है, तब विकल्प से तृतीयाविभक्ति होती है। यथा—'स्तोकेन स्तोकाद् वा बद्धः' इत्यादि।

२—परि उपसर्गक 'क्री' धातु के साधकतम करण में भी विकल्प से तृतीया एवं चतुर्थी विभक्तियाँ होती हैं। यथा – 'शतेन शताय वा परिक्रीतः' इत्यादि।

ऊपर करण से हेतु का भेद प्रतिपादित करते हुए उसमें तृतीया विभक्ति का विधान बताया गया। यदि वाक्य में क्रिया का प्रयोग न हो तब उस स्थित में प्रतीयमान क्रिया के प्रयोजक हेतु में भी तृतीया विभक्ति होती है।[२] यथा—'अलं श्रमेण' इत्यादि उदाहरण वाक्यों में 'अलं निपात से 'साध्यं नास्ति' इस क्रिया की प्रतीति होती है। इस प्रतीयमान साध्यक्रिया में 'श्रम' की प्रयोजकता ही हेतुता अथवा करणता है। अतः यहाँ प्रयोजकता में तृतीया विभक्ति हुई है। इसके अतिरिक्त निमित्त के पर्यायवाची शब्दों में सभी विभक्तियों के साथ तृतीया भी प्रयुक्त होती है। यथा–'केन कारणेन', 'केन हेतुना' इत्यादि।

१—पा० सू० २।३।३३ व १।४।४४

२—'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका'—सिद्धान्तकौमुदी, कारक, सू० ५६८

उपपदतृतीया :—यहाँ तक करणतृतीया के अर्थों का पर्यालोचन किया गया। अधुना पदविशेष के सन्निधान से विधीयमान उपपद तृतीया के अर्थ एवं लक्ष्यस्थलों का अध्ययन किया जायेगा। तद्यथा—

(१) अर्थविशेष के लक्षणवाची शब्दों से तृतीयाविभक्ति होती है। यह लक्षण अंग हो या तदितर पदार्थ, उनकी लक्षकता को तृतीया-विभक्ति अभिव्यक्त करती है। जैसे—कमण्डलुना छात्रः, अक्ष्णा काणः इत्यादि। उक्त उदाहरणों में छात्रत्व एवं अंगी के विकार काणत्व को कमण्डलु एवं अक्षि लक्षित करते हैं। अतएव चन्द्रगोमी ने उक्त दोनों ही स्थलों को एक ही लक्षण से प्रतिपादित किया है।[1] जबकि एतदर्थ महर्षि पाणिनि के दो सूत्र हैं।[2]

(२) स्वभाववाचक शब्द, प्राय, गोत्र, सम, विषम, द्विद्रोण, पंचक सहस्र, नाम, जाति, जनुष्, पुम्, आत्मन्, न्यक्ष, कात्स्न्र्य आदि क्रिया-विशेष, सुख एवं दुःख आदि शब्दों से सम्बन्ध, गम्यमानक्रिया की प्रयोजकता, क्रियाविशेषण एवं वीप्साकर्म इत्यादि अर्थों को प्रकट करने के लिए इस विभक्ति का विधान किया जाता है। यथा—'प्रकृत्या चारु, नाम्ना नीलकण्ठः, समेन धावति' इत्यादि। यदि उक्त उदाहरणों में सम्बन्धमात्र विवक्षित हो, तब यह उपपद तृतीया कही जायेगी, अन्यथा करणत्वादि कारको की विवक्षा में यह कारक तृतीया ही होगी।[3]

(३) सहार्थ से जिसका सम्बन्ध होगा, उससे भी तृतीयाविभक्ति होती है। यथा—'पुत्रेण सह गच्छति' इत्यादि।[4]

(४) पृथक्, विना, नाना एवं ऋते शब्दों के योग में भी विकल्प से सम्बन्धीवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। इसके अभाव में द्वितीया एवं पंचमी विभक्तियाँ होती हैं।[5] यथा—'रामेण विना' इत्यादि।

१—'लक्षणे वर्तमानात् तृतीया स्यात्'—चान्द्रव्याकरण, अध्याय २, पाद १।६६
२—'येनांगविकारः' 'इत्थंभूतलक्षणे'—पा० सू० २।३।२० व २१
३—'प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्—वार्तिक १४६६
४—पा०सू० २।३।१९ ५—पा० सू० २।३।३२

(५) अद्रव्यवाची दूर एवं अन्तिकार्थक शब्दों से विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है।[1] इसके अभाव में द्वितीया और पंचमी होती हैं। यथा–ग्रामस्य दूरेण दूरात् दूरं वा'।

(६) तुल्यार्थक, प्रसित एवं उत्सुक से जिसका सम्बन्ध होता है, उसमें तृतीयाविभक्ति विकल्प से होती है। इसके अभाव में तुल्यार्थ-योग में विकल्प से षष्ठी एवं अन्यत्र सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। यथा—'कृष्णेन कृष्णस्य वा तुल्यः, हरिणा हरौ वा प्रसितः' इत्यादि। किन्तु तुला एवं उपमा शब्दों से सम्बन्ध होने पर तृतीया विभक्ति नहीं होती है।[2]

अनुबन्ध-फल : इस प्रकार छः विन्दुओं में उपपद तृतीया के उन समग्र अर्थों को सोदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, जो कि पाणिनीय परम्परा के साथ-साथ कातन्त्र, सारस्वत, चान्द्र एवं हैमव्याकरण ग्रन्थों में व्याख्यात है। अब अनुबन्ध प्रयोजन के प्रकरण में स्मरणीय है कि इस विभक्ति के भ्याम् और भिस् प्रत्ययों में कोई अनुबन्ध नहीं है, किन्तु 'टा' प्रत्यय में अनुबद्ध 'ट्' अनुबन्ध के प्रयोजन में भट्टोजिदीक्षित[3] ने कहा है—'टाटकारस्तु' 'टाङसि०' (पा० सू० ७।१।१२) इति विशेषणार्थः' अर्थात् स्वरूप की स्पष्ट प्रतिपत्ति कराने के अतिरिक्त मुखसुखार्थ 'ट्' अनुबन्ध सूत्रार्थ में सहायक होता है और प्रक्रिया का निर्वाहक है। प्राचीनों ने टा प्रत्यय को 'आङ्' के रूप में स्वीकार किया है,[4] जिसे महर्षि पाणिनि 'आङ्' निपात से भिन्न करने के लिए इस प्रत्यय में 'ङ' की अपेक्षा मुखसुखार्थ 'ट्' अनुबन्ध लगाना समधिक संगत समझा।

यहाँ तक प्रकृति-विशेष के सन्निधान से तृतीया के उक्त प्रत्ययों के जायमान विविध रूपों व अर्थ-विज्ञान के अध्ययन क्रम में कर्त्ता

१—पा० सू० २।३।३५ २—पा० सू० २।३।२७

३—प्रौढमनोरमा, अजन्तपुंल्लिग, पृ० २१६, चौखम्बा, सं० १९९०

४—'आङि चापः'—पा० सू० ७।३।१०५; 'आङिति टासंज्ञा प्राचाम्'—सिद्धान्त कौमुदी बाल-मनोरमा, वहीं

एवं करण कारक के लक्षण और भेदोपभेद, करण की व्याप्यता तथा हेतु की व्यापकता, इनकी वैकल्पिक विधियों एवं पदविशेष के संयोग से भविष्णु अनेक अर्थसंकोच और अर्थ विस्तार का सोदाहरण कथन किया गया है ।

चतुर्थी विभक्ति

ङे, भ्याम्, भ्यस् : चतुर्थी विभक्ति एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन नामों से प्रचलित इन तीनों प्रत्ययों में भेद मात्र संख्यागत है । एकत्वविशिष्ट अर्थ की विवक्षा में प्रकृति से पर में 'ङे' प्रत्यय का सम्प्रयोग होता है तो द्वित्व एवं बहुत्व संख्या विशिष्ट उसी अर्थ में इतर दो प्रत्ययों का । संस्कृत के सभी वैयाकरण इन प्रत्ययों के इन स्वरूपों से सहमत हैं ।[1] प्रकृतिविशेष के संयोग से जायमान इनके स्वरूपगत भेद को अवलोकित कर लेने के अनन्तर इनके अर्थ-विज्ञान एवं अनुबन्ध के प्रयोजन पर भी विचार करेंगे ।

विविध रूप :—'ङे' (ए) इसके रूपपरिवर्तन को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता :[2]

(१) अकारान्त प्रकृति से विहित होने पर इसका स्वरूप 'य' हो जाता है तथा ऐसी स्थिति में पूर्वस्वर को दीर्घ होता है । यथा—रामाय, ज्ञानाय इत्यादि ।

(२) किन्तु अकारान्त सर्वनाम से विहित होने पर यह 'स्मै' रूप में परिवर्तित हो जाता है । यथा-सर्वस्मै, इतरस्मै इत्यादि ।

(३) स्त्रीलिंग में 'टाप् होने से सभी सर्वनाम प्रकृतियाँ आराकान्त हो जाती हैं, उनसे विहित होने पर इसको 'स्यै' आदेश हो जाता है । उपर्युक्त 'स्मै' एवं 'स्यै' प्रत्ययरूप 'द्वितीय' और तृतीय' प्रातिपदिक

१—का० २।१।२४; चा० २।१।१; हैम० १।१।१८; सार० स्वरान्त पुँल्लिग ३

२—द्रष्टव्य–पा सू०–७।१।१३, ७।३।१०२, ७।१।१४, ७।३।१४, ७।३।११३, ११४; ७।३।११२, ६।१।६०, ७।१।२८, ६।४।८२, ६।४।८५, ७।३।१११, १।४।८ तथा वार्तिक २४२, १०३६ व ५०३४

से विकल्प से होते हैं। अभाव पक्ष में 'य' अथवा 'यै' स्वरूप हो जाता है। द्वितीय एवं तृतीय से जहाँ 'य' रूप का प्रयोग होता है तो द्वितीया, तृतीया से 'यै' रूप। यथा—'सर्वस्यै, द्वितीयस्यै द्वितीयायै' इत्यादि।

(४) स्त्रीलिंग आकारान्त से विहित होने पर इसका रूप 'यै' होता है। यथा—रमायै, विद्यायै इत्यादि।

(५) युष्मद् अस्मद् एवं अकारान्त अव्ययीभाव में शब्दों के पर में यह 'अम्' रूप में देखा जाता है। यथा—तुभ्यम् मह्यम्, अनुकनखलम् इत्यादि।

(६) एकार्थीभाव एवं अव्यय में विभक्ति प्रत्ययों की स्थिति ही नहीं रहती है।

(७) स्त्रीलिंग ई, ऊ स्वरान्त प्रकृतियों से विहित होने पर यह प्रत्यय 'ऐ' रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा इसके सन्निधान से प्रकृति में यणसन्धि होती है। यथा—नद्यै, वध्वै इत्यादि। स्त्रीलिंग इ-उ स्वरान्त से भी प्रत्यय का उक्त रूप विकल्प से रहता है। यथा—मत्यै, विश्वै इत्यादि। इसके अभावपक्ष में पुँल्लिगवत् प्रत्यय रूप 'ए' ही रहता है। इसके अतिरिक्त इ, ई, उ, ऊ स्वरान्त प्रकृतियों के चरमस्वर यदि धातु के अवयव हों तथा इ, ई से पूर्व धातु के अवयव का संयोग न हो एवं अंग अनेकाच् हो तो उससे भी पर में और 'भ्रू' शब्द से भी पर में प्रत्यय अपने पर में 'ए' रूप में ही रहता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति का अन्तिम स्वर अपने ह्रस्व रूप में परिवर्तित हो जाता है एवं इ, ई वर्णान्तप्रकृतियों से 'य्' तथा उ, ऊ वर्णान्तप्रकृतियों से 'व्' का आगम हो जाता है। यथा—सुधिये,भ्रुवे इत्यादि।

(८) अवशिष्ट स्वरान्त एवं व्यंजनान्त प्रकृतियों के पर में यह प्रत्यय अपने 'ए' स्वरूप में ही विद्यमान रहता है। तथाहि—सखि, पति भिन्न पुँल्लिंग इ, उ स्वरान्त प्रकृति से पर में 'ए' रहने पर प्रकृति के चरम वर्ण को गुणीभाव एवं अयादि आदेश होते हैं। यथा—हरये, भानवे इत्यादि। सखि एवं पति शब्दों में और पुँल्लिग ई, ऊ स्वरान्त प्रकृतियों में इसके सन्निधान से यणादेश होता है। यथा—सख्ये, पत्ये, पप्ये इत्यादि। स्त्रीलिंग इ, उ स्वरान्त प्रकृतियों में भी गुणीभाव एवं अयादि आदेश होते हैं। समास से सम्पन्न ऐसा पुँल्लिग शब्द जो

समास से पूर्व स्त्रीलिंग में वर्तमान हो उससे पर में प्रत्यय 'ऐ' रूप में परिवर्तित हो जाता है और प्रकृति में यण्सन्धि होती है। यथा—बहुश्रेयस्यै इत्यादि। ऋ ॠ एवं लृ स्वरान्त प्रकृति से भी प्रत्ययरूप 'ए' ही रहता है तथा प्रकृति में यण् होता है। यथा—भ्रात्रे इत्यादि। प्रकृति के अन्तिम स्वर के ए, ऐ, ओ, औ, होने पर उसमें अयादि सन्धि होती है। यथा--गवे, राये इत्यादि। नपुंसक लिंग इ, उ स्वरान्त प्रकृतियों में प्रत्यय से पूर्व 'न' का आगम हो जाता है। यथा—सुधिने, दध्ने, मधुने इत्यादि। हलन्त प्रकृतियों में प्रत्ययसंयोग से कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता। केवल नान्त शब्दों के अन्तिम स्वर का लोप होता है। यथा—सरिते राज्ञे इत्यादि।

एवंच इस प्रत्यय को उक्त ८ रूपों में देखा जा सकता है। इनके प्रकृति-विशेष एवं इनके संयोग से प्रकृति में होने वाले कुछ परिवर्तनों को उपर्युक्त विन्दुओं में दिखाया गया है।

(२) **भ्याम्** :—चतुर्थी द्विवचन नाम से प्रसिद्ध इस प्रत्यय के रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता है। केवल प्रकृतिगत सामान्य परिवर्तन होते हैं जिनका दिग्दर्शन तृतीया विभक्ति के क्रम में प्रस्तुत किया गया है। 'भ्याम्' प्रत्यय से इसका भेद केवल अर्थगत है, जो पदान्तर के सन्निधान में प्रसंगवशात् स्वतः व्यक्त होता है। एवंच उससे इसके स्वरूप एवं प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है।

(३) **भ्यस्** :—इस प्रत्यय को चतुर्थी विभक्ति बहुवचन कहते हैं। इसमें कोई अनुबन्ध नहीं है। इसके स्वरूप में भी कोई परिवर्तन नहीं होता। केवल युष्मद्, अस्मद् शब्द से पर में विहित होने पर यह 'भ्यम्' रूप में देखा जाता है।[1] यथा--युष्मभ्यम् अस्मभ्यम्। अकारान्त अव्ययीभाव से 'अम्' रूप एवं अव्यय और एकार्थीभाव में इसका भी लोप होता है। इसके अतिरिक्त यह सर्वत्र अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है तथा इसका 'स्' विसर्ग आदि यथाप्राप्त रूप में प्रयुक्त होता है। इसके सन्निधान से प्रकृति में जश्त्व एवं नलोपादि पदत्वकार्य के अतिरिक्त अन्य परिवर्तन नहीं होते। केवल अकारान्त प्रकृति के

१—पा० सू० 'भ्यासो भ्यम्'—पा० सू० ७।१।३०

अन्तिम स्वर को 'ए' हो जाता है।[1] यथा--रामेभ्यः, हरिभ्यः लिड्भ्यः, राजभ्यः इत्यादि।

चतुर्थ्यर्थ :—यहाँ तक इन प्रत्ययों के विविध रूपों एवं प्रकृति के परिवर्तनों को देखा गया। अधुना इनके अर्थ-विज्ञान का अध्ययन अवसर प्राप्त है। जैसा कि कहा गया इन्हें चतुर्थीविभक्ति कहते हैं। अन्य विभक्तियों की भाँति यह भी क्रिया एवं पदार्थ के सम्वन्ध में विहित होती हुई कारकविशेष अथवा सम्वन्धविशेष अर्थ को बोधित करती है। अतः विद्वानों ने भी कारक चतुर्थी एवं पद-संयोग में उपपद चतुर्थी इन दो भागों में विभक्त किया है। उन्हीं भागों के अनुसार प्रकृत में इसके अर्थविशेष का आलोचन किया जयेगा।

संप्रदान :—चतुर्थी विभक्ति मुख्यरूप से सम्प्रदान कारक अर्थ को प्रगट करती है। सम्प्रदान के स्वरूप के विषय में यद्यपि वैयाकरणों में पर्याप्त मतभेद है, तथापि व्यवहार मतभेद की अपेक्षा नहीं रखता। क्रिया का कर्ता अपनी क्रिया के फलाश्रय कर्म का जिससे विशेष सम्बन्ध स्थापित करता है, वह उद्देश्यभूत अर्थ सम्प्रदानकारक कहलाता है। सम्प्रदान पूर्वसिद्ध एवं उद्देश्यभूत होता है। वह भी कर्म के सम्वन्ध से क्रिया में उद्देश्यतया अन्वित होता है, अतः कारक कहा जाता है। हेमचन्द्र[2] ने इसकी परिभाषा की है, कर्म अथवा क्रिया के द्वारा कर्त्ता जिससे अभिप्रीति करता है, उसे सम्प्रदान कहते हैं—अनुभूतिस्वरूप[3] ने श्रेयोबुद्धि से दान के पात्र को सम्प्रदान कहा है तो चन्द्रगोमी ने भी' जिसे सम्यक् प्रदान किया जाये उसे सम्प्रदान" कहा है।[4] कातन्त्र में इसके क्षेत्र को विस्तृत करते हुए उत्तमर्ण, रुचिमान् एवं दान-पात्र को सम्प्रदान की संज्ञा प्रदान की गयी है।[5] आचार्य धर्मकीर्ति ने सिद्धान्त-कौमुदी का पथ प्रशस्त करते हुए सम्प्रदान की

१—पा० सू० १।४।१७ व ७।३।१०३

२—'कर्माभिप्रेयः सम्प्रदानम्'—हैम व्याकरण २।२।२५

३— 'सम्यक् श्रेयोबुध्या प्रदीयते यस्मै तत्सम्प्रदानकारकम्'—सारस्वत व्याकरण कारक-प्रक्रिया

४—यस्मै सम्यक् प्रदीयते तत्'—चान्द्र व्याकरण, अध्याय २, पाद १,७३

५—'यस्मै दित्सा रोचते धारयते वा तत्सम्प्रदानम्'—बालशिक्षा, कारकप्रकरणम्, पृ० ३

व्याख्या कुछ स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।[1] महर्षि पाणिनि ने इसकी परिभाषा में 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (पा० सू० १।४।३२) इस सूत्र का प्रणयन किया है। यद्यपि कर्म शब्द पारिभाषिक है, तथापि यहाँ पारिभाषिक एवं व्युत्पत्ति-लभ्य दोनों ही अर्थ मानने में लाघव एवं विप्रतिपत्ति का अभाव ही सिद्ध होगा। जैसा कि हेमचन्द्र एवं धर्मकीर्ति ने भी अंगीकार किया है।[2] वस्तुतः सम्प्रदान के लक्षण में धर्म या 'श्रेय' को प्रश्रय देना तर्कसंगत नहीं लगता। चूँकि कारक विवक्षाधीन होते हैं अतः कर्तृकारक जब जिस अर्थ के साथ कर्म या क्रिया के माध्यम से सम्बन्ध करना चाहेगा, तब उस अर्थ की सम्प्रदान संज्ञा होगी। 'वेदविदे गां ददाति' एवं 'पत्येशेति' इत्यादि दोनों प्रकार के प्रयोग इसलिए भाष्यकार पतंजलि से प्रमाणित हैं।[3] इसी अर्थ को 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' इस रूप में महर्षि कात्यायन ने[4] कहा है। अतः क्रिया अथवा क्रिया का कर्म जिस उद्देश्य से प्रवृत्त होते हैं, उस उद्देश्यभूत अर्थ को सम्प्रदान कहना चाहिए।

किंच, उक्त उद्देश्यरूप अर्थ किसी एक ही प्रसंग में सीमित न रहकर विविध धर्मावच्छिन्नरूप में दृष्टिगत होता है। ऊपर दानक्रिया के प्रसंग में जिस उद्देश्य की चर्चा की गयी है, वही तादर्थ्यरूप में अनेकों क्रियाओं के प्रसंग में दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष क्रियाओं के प्रसंग में उसके विशेषरूपों को बिन्दुवार देखा जा सकता है :

(१) क्लृप्त्यर्थक धातुओं के योग में सम्पद्यमान अर्थ की सम्प्रदान संज्ञा होती है।[5] यथा—'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते'

१—'अन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् ददातिकर्मणेति विज्ञायते, करणभूतेन कर्मणा कर्ता यमभिप्रैति तत्।—रूपावतार, कारक, मद्रास संस्करण, पृ० १५२

२—'कर्मणाव्याप्येन क्रियया वा यमभिप्रेयते स सम्प्रदानम्'—हैम० २।२।२५

३—महाभाष्य १।४।३२

४—वार्तिक १४५८

५—'क्लृपिसम्पद्यमाने च'–वार्तिक १४५६, उद्धृत सिद्धांतकौमुदी, सूत्र सं० ५८०

इत्यादि। क्लिप्यर्थक से तात्पर्य सत्तार्थक √भू, √ज्ञा इत्यादि धातुओं से है।

(२) 'भाववचनाश्च' (पा० सू० ३।३।११) इत्यादि अधिकार सूत्र से क्रियार्थक क्रिया में विहित कृत् प्रत्ययान्त शब्दों से चतुर्थी विभक्ति होती है, यथा—'यागाय याति' इत्यादि उदाहरणों में भविष्य कालिक याग यानक्रिया का प्रयोजन है। अतः क्रियार्थक क्रिया के सम्बन्ध से भविष्यत्कालिक क्रिया अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले याग शब्द से चतुर्थी हुई है। वस्तुतः 'पठनाय याति' इत्यादि उदाहरणों के आधार पर क्रिया जिस उद्देश्य से की जाती है, उन सम्पूर्ण अर्थों को व्यक्त करने के लिए तादर्थ्य में चतुर्थी का विधान होने से 'भाववचनाश्च' सूत्र की तो व्यर्थता सिद्ध होती है।

(३) √रुच् धात्वर्थ के प्रयोग में सम्प्रदान प्रीयमाण रूप में होता है तो √श्लाघ् √ह्नुङ् √स्था एवं √शप् धात्वर्थों के सम्बन्ध से वह गीप्स्यमान रूप में। 'धारि' धातु के प्रयोग में उत्तमर्ण ही सम्प्रदान होता है तो 'स्पृहि' धातु के प्रयोग में इष्ट अर्थ को सम्प्रदान कहते हैं। एवमेव क्रुध्', द्रुह्', 'ईर्ष्य्' एवं असूयार्थक क्रियाओं के उद्देश्यभूत कोप-पात्र को सम्प्रदान कहते हैं, तथा 'राध्' एवं 'ईक्ष' धातुओं के योग में विविध प्रश्न के आश्रय अर्थ को सम्प्रदान कहते हैं। एवमेव दो वैदिक धातुओं—(१) 'प्रति' या 'आङ्' उपसर्गक 'श्रुञ्' तथा (२) 'अनु' या 'प्रति' उपसर्गक 'गृञ्' के प्रयोग में इनका पूर्वप्रेरक कर्ता सम्प्रदान होता है।[१] यथा—'होत्रे अनुगृणाति, विप्राय गां प्रतिशृणोति, कृष्णाय राध्यति, हरये क्रुध्यति, पुष्पेभ्यः स्पृहयति, भक्ताय धारयति, स्मरात् कृष्णाय तिष्ठते, हरये रोचते' इत्यादि अवरोह-क्रम से उदाहरण हैं। उपर्युक्त परिगणित धातुओं में क्रुध् और द्रुह् के पूर्व यदि उपसर्ग का योग हो जाय, तब उस स्थिति में कोपपात्र को द्वितीयाविभक्ति अभिहित करती है अथवा वहाँ कोपपात्र को अल्पकोप का आश्रय भी समझा जा सकता है। यथा—क्रूरमभिक्रुध्यति।

१—पा० सू० १।४।३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४० व ४१

ऊपर तीन बिन्दुओं में क्रिया की प्रवृत्ति के उद्देश्यभूत सम्प्रदान के विविध स्वरूपों को देखा गया। उक्त सम्प्रदान को आचार्य भर्तृहरि[1] ने अनिराकर्तृ, 'प्रेरक' एवं 'अनुमन्तृ' इन तीन भागों में विभक्त किया है। तद्यथा–'सूर्याय अर्घ्यं ददाति' इत्यादि उदाहरणों में उद्देश्यभूत अर्थ सूर्य न तो कर्ता को अर्घ्य दान की प्रेरणा देता है और नहीं दान के पश्चात् निषेध ही करता है। इस अनिराकरण से सूर्य अनिराकर्तृ सम्प्रदान है। यदि विप्र गाय देने के लिए राजा को प्रेरित करे और तदनन्तर उसे गाय मिले तो 'विप्राय गां ददाति' इत्यादि उदाहरणों में वह दान का ग्रहीता ही नहीं, प्रेरक भी होगा। अतः इसे दूसरे भाग में रखा जा सकता है। प्राप्त होने पर जिसे वह इष्ट हो, किन्तु प्रेरक न हो, वह उद्देश्यभूत अर्थ तृतीय कोटि का अनुमन्तृ सम्प्रदान कहा गया है। दान के ग्रहीता की अपेक्षा से सम्प्रदान के ये तीन विभाग किये गये हैं। शास्त्रों में इसे ही शेषी एवं इसके सम्बन्धी कर्म को शेष शब्दों से व्यपदिष्ट किया गया है। मीमांसकों ने भी इस शेष-शेषी भाव को इसी रूप में अंगीकार किया है।[2] वृत्तिकार ने इसे अन्वर्थक संज्ञा मानकर 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्ति' को सम्प्रदान कहा है।[3] अतएव जहाँ उक्त सम्प्रदान की स्थिति नहीं है, वहाँ पर उन्होंने षष्ठी का प्रयोग किया है। यथा—'रजकस्य वस्त्रं ददाति' इत्यादि। जबकि भाष्यकार पतंजलि स्वत्वनिवृत्ति या श्रेय इत्यादि को सम्प्रदान का प्रयोजक मानने के पक्ष में नहीं हैं। अतएव उन्होंने 'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति' ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार 'रजकाय वस्त्रं ददाति' इत्यादि उदाहरणों में रजक की सम्प्रदानता में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती।

अन्य कारक : यहाँ तक सम्प्रदान की अन्वर्थता एवं पारिभाषिकता पर विचार करके उसके अनेक आयामों को सोदाहरण

१—'अनिराकरणात् कर्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्।
प्रेरणानुमतिभ्यां च लभते सम्प्रदानताम्'॥
—वाक्यपदीय, काण्ड ३ साधन समुद्देश १२९

२—'शेषित्वं भोक्तृत्वम्'—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, कारक, सू० ५६६

३—द्रष्टव्य—वैया० भू० सार०, सुबर्थ, चौखम्बा, वाराणसी, १९६९, पृ० २१७

उपस्थापित किया गया तथा यह भी स्पष्ट किया गया कि मुख्यतः चतुर्थी विभक्ति इस कारक की बोधिका है। इसके अतिरिक्त यह विभक्ति कर्मकारक अर्थ को भी बोधित करती हुई देखी जाती है।[1] अतः उन लक्ष्यों पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक होगा।

(१) धातु से भविष्यत्कालिक अर्थ के बोधन हेतु तुमुन् प्रत्यय का संयोग होता है। यदि वाक्य में इस तुमुन्नन्त क्रिया का प्रयोग न हो तो इसके कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है। यथा—'फलेभ्यो याति' इत्यादि। यह वाक्य 'फलानि आहर्तुं याति' इस वाक्य का स्थानापन्न है।

(२) द्वितीयाविभक्ति के प्रकरण में कहा गया है कि गत्यर्थक धातुओं के मार्ग भिन्न कर्म में क्रिया से शारीरिक व्यापार गम्य न होने पर विकल्प से चतुर्थी एवं द्वितीया विभक्तियाँ होती हैं तथा दिवादिगण की 'मन्' धातु के कर्म में भी, यदि वह कर्म 'नौ काकादि' परिगणित शब्दों से भिन्न हो तो उसमें चतुर्थी और द्वितीया विभक्तियाँ विकल्प से होती हैं। यथा—'ग्रामाय ग्रामं वा गच्छति, तृणं तृणाय वा त्वाम् मन्ये' इत्यादि।

इसके अतिरिक्त करण कारक के प्रसंग में यह चर्चा आयी है कि परिक्रयण अर्थात् भाटकादि देकर नियत कालिक क्रयणरूप स्वीकरण में साधकतम कारक से विकल्प से तृतीया और चतुर्थी विभक्तियाँ होती हैं। यथा—'शताय शतेन वा परिक्रीतः' इत्यादि।

उपपद : यह विभक्ति मुख्यरूप से सम्प्रदान तथा विशेष स्थिति में कर्म एवं करण अर्थ को भी अभिहित करती है। इन कारकों का अभिधान करने से इसे कारक चतुर्थी कहा गया है। कतिपय पदों के संयोग से यह लक्षण और सम्बन्ध अर्थों को भी अभिव्यक्त करती है, उस स्थिति में इसे उपपद चतुर्थी कहते हैं।[2] तद्यथा :

(१) उत्पातसूचक अर्थ से ज्ञापित होने पर यह विभक्ति ज्ञाप्यमान से विहित होती है। यथा—'वाताय कपिला विद्युत्' इत्यादि उदा-

---

१—पा० सू० २।३।१४, २।३।१२ व १७

२—वार्तिक १४६०, १४६१, १४६२ तथा पा० सू० २।३।१६

हरणों में उत्पातसूचक कपिला विद्युत् वात का लक्षण है, जिसे चतुर्थी विभक्ति प्रकट कर रही है।

(२) नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं, वषट् हित, आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुखार्थ एवं हितार्थ से सम्बन्ध-बोधन के लिए इस विभक्ति का प्रयोग होता है। यथा— हरये नमः, ब्राह्मणाय हितम्, भद्रम् कृष्णाय इत्यादि उदाहरणों में सर्वत्र सम्बन्ध में प्राप्त षष्ठी का निषेध कर चतुर्थी विभक्ति उस अर्थ को बोधित करती है।

(३) जैसा कि कहा गया है, निमित्त के पर्यायवाची शब्दों के योग में सभी विभक्तियों के समान उससे चतुर्थी विभक्ति भी होती है। यथा—'कस्मै हेतवे' इत्यादि।

अनुबन्धफल : इस प्रकार चतुर्थी विभक्ति के सभी अर्थों को संक्षेप में देखा गया। अब इसके अनुबन्ध-प्रयोजन पर दृष्टिपात क्रम-प्राप्त है। इस विभक्ति के केवल 'ङे' प्रत्यय में 'ङ' अनुबन्ध है। इसके प्रयोजन के विषय में भट्टोजिदीक्षित ने कहा है—'ङकारो घेर्ङिति (पा० सू० ७।३।१११) इति विशेषणार्थः'[1] अर्थात् 'ङ्' अनुबन्ध उक्त सूत्र में उपयोगी होता हुआ प्रक्रिया का निर्वाहक है। इसके अतिरिक्त प्रत्यय में इसके अनुषंग से उसका स्वरूप स्पष्ट परिज्ञात हो जाता है, अन्यथा सन्धि आदि के द्वारा वह व्याख्येय रहता। 'ङे' के अतिरिक्त 'भ्याम्' और 'भ्यस्' में कोई अनुबन्ध नहीं है।

यहाँ तक ङे, भ्याम्, भ्यस्, प्रत्ययों के उपलभ्यमान सभी रूप, इनके संयोग से प्रकृति में होने वाले कुछ परिवर्तन, इनके कारक एवं सम्बन्धादि अर्थ तथा अनुबन्ध प्रयोजन पर हमने दृष्टिपात किया है।

पंचमी विभक्ति

ङसि, भ्याम्, भ्यस् : ये तीनों प्रत्यय पंचमी विभक्ति कहे जाते हैं। एकत्वविशिष्ट अर्थ में 'ङसि', द्वित्वविशिष्ट अर्थ में 'भ्याम्' एवं

१—प्रौढमनोरमा, अजन्तपुंल्लिग, 'सुङस्योरिति' प्रतीक

बहुत्वसंख्या विशिष्ट में 'भ्यस्' प्रत्यय विहित होते हैं। भ्याम् और भ्यस् प्रत्यय अनुबन्ध से रहित है एवं चतुर्थी के प्रकरण में व्याख्यात हैं। जैसा कि पीछे कहा गया है, इनके स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता, अपितु प्रकृति में किंचित् परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं, उन्हें वहीं से अवगत कर लेना चाहिए। यहाँ पंचमी-विभक्ति के सन्दर्भ में अर्थविज्ञान के अध्ययन के लिए नान्तरीयक होने से उपात्त हैं। ङसि प्रत्यय में 'ङ' और 'इ' अनुबन्ध हैं, जिनके प्रयोजन की चर्चा उपसंहार के रूप में की जायेगी। अतः प्रत्यय का स्वरूप 'अस्' है, जिसका प्रकृति विशेष से विधान होने पर उससे संयोग व कुछ परिवर्तन होते हैं।

विविध रूप : ङसि (अस्) : नीचे की पंक्तियों में विन्दुवार इसके विविध रूप को देखेंगे :

(१) अकारान्त प्रकृति से संयोग होने पर इसका 'त्' रूप हो जाता है तथा ऐसी स्थिति में प्रकृति के अन्तस्वर को दीर्घ भी होता है।[1] इसके 'त्' रूप को युष्मद्-अस्मद् शब्द के पर में भी देखा जाता है। रामात्, ज्ञानात्, त्वत्, मत् इत्यादि।

(२) अकारान्त सर्वनाम के आगे यह 'स्मात्' रूप में दिखाई पड़ता है। किन्तु पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर स्व, एवं अन्तर शब्दों से आगे स्मात् रूप का दर्शन विकल्प से होता है। इसके अभाव में पूर्वोक्त 'त्' रूप दिखाई पड़ता है।[2] यथा—'सर्वस्मात्, पूर्वस्मात्-पूर्वात्' इत्यादि।

(३) आकारान्त सर्वनाम से विहित होने पर इसका स्वरूप 'स्याः' होता है[3] और पूर्व स्वर को ह्रस्व भी होता है। यथा—सर्वस्याः इत्यादि।

(४) स्त्रीलिंग आ, ई, ऊ वर्णान्त प्रकृति से पर संयोग होने पर यह 'याः' एवं 'वाः' रूप में परिवर्तित हो जाता है। यही रूप पुँल्लिग

१—पा० सू० ७।१।१२, २—पा० सू० ७।१।१५ व १६

३—पा० सू० ७।३।११४

ईकारान्त और ऊकारान्त प्रकृतियों में भी रहता है, यदि वह प्रकृति पूर्वावस्था में स्त्रीलिंग रही हो। स्त्रीलिंग इकारान्त और उकारान्त प्रकृतियों के संयोग में प्रत्यय का यह रूप विकल्प से देखा जाता है। प्रत्यय के इस संयोग से इ-ई-उ-ऊ स्वरान्त प्रकृति के अन्तिम स्वर का लोप हो जाता है। यथा—रमायाः,नद्याः, वध्वाः, बहुश्रेयस्याः, मत्याःमतेः इत्यादि।[1]

(५) पुँल्लिग इ, उ, ऋ वर्णान्त प्रकृति से पर में विहित होने पर प्रत्यय के आदिस्वर का लोप होकर शेष 'स्' यथाप्राप्त विसर्ग आदि रूप में दृष्टिगत होता है। अवधेय है, इ, उ वर्णान्त प्रकृति का अन्तिम स्वर गुणीभूत हो जाता है, किन्तु सखि और पति शब्द के अन्तिम स्वर को 'यु' तथा ऋकारान्त प्रकृति के अन्तिम स्वर को 'उ' आदेश हो जाता है। यथा—'हरेः, भानोः, सख्युः, पितुः' इत्यादि।[2]

(६) अकारान्त अव्ययीभाव से पर में यह 'अम्' रूप में परिवर्तित नहीं होता है। यथा—'उपवृक्षात्' इत्यादि।[3]

(७) अव्यय एवं एकार्थीभाव में इसका भी लोप होता है। यथा—'यदा, कदा, सुखापेतः, चोरभयम्' इत्यादि।

(८) अवशिष्ट स्वरान्त एवं व्यंजनांत प्रकृतियों से विहित होने पर यह अपने 'अस्' रूप में ही देखा जाता है। आकारान्त पुँल्लिग प्रकृति का अन्तिम स्वर धातु का अवयव होने पर लुप्त हो जाता है, अन्यथा प्रत्ययांश के साथ सवर्णदीर्घ होता है। प्रकृति के अन्तिम इ, ई, उ, ऊ, स्वर यदि धातु के अवयव हों तो उसके तथा 'भ्रू' शब्द के अन्तिम स्वर को 'इय्' और 'उव्' आदेश हो जाता है। अन्त-स्वरों के धात्ववयव न होने पर पुँल्लिग प्रकृतियों में यण् आदेश होता है। ए, ऐ, ओ, औ स्वरान्त प्रकृतियों में यथाप्राप्त अयादि आदेश

१—पा० सू० ७।३।११३

२—पा० सू० ७।३।१११, ६।१।११०, १।४।८, ६।१।११२ व १११

३—'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपंचम्याः'—पा० सू० २।४।८३

होते हैं तथा व्यंजनान्त प्रकृतियों में कोई परिवर्तन नहीं होता। प्रत्ययांश स्वर का संयोग एवं 'स्' को विसर्ग आदि प्राप्त संधि सर्वत्र होती है।

यहाँ तक पञ्चमीविभक्ति एकवचन प्रत्यय के विविध रूपों को प्रदर्शित किया गया है। इसके द्विवचन तथा बहुवचन भ्याम् और भ्यस् के रूपविज्ञान के सम्बन्ध में चतुर्थी विभक्ति के प्रकरण में कहा गया है। अतः अब आगे की पंक्तियों में पञ्चमी विभक्ति के अर्थ-विज्ञान का अध्ययन किया जायेगा।

पञ्चम्यर्थ : पञ्चमी विभक्ति मुख्यतः क्रिया के अपादान-कारक अर्थ को अभिहित करती है। इसके अतिरिक्त वह कर्मप्रवचनीय एवं कतिपय पदों के साहचर्य से सम्बन्धादि अर्थों को भी प्रकट करती है। एवंच इसे भी कारक पञ्चमी एवं उपपद पञ्चमी इन दो रूपों में देखा जा सकता है। कारकों में इसका मुख्य अर्थ अपादान कारक है।

अपादान अवधि अर्थ को कहते हैं। इस अवधि को ही ध्रुव भी कहा गया है। ध्रुव का तात्पर्य निश्चल से नहीं है। तद्यथा—भर्तृहरि ने कहा है :

'अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते ।।
पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात् पतत्यसौ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमुच्यते ।।'[1]

अर्थात् विश्लेषहेतुक क्रिया का आश्रय न होता हुआ भी जो विश्लेष का आश्रय हो, वह क्रिया-सम्बन्धी कारक अपादान कहलाता है। उसे ही ध्रुव कहते हैं। वह ध्रुव अर्थ स्वयं भी चलायमान हो सकता है। यदि वह कहीं से विभक्त हो रहा हो तो वह विभागाश्रय अवधिभूत अर्थ इस ध्रुव का भी ध्रुव होता है। यथा—'कुड्यात् पततोऽश्वात् पतति' इत्यादि उदाहरणों में कर्त्ता के विश्लेष में हेतुभूत पतन क्रिया का आश्रय न होता हुआ भी क्रियाफल विश्लेष का

१—वाक्यपदीय, साधनसमुद्देश

आश्रय न होने से अश्व जहाँ कर्त्ता के प्रति ध्रुव अवधि है, वहाँ उस अश्व की विश्लेष-हेतुक क्रिया में तद्वत् कुड्यादि भी ध्रुव अवधि है। एवंच जिसका विश्लेष होता है उसके विश्लेष में हेतुभूत क्रिया का आश्रय न होता हुआ भी उस क्रिया के फल-विश्लेष के आश्रय को अपादान कहते हैं। यथा—'वृक्षात् पर्णं पतति, कुड्यात् पततः अश्वात् पतति' इत्यादि।

यह अपादान द्रव्यात्मक है, अतः विश्लेषादि वास्तविक या भौतिक हैं। इसके अतिरिक्त भावात्मक बौद्धिक अपादान भी होते हैं, जिनमें विश्लेष वास्तविक न होकर बुद्धिकल्पित होते हैं, अतः इस अपादान को बौद्धिक या भावात्मक अपादान कहा गया है।[1] इस भावरूप अपादान की व्याख्या महर्षि पाणिनि ने नव सूत्रों के द्वारा की है।[2] तद्यथा—भयार्थक और त्राणार्थक धातुओं के योग में भय के हेतु, परा उपसर्गक 'जि' धातु के प्रयोग में असह्य अर्थ, निवारणार्थक धातुओं के योग में ईप्सित अर्थ, निलीनार्थक धातुओं के योग में जिसके समक्ष कर्त्ता अपने को व्यवधान से प्रगट नहीं करना चाहता है वह अर्थ, नियमपूर्वक विद्या का व्याख्याता अर्थ, जायमान का हेतु एवं 'भू' धातु के प्रयोग में कर्त्ता का प्रभव अर्थ भी बौद्धिक अपादान हैं। इनमें बुद्धिकल्पित विश्लेष की स्थिति होती है। यथा—'चौरात् विभेति, श्रमात् पराजयते, तिलेभ्यः गां निषेधयति, मातुर्निलीयते कृष्णः, उपाध्यायात् पठति, ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते, हिमालयात् गंगा प्रभवति' इत्यादि उपर्युक्त अपादानों के क्रमशः उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त किसी अर्थ को यदि किसी से अलग किया जाय तो उस निर्धार्यमाण अर्थ का भेद भी बुद्धिकल्पित विश्लेष ही है, ऐसी स्थिति में जिससे भेद विवक्षित हो उसे भी अपादान कहते हैं। यथा—'अयम् एतस्मात् आढ्यतरः' इत्यादि। दूर एवं समीपार्थ की

१—'एषां धातूनां स्वार्थपूर्वकबौद्धविश्लेषजनकनिवृत्तिलक्षणया सूत्रेणैव सिद्ध्येदं वार्तिकमुत्तरसूत्राणि च प्रत्याख्येयानीति स्पष्टं भाष्ये'—ल० श० शेखर, कारक, 'जुगुप्सेत्यादि' प्रतीक

२—पा० सू० १।४।२५, २६, २७, २८, २९, ३० व ३१ तथा २।३।४२ व ३४

अवधि को भी बुद्धिकल्पित अपादान कहेंगे। उससे भी अवधिता की विवक्षा में पञ्चमी एवं सम्बन्ध की विवक्षा में षष्ठी विभक्तियाँ होती हैं। यथा—'ग्रामात् दूरं ग्रामस्य वा' इत्यादि। महर्षि कात्यायन ने भी तीन वार्तिकों के द्वारा बुद्धिकल्पित विश्लेषाश्रय अपादान की चर्चा की है।[1] तथाहि—वाक्य में अप्रयुक्त होने पर भी प्रतीयमान क्रिया के बौद्धिक विश्लेषाश्रय अवधि को तथा वाक्य में ल्यबन्त क्रिया का प्रयोग न करने पर प्रतीयमान उस क्रिया का कर्म या अधिकरण जब अवधित्वेन विवक्षित होता है तब उसको भी बौद्धिक अपादान ही कहेंगे। यथा—'कस्मात् त्वम्? नद्याः, प्रासादात् प्रेक्षते' इत्यादि उदाहरणों में 'आगतोऽसि' एवं आरुह्य' क्रियायें प्रयुक्त न होने पर भी गम्यमान हैं। एवमेव जुगुप्सा, विराम तथा प्रमादार्थक धातुओं के योग में जो बौद्धिक विश्लेष का आश्रय है, उस अर्थ को भी अपादान कहेंगे और उसमें पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग होगा।

यहाँ तक क्रिया के सन्दर्भ में बौद्धिक अपादानों की चर्चा की गयी। कतिपय पद भी विश्लेष अर्थ को प्रकट करते हैं, अतः उनके योग में भी विभाग या विश्लेष के आश्रय से पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग होता है।[2] तद्यथा :

(१) जिससे मार्ग या समय की दूरी बतलायी जाय। यथा—वनाद् ग्रामो योजनम्, कार्तिक्याः आग्रहायणी मासे इत्यादि।

(२) अन्य, भिन्न, इतर, पृथक्, आरात्, ऋते, दिग्देश कालवाचक शब्द, प्राक् प्रत्यक् इत्यादि अंचूत्तरपद, आच् एवं आहि प्रत्ययान्त शब्दों के योग में भी विश्लेषाश्रय अवधिभूत अर्थ से पंचमी विभक्ति होती है। यथा—'अन्यः कृष्णात्, आरात् वनात्' इत्यादि।

(३) आरभ्य, प्रभृति, बहिस् एवं अधिक शब्दों के योग में भी विभागाश्रय अवधि से पंचमी विभक्ति का विधान होता है। यथा—'ग्रामाद् बहिः, लोकात् अधिकः' इत्यादि।

१—'वार्तिक १४७४, १४७७, '५०४१ उद्धृत सिद्धान्त-कौमुदी, कारक प्रकरण
२—वार्तिक १४७७ तथा पा० सू० २।३।२९ तथा सिद्धान्त-कौमुदी, कारक, प्रकरण सू० ५९५

यहाँ तक बौद्धिक विश्लेष पर आधारित अपादान की चर्चा की गयी है। इस चर्चा में परिगणित प्रकृतिस्थलों के अतिरिक्त भी जहाँ पर वास्तविक या बुद्धिकल्पित विश्लेष की प्रतीति होती है वहाँ तदाश्रय अवधि की अपादान संज्ञा एवं उस विश्लेषावधि में पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है। उक्त उभयविध अपादानों को आचार्य भर्तृहरि ने तीन भागों में विभक्ति किया है।[1] इनमें पहला निर्दिष्ट विषय अपादान उसे कहते हैं जिसका विश्लेष साक्षात् धातु से बोधित हो। यथा—'अश्वात् पतति' इत्यादि। जब धातु धात्वन्तर के अर्थ से संवलित स्वार्थ को प्रगट करती हुई विश्लेष अर्थ की प्रतीति कराती है तब उस विश्लेषावधि को उपात्तविषय अपादान कहते हैं। यथा— 'बलाहकाद् विद्योतते' इत्यादि उदाहरणों में 'विद्युत' धातु धात्वन्तर के अर्थ निस्सरण को भी अप्रधान रूप से बोधित कर रही है, अतः उसके विभागावधि 'बलाहक' से पंचमी हुई। इसके अतिरिक्त जो अपादान-वाक्य में अप्रयुक्त क्रिया में साकांक्ष हो उसे अपेक्षित-क्रियारूप में विभक्त किया गया है। यथा—'कुतो भवान्' इत्यादि उदाहरणों में 'आगतः' क्रिया की अपेक्षा से 'कुतः' पद की अपादानता है।

उपर्युक्त अपादान की व्याख्या महर्षि पाणिनि के अनुसार ही अन्य वैयाकरणों ने भी की है। तथाहि—हेमचन्द्र ने 'अपायेऽवधिरपादानम्' (हैमव्या० २।२।२९) कहा है तो अनुभूतिस्वरूप ने 'विश्लेषावधि' को अपादान कहा है।[2] एवमेव शर्ववर्मा ने अपादान का स्वरूप 'यतोऽपैति भयमादत्ते वा तदपादानम्' (उद्धृत बालशिक्षा, कारक-प्रक्रम) इस रूप में प्रकट किया है तो चन्द्रगोमी ने 'पदार्थावधि' से पंचमी का विधान किया है। आचार्य धर्मकीर्ति ने पाणिनीय सूत्रों के आधार पर ही अपादान को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। एवंच सभी आचार्य

१—'निर्दिष्टविषयं किंचिद् उपात्तविषयं तथा।
अपेक्षितक्रियं चेति त्रिधाऽपादानमुच्यते॥'

—वाक्यपदीय, काण्ड ३, साधनसमुद्देश १३६

२—'विश्लेषो विभागः, तत्र योऽवधिः सचलतया अचलतया वा विवक्षितः तत्रापादाने पंचमी—सारस्वत व्याकरण, कारक-प्रक्रिया

एकमत से विभागाश्रय को अपादान मानने के पक्ष में हैं और इस अर्थ को बोधित करने के लिए पंचमी विभक्ति को समर्थ स्वीकार किये हैं।

भिन्नार्थ :—पंचमी विभक्ति अपादान अर्थ के अतिरिक्त निम्नलिखित स्थल में विकल्प से करण एवं अधिकरण कारक को भी बोधित करती है।[1] तद्यथा :

(१) अद्रव्यवाचक स्तोक, अल्प, कृच्छ् एवं कतिपय शब्दों से करण अर्थ के बोधन के लिए विकल्प से पंचमी एवं तृतीया विभक्तियाँ होती हैं। यथा--'स्तोकान् मुक्तः स्तोकेन वा' इत्यादि।

(२) दो कारकों के मध्य के समय या मार्ग की दूरी के वाचक शब्द से पंचमी एवं सप्तमी विभक्तियाँ विकल्प से होती हैं। यथा—'इहस्थः क्रोशात् क्रोशे वा लक्ष्यं विध्येत्' इत्यादि उदाहरणों में 'इहस्थः' से व्यक्त कर्ता एवं 'लक्ष्यम् से व्यक्त कर्मकारकों के मध्य के मार्ग की दूरी के वाचक क्रोश शब्द से पंचमी हुई है। यह क्रोश कर्म एवं तदाश्रित क्रिया का अधिकरण होने से इसे पंचमी एवं सप्तमी दोनों विभक्तियाँ अभिहित करती हैं।

(३) दूर व समीप अर्थ के वाचक शब्दों से पंचमी, द्वितीया एवं तृतीया विभक्तियाँ विकल्प से होती हैं। उक्त शब्द अधिकरण-शक्ति-प्रधान होते हैं, अतः ये विभक्तियाँ इन शब्दों के प्रातिपदिकार्थ-अधिकरण अर्थ को अभिहित करती हैं।

यहाँ तक पंचमी विभक्ति के कारक अथ का अध्ययन किया गया। कतिपय पदों के संयोग से कुछ विशेष अर्थों में भी यह विहित होती है, सम्प्रति उन अर्थों की चर्चा प्रासंगिक होगी।

(१) **हेतु अर्थ :**—ऋणवाचक शब्द यदि कर्तृसंज्ञा से रहित होकर क्रिया में हेतु हो तो उसकी हेतुता को पंचमी विभक्ति प्रगट करती है। यथा—'शतात् बद्धः' इत्यादि। इसके अतिरिक्त द्रव्यादि के हेतुभूत अर्थ से तृतीया के साथ-साथ विकल्प से यह विभक्ति भी

१—पा० सू० २।३।३३, ७ व ३५

होती है । यथा—'जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः' इत्यादि । हेतु अर्थ के द्योत्य होने पर हेतु के पर्यायवाची सभी शब्दों से एवं उनके विशेषणों से भी यह विभक्ति होती है । यथा--'कस्मात् प्रयोजनात्' इत्यादि ।

एवंच प्रतिपादित स्थलों में पंचमी विभक्ति हेतु अर्थ को बोधित करती है ।[1]

(२) **सम्बन्ध अर्थ** :—वर्जनार्थक 'परि' और 'अप' मर्यादा एवं अभिविधि अर्थ में 'आङ्' और प्रतिनिधि व प्रतिदानार्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । इन कर्मप्रवचनीयों के योग में और विना एवं नाना शब्दों के योग में सम्बन्धीवाचक शब्द से विहित पंचमी विभक्ति सम्बन्ध अर्थ को प्रगट करती है । यथा-'अपहरेः संसारः, प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति, रामात् विना' इत्यादि ।[2]

अनुबन्धार्थ :—इस प्रकार यहाँ तक ङसि,भ्याम् एवं भ्यस् प्रत्ययों के विविध परिवर्तित रूप-विज्ञान तथा अर्थ-विज्ञान का पर्यालोचन किया गया । अन्त में 'ङसि' प्रत्यय के अनुबन्ध प्रयोजन की चर्चा से इस प्रसंग को विराम दिया जायेगा । इस प्रत्यय में 'ङ' और 'इ' ये दो अनुबन्ध हैं, जिनमें प्रथम अनुबन्ध प्रत्यय की 'ङित्' संज्ञा के द्वारा जहाँ प्रक्रिया विधि में सहायक है[3], वहीं दूसरा 'इ' अनुबंन्ध इस प्रत्यय के स्वरूप को षष्ठी के एकवचन प्रत्यय के स्वरूप से अलग करता है, जिससे कुछ विशेष विधियाँ अलग-अलग होती हैं । एवंच दोनों ही अनुबन्ध सार्थक एवं मुखसुखार्थ अनुषक्त हैं ।

षष्ठी विभक्ति

ङस्, ओस्, आम् :—इन प्रत्ययों में स्वरूपगत भेद होने पर भी अर्थगत भेद नहीं है, भेद केवल संख्यागत है । तथा च एकत्वविशिष्ट अर्थ में 'ङस्', द्वित्वविशिष्ट अर्थ में 'ओस्' एवं

१—पा० सू० २।३।२४, २५

२—पा० सू० १।४।८८,८६ व ९२ तथा २।३।१०।११ व ३२

३—द्रष्टव्य—प्रौढमनोरमा, अजन्तपुँल्लिग, सुङस्योरिति' प्रतीक

बहुत्वविशिष्ट अर्थ में 'आम्' प्रत्यय विहित होते हैं। इन तीनों प्रत्ययों को षष्ठी विभक्ति एकवचन, द्विवचन, एवं बहुवचन नाम से भी जाना जाता है। सभी वैयाकरणों ने इन प्रत्ययों का यही रूप निर्धारित किया है।[१] इनमें से ओस् और आम् में कोई अनुबन्ध नहीं है। केवल ङस् में एक अनुबन्ध है 'ङ'।

विविध रूप:—अन्य विभक्ति प्रत्ययों की भाँति प्रातिपदिक-विशेष के संयोग से इनके भी स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है[२], जिसे नीचे की पंक्तियों में स्पष्ट किया जा रहा है :

(१) **'ङस्' (अस्)** : अकारान्त प्रकृति से विहित होने पर इसका रूप 'स्य' हो जाता है। यथा—रामस्य, ज्ञानस्य इत्यादि।

(२) स्त्रीलिंग इ, उ स्वरान्त प्रकृतियों के आगे विकल्प से तथा स्त्रीलिंग आ, ई, ऊ स्वरान्त प्रकृतियों के आगे नित्य ही यह 'आस्' रूप में देखा जाता है तथा इसके संयोग से प्रकृति में यण् सन्धि होती है। पूर्वावस्था में नित्य स्त्रीलिंग ई, ऊ स्वरान्त प्रकृति वर्तमान में पुँल्लिग होने पर उसके पर में भी यह इसी रूप में दृष्टिगत होता है। यथा—रमायाः, गौर्याः, वध्वाः, मत्याः-मतेः, बहुश्रयेस्याः, धेन्वाः इत्यादि।

(३) पुँल्लिग इ, उ स्वरान्त प्रकृति से पर में नित्य एवं स्त्रीलिंग इ, उ स्वरान्त प्रकृति से वैकल्पिक रूप में इसके आदिस्वर का लोप हो जाता है और अवशिष्ट 'स' यथाप्राप्त विसर्ग रूप में परिणत हो जाता है। इसके संयोग से प्रकृति के अन्तिम स्वर को गुणीभाव होता है। यथा—'हरेः' भानोः, मतेः-मत्याः' इत्यादि। इस रूप के अभाव में स्त्रीलिंग प्रकृति से पर में इसका पूर्वोक्त 'आस्' रूप पाया जाता है। नपुंसकलिंग प्रकृति में 'न्' का आगम होकर मधुनः, वारिणः इत्यादि

१—का० २।१।२२,३८ व ४५; चा० २।१।१; हैम० १।१।१८; सार० स्वरान्त पुँल्लिग ३

२—पा० सू० ७।१।१२, १।४।३, ७।३।११२, ६।१।६०, ७।३।११३, १।४।६।७, ७।३।१११, ६।१।११०, १।४।८, ६।१,११२, १११, ७।३।११४, ७।३।१०४, ७।१।५४ इत्यादि

रूप निष्पन्न होते हैं। सखि और पति शब्दों से परे प्रत्यय का रूप तो यही रहता है, किन्तु शब्द के अन्तिम स्वर को 'उ' आदेश होकर यण् होता है। यथा-सख्युः, पत्युः इत्यादि। ऋकारान्त प्रकृति से भी प्रत्यय रूप यही रहता है किन्तु प्रकृति के अन्तिम 'ऋ' स्वर को 'उ' आदेश एवं यण् होता है। यथा--'पितुः, भ्रातुः, कर्तुः' इत्यादि।

(४) अवशिष्ट स्वरान्त एवं व्यंजनान्त प्रकृतियों से पर में इसका 'अस्' रूप ही देखा जाता है। तथाहि-आकारान्त प्रकृति के अन्तिम आकार के साथ सवर्ण दीर्घ अथवा उस आकार के धात्ववयव होने पर उसका लोप हो जाता है। यथा—'हाहाः, विश्वपः' इत्यादि। पुँल्लिग ई, ऊ स्वरान्त प्रकृति में यण् आदेश अथवा उस ई, ऊ के धात्ववयव होने पर उससे एवं 'भ्रू' शब्द से 'य्' या 'व्' का आगम होता है। यथा—'पप्यः, सुधियः, भ्रुवः' इत्यादि। 'य्' या 'व्' का आगम होने पर उससे पूर्वस्वर को ह्रस्व हो जाता है तथा प्रत्यय के 'स्' को सर्वत्र विसर्ग संधि होती है। ए, ऐ, ओ, औ, स्वरान्त प्रकृतियों से इसका संयोग होने पर अयादि आदेश होते हैं। यथा—'सुद्यावः, रायः, ग्लावः' इत्यादि। किन्तु गो शब्द में प्रत्यय रूप केवल विसर्ग ही रहता है। यथा--गोः। अवशिष्ट हलन्त प्रकृतियों के संयोग में सम्मेलन व विसर्ग होकर 'दृषदः, भवतः, राज्ञः, पथः' इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं।

(५) आकारान्त सर्वनाम प्रकृति के आगे यह 'स्याः' रूप में देखा जाता है। यथा—'सर्वस्याः तस्याः' इत्यादि।

(६) युष्मद् और अस्मद् शब्द के पर में यह 'अ' रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा प्रकृति का रूप 'तव्' और 'मम्' हो जाता है। यथा 'तव, मम' इति।

(७) अकारान्त अव्ययीभाव से 'अम्' रूप एवं अव्यय तथा एकार्थीभाव में लोप पूर्ववत् होते हैं। यथा—'उपगंगम्, राजपुरुषः' इत्यादि।

एवंच ऊपर सात बिन्दुओं में इस प्रत्यय के अनेक रूपों को देखा गया।

ओस् : यह प्रत्यय सर्वत्र अपने इसी रूप में रहता है। इसमें से 'स्' को विसर्ग सन्धि एवं 'ओ' के सन्निधान से स्वरान्त प्रकृतियों में यण् और अयादि आदेश होते हैं। अकारान्त प्रकृति के आगे 'य्' आगम होता है तथा युष्मद्, अस्मद् शब्द को क्रमशः 'यूवम्' एवं 'आवय्' आदेश हो जाते हैं। अकारान्त अव्ययीभाव से प्रत्यय को अम् आदेश तथा अव्यय एवं एकार्थीभाव में लोप भी पूर्ववत् होते हैं। यथा—'रामयोः, विश्वपोः, हाहौः, हर्योः, भान्वोः, भ्रात्रोः, गवोः, रमयोः, नद्योः, दृषदोः, राज्ञोः, महतोः' इत्यादि।

आम् : सभी प्रकृतियों से पर में इसका प्रायः यही रूप दृष्टिगत होता है। प्रायः कहने का यह तात्पर्य है कि ह्रस्व स्वरान्त एवं स्त्रीलिंग आकारान्त, ईकारान्त तथा ऊकारान्त प्रकृतियों से पर में यह 'नाम्' रूप में उपलब्ध होता है। इसके 'न' को 'ण' आदेश होता है, यदि इससे पूर्व में 'र्' या 'ष' की स्थिति हो तथा बीच में चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, ल् श् एवं स् वर्णों का व्यवधान न हो। सर्वनाम शब्दों में इसके पूर्व 'स्' का आगम हो जाता है, किन्तु युष्मद्, अस्मद् शब्दों में यह 'आकम्' रूप में परिवर्तित होता है। यथा—'सर्वेषां, सर्वासाम्, युष्माकम्, अस्माकम्, रामाणाम्, रमाणाम्, हरीणाम्, नदीनाम्, सुधियाम्, भ्रुवाम्, गवाम्, दृषदाम्, महताम्, राज्ञाम्' इत्यादि। इसका अकारान्त अव्ययीभाव में 'अम्' रूप एवं अव्यय तथा एकार्थीभाव में लोप पूर्ववत् होता है। यथा—'अनुकूलम्, राजसम्मतः' इत्यादि।

षष्ठ्यर्थ : उक्त तीनों प्रत्ययों के रूपविज्ञान का अध्ययन यहाँ तक प्रस्तुत किया गया। सम्प्रति अर्थ-विज्ञान पर किंचित् विचार किया जा रहा है। इस विभक्ति के अर्थ को प्रगट करने के लिए महर्षि पाणिनि ने 'शेषे षष्ठी' (पा० सू० २।३।५०) सूत्र का प्रणयन किया है। 'देवदतस्य गौर्ब्राह्मणाय गेहाद् गंगायां हस्तेन मया दीयते' उदादरण वाक्यों में 'दीयते' क्रिया से सम्बद्ध कर्त्ता मया, कर्म गौः, करण हस्तेन, अपादान गेहात् संम्प्रदान ब्राह्मणाय एवं अधिकरण गंगायाम्, इन अर्थों की चर्चा पीछे की गयी तथा इन अर्थों को प्रकट करने के लिए तत्तत् विभक्तियाँ हुईं। इसके अतिरिक्त प्रातिपदिक

अर्थ में प्रथमा का विधान भी प्रतिपादित हुआ। इन सभी अर्थों से भिन्न सम्वन्ध अर्थ का वोध 'देवदत्तस्य' में प्रयुक्त षष्ठी विभक्ति से हो रहा है जिसकी चर्चा अभी तक नहीं हुई है। कारक और प्रातिपदिकार्थ से व्यतिरिक्त इस सम्बन्ध अर्थ को ही महर्षि पाणिनि ने 'शेष' शब्द से प्रतिपादित किया है। यह सम्वन्ध सामान्य एवं विशेष उभयरूप होता है। यह एक धर्म है, जो दो धर्मियों में आश्रित रहता है। इसी के आधार पर अन्य विभक्तियों के कर्म आदि अर्थों को भी धर्मपरक मानने का प्रवाद प्रतिष्ठित है। इसका सामान्यरूप सम्बन्ध-सामान्य या 'सम्बन्धत्व' कहलाता है तथा विशेषरूप स्वस्वामिभावादिरूप में विविध हैं। एवंच यह सम्वन्ध-अर्थ कारक से भिन्न और प्रातिपदिकार्थ से भिन्न क्रियाकारकपूर्वक होता है। तथाहि—'राज्ञः पुरुषः' इत्यादि प्रयोग में राजपदोत्तर षष्ठी से बोधित सम्वन्ध क्रिया-कारक-भावमूलक है, क्योंकि उस सम्वन्ध से राजा पुरुष को देता है और पुरुष उसे स्वीकार करता है। पुरुष भी प्रतिफल में नियत प्रतिदान राजा को देता है। इस परस्पर विनिमय की संसिद्धि राजा और पुरुष की क्रियाओं पर ही निर्भर है। यह बात दूसरी है कि उसकी प्रतीति सूक्ष्म अनुभूति पर आधारित होती है, किन्तु होती है अवश्य, अतएव 'राज्ञः पुरुषः' प्रयोग होता है, वृक्ष शाखा का आधार होने से ही 'वृक्षस्य शाखा' यह प्रयोग प्रचलित है। अतः षष्ठी विभक्ति के प्रतिपाद्य अर्थ सम्बन्ध को क्रिया-कारकपूर्वक कहा गया है। कहीं वह क्रिया श्रुत रहती है तो कहीं अश्रुत। यथा—'रजकस्य ददाति' में यह श्रुत है तो 'राज्ञः पुरुषः' में अश्रुत। इस प्रकार स्पष्ट है कि क्रिया-कारक सम्बन्ध वस्तुतः सर्वत्र वर्तमान है। परन्तु जब उसके निमित्त स्व-स्वामि-भावादि की सम्बन्ध रूप में विवक्षा होती है तब उस सम्बन्ध अर्थ को षष्ठी विभक्ति प्रस्तुत करती है।

व्यवहार से सिद्ध है कि यह सम्बन्ध उभयनिष्ठ होता है। ऐसी स्थिति में यह आशंका सुनिश्चित है, 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादि उदाहरणों में जिस प्रकार राजपदोत्तर षष्ठी का प्रयोग होता है, तद्वत् पुरुष पदोत्तर भी षष्ठी का प्रयोग होना चाहिए, किन्तु यह आशंका निरा-

धार है। यहाँ दो कारणों से पुरुष पद के आगे षष्ठी का प्रयोग बाधित है, पहला कारण 'प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इस न्याय का विरोध है तो दूसरा कारण उपकारकत्व की विवक्षा है। तथाहि-उक्त उदाहरण में सम्बन्ध का प्रतियोगी या सम्बन्ध में विशेषण राजपदार्थ है तथा पुरुष पदार्थ अनुयोगी या विशेष्य है। विशेषण राजपद के आगे षष्ठी का प्रयोग करने पर षष्ठ्यर्थ में राजपदार्थ का विशेषण रूप में अन्वय होता है, फलतः विभक्त्यर्थ विशेष्य या प्रधान रहता है। अन्यथा विभक्त्यर्थ सम्बन्ध पुरुष के प्रति अप्रधान होने के कारण उक्त न्याय से विरोध होता। दूसरी बात यह है कि उक्तोदाहरण में राजपदार्थ की उपकारक के रूप में विवक्षा की गयी है। अतः इन दो कारणों से षष्ठी का प्रयोग राजपदोत्तर ही किया जाता है। जब पुरुष के उपकारकत्व की विवक्षा होगी उस स्थिति में षष्ठी विभक्ति पुरुषपद के आगे आयेगी और 'पुरुषस्य राजा' ऐसा प्रयोग होगा। एक ही साथ उभय पदार्थ की उपकारिता सम्भव नहीं। क्योंकि पदान्तर के असमभिव्याहार से विशेष्य अर्थ अपने स्वरूप से ही परिज्ञात होता है। ऐसी स्थिति में विशेष्यता के नियामक सम्बन्ध की आकांक्षा नहीं रहती। तब विशेषण से प्रतीयमान सम्बन्ध ही विशेष्यता का उपकारक होता है। जैसा कि आचार्य भर्तृहरि ने कहा है।[1] एवंच जो अर्थ विशेषण एवं उपकारक रूप में विवक्षित होता है, उसी पद के आगे षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त होती है।

अन्य वैयाकरणों ने भी भिन्न-भिन्न शब्दों में षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध अर्थ स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने उस सम्बन्ध को 'शेषे' (हैमव्याकरण २-२-८१) शब्द से कहा है तो अनुभूतिस्वरूप ने सम्बन्धे षष्ठी' (सारस्वत व्याकरण, कारक प्रक्रिया) कहा है। धर्मकीर्ति ने

१— सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते ॥
द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वाद् गुणेषु व्यतिरिच्यते।
तत्राभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपचर्यते ॥'

—वाक्यपदीय, काण्ड ३, साधन समुद्देश १५६-७

पाणिनि के सूत्र की व्याख्या अपने शब्दों में प्रस्तुत की है तो शर्ववर्मा सम्बन्ध को परस्परापेक्ष कहते हैं।[1] आचार्य चन्द्रगोमी ने सम्बन्ध को षष्ठ्यर्थ स्वीकार करते हुए उसे विवक्षाधीन स्वीकार किया है। इनका मत है, कर्मादि की भी सम्बन्ध-विवक्षा में यह विभक्ति होती है तथा अविवक्षा में तत्तत् विभक्तियाँ। फलतः षष्ठी के विधानार्थ सूत्रों की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि उन्होंने ही कहा है :

चन्द्रगोमी समस्तानि सूत्राण्येतानिसर्वथा।
निरास्थद् विविधव्यक्तविवक्षाबलमास्थितः ॥[2]

षष्ठी विभक्ति सम्वन्धसामान्य और सम्बन्धविशेष अर्थ के अतिरिक्त कारक अर्थ को भी व्यक्त करती है। एवंच अन्य विभक्तियों की भाँति यह भी कारक-विभक्ति है। वस्तुतः सम्बन्ध-षष्ठी, प्रतिपदविधाना षष्ठी एवं कारक-षष्ठी इन तीन भागों में विभक्त कर इसके अर्थ का अध्ययन करना चाहिए।

सम्बन्ध-षष्ठी : यह विभक्ति जब विशेष सम्बन्ध को अभिहित करती है तब उसे सम्वन्ध-षष्ठी कहा जाता है। यह विशेष सम्बन्ध सैकड़ों की संख्या में हो सकते हैं। यथा—'राज्ञः पुरुषः' में सम्बन्ध का स्वरूप स्वस्वामिभाव है तो 'रामस्य पिता' में जन्यजनकरूप। एवमेव हेतु, लक्षण, अवधि एवं निर्धारण सम्बन्ध में भी यह विभक्ति विहित होती है।[3] तथाहि—हेतु या उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करने पर हेतुता को द्योतित करने के लिए षष्ठी विभक्ति समर्थ होती है। यथा—'अन्नस्य हेतुतोर्वसति' इत्यादि। जब एक क्रिया दूसरी क्रिया को लक्षित करती है। ऐसी स्थिति में वह क्रिया अनादर के आधिक्य भाव को भी प्रगट करती है तब उस स्थिति में यह विभक्ति

१—'सर्वत्र परस्परापेक्षया सम्बन्धः। परं भेदकात् षष्ठी भवति'—कातन्त्र, बालशिक्षा, कारक प्रक्रम में उद्धृत

२—कातन्त्रविस्तरः, चान्द्रव्याकरण, पृ० १४६, पूना १९५३ में उद्धृत

३—पा० सू० २।३।२६, ३८, ३७, ३०, ३१ ३४, ७२, ७३, ३९, ४०

लक्ष्य-लक्षण भाव को व्यक्त करती है। यथा—'रुदतः प्राव्राजीत' इत्यादि। उक्त लक्षण में सप्तमी विभक्ति का भी विकल्प से प्रयोग होता है। जाति, गुण, क्रिया अथवा संज्ञा के द्वारा किसी एक के निर्धारण में जब षष्ठी अथवा सप्तमी का प्रयोग होता है वहाँ पर ये विभक्तियाँ निर्धारण सम्बन्ध को प्रकट करती हैं। यथा—'नृणाम् नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः।' दिग्देशकाल अर्थ में विहित प्रत्ययों से जो शब्द निष्पन्न होते हैं उनके अवधिता सम्बन्ध की विवक्षा में यह विभक्ति प्रयुक्त होती है, किन्तु एनप् प्रत्ययान्त, दूर एवं समीपार्थक शब्दों के योग में यह विभक्ति विकल्प से उस अवधिता सम्बन्ध को बोधित करती है। यथा—ग्रामस्य दक्षिणतः, वनस्य दक्षिणेन, नगरस्य दूरम् इत्यादि। इसके अतिरिक्त तुल्यार्थ के सम्बन्ध को यह एवं तृतीया विभक्तियाँ, आयुष्य, मद्, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ एवं हित के सम्बन्ध को चतुर्थी एवं षष्ठी तथा स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू और प्रसूत शब्दों के सम्बन्ध को सप्तमी एवं षष्ठी विभक्तियाँ अभिहित करती हैं किन्तु तुला और उपमा के योग में सम्बन्ध अर्थ को केवल षष्ठी ही व्यक्त करती है। यथा—'कृष्णस्य कृष्णेन वा तुल्यः, आयुष्यं कृष्णस्य कृष्णाय वा भूयात्, गवां गोषु वा स्वामी, कृष्णस्य तुला उपमा वा नास्ति' इत्यादि। इस प्रकार सम्बन्ध षष्ठी अनेकविध सम्बन्धों को व्यक्त करती है।

प्रतिपदविधाना षष्ठी : पदम्-पदम् इति प्रतिपदं विधानं यस्याः सा प्रतिपदविधाना। यहाँ वीप्सा अर्थ में अव्ययीभाव समास करके बहुव्रीहि समास हुआ है। भाष्यकार पतंजलि के अनुसार सम्बन्ध षष्ठी से अतिरिक्त सभी षष्ठी प्रतिपदविधाना षष्ठी कही गयी हैं। यह षष्ठी सम्बन्धसामान्य अर्थ को अभिहित करती है। अवधेय है कि जिन पदों में प्रतिपदविधाना षष्ठी रहती है, उन पदों के साथ अन्य पदों का षष्ठीतत्पुरुषसमास नहीं होता है। वैसे तो सभी कारकों की अविवक्षा में यह षष्ठी होती है, किन्तु महर्षि पाणिनि ने समास निषेध की दृष्टि से इनका परिगणन कर दिया है।[1] तथाहि—प्रवृत्त्यर्थक

१—पा० सू० २।३।५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५६, ६१, ६७ व ६८

'ज्ञा' धातु के करण, स्मरणार्थक 'द्य' और 'ईश्' धातु के कर्म, गुणाधान अर्थ में वर्तमान 'कृञ्' धातु के कर्म, 'ज्वर' एवं 'सन्ताप्' से भिन्न भावकर्तृक रुजार्थक धातुओं के कर्म, आशंसार्थक 'नाथ्' के कर्म, हिंसार्थक 'जासि' 'निप्रहण्' 'नाटि' 'क्राथ्' और 'पिष्' धातुओं के कर्म, द्यूतार्थक एवं क्रय-विक्रयार्थक 'व्यवहृ' एवं 'पण्' धातुओं के कर्म, इसी अर्थ में उपसर्ग रहित 'दिव' धातु के कर्म और देवतोद्देश्यक 'प्रेष्य' एवं 'ब्रू' धातुओं के हविर्विशेष कर्म की सम्बन्धरूप में विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है। यथा—'दुग्धस्य ज्ञानम्, मातुः स्मरति, एधः जलस्य उपस्कुरुते, रोगः चौरस्य तुदति, सर्पिषः नाथते, चौरस्य उज्जासते, शतस्य व्यवहरति, शतस्य दिव्यति, मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा' इत्यादि क्रमशः उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान अर्थ एवं अधिकरण अर्थ में विहित क्त प्रत्ययान्त क्रिया के कर्त्ता में भी षष्ठी विभक्ति होती है। यथा—'राज्ञां मतः, इदमेषामासितम्' इत्यादि। एवंच उपर्युक्त कारकों में विहित षष्ठी केवल सम्बन्ध अर्थ को प्रकट करती है तथा इसके साथ पदान्तर का समास भी नहीं होता। उक्त स्थलों में जब तत्तत् कारकों की विवक्षा होगी तब 'मातरं स्मरति' इत्यादि तत्तत् विभक्तियाँ होंगी।

कारक षष्ठी : धातु में कृत् प्रत्यय के योग के अनन्तर जिस क्रिया की प्रतीति होती है, उसके कर्त्ता और कर्म अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। यह षष्ठी सम्बन्ध अर्थ में नहीं होती अर्थात् कर्त्ता और कर्म की विवक्षा होने से यह विभक्ति कर्त्ता और कर्म अर्थ का ही बोधन करती है।[1] यथा—'कृष्णस्य कृतिः, जगतः कर्त्ता कृष्णः' इत्यादि। यहाँ पर अवधेय है, 'लादेश तिङ, उ, उक, अव्ययकृत्, क्त, क्तवतु, खलर्थ, शतृ, शानच्, शानन्, चानश् और तृन्' इन प्रत्ययों के योग से क्रिया के कर्त्ता और कर्म में षष्ठी विभक्ति न होकर तत्तत् विभक्तियाँ होती हैं, किन्तु 'कम्' धातु से 'उक' प्रत्यय के योग में नित्य एवं द्विष्' धातु से शतृ प्रत्यय के योग में विकल्प से कर्म अर्थ को षष्ठी विभक्ति ही प्रगट करती है।[2] एवमेव भविष्यदर्थक 'अक' प्रत्यय

१—पा० सू० २।३।६५

२—पा० सू० २।३।६९ तथा वार्तिक १५१९

एवं भविष्यत् और आधमर्ण्यर्थिक 'इन्' प्रत्ययों के योग में कर्त्ता एवं कर्म अर्थ को तत्तत् विभक्तियाँ ही प्रगट करती हैं।[1] यथा—'सतः पालकः, शतं दायी इत्यादि। एक बात यह भी स्मरणीय है कि यह कृद्योगा कारकषष्ठी द्विकर्मक षोडश धातुओं के योग में अप्रधान कर्म में विकल्प से होती है। यथा—'नेता अश्वस्य ग्रामस्य ग्रामम् वा' इत्यादि। जब कृद्योग क्रिया से युक्त वाक्य में कर्त्ता कर्म दोनों की स्थिति हो तब कर्म अर्थ से ही षष्ठी विभक्ति होती है, किन्तु 'अक' और 'अ' प्रत्यय के योग में दोनों में षष्ठी होती है।[2] यथा—'गवां दोहः अगोपेन, विभित्सा रुद्रस्य जगतः'। 'अक' एवं 'अ' प्रत्ययों से भिन्न समस्त कृत् प्रत्ययों के योग में क्रिया के कर्त्ता अर्थ को षष्ठी एवं तृतीया विभक्तियाँ विकल्प से अभिहित करती हैं।[3] यथा—'जगतः कृतिः हरेः हरिणा वा, मया मम वा सेव्यो हरिः' इत्यादि। एवंच यहाँ तक कर्त्ता व कर्म अथ को बोधित करने वाली षष्ठी विभक्ति के लक्ष्यों व उद्देशों को प्रतिपादित किया गया। अब इसके अधिकरण अर्थ का दिग्दर्शन कर लेना भी आवश्यक होगा।[4] तद्यथा—क्रिया की अभ्यावृत्ति अर्थात् बारम्बारता अर्थ को प्रगट करने वाले 'कृत्वसुच्' आदि प्रत्ययों के प्रयोग में क्रिया के कालरूप अधिकरण को षष्ठी विभक्ति प्रगट करती है। यथा—'पंचकृत्वः दिनस्य भोजनम्' इत्यादि। इसके अतिरिक्त आयुक्त एवं कुशल शब्दों के योग में उत्सुकता की अभिव्यक्ति होने पर वैषयिक आधार को षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ विकल्प से अभिहित करती हैं। यथा—'आयुक्तः कुशलो वा हरि पूजनस्य हरिपूजने वा इत्यादि। इस प्रकार यहाँ कारक षष्ठी के समस्त लक्ष्यों को उपस्थापित करने का प्रयास किया गया है।

अनुबन्धार्थ : उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से ङस्, ओस्, आम् प्रत्ययों के रूप-विज्ञान एवं इनके सम्बन्ध अर्थ और सम्बन्ध-वैविध्य के

१—पा० सू० २।३।७०

२—पा० सू० २।३।६६ तथा वार्तिक १५१३

३—पा० सू० २।३।७१ तथा द्रष्टव्य—"अत्र योगो विभज्यते—सिद्धान्त कौमुदी, कारक, सू० ६२९

४—पा० सू० २।३।६४ व ४०

साथ-साथ समग्र प्रवृत्तिस्थलों को संक्षेप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। बीच-बीच में तुलनात्मक दृष्टि के लिए अधिकृत आचार्यों के मत भी प्रदत्त हैं। सम्प्रति उपसंहार के रूप में ङ्स् प्रत्यय में अनुषक्त 'ङ्' अनुबन्ध के प्रयोजन पर ध्यान दे लेना चाहिए। इस अनुबन्ध का लोक दृष्टि से विशेष फल न होने पर भी पाणिनीय शास्त्र की दृष्टि से प्रक्रिया-निर्वाह में अतिशय प्रयोजन है।[१] किंच इसके अनुबन्धन से प्रत्यय के स्वरूप का परिज्ञान हमें परिस्फुट रूप में हो जाता है। एवंच लोकदृष्ट्या भी यह अनुबन्ध निष्फल नहीं कहा जा सकता है।

सप्तमी विभक्ति

ङि, ओस्, सुप् : ये तीनों प्रत्यय सप्तमी विभक्ति एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें स्वरूपगत भेद होने पर भी पूर्ववत् इनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। केवल संख्या की दृष्टि से इनमें अर्थगत भेद है। वैयाकरणों की दूसरी परम्पराओं में इनका यही स्वरूप मान्य है।[२] आगे की पंक्तियों में इनके पारिवर्तित रूपान्तर के साथ-साथ रूपविज्ञान और अर्थ-विज्ञान पर भी विचार किया जायेगा।

विविधरूप

ङि(इ) : विभिन्न प्रकृतियों के संयोग से यह प्रत्यय ७ या ८ रूपों में परिवर्तित हो जाता है।[३] उनका विवेचन एवं उनके साहचर्य से प्रकृतिगत कतिपय परिवर्तनों को निम्नांकित बिन्दुओं में प्रदर्शित किया जा रहा है :

१—द्रष्टव्य—पा० सू० ७।१।१२, ७।३।१११, ६।१।११० इत्यादि

२—का० २।१।२०,२७ व 'सुप्', बालशिक्षा; चा० २।१।१; हैम० १।१।१८

३—द्रष्टव्य—पा० सू० ७।१।१५, १६; ७।३।११४; १।४।३; ६, ७।३।११६, ११३; ६।१।६०; १।४।७; ७।३।१११, ११६, ११२, १०३; ८।३।५५ ५७, ५६; १।४।१७, १८; ६।४।१३४, ८।२।७, ८।४।१ इत्यादि

(१) अकारान्त सर्वनाम प्रकृति के आगे इसका 'स्मिन्' रूप देखा जाता है। यथा—सर्वस्मिन्, तस्मिन्, कस्मिन्' इत्यादि। किन्तु पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व एवं अन्तर शब्दों में इसका यह रूप विकल्प से देखा जाता है। इसके अभाव में 'इ' रूप ही रहता है। यथा—'पूर्वस्मिन्-पूर्वे' इत्यादि।

(२) स्त्रीलिंग आकारान्त सर्वनाम के आगे यह 'स्याम्' रूप में दृष्टिगत होता है। किन्तु उक्त पूर्वादि प्रकृतियों के आगे यह रूप विकल्प से दृष्टिगत होता है। इसके अभाव में 'याम्' रूप देखा जाता है। यथा—'सर्वस्याम्, पूर्वस्याम्–पूर्वायाम्' इत्यादि।

(३) स्त्रीलिंग आकारान्त प्रकृति से विहित होने पर यह 'याम् रूप में परिवर्तित हो जाता है। यथा—'रमायाम्, लतायाम्, इत्यादि।

(४) पुँल्लिग इ, उ स्वरान्त प्रकृति से नित्य एवं स्त्रीलिंग इ, उ स्वरान्त प्रकृति के आगे विकल्प रूप में इसका 'औ' रूप हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति के अन्त स्वर का लोप होता है, किन्तु सखि और पति शब्दों में यणादेश होता है। यथा–हरौ, भानौ, सख्यौ, पत्यौ' इत्यादि।

(५) स्त्रीलिंग ई, ऊ स्वरान्त प्रकृति से नित्य, पुँल्लिग में वर्तमान होने पर भी पूर्वावस्था में नित्य स्त्रीलिंग ई, ऊ स्वरान्त प्रकृति से भी नित्य, किन्तु स्त्रीलिंग इ, उ स्वरान्त प्रकृतियों के आगे विकल्प से यह 'आम्' रूप में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति के अन्तिम स्वर में यणादेश होता है। यदि प्रकृति का अन्तिम ई, ऊ स्वर धातु के अवयव हों तो इन अन्तिम स्वरों को 'इय्' और 'उव्' आदेश होते हैं। भ्रू, भू एवं सुधी शब्दों में भी उक्त आदेश होते हैं। यथा–नद्याम्, वध्वाम्, मत्याम्-मतौ, धेन्वाम्-धेनौ, भ्रुवाम्, सुधियाम्' इत्यादि।

(६) अकारान्त अव्ययीभाव के आगे विकल्प से यह 'अम्' रूप में देखा जाता है। यथा—उपकूलम्-उपकले इत्यादि। किन्तु अवशिष्ट अव्यय एवं एकार्थीभाव में पूर्ववत् इसका भी लोप हो जाता है। यथा—'पुत्रस्नेहः, अक्षचतुरः' इत्यादि।

(७) अवशिष्ट स्वरान्त एवं व्यंजनान्त प्रकृतियों के आगे यह अपने 'इ' रूप में ही दृष्टिगत होता है। इसके संयोग से अकारान्त प्रकृति में गुण, आकारान्त प्रकृति में भी गुण अथवा उस आकार के धात्ववयव होने पर उसका लोप, पुँल्लिग 'ई' वर्णान्त प्रकृति में सवर्णदीर्घ पुँल्लिग 'ऊ' वर्णान्त प्रकृति में 'यण्' ऋकारान्त प्रकृति में गुण एवं ए, ऐ, ओ, औ स्वरान्त प्रकृतियों में अयादि आदेश हो जाते हैं। हलन्त प्रकृतियों में तो सम्मेलन मात्र होता है। यथा—'रामे, हाहे, विश्वपि, पपी, पितरि, कर्तरि, गवि, रायि, दृषदि, जगति, राज्ञि-राजनि' इत्यादि।

इस प्रकार सात बिन्दुओं में इस प्रत्यय को आठ रूपों में परिवर्तित हुआ दिखाया गया है। इसके साथ प्रकृति में जायमान परिवर्तन को भी चित्रित करने का प्रयास किया गया है।

ओस् : षष्ठी विभक्ति के विविधरूपों के प्रदर्शन क्रम में इस प्रत्यय के विषय में वहाँ पर जो रूप-परिवर्तनादि उक्त हैं, वही बात यहाँ भी लागू होती है। उससे इसका अर्थगत भेद होने से इसे यहाँ पुनः पढ़ा गया है। अतः यहाँ पर इसके रूप-विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा रहा है।

सुप् (सु) : सप्तमी बहुवचनसंज्ञक इस प्रत्यय में 'प्' अनुबन्ध है, जिसे पृथक् करने के बाद इसका रूप 'सु' मात्र बचता है और यह रूप स्वरान्त, व्यंजनान्त सभी प्रकृतियों में समान रूप से दृष्टिगत होता है। इसके संयोग से अकारान्त प्रकृति के अन्तिम स्वर को 'ए' आदेश हो जाता है तथा हलन्त प्रकृतियों में पदत्वादि नलोप कार्य होते हैं। आ से भिन्न स्वरान्त प्रकृतियों से आगे इसका मूर्धन्यीकृत 'षु' रूप देखा जाता है। कवर्गान्त प्रकृतियों में भी इसका यही रूप दृष्टिगत होता है। यथा—'रामेषु हरिषु, विश्वासु, गौरीषु, रमासु, गोषु, नृषु, दृषत्सु, लिट्त्सु राजसु' इत्यादि। दकारादि और हकारान्त धातु निष्पन्न शब्द एवं कवर्गान्त और चान्त शब्द से पर में इसका मूर्धन्यीभाव होने से पूर्वस्थित प्रकृति के वर्ण को 'क्' हो जाता है। तदनन्तर क् और षु दोनों मिलकर 'क्षु' रूप में दृष्टिगत और श्रुतिगोचर होते हैं। यथा—'धुक्षु, गोक्षु' इत्यादि।

सप्तम्यर्थ :—यहाँ तक ङि, ओस्, सुप् प्रत्ययों के विविध रूपों का विवेचन किया गया। इसी क्रम में इनके संयोग से जायमान प्रकृति के

परिवर्तन को भी संक्षेप में देखा गया। सम्प्रति इनके अर्थ-विज्ञान का अध्ययन अवसर प्राप्त है। जैसा कि कहा गया है इन प्रत्ययों को सप्तमी विभक्ति नाम से व्यपदिष्ट किया जाता है। यह विभक्ति मुख्यतः आधार या अधिकरण अर्थ का बोधन करती है। कहीं-कहीं यह अवधि एवं लक्षण सम्बन्धों को भी बोधित करती हुई देखी जाती है, जिसका विश्लेषण आगे की पंक्तियों में किया जा रहा है। किन्तु द्वितीयादि विभक्तियों के प्रधान कर्मादि अर्थों की भाँति इसका मुख्य अर्थ 'आधार' ही है। इस आधार अर्थ का बोधन करने से जहाँ इसे कारक विभक्ति कहते हैं, वहाँ पद-विशेष के सन्निधान से सम्बन्ध-विशेष का बोधन करने से यह उपपद विभक्ति भी कहलाती है।

आधार :—जिस प्रकार धात्वर्थ व्यापार एवं फल के आधार या आश्रय को कर्त्ता एवं कर्म कहा गया है तथा क्रिया की सिद्धि में सहायक व्यापाराश्रय को करण कहा गया है, तद्वत् कर्त्ता व कर्म के माध्यम से जो क्रिया का आश्रय है उसे अधिकरण कहते हैं। इस प्रकार द्वितीया एवं तृतीया की भाँति सप्तमी का भी आश्रय अर्थ है। इस आश्रय को ही आधार एवं अधिकरण नामों से कहा जाता है। यद्यपि यह कारकविभक्ति है, अतः क्रिया के आधार को ही अधिकरण कहना उचित होगा, तथापि 'कटे शेते' इत्यादि उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि साक्षात् सम्बन्ध से 'शयन' क्रिया कर्त्ता में आश्रित रहती है तथा 'शयनकर्त्ता के आश्रय 'कट' इत्यादि होते हैं। इस प्रकार क्रिया के साक्षात् आश्रय कर्त्ता एवं कर्म के आश्रय को ही आधार या अधिकरण कहना समीचीन होगा। एवंच 'कर्तृकर्मद्वारा क्रियाश्रयत्व-माधारत्वम्' आधार का यह लक्षण सम्भव है। इस क्रियाश्रयता में निरूपक का भेद होने से सांकर्य की आपत्तिकथमपि असम्भव है। आचार्य भर्तृहरि ने भी इस 'स्वाश्रयाश्रयत्वरूप' परम्परा सम्बन्ध की चर्चा की है।[1] महर्षि पाणिनि ने 'आधारोऽधिकरणम्' (पा० सू० १।४।४५) सूत्र से अधिकरण की व्याख्या आधार शब्द से प्रस्तुत की है। इसे

१—'कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद् धारयत् क्रियाम्।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥

—वाक्यपदीय काण्ड ३, साधनसमुद्देश १४८

अनुभूतिस्वरूप ने 'आधारो नामाधिकरणम्'[1] कहा है। किन्तु हेमचन्द्र ने अधिकरण के व्याख्यान की आवश्यकता नहीं समझी है, जबकि शर्व-वर्मा य आधारस्तदधिकरणम्' कहते हैं, किन्तु चन्द्रगोमी अधिकरण को बीच में लाने की आवश्यकता ही नहीं समझते हैं, उन्होंने आधार अर्थ में ही सप्तमी का विधान किया है। पाणिनीय सूत्र के व्याख्याता धर्मकीर्ति ने व्युत्पत्ति-पुरस्सर अधिकरण संज्ञा के उक्त रूप को अपने शब्दों में कुछ विस्तार से रखा है।[2]

विभाग करने की दृष्टि से विद्वानों ने उपर्युक्त आधार को कई प्रकार का माना है। सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजिदीक्षित ने पाणीनीय परम्परा के अनुसार औपश्लेषिक, वैषयिक एवं अभिव्यापक इन तीन रूपों में आधार को विभक्त किया है। दो द्रव्यों के उपश्लेष = संयोग सम्बन्धावच्छिन्न आधाराधेयभाव से सम्पन्न आधार को औपश्लेषिक कहते हैं। यथा—'कटे शेते' इत्यादि उदाहरणों में 'कट' और 'कर्ता देवदत्तादि' का संयोग सम्बन्ध होता है, अतः यहाँ संयोग संबंधावच्छिन्न आधाराधेयभाव है। विषयता सम्बन्ध होने पर वैषयिक आधार होता है जिसे हिन्दी में 'विषय में, बारे में' इत्यादि शब्दों से अभिहित करते हैं। यथा— मोक्षे इच्छास्ति' 'गमने रुचिर्नास्ति' इत्यादि उदाहरणों में 'मोक्ष के विषय में इच्छा है' ऐसा अर्थ किया जाता है। इसमें आधार भावारूप होता है। अपृथक्भूत आधाराधेय पदार्थों में सकलावयवव्याप्ति से जो आधार होता है, उसे अभिव्यापक कहते हैं। यथा—'तिलेषु तैलम् इत्यादि उदाहरणों में 'तिल' और 'तैल' इन दोनों पदार्थों में परस्पर समवायसम्बन्ध है, क्योंकि तिल के किसी एक अंश में तेल नहीं रहता, अपितु उसके सभी अवयवों में वह समान रूप से व्याप्त रहता है। अतः यहाँ तिलों में जो आधार है, वह अभिव्यापक है। तिलों से तेल को अलग कर लेने पर पुनः उन्हीं तिलों में उस तेल को नहीं भरा जा सकता, जबकि 'कट' से 'देवदत्त' के अलग हो जाने पर पुनः उस 'कट' से देवदत्त का संयोग हो सकता है।

१—सारस्वत व्याकरण, कारक-प्रक्रिया

२—'आध्रियन्तेऽस्मिन् क्रिया इत्याधारः'—रूपावतार, कारक, पृ० १६२-१६

पाणिनीय परम्परा में प्रतिपादित इन तीनों आधारों को धर्मकीर्ति ने चार भागों में विभक्त किया है। इन तीनों के अतिरिक्त उन्होंने एक 'प्रत्यासत्ति' आधार को अतिरिक्तरूप से स्वीकार किया है।[1] प्रत्यासत्ति अर्थात् सामीप्यसम्बन्ध से जायमान आधार को सामीपिक या प्रत्यासत्ति आधार कहते हैं। तदनुसार 'गंगायाम् घोषः' 'वटे आस्ते' इत्यादि इसके उदाहरण हैं। किन्तु इसका अन्तर्भाव औपश्लेषिक आधार में किया जा सकता है; क्योंकि यहाँ भी गंगा और वट वृक्ष से घोष और आसन का 'उपश्लेष' रहता ही है। भेद चूँकि दृष्टिकोण पर आधारित होता है, अतः अनुभूतिस्वरूप ने इस आधार के छः भेद किये हैं।[2] उपर्युक्त चारों भेदों के अतिरिक्त उन्होंने नैमित्तिक एवं औपचारिक इन दो भेदों को और स्वीकार किया है। उनके अनुसार निमित्तकृत—आधार नैमित्तिक है। यथा—'उत्सवे समागत, युद्धे गतः' इत्यादि इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त लक्षणा से संजात आधार को औपचारिक कहेंगे। इसके उदाहरण 'गंगायां घोषः' इत्यादि हैं। किन्तु सारस्वत व्याकरण के टीकाकार चन्द्रकीर्तिसूरि ने इसका कोई उदाहरण नहीं दिया है और 'गंगायाम् घोषः' को सामीपिक आधार का उदाहरण माना[3] है। अवधेय है कि ये उदाहरण औपचारिक भेद में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। एवंच इसके उपर्युक्त तीन भेद ही पर्याप्त और समीचीन हैं।

इसके अतिरिक्त साधु, असाधु व निपुण शब्दों के योग में प्रति, परि एवं अनु निपातों का प्रयोग न करने पर तथा क्त प्रत्ययान्त से कर्त्ता अर्थ में इन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न शब्द के योग में विषयतासम्बन्ध को सप्तमी विभक्ति बोधित करती है। यथा--'साधुः मातरि, निपुणः आचार्ये, अधीती व्याकरणे' इत्यादि। इन उदाहरणों में सप्तमी की

१—'स आधारः औपश्लेषिक-वैषयिक-व्यापक-प्रत्यासत्तिभेदवान् चतुर्विधः—रूपावतार, कारकावतार

२—'षड्विधमधिकरणम्'—सारस्वत व्याकरण, कारकप्रक्रिया

३—द्रष्टव्य-सारस्वत व्याकरण,चन्द्रकीर्ति टीका, चौखम्बा, वाराणसी, १९७६ पृ०-२१८,

उपपत्ति के लिए आचार्यों ने तीन नियम वाक्य बनाये हैं,[१] किन्तु यहाँ सर्वत्र वैषयिक आधार होने से नियम वाक्य की आवश्यकता ही नहीं रहती। कुछ आचार्यों[२] ने तो 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इत्यादि उदाहरणों में भी चर्मणि बुद्धि निधाय' इस व्याख्यान से वैषयिक सप्तमी स्वीकार किया है। एवंच एतदर्थं 'निमित्तात् कर्मयोगे' (वार्तिक १९४०) वार्तिक की आवश्यकता नहीं रह जाती है। यहाँ फल को ही निमित्त कहा गया है। क्रिया के कर्म से उसका संयोग या समवायसम्बन्ध नितरां अपेक्षित है। अन्यथा 'वेतनेन धान्यं लुनाति' इत्यादि उदाहरणों के समान उससे भी तृतीया प्राप्त होगी।[३]

विकल्प :—यहाँ तक अधिकरण के स्वरूप एवं उसके भेदोपभेदों का अध्ययन किया गया। अब नीचे कतिपय ऐसे आधारों की चर्चा की जा रही है, जिन्हें सप्तमी विभक्ति विकल्प से प्रगट करती है :

(१) स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू, प्रसूत तथा उत्सुक, आयुक्त एवं कुशल शब्दों के तथा इनके पर्यायवाची शब्दों के योग में विषयतासम्बन्ध को सप्तमी एवं षष्ठी विभक्तियाँ विकल्प से बोधित करती है।[४] यथा—'गोषु गवां वा स्वामी' इत्यादि।

(२) कालार्थक प्रत्यय का लोप होने पर नक्षत्रवाची शब्द एवं प्रसित और उत्सुक शब्दों के योग में अधिकरण को सप्तमी एवं तृतीया विभक्यिताँ विकल्प से अभिहित करती हैं। यथा—'मूले मूलेन वा आवाहयेत् देवीम्, हरौ हरिणा वा प्रसितः' इत्यादि।

(३) दो कारकों के मध्य के अन्तर का बोधक काल और मार्ग रूप अधिकरण में तथा अधिक शब्द के योग में सप्तमो एवं पंचमी विभक्तियाँ विकल्प से होती हैं।[५] यथा—'इहस्थः अयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् 'लोके लोकाद् वा अधिको हरिः' इत्यादि।

१—पा० सू० २।३।४३ तथा वार्तिक १४९३, १८८८, १४८६ व १४९०

२—द्रष्टव्य-चान्द्रव्याकरण, अध्याय २, पाठ १, पूना, १९५३, पृ० १८२

३—पा० सू० २।३।४५ व ४४ ४—पा० सू० २।३।३९ व ४०

५—पा० सू० २।३।७ व यहीं की सिद्धान्तकौमुदी

(४) हेतु के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करने पर हेतुता अर्थ को सभी विभक्तियों के साथ-साथ सप्तमी भी प्रकट करती है।[1] यथा—कस्मिन् कारणे इत्यादि।

भिन्नार्थ व उपपद :—संप्रति सप्तमी से द्योत्य लक्षण, विभाग व सम्बन्धादि अर्थ जहाँ प्रतीत होते हैं, उन स्थलों को प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ सम्बन्धादि अर्थ के प्रकटन में इसे उपपदसप्तमी भी कहा जा सकता है। तद्यथा–

(१) जिसकी क्रिया क्रियान्तर का लक्षण हो, उससे सप्तमी विभक्ति होती है। इसे 'सति सप्तमी' भी कहते हैं। यथा—'गोषु दुह्यमानासु गतः, सत्सु तरत्सु असन्तः आसते' इत्यादि। किन्तु उक्त लक्षकता से यदि अनादर का आधिक्य द्योतित होता हो तो उससे सप्तमी एवं षष्ठी विभक्तियाँ विकल्प से होती हैं।[2] यथा—'रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्' इत्यादि उदाहरणों में 'रोते हुये पुत्रादि का अनादर करके' यह अर्थ द्योतित हो रहा है।

(२) जाति, गुण, क्रिया एवं संज्ञा के द्वारा जिस समुदाय से उसके एक अवयव का निर्धारण अर्थात् विभाग किया जाता है, उस समुदाय से सप्तमी एवं षष्ठी विभक्तियाँ विकल्प से होती हैं।[3] यथा—'नृषु नृणाम् वा द्विजः श्रेष्ठः' इत्यादि।

(३) जिससे आधिक्य एवं जिसके प्रभुत्व का कथन किया जाय उससे भी सप्तमी होती है।[4] यथा—'उपपरार्धे हरेर्गुणाः, अधि भुवि-रामः, अधिरामे भूः' इत्यादि।

(४) अधिकरण प्रधान दूर और समीपार्थक शब्दों तथा पञ्चमी के योग में मार्गवाची शब्दों से वैकल्पिक एवं कालवाची शब्दों से नित्य सप्तमी विभक्ति होती है।[5] यथा—'दूरे निकटे, वनाद् गामो योजने योजनम् वा' इत्यादि।

१—पा० सू० २।३।२७ व वार्तिक १४७३   २—पा० सू० २।३।३७ व ३८
३—पा० सू० २।३।४१   ४—पा० सू० १।४।६७ व २।३।६
५—द्रष्टव्य—सिद्धान्तकौमुदी, कारक सू० ६३३

अनुबन्धफल : यहाँ तक कारक एवं उपपद उभयविध सप्तमी के अर्थविज्ञान पर विचार किया गया। अब अनुबन्ध के प्रयोजन पर किंचित् दृष्टिपात करना संगत होगा। 'ङि' प्रत्यय में 'ङ' अनुबन्ध जहाँ शास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाहक है[1] वहाँ अपने स्वरूप को निर्भ्रान्त रूप से उपस्थित करने में भी सहायक है। एवंच इस अनुबन्ध का लोक एवं शास्त्र उभयत्र प्रयोजन सिद्ध है। सुप् प्रत्यय में 'प्' अनुबन्ध केवल प्रत्याहार के लिए आसंजित है।[2] इसके होने से 'सुप्' प्रत्याहार निष्पन्न होता है, जो शास्त्रीय प्रक्रिया में सहायक होता है। एवंच यहाँ के दोनों अनुबन्ध लाघव एवं सारल्य की दृष्टि से सफल हैं।

उपसंहार : विभक्ति प्रत्ययों के अध्ययनक्रम में यहाँ तक प्रातिपदिक प्रकृति से संयुक्त होने वाले इक्कीस सुप् प्रत्ययों के रूप-विज्ञान एवं अर्थ-विज्ञान का विवेचन किया गया। इनके स्वरूप के विषय में शर्ववर्मा, चन्द्रगोमी, हेमचन्द्र, अनुभूतिस्वरूप एवं धर्मकीर्ति के मतों का भी उल्लेख किया गया है। अर्थ-विज्ञान के अध्ययन में भी पाणिनीय परम्परा के अतिरिक्त इन आचार्यों के मतों का स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है। अन्त में इनके अनुबन्धों के प्रयोजन पर भी दृष्टिपात किया गया है। यहाँ अवधेय है कि इन्हीं प्रत्ययों से वाक्यार्थ निष्पन्न होता है। इनके संयोग से ही प्रकृति पूर्णता को प्राप्त होती है। वह वाक्य प्रयोगार्ह पद कहलाता है। भाषा में सुबन्त पदों का प्रथम स्थान है। वाक्य रचना केवल सुबन्तों से भी सम्भव है। 'वृद्धानां वचनं ग्राह्यम्' में तिङन्तपद की आकांक्षा नहीं है। यहाँ 'एकतिङ वाक्यम्' वार्तिक से अपेक्षित तिङ्त्व की पूर्ति 'ग्राह्यम्' पद से ही हो रही है। अब आगे तिङ् प्रत्ययों पर विचार किया जायगा।

—०—

१—द्रष्टव्य—पा० सू० ६।१।११०, ७।१।१२, ७।३।१११ इत्यादि

२—'पकारस्तु प्रत्याहारार्थः'—प्रौढमनोरमा, अजन्तपुँल्लिग, 'सुङ स्योरिति' प्रतीक

तिङ् विभक्ति

उपक्रम : विभक्ति प्रत्यय प्रतिपादक प्रकृत प्रकरण में अब तक प्रातिपदिक प्रकृति से विहित होने वाले इक्कीस प्रत्ययों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया। उन प्रत्ययों के संयोग से शब्दरूप अर्थात् सुबन्त-पद निष्पन्न होते हैं। सम्प्रति क्रियारूपों के निष्पादक अठारह तिङ प्रत्ययों का विवेचन किया जायेगा। यद्यपि 'हसितम्, शयितम्, गतम्' इत्यादि सुबन्त पदों से भी क्रिया अर्थ की प्रतीति होती है तथापि वहाँ क्रिया सत्त्वभूता रहती है अर्थात् उसमें लिंग और संख्यादि की अन्विति रहती है। अतः असत्त्वभूत[1] क्रिया अर्थ के सम्पादक तिङन्त पद ही हैं। इन्हीं पदों को यहाँ क्रियारूप से व्यवहृत किया गया है। जैसा कि पहले कहा गया है, विभक्ति प्रत्यय दो प्रकार के हैं तथा उनकी प्रकृतियाँ भी द्विधा हैं। प्रातिपदिक-प्रकृति से जहाँ सुप् विभक्ति प्रत्यय विहित होते हैं, वहाँ धातुप्रकृति से तिङ प्रत्ययों का विधान होता है। यद्यपि धातुप्रकृति से कृत् एवं धातु-निष्पादक सनादि प्रत्यय भी विहित होते हैं, किन्तु वे विभक्ति प्रत्यय नहीं हैं, अपितु उनके संयोग के अनन्तर उन्हें वाक्यप्रयोगार्ह रूप प्रदान करने के लिए उनके पर में पुनः सुप् या तिङ विभक्ति प्रत्ययों का विधान होता है।

१—असत्त्वभूतो भावश्च तिङपदैरभिधीयते'—वाक्यपदीय, उद्धृत वैयाकरण-सार, धात्वर्थ-निर्णय, चौखम्बा, वाराणसी, १९६९, पृ० १८

प्रकृति : तिङ प्रत्ययों की प्रकृतिभूता धातु तीन प्रकार की है। प्रथम प्रकार में वे धातुएँ हैं, जो महर्षि पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों के द्वारा दस गणों में विभक्त करके या कुछ सूत्रों में परिगणित हैं।[१] गणों में विभक्त इन धातुओं को भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्र्यादि एवं चुरादि शब्दों से जाना जाता है। द्वितीय प्रकार में उन धातुओं को गिना जा सकता है, जिनसे सनादि प्रत्ययों का संयोग होने पर उनमें पुनः अभिनव धातुत्व धर्म उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त सुबन्तपदरूप से क्रिया अर्थ में 'क्विप, क्यङ, क्यष्, क्यच् और काम्यच्' इनमें से किसी भी प्रत्यय का योग होने पर जो धातुरूप बनते हैं, उन्हें तृतीय कोटि में रखा जा सकता है। उक्त तीनों ही कार की धातुओं से क्रियारूप की सिद्धि के लिए तिङ प्रत्यय का विधान किया जाता है। इस धातु प्रकृति की चर्चा पूर्वपीठिका में की गयी है। वहाँ इसके सामान्य अर्थ पर पर्याप्त विचार किया गया है। प्रत्येक धातु के विशेष अर्थ एवं प्रत्ययसंयोग से जायमान उनके समग्र परिवर्तनों का अध्ययन एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है, अतः इसे यहाँ नहीं किया जायेगा, अपितु इस प्रकरण में केवल तिङ प्रत्ययों के स्वरूप-विज्ञान एवं अर्थ-विज्ञान का आलोडन प्रस्तुत होगा। उद्देश्यतया सम्प्राप्त धातुओं की उद्देश्यता को स्पष्ट करने के लिए उनके अनुबन्धों का अध्ययन तो आवश्यक है, अतः यथावसर उसकी चर्चा की जायेगी।

तिङ : लादेश : महर्षि पाणिनि ने क्रिया के आश्रय (कर्त्ता और कर्म), संख्या तथा काल की प्रतीति कराने के लिए ऊपर चर्चित त्रिविध धातुओं से दशविध 'लकार' प्रत्ययों का विधान किया है। तदनन्तर क्रियारूपों की निष्पत्ति के लिए प्रत्येक लकार के स्थान पर अट्ठारह तिङ प्रत्ययों का 'आदेश' होता है, अतः तिङ् को 'लादेश' (लकार के स्थान पर आदेश) कहते हैं। क्रियारूपों में इन्हीं की श्रुति होती है, अतः इन्हीं से क्रिया के आश्रय, संख्या और काल का बोध होता है अर्थात् आश्रयादि अर्थों की बोधकताशक्ति तिङ् में ही निहित है। कतिपय वैयाकरण इन्हें प्रत्यय कहने में कुछ विप्रतिपत्ति

१— स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः'—सिद्धान्तकौमुदी, क्र्यादि, सू० २५५५

का अनुभव कर सकते हैं; क्योंकि इन प्रत्ययों का विधान दस लकारों के स्थान पर आदेश के रूप में किया गया है, अतः ये आदेश हैं, न कि प्रत्यय। पुनरपि 'स्थान्यर्थाभिधानमादेशानाम्' इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार तिङ्प्रत्यय स्थानिभूत लकार के अन्य अर्थों का अभिधान करते हैं, तद्वत् उसके प्रत्ययत्व धर्म को भी स्वीकार कर लेते हैं। किंच प्रत्यय के अन्यान्य धर्म भी, जैसे प्रकृति के पर में स्थित, श्रावण प्रत्यक्ष-विषयता इत्यादि उक्त तिङ् प्रत्ययों में ही निहित होने से इनके प्रत्ययत्व में लेशमात्र भी संशय का अभाव है। यद्यपि महर्षि पाणिनि ने इन्हें 'लादेश'[1] शब्द से बोधित किया है, तथापि उन्होंने ही 'स्थानिवद्भाव' की भी व्यवस्था दी है। एवंच 'तिङ्' के प्रत्यय होने में कोई सन्देह नहीं है। इन्हें आदेश का रूप देना लाघवमूलक है। लकारों की कल्पना न करने पर इनकी दस स्थितियाँ माननी पड़तीं तथा इन्हें उद्देश्य करके दस प्रकार के अर्थों का विधान करना पड़ता, जो कि शब्द-गौरव का कारण होता। साथ ही पूर्वाचार्यों से मान्य वैज्ञानिक सरणि का परित्याग भी करना पड़ता। ऐसी स्थिति में महर्षि पाणिनि ने लकारों की कल्पना स्वीकार करके उसके स्थान पर तिङ् प्रत्ययों को आदेश के रूप में संकलित किया है, किन्तु इन्हें स्वयं अपने शब्दों में प्रत्यय भी माना है।[2]

लकार : ऊपर दसविध लकारों की चर्चा आयी है। इनके स्वरूप ये हैं—लट्, लिट् लुट्, लृट्, लेट् लोट्, लङ्, विधिलिङ्, आशीर्लिङ्, लुङ् और लृङ्। इनमें पाँचवाँ लेट् लकार केवल वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त होता है तथा विधिलिङ् और आशीर्लिङ् एक ही 'लिङ्' लकार के दो भेद हैं। इन भेदों को दो मानने पर तथा 'लेट्' लकार को छोड़ देने पर लौकिक संस्कृत के लिए दस लकार बचते हैं, अतः यहाँ इनकी संख्या दस बतलायी गयी है। व्याकरण की दृष्टि से इन लकारों को कृत् प्रत्यय के अन्दर परिगणित किया जाता है, क्योंकि धातु से विहित तिङ् भिन्न सभी प्रत्यय 'कृत्' कहे जाते हैं। फिर भी

१—'नलोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्'—पा० सू० २।३।६९
२—'कृदतिङ्'—पा० सू० ३।१।९३

यहाँ इनकी उपयोगिता होने से इनके स्वरूप एवं अर्थ की चर्चा इसी प्रकरण में की जायेगी। व्याकरण-प्रक्रिया की दृष्टि से इनके अन्तिम वर्ण अनुबन्ध का लोप हो जाता है। इसी प्रकार इन सब में 'ल्' मात्रावशेष होने से इन्हें 'लकार' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। जिन लकारों में 'ट्' अनुबन्ध का संसर्ग है उन्हें 'टित्' तथा 'ङ्' अनुबन्ध वाले लकारों को 'ङित्' कहा जाता है। टित् और ङित् इन दोनों ही संज्ञाओं का प्रक्रिया में अतीव उपयोग है।[1] इसके विपरीत हेमचन्द्र, शर्ववर्मा और अनुभूतिस्वरूप ने लकारों की परिकल्पना ही नहीं की है।[2] इन आचार्यों ने तीनों कालों एवं उनमें घटित होने वाले विध्यादि विभिन्न भाव-भंगिमा रूप अर्थों में तिङ् प्रत्यय का ही विधान किया है। ऐसी स्थिति में इन विद्वानों ने अट्ठारह की अपेक्षा एक सौ अस्सी तिङ प्रत्ययों की संकल्पना की है। जबकि कतिपय नियमों के सहारे ही उक्त अट्ठारह तिङ् प्रत्ययों में कुछ परिवर्तन तथा दस लकारों में शक्ति संकलपन के माध्यम से महर्षि पाणिनि समग्र क्रियाशब्दों की सर्जना एवं प्रवर्त्तना सिद्ध करते हैं। चन्द्रगोमी एवं धर्मकीर्ति ने इस विषय में पाणिनीय परम्परा का ही अनुसरण किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ चन्द्रगोमी ने पाणिनीय नियमों के समाहार का प्रयास किया है वहाँ धर्मकीर्ति पाणिनीय सूत्रानुसार ही विषयोपस्थापन करते हैं।

सामान्यार्थ : सम्प्रति लकार के विशेषस्वरूपों को दृष्टिगत कर लेने के पश्चात् इनके विशेष अर्थों के अध्ययन के पूर्व सामान्य अर्थ-विज्ञान की समीक्षा आवश्यक प्रतीत होती है, क्योंकि विशेष ज्ञान सामान्यपूर्वक होता है। इस सामान्य अर्थ में लकार एवं तिङ् को पृथक् नहीं समझना चाहिए। जैसा कि कहा गया है, तिङ् लकार के ही आदेश हैं, अतः लकार के अर्थ तिङ् के ही हैं। किंच उन अर्थों की बोधकता शक्ति तिङ् में ही निहित रहती है। अतः संक्षेपार्थ यदि 'ल्'

१—पा० सू० ३।४।७६, ६६ इत्यादि

२—'अथ परस्मैपदानि। नव पराण्यात्मनेपदानि'—द्रष्टव्य—का० ३।१।१, २ इत्यादि; हैम० ३।३।६; 'अस्य तिबादेः पाणिनीयानां लडिति संज्ञा'—सा० भ्वादि, परस्मैद, ७

या लकार शब्द का प्रयोग किया जाय तो उससे यहाँ तिङ् प्रत्यय ही समझना चाहिए।

महर्षि पाणिनि ने 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (पा०सू० ३।४।४९) सूत्र से तिङ् प्रत्यय के सामान्य अर्थ का प्रतिपादन किया है। इसका अभिप्राय है, तिङ् प्रत्यय सकर्मक धातुओं से विहित होने पर कर्त्ता एवं कर्म अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं तथा अकर्मक धातु से संयुक्त होने पर कर्ता एवं भाव अर्थ को अभिहित करते हैं। धातुओं के सकर्मक एवं अकर्मक भेद को पीछे पूर्वपीठिका में स्पष्ट किया जा चुका है तथा इनकी तीन जातियों की भी चर्चा की गयी है। इन समग्र धातुओं का 'फल एवं व्यापार' ये दो अर्थ होते हैं। फलाश्रय को कर्म एवं व्यापाराश्रय को कर्त्ता कहा गया है। इनमें से फल एवं व्यापार धातु के वाच्य हो जाते हैं, अवशिष्ट 'आश्रय' रूप अर्थ अपूर्व ठहरता है[1], जिसका अभिधान तिङ् प्रत्यय करते हैं। एवंच आश्रय तिङ् का वाच्यार्थ सिद्ध होता है। जैसा कि कौण्ड भट्ट ने कहा है 'आश्रये तु तिङः स्मृतः'। कर्ता एवं कर्मरूप आश्रय के अतिरिक्त तिङ् प्रत्यय से उक्त आश्रय की संख्या और क्रिया के काल अर्थ की भी प्रतीति होती है। एवंच इसके कर्ता, कर्म, संख्या, काल और भाव ये पाँच अर्थ अनुभव सिद्ध हैं। इनमें से कर्तृ प्रत्यय 'शप्' इत्यादि के समभिव्याहार से कर्त्ता अर्थ तथा आत्मनेपद और 'यक्' इत्यादि के समभिव्याहार से कर्मार्थ को प्रतीति होती है अर्थात् ये दोनों अर्थ एक साथ प्रतीत नहीं होते हैं। जब तिङ् का कर्त्ता अर्थ होगा, तब वह आश्रयत्व सम्बन्ध से धात्वर्थ व्यापार में एवं जब कर्म अर्थ होगा तब उसका उसी सम्बन्ध से धात्वर्थ फल में अन्वय होगा। संख्या अर्थ का अन्वय तिङर्थ के कर्त्ता होने पर उसमें तथा कर्म होने पर उस कर्म में होता है। किन्तु काल का अन्वय सदा धात्वर्थ व्यापार में ही होता है। एवंच तिङर्थ सर्वदा विशेषण होते हैं। ऐसी स्थिति में 'प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इस सिद्धान्त का तिङर्थ के सन्दर्भ में बाध देखा जाता है। इस बाध में 'भावप्रधान-माख्यातम्' यह निरुक्त वाक्य एवं भाष्यकार द्वारा इसका समर्थन ही

१—'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः'—उद्धृत-वैयाकरण-भूषणसारदर्पण, चौखम्बा, वाराणसी, १९६९, पृ० २४

प्रमाण है। तिङर्थ को प्रधान मानने पर तो उसका प्रथमान्तार्थ देवदत्तादि से अभेदान्वय होगा। फलतः 'पश्य मृगो धावति' इत्यादि वाक्य में एकवाक्यता सिद्ध नहीं हो पायेगी, क्योंकि तिङर्थ कर्त्ता को प्रधान मानने पर उसी का दर्शन क्रिया में कर्मत्वेन अन्वय होगा, अतः कर्तृवाचक 'मृग' पद से द्वितीया की भी प्राप्ति होने लगेगी। यदि वहाँ 'तम्' पद का अध्याहार करके उसे दर्शन क्रिया का कर्म कहा जाय तो इस स्थिति में जहाँ वाक्य भेद होगा, वहीं विवक्षितार्थ को प्रतीति भी नहीं होगी। क्योंकि दर्शन के कर्म रूप में 'मृग' विवक्षित नहीं है, अपितु 'मृगकर्तृक धावन' विवक्षित है। यह तभी सम्भव होगा तब 'धावन' व्यापार को प्रधान माना जाय और उस प्रधान अर्थ का दर्शन क्रिया में कर्म रूप से अन्वय हो। किंच 'पचति भवति' इत्यादि वाक्यों में प्रथमान्तार्थ की स्थिति न होने पर भी शाब्दबोध देखा जाता है। अतएव वैयाकरणों ने नैयायिकों के 'प्रथमान्तार्थ प्राधान्य' का निराकरण कर धात्वर्थप्राधान्य की स्थापना की है।

किंच नैयायिकों ने तिङ के कर्त्ता और कर्म अर्थ को धर्मपरक अंगीकार किया है। ऐसी स्थिति में कर्तृत्व कृतिरूप एवं कर्मत्व फलरूप सिद्ध होगा।[१] इनमें से कृति को यदि व्यापाररूप स्वीकार किया जाय तब तो ये दोनों ही अर्थ धातु वाच्य होने से उसमें तिङ् की शक्ति-कल्पना ही निरर्थक होगी। इसके विपरीत यदि कृति को यत्नरूप स्वीकार किया जाय तब 'रथो गच्छति' इत्यादि उदाहरण ही असम्भव होंगे, क्योंकि निर्जीव होने से रथ कृत्याश्रय नहीं हो सकता। कृति चेतन का धर्म है। एवंच नैयायिकों से स्वीकृत तिङर्थ असिद्ध है। इस प्रसंग में अवधेय है, मीमांसकों ने तिङ् का जो व्यापार अर्थ माना है, वह उन्हीं के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता।[२] क्योंकि उन्होंने कृत् के विधान में तद्वाच्य कर्ता को धर्मिपरक स्वीकार किया है तो तिङ् प्रत्ययों के विधान में उसे धर्मपरक माना है, जो अपने ही सिद्धान्त का

१—'कर्तृत्वम् कृतिः, कर्मत्वं च फलमेव'—वैया० भू० सार, धात्वर्थ, चौखम्बा, वाराणसी, १६६६, पृ० २६

२—द्रष्टव्य-वैयाकरणभूषणसारः, धात्वर्थ-निर्णय, चौखम्बा, वाराणसी, १६६६, पृ० २८ से ३६

स्वयं विरोध करने के कारण कथमपि संगत प्रतीत नहीं होता। दूसरी बात यह है, 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति' इस वैदिक[1] वाक्य में मीमांसकों के अनुसार उपात्त द्रव्य में ही 'अरुणया' का अन्वय होता है। किन्तु तिङन्तस्थल में तिङ का व्यापार अर्थ स्वीकार करके उन्होंने जब लक्षणा से आश्रय की प्रतीति मानी है, तब 'पिङ्गाक्ष्या' इत्यादि समासवृत्ति से निष्पन्न यौगिक पदों में भी लक्षणा के द्वारा ही द्रव्य अर्थ की प्रतीति करनी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में पिङ्गाक्ष्यादि यौगिक पदों में द्रव्यवाचक शक्ति का अभाव रहेगा, अतः यहाँ पिङ्गाक्षी में अरुणान्वयबाधित होगा। फलस्वरूप उपात्त द्रव्य में अरुणान्वय प्रतिपादन के सिद्धान्त से उनका विरोध होगा। ऐसी स्थिति में 'प्रत्ययार्थः प्रधानम्'[2] इस सिद्धान्त के पीछे मीमांसकों का प्रधान व्यापार अर्थ में तिङ् की शक्ति एवं सामानाधिकरण्य के लिए 'आश्रय' अर्थ में लक्षणा स्वीकार करना कहाँ तक संगत है?

इस प्रकार नैयायिकों एवं मीमांसकों के मत की समीक्षा करने के उपरान्त यह स्थिर होता है कि तिङ् प्रत्यय के कर्ता, कर्म, संख्या, काल तथा भाव ये सामान्य अर्थ होते हैं तथा ये सभी अर्थ धात्वर्थ में विशेषण होते हैं।

विशेषार्थ : ऊपर जिन अर्थों की चर्चा की गयी है, उनमें से कर्ता, कर्म अथवा भाव अर्थ उपर्युक्त दसों लकारों के सभी तिङ् विशेषों से समानरूप में प्रतीत होते हैं। संख्या भी सर्वत्र प्रतीत होती है, किन्तु अन्तर केवल यही है कि सभी लकारों में एकवचन तिङ् से एकत्व, द्विवचन तिङ से द्वित्व तथा बहुवचन तिङ्-विशेष से बहुत्व संख्या वाच्य होती है। पीछे कहा जा चुका है कि यह संख्या तिङ् के वाच्य आश्रय में रहती है अर्थात् इससे कर्ता या कर्म के एकत्वादि का बोध होता है, न कि क्रिया या भाव के। वस्तुतः भाव या क्रिया में तो

१—तैत्तिरीयसंहिता ६।१।६

२—'प्रकृतिप्रत्ययौ ब्रूतः प्रत्ययार्थं सहेति यत्। भेदेनैवाभिधानेऽपि प्राधान्येन तथोच्यते'—वाक्यार्थमातृका०, पृ० ४८; 'कार्यस्यैव प्रधानत्वात् वाक्यार्थत्वं च युज्यते।'—वाक्यार्थमातृका २।२७, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, २०३६ विक्रमी

कोई संख्या होती ही नहीं है। तिङ् का पाँचवाँ वाच्यार्थ काल है, जिसका सम्बन्ध धात्वर्थ क्रिया से होता है अर्थात् तिङ् प्रत्यय क्रिया के काल का वाचक होता है, न कि कर्ता आदि के। क्रिया का यह काल भूत, भविष्य और वर्तमान आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। इसके अतिरिक्त क्रिया के कुछ प्रकार भी हैं, जिन्हें हम विधि, निमन्त्रण आदि शब्दों से व्यवहृत करते हैं। ये प्रकार प्रायः वर्तमान काल में रहते हैं। किन्तु हेतु-हेतुमद्भाव आदि भूत और भविष्य काल में भी पाये जाते हैं। अथवा इन प्रकारों में काल गौण रहता है और क्रिया के प्रकार प्रधान हुआ करते हैं। यहाँ अवधेय है कि इन काल विशेषों और प्रकार विशेषों का बोध तिङ् प्रत्ययों से ही होता है। एतदर्थ इन प्रत्ययों के स्वरूप में दस प्रकार के परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। पाणिनीय परम्परा में कुल अठारह तिङ् प्रत्यय हैं, जिनमें नव परस्मैपद एवं नव आत्मनेपद कहे जाते हैं। उक्त काल और प्रकार का बोध कराने के लिए इनके १८० स्वरूप हो जाते हैं। कातन्त्र, हैम और सारस्वत व्याकरण में इन्हीं स्वरूपों का विधान हुआ है और अठारह-अठारह प्रत्ययों के दस वर्गों की कल्पना करके उनके अर्थविज्ञान का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसके विपरीत महर्षि पाणिनि ने एक-एक वर्ग के लिए एक-एक लकार, इस प्रकार दस लकारों की कल्पना करके क्रिया के उक्त सभी अर्थों का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त सभी लकारों में तिङ् प्रत्ययों के परवर्तित स्वरूप को बताने के लिए उन्होंने आदेश, आगम और विकार के विधायक सूत्रों का प्रणयन किया है। ऐसा करने से इन प्रत्ययों के अर्थविज्ञान का अध्ययन सरल हो जाता है अर्थात् परिमित शब्दों से सभी अर्थों का सुस्पष्ट विवेचन अवगत हो जाता है। अतः यहाँ भी पाणिनीय परम्परा के अनुसार दस लकारों के माध्यम से तिङ् प्रत्ययों के अर्थविज्ञान का अनुशीलन किया जायगा। अतः इसे आप लकारार्थ का अनुशीलन भी कह सकते हैं। पीछे लकारों की संख्या दस गिनाई गयी है, जिनमें से लेट् लकार का प्रयोग केवल वैदिक संस्कृत में होता है। अवशिष्ट नव लकारों में से लिङ् लकार के विधिलिङ् एवं आशीर्लिङ् ये दो भेद हो जाते हैं, अतः लौकिक संस्कृत के लकारों की संख्या भी दस ही ठहरती है। इनका

स्वरूप शून्य बचता है, क्योंकि इन्हीं के स्थान पर आदिष्ट होकर तिङ्प्रत्यय इनके अर्थ को बोधित करते हैं। यहाँ विधिलिङ और आशीर्लिङ को एक लिङलकार मानकर कुल नव विन्दुओं में क्रिया के कालविशेषों और मकारविशेषों के परिज्ञानार्थ लकार अथवा तिङ के अर्थविज्ञान का पर्यालोचन किया जा रहा है।

(१) **लट् लकार** : इसे सार्वधातुक लकार कहते हैं तथा इसकी 'टित्' संज्ञा भी होती है। यह मुख्यरूप से क्रिया के वर्तमान काल को प्रकट करता है अर्थात् इसमें वर्तमान काल-बोधिका शक्ति निहित[1] है। 'भवति पठति, एधते' इत्यादि इसके उदाहरण हैं। वाक्य में धातु के अर्थ से सम्बन्धित विशेष उपपदों का प्रयोग करने पर या क्रिया की विशेषावस्था विवक्षित होने पर यह लकार वर्तमान से भिन्न काल में भी प्रयुक्त होता है। जैसे वर्तमान के समीप भूतकाल या भविष्यत् काल की क्रिया होने पर उस भूतकाल या भविष्यत् काल को भी यह लकार बोधित करता है।[2] यथा—'कदा आगतोऽसि' इस भूतकालिक आगमन क्रिया-विषयक प्रश्न का उत्तर 'अयमागच्छामि' इस प्रकार लट्लकार से भी दिया जा सकता है, किन्तु ऐसा प्रयोग तभी होगा, जब कुछ ही देर पूर्व आगमन हुआ हो। क्रिया की आशंसा व्यक्त होने पर अथवा प्रधान क्रिया के अनुरोध पर उसमें विशेषणीभूता गौण क्रिया से भविष्यत् काल में अथवा कालान्तर में भी इस लकार का प्रयोग होता है।[3] यथा—भविष्यत् कालिक वर्षण की आशंसा में 'देवश्चेद् वर्षति' यह प्रयोग भी साधु है। प्रधान क्रिया के अनुरोध से यथा—'बसन् ददर्श' यहाँ भूतकाल में 'वस्' धातु मे लट् व उसके स्थान पर शतृ (अत्) का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार लिप्स्यमान अन्नादि के द्वारा किसी अर्थ की सिद्धि व्यक्त होने पर भविष्यत् काल में लृट् एवं लुट् के अतिरिक्त इसका भी प्रयोग देखा जाता है।[4] जैसे—'योऽन्नं ददाति स स्वर्गं याति' यह भविष्यत् कालिक प्रयोग

१—'वर्तमाने लट्' पा० सू०—२।२।१२३

२—'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा'—पा० सू० ३।३।१३१

३—'आशंसायां भूतवच्च'—पा० सू० ३।३।१३२, ३।४।१

४—'किंवृत्ते लिप्सायाम्'—पा० सू० ३।३।६

है। लोट् लकार के अर्थ प्रेषण इत्यादि क्रिया को लक्षित करने पर लक्षणार्थक धातु से लट् लकार भविष्यत् काल को विकल्प से प्रगट करता है।[१] यथा—'कृष्णश्चेद् भुङ्क्ते त्वं गाश्चारय' इत्यादि। यदि पूर्वोक्त लोडर्थ-लक्षण धातु से एक मुहूर्त (एक घण्टा) से अधिक भविष्य की प्रतीति करानी हो तब भी उस धातु से विकल्प से लट् का प्रयोग करते हैं। यथा—'मुहूर्ताद् उपरि उपाध्यायश्चेदागच्छति, अथ त्वं पठ' इत्यादि। इच्छार्थक धातुओं से विध्यादि अर्थों में लट् और लिङ दोनों लकारों का प्रयोग होता है।[२] यथा—'स इच्छेत् इच्छति वा' इन दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में सम्भव है।

कतिपय उपपदों के संयोग से भी लट् लकार अन्य कालों में प्रयुक्त होता है।[३] तथाहि—'स्म' निपात का योग होने पर परोक्षभूत एवं अनद्यतन भूतकाल में इसका प्रयोग होता है। यथा—'यजतिस्म युधिष्ठिरः' इत्यादि। यदि उत्तर देने में 'ननु' शब्द का प्रयोग किया जाय तब यह लकार भूतकाल अर्थ को अभिहित करता है, तथा यदि उस वाक्य में 'नु' शब्द का प्रयोग होगा तब लट् लकार विकल्प से भूतकाल अर्थ को प्रगट करेगा। यथा—'अकार्षीः किम् ? न करोमि' इत्यादि। धातु का 'पुरा' शब्द से योग होने पर भूतकाल को यह लकार विकल्प से बोधित करता है। यथा—'पठन्ति इह पुरा' इत्यादि। इसी प्रकार निश्चयार्थक 'यावत्' या 'पुरा' शब्द के योग में अथवा 'कदा' या 'कर्हि' का योग होने पर यह लकार विकल्प से भविष्यत् काल को कहता है। एवमेव 'कम्', कतरम् या कतमम् शब्द का प्रयोग होने पर यदि किसी की लिप्सा अर्थात् लुब्धता व्यक्त होती हो तब भी लट् लकार भविष्यत् काल को विकल्प से अभिहित करता है। वाक्य में 'अपि' या 'जातु' शब्द का प्रयोग करने पर यदि उस वाक्य से निन्दा की प्रतीति होती हो तब लट् लकार क्रिया के तीनों कालों को व्यक्त करता है। यदि इसी स्थिति में 'कथम्' शब्द का

१—'लोडर्थलक्षणे च'—पा० सू० ३।३।८ २—पा० सू० ३।३।१६०

३—पा० सू०—३।२।११८, ११६, १२०, १२१, १२२; ३।३।४, ५, ६, १४२, १४३

प्रयोग किया जाय तो यह तीनों कालों को विकल्प से बोधित करेगा। यथा—'कथं धर्मं त्यजसि, त्यक्ष्यसि, अत्याक्षीः वा' इत्यादि।

इस प्रकार यह देखा गया कि जहाँ स्म, पुरा, ननु या नु आदि निपात क्रिया के भूत या भविष्य काल को प्रकट कर रहे हैं, वहाँ क्रियावाचक धातु से लट् का ही प्रयोग होता है। इसी प्रकार क्रिया के प्रकार विशेष में जहाँ काल की मुख्य विवक्षा नहीं रहती है, इसी लकार का प्रयोग होता है।

(२) **लिट् लकार** : यह आर्धधातुक और टित् लकार है। इन दोनों ही संज्ञाओं का उपयोग प्रक्रिया में होता है। इसका मुख्य अर्थ परोक्ष भूतकाल है। इस काल के पारोक्ष्य की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है।[1] किसी के अनुसार पुरानी ऐतिहासिक काल की क्रिया परोक्ष है तो कोई एक सौ वर्ष पहले की क्रिया को परोक्ष मानते हैं। कुछ विद्वान् दो या तीन दिन पहले की क्रिया को भी परोक्ष कहते हैं, किन्तु उक्त सभी पक्षों को दृष्टिगत करके भाष्यकार ने यह निश्चित किया है कि प्रयोक्ता के इन्द्रियों से ओझल जो क्रिया हुई है वह परोक्ष है।[2] चित्त के विक्षेपादि से स्वयं उत्तम पुरुष की क्रिया में भी परोक्ष-भाव देखा जाता है। यथा—'सुप्तोऽहम् किल विललाप' इत्यादि उदाहरणों में उत्तम पुरुष की विलाप क्रिया 'सुप्त' पद से व्यक्त विक्षेप के कारण परोक्ष मानी गयी है। यदि किसी क्रिया को बिल्कुल छिपाया जाय तब भी वहाँ इस लकार का प्रयोग होता है, किन्तु इस स्थिति में यदि 'ह' या 'शश्वत्' निपातों का प्रयोग होगा तब यह लकार विकल्प से प्रयुक्त होगा। इसके अभाव में वहाँ लङ् लकार का प्रयोग होता है यथा—'कलिंगेषु अवात्सीः, ह चकार अकरोद् वा' इत्यादि इसके उदाहरण हैं। उपस्थित अर्थ यदि न दिखाई दे, तब तद्विषयक प्रश्न पूछने में धातु से लिट् और लङ् दोनों

१—'परोक्षत्वं तु वर्षशतवृत्तित्वमित्येके। वर्षसहस्रवृत्तित्वमित्यपरे। द्व्यहवृत्तत्वं त्र्यहवृत्तत्वं चेत्यन्ये। कुड्यकटाद्यन्तरितत्वमित्ययेके। एते पक्षा भाष्ये स्थिताः'—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, भ्वादि-प्रकरण, सन् २१७१

२—तत्र प्रयोक्तुरिन्द्रियागोचरत्वं परोक्षत्वमित्येव सर्वसंमतम्—'सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, वहीं पर उद्धृत

लकार विकल्प से होते हैं। यथा—'जगाम किम्' इत्यादि। इसके अतिरिक्त वाक्य में 'पुरा' शब्द का प्रयोग करने पर लिट्, लङ, लुङ् और लट् ये चारों लकार भूत-अनद्यतन काल को प्रगट करते हैं। यथा—'ऊषुः पुरा' इत्यादि।

एवंच उक्त छह स्थितियों में लिट् लकार का प्रयोग होता है।[1] इसके प्रयोग में क्रिया की परोक्षता अनिवार्यतत्त्व है।

(३) **लुट् लकार** :—यह भी टित् एवं आर्धधातुक लकार है। इसका मुख्य अर्थ अनद्यतन भविष्यत् काल है। गत रात्रि के अन्तिम क्षण से लेकर आगामी रात्रि की समाप्ति के पूर्व क्षण तक के अहोरात्रात्मक काल को अद्यतन भविष्यत् काल कहते हैं।[2] इस भविष्यत् काल से भिन्न अवधिरूपात्मक या निश्चयात्मक भविष्यत् काल को 'अनद्यतन भविष्यत् काल' कहा जाता है। इसी अर्थ को यह लकार मुख्य रूप से प्रगट करता है। यथा—श्वो गन्तास्मि इत्यादि। इसके अतिरिक्त 'कदा या कर्हि' शब्द का प्रयोग करने पर सामान्य भविष्यत् में भी इसका वैकल्पिक प्रयोग देखा जाता है। इसके अभाव में लृट लकार का प्रयोग होता है।[3] यथा—'कदा भोक्ता भोक्ष्यते वा' इत्यादि।

(४) **लृट् लकार** :—यह भी टित् संज्ञक आर्धधातुक लकार है। यह मुख्य रूप से सामान्य-भविष्यत् काल को बोधित करता है। इसके अतिरिक्त उपपद या अर्थ विशेष की विवक्षा होने पर प्रकृति से भिन्न कालों को भी प्रगट करता है।[4] तद्यथा :

१—द्रष्टव्य—पा० सू० ३।२।११५, ११६, ११७ व १२२ तथा वार्तिक २०८४ एवं उत्तमपुरुषे चित्तविक्षेपादिना पारोक्ष्यम्'—सिद्धान्तकौमुदी, लकारार्थ, सू० २७७५

२—'एकस्या रात्रेश्चतुर्थो यामो दिवसश्च सर्वो द्वितीयायाश्च रात्रेः प्रथमोऽद्यतन इत्याहुः।—महाभाष्यप्रदीप ३।२।११०, वार्तिक ३०००

३—पा० सू० ३।३।५,१५

४—पा० सू० ३।३।१३, ११२, ११४, १४४, १४६, १४५, १५५, १५६, ३, १३३, १३५, १३६, १३७, १५१

(i) वाक्य में स्मरणार्थक धातु उपपद होने पर तथा 'यत्' शब्द का प्रयोग न होने पर यह अनद्यतन भूतकाल को प्रगट करता है। किन्तु उक्त स्थिति में दो वाक्यों की क्रियायें यदि परस्पर लक्ष्य-लक्षण भाव से साकांक्ष हों, तब यह विकल्प से उस काल को व्यक्त करता है। इसके अभाव में वहाँ लङ् लकार का प्रयोग होता है। यथा—'स्मरसि कृष्ण, तत्र वत्स्यामः, तत्र पाठं पठिष्यामः' इत्यादि उदाहरणों में 'वास' लक्षण है तथा 'पठन' लक्ष्य है।

(ii) वाक्य में 'किम्' शब्द का प्रयोग हो तथा निन्दा की प्रतीति होती हो अथवा क्रोधद्योतक 'किं किल' या 'अस्त्यर्थक' पद का प्रयोग हो और असम्भावना या अक्षमा अर्थ की प्रतीति होती हो अथवा सम्भावनार्थक धातु उपपद में हो तो विकल्प से इस लकार का प्रयोग होता है। किन्तु किं किल या अस्त्यर्थक उपपद होने पर इस लकार का प्रयोग नित्य होता है। यथा—'कः हरिं निंदिष्यति, न मर्षये किं किल, त्वं पापं करिष्यसि' इत्यादि।

(iii) भविष्यत् कालिक क्रियाओं में कार्यकारणभाव द्योतित होने पर अथवा असंभावनार्थक या अक्षमार्थक धातु उपपद होने पर भविष्यत् काल में इसका वैकल्पिक प्रयोग होता है। इसके अभाव में लिङ् और लृङ् लकार होते हैं। यथा—'कृष्णं नंस्यति चेत् सुखं यास्यति, न मर्षये भवान् गुरुं निन्दिष्यति' इत्यादि।

(iv) वाक्य में 'यत्र' या 'यच्च' पदों का प्रयोग न करने पर तथा आश्चर्य अर्थ के ध्वनित होने पर यह लकार क्रिया के तीनों कालों को व्यक्त करता है। यथा—'आश्चर्यम्, अन्धो नाम कृष्णं द्रक्ष्यति' इत्यादि।

(v) शीघ्रार्थक शब्द उपपद होने पर तथा आशंसा के व्यक्त होने पर अथवा क्रिया की निरन्तरता और समीपता व्यक्त होने पर यह लकार सामान्य और निश्चित दोनों भविष्यत्

कालों को व्यक्त करता है। यथा—'यावज्जीवनमन्नं दास्यति इत्यादि।

(vi) 'कदा' या 'कर्हि' शब्द का प्रयोग करने पर यह लकार सामान्य भविष्य को भी विकल्प से अभिहित करता है। इसके अभाव में लुट् लकार का प्रयोग होता है, यथा—'कदा भोक्ष्यते भोक्ता वा' इत्यादि।

(vii) वाक्य में किसी निश्चित सीमा से अवर विभाग बताना हो तो यह लकार भविष्यत् काल में नित्य प्रवृत्त होता है। यथा—'योऽयं मार्गः गन्तव्यः आपाटलिपुत्रात्, तस्य कौशाम्ब्याः यदवरं तत्र सक्तून् पास्यामः' इत्यादि। किन्तु वह अवर विभाग 'अहोरात्र' सम्बन्धी हो तब वहाँ लुट् लकार ही प्रयुक्त होगा। यथा—'योऽयं मास आगामी, तस्य योऽवरः पंचरात्रः तत्र अध्येतास्महे' इत्यादि। यदि इस स्थिति में उक्त विभागीय सीमा से परत्व को बताता हो तब लृट् और लुट् दोनों ही लकार भविष्यत् काल को प्रगट करेंगे। यथा—'योऽयं मास आगामी, तस्य परं यत्, तत्र अध्येष्यामहे अध्येतास्महे वा' इत्यादि।

एवंच इस लकार से व्यक्त होने वाले विभिन्न अर्थों को यहाँ सात बिन्दुओं में दर्शाया गया है। इसमें देखा गया कि जहाँ निश्चितता आदि अर्थ निपातों से ही व्यक्त हुए हैं, वहाँ लुट् के साथ-साथ इसका भी प्रयोग हुआ है।

(५) **लोट् लकार** :—यह टित्संज्ञक सार्वधातुक लकार है किन्तु इसकी ङित् संज्ञा भी होती है। इसका मुख्य अर्थ प्रवर्तना, निमन्त्रण, आमन्त्रण, सत्कारपूर्वक व्यापार, सम्प्रश्न तथा प्रार्थना है। अशीर्वाद अर्थ को भी यह प्रकट करता है।[1] इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर अभिप्राय कथन में भी इसका प्रयोग होता

१—पा० सू० ३।३।१६२, १७३

है ।[1] कामचार एवं प्राप्तकाल अर्थों को भी यह लकार व्यक्त करता है । यथा–'भवान् यजताम्' इत्यादि । किन्तु प्रर्वतना, कामचार और प्राप्तावसर की क्रिया एक मुहूर्त के आगे अभीष्ट हो तो यह लकार विकल्प से होगा । इसके अभाव में लिङ् लकार या 'कृत्य' प्रत्यय होंगे । किन्तु इसी स्थिति में 'स्म' निपात का प्रयोग हो अथवा 'स्म' उपपद होने पर सत्कारपूर्वक प्रवर्तना हो तो इस लकार का नित्य प्रयोग होता है । यथा–'ऊर्ध्वमुहूर्तात् यजतां स्म, त्वम् अध्यापय स्म' इत्यादि ।[2] इसके अतिरिक्त क्रिया की बारम्बारता या आधिक्य में यह लकार सभी कालों को व्यक्त करता है । इस स्थिति में इस लकार के स्थान पर तिङ् प्रत्ययों का निषेध करके परस्मैपद धातुओं से 'हि' एवं आत्मनेपदी धातुओं से 'स्व' प्रत्यय सभी पुरुषों और वचनों में होते हैं । यदि उक्त प्रकार की क्रियाओं का समुच्चय हो, तब ये दोनों प्रत्यय विकल्प से होंगे तथा लोट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन एवं मध्यम पुरुष बहुवचन के 'त' और 'ध्वम् प्रत्ययों के स्थान पर उक्त दोनों प्रत्यय विकल्प से होंगे । इसका उदाहरण महाकवि माघ का यह श्लोक है :

'पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामरांगनाः' इत्यादि । 'पिबत, खादत' इत्यादि उदाहरण भी इसी के हैं ।

(६) **लङ् लकार** :–यह ङित्संज्ञक सार्वधातुक लकार है । यह मुख्यरूप से अनद्यतन, सावधिक या निश्चित भूतकाल को अभिहित करता है । वाक्य में 'मा स्म' शब्द का प्रयोग करने पर यह लकार और लुङ् लकार सभी लकारों के बाधक होते हैं । यथा–'मास्म भवत् भूत् वा' इत्यादि । स्मृति-बोधक का प्रयोग करने पर तथा 'यत्' शब्द की स्थिति होने पर भी यही लकार अनद्यतन भूतकाल को व्यक्त करता है । किन्तु दो क्रियाओं में लक्ष्य-लक्षण भाव होने पर यह अपने अर्थ को विकल्प से व्यक्त करेगा । परोक्षभूत अर्थ में भी 'ह' अथवा 'शश्वत्' शब्द का योग होने पर अथवा समक्ष स्थित वस्तु के

१—पा० सू० ३।३।१५७

२—पा० सू० ३।३।१६३, १६४, १६५ व १६६

अभाव में तद्विषयक प्रश्न पूछने पर या 'पुरा' शब्द का योग होने पर इस लकार का प्रयोग होता है।[1] यथा–'ह अकरोत्, अगच्छत् किम्, अवसन् पुरा' इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(७) **लिङ् लकार** :—ङित्संज्ञक इस लकार की सार्वधातुक और आर्धधातुक दोनों ही संज्ञायें होती हैं। इसके आर्धधातुक रूप को ही आशीर्लिङ् कहा जाता है। उस स्थिति में वह आशीर्वाद अर्थ को अभिहित करता है। उसके स्थान पर जायमान तिङ् प्रत्ययों के स्वरूप में सार्वधातुकरूप की अपेक्षा भेद होता है। इन दोनों ही स्थितियों में रूपभेद के कारण ही इस लकार को दो भागों में देखा जाता है। आशीर्वाद अर्थ के अतिरिक्त अन्य सभी अर्थों में इसके सार्वधातुकरूप ही पाये जाते हैं। अपने सार्वधातुक रूप में यह लकार सभी कालों की क्रिया की प्रवर्तना को अभिहित करता है। लोडर्थ प्रवर्तना ही इसका भी मुख्य वाच्यार्थ है। इस मुख्यार्थ के अतिरिक्त निम्नांकित बिन्दुओं में सार्वधातुक विधिलिङ् से बोध्यमान काल एवं प्रैषादि अर्थों को देखा जा सकता है :

(i) वाक्य में असम्भावना या अमर्षार्थक उपपद का प्रयोग होने पर कालत्रय व्यापिनी क्रिया में इसका प्रयोग होता है। इसके अभाव में उस क्रिया में लृट् एवं लृङ् लकार भी प्रयुक्त होते हैं। क्रिया से अर्हता या शक्ति अर्थगम्य होने पर भी सभी कालों में यह लकार तथा कृत्य एवं तृच् प्रत्यय भी विकल्प[2] से होते हैं। यथा—'न मर्षये, हरिं निन्दिष्यति,' त्वम् कन्यां भारं वा वहेः' इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(ii) आशंसार्थक उपपद होने पर यह लकार क्रिया के भविष्यत् काल को जहाँ नित्य रूप से अभिहित करता है। वहाँ एक मुहूर्त के पश्चात् होने वाली क्रिया यदि लोडर्थ क्रिया के साथ लक्ष्य-लक्षणभाव से सम्बद्ध हो तो उसके भविष्यत् काल

१—द्रष्टव्य-पा० सू० ३।२।१११, ११४, ११६, ११७, १२२; ३।३।१६७

२—पा० सू० ३।३।१३४ व ६]

को यह लकार विकल्प से अभिहित करता है ।[1] यथा—'गुरुश्चेदुपेयाद् आशंसेऽधियीय, मुहूर्तादुपरि गुरुश्चेदागच्छेत् आगमिष्यति आगन्ता वा अथ त्वं पठ' इत्यादि ।

(iii) वाक्य में 'यच्च' या 'यत्र' उपपद होने से गर्हा अर्थ व्यक्त होने पर अथवा उक्त उपपद से ही आश्चर्य अर्थ व्यक्त होने पर, स्वीकारार्थक 'उत' या 'अपि' उपपद होने पर, 'कच्चित्' के अतिरिक्त अन्य उपपद के होने या न होने पर भी स्वाभिप्राय-प्रकटन द्योतित होने पर, वाक्य में 'अलम्' उपपद के बिना भी तन्मूलक सम्भावना होने पर अथवा समानकर्तृक इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर यह सार्वधातुक लकार क्रिया के सभी कालों को एवं तत्तत् विशेष अर्थों को व्यक्त करता है । यथा—'त्वमपराद्धं समर्थयेः, यच्च तवं समर्थयेः, उत हन्यादघं हरिः, कामो मे भुञ्जीत, अपि गिरिं शिरसा भिन्द्यात्, भुञ्जीय इति इच्छति' इत्यादि क्रमशः उक्त अर्थों के उदाहरण हैं । इसके अतिरिक्त कतिपय भिन्न उपपदों एवं अर्थों में यह लकार क्रिया के तीनों कालों को विकल्प से कहता है । तथाहि-'किम्' शब्द उपपद होने पर गर्हा अर्थ व्यक्त होने पर, 'जातु' 'यत्' 'यदा' या 'यदि' उपपद से असम्भावना या अक्षमा अर्थ द्योतित होने पर, उक्त स्थिति में 'यत्र' या 'यच्च' उपपद होने पर' इच्छार्थक धातु उपपद में हो तो स्वाभिप्राय-कथन प्रकट होने पर अथवा एक मुहूर्त के पश्चात् क्रिया सिद्ध होने वाली हो तो उस प्रवर्तना, कामचार एवं प्राप्तकाल व्यंजिका क्रिया के तीनों कालों और प्रवर्तनादि अर्थों को यह लकार विकल्प से बोधित करता है । इसके अभाव में सर्वत्र भविष्यत् काल व भूतकाल को लृङ् एवं यथाप्राप्त लकार बोधित करते हैं । प्रवर्तनादि अर्थों में लोट् के साथ-साथ कृत्य प्रत्यय भी उसे व्यक्त करते हैं । यथा—'कः हरिं

१—द्रष्टव्य-पा० सू० ३।३।१४४, १४७, १४८, १४९, १५०, १५२, १५३, १५४, १५६, १५७, १५९, १६४

निन्देत्' 'यदि त्वादृशो हरिं निन्देत् नावकल्पयामि' 'यत्र त्वमेवं कुर्याः न मर्षये' 'इच्छामि भुञ्जीत' 'मुहूर्तादुपरि यजेत' इत्यादि ।[1]

(iv) 'यत्' शब्द उपपद होने पर काल, समय या वेला का प्रयोग किया जाय तब यह लकार नित्य ही क्रिया के तीनों कालों को अभिहित करेगा। यथा—कालः यद् भुञ्जीत' इत्यादि। किन्तु इच्छार्थक धातुओं से अथवा सम्मानार्थक धातु उपपद होने पर या 'कथम्' निपात से गर्हा अर्थ व्यक्त होने पर क्रिया के तीनों कालों को यह लकार विकल्प से व्यक्त करता है। यथा—'सम्भावयामि पठेत् भवान्' 'इच्छेत् इच्छेति वा कथम् धर्मं त्यजेः' इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

यहाँ उपर्युक्त चार बिन्दुओं में सार्वधातुक विधिलिङ के प्रयोग को देखा गया है। इसका मुख्य अर्थ प्रवर्तना एवं आशीर्वाद है, अतः इसमें काल की प्रतीति गौण रहती है। इसके अतिरिक्त जहाँ काल का बोध विवक्षित रहता है, वहाँ निर्दिष्ट निपातों का प्रयोग अपेक्षित है।

(८) **लुङ् लकार** :—यह ङित्संज्ञक आर्धधातुक लकार है। इसकी शक्ति मुख्यरूप से क्रिया के सामान्य भूतकाल में निहित है, किन्तु क्रियारूप के पहले 'मा' उपपद होने पर नित्यरूप से तथा 'मास्म' उपपद होने पर विकल्प रूप से यह सभी लकारों का अपवाद हो जाता है। यथा—'मा भूत्' मास्म भूत् भवत् वा' इत्यादि। इसके अतिरिक्त 'न' या 'नु' शब्द का प्रयोग होने पर समान्य भूतकाल को यह और लट् लकार विकल्प से व्यक्त करते हैं। यथा—'नाकार्षम्' इत्यादि। अनद्यतन भूत अर्थ में भी क्रिया के सातत्य एवं सामीप्य को व्यक्त करने के लिए इस लकार का नित्य प्रयोग होता है। यथा—'यावज्जीवमन्नमदात्' इत्यादि। किन्तु 'पुरा' शब्द का प्रयोग होने पर क्रिया के अनद्यतन भूतकाल को यह विकल्प से बोधित करता है। इसके अभाव में लट्, लिट् एवं लङ् लकार होते हैं। यथा—'पुरा अवात्सुः' इत्यादि।[2]

१—पा० स० ३।३।१६८, १६०, १५५, १४३

२—पा० सू० ३।२।११०; ३।३।१७५, ७६; ३।२।१२१, १२२; ३।३।१३५

(६) **लृङ् लकार** :–यह भी ङित्संज्ञक अर्धधातुक लकार है। धातु से भविष्यत्काल बोधक 'स्य' प्रत्यय का संयोग इस लकार में भी होता है, किन्तु लृट् लकार से इसमें यह भिन्नता है कि सार्वधातुक लिङ् के हेतु-हेतुमद्-भाव, गर्हा, असम्भावना या अक्षमा जो अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं, उन अर्थों की स्थिति होने पर तथा क्रिया की असिद्धि प्रतीत होने पर उस क्रिया के भविष्यत्काल अर्थ को यह लकार तथा विधिलिङ लकार विकल्प से अभिहित करते हैं। किन्तु उक्त स्थिति में यदि क्रिया के भूतकाल को प्रगट करना हो तो लिङ् लुङ् लङ् और लट् लकार के अतिरिक्त विकल्प से इसका भी प्रयोग होता है। ऊपर प्रदर्शित हेतु-हेतुमद्भावादि से भिन्न अर्थों में लिङ् की स्थिति होने पर, उसके अभाव में भविष्यकालिक एवं भूतकालिक इन द्विविधि क्रियाओं की असिद्धि को अभिहित करने के लिए इस लकार का प्रयोग किया जाता है। एवंच इस लकार के प्रयोग में मुख्य हेतु सार्वधातुक लिङ की प्राप्ति एवं इसका मुख्य अर्थ क्रियातिपत्ति है।[1] यथा—सुवृष्टिश्चेदभविष्यत् शस्यसम्पत्तिरभविष्यत्' इत्यादि इसके उदाहरण सर्वत्र ऊहनीय हैं।

तिङ् के स्वरूप व संज्ञान्तर : ऊपर की पंक्तियों में लकारों के विशेष काल और क्रिया की विशेष अवस्था का अध्ययन किया गया। इसके पूर्व यह भी स्पष्ट किया गया है कि क्रिया के आश्रय (कर्त्ता अथवा कर्म), संख्या, काल, भाव और विशेष अवस्था को प्रगट करने के लिए लकार प्रत्ययों का विधान होता है। अवधेय है, प्रत्येक लकार के स्थानापन्न तिङ् प्रत्यय लकारों के प्रतिपादित अर्थों के बोधक होते हैं, क्योंकि क्रियारूपों में ये ही पाये जाते हैं। क्रिया का आश्रय कर्त्ता अथवा कर्म पुरुष के भेद से तीन प्रकार का होता है। उसे प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष कहते हैं। इनमें प्रत्येक पुरुष संख्या के भेद से एकवचन, द्विवचन और बहुवचन नाम से तीन प्रकार का होता है। इस प्रकार एक ही काल अथवा अवस्था-विशेष की क्रिया आश्रय की अपेक्षा से नव प्रकार की होती है। अतः इन नवों प्रकारों का बोध कराने के लिए एक ही लकार में

१—द्रष्टव्य—पा० सू० ३।३।१३९, १४०, १४३, १४४, १४५, १४७, १४८

नव तिङ् प्रत्ययों की अपेक्षा होती है। संस्कृत व्याकरण में इन नवविध तिङ् प्रत्ययों के दो समूह हैं। दोनों समूहों में प्रत्ययों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। इनमें एक समूह को परस्मैपद और दूसरे समूह को आत्मनेपद कहते हैं। इस प्रकार महर्षि पाणिनि ने अठारह तिङ् प्रत्ययों का विधान किया है। इनमें पहला प्रत्यय 'तिप्' है और अठारहवाँ प्रत्यय 'महिङ्' है। प्रथम प्रत्यय का आद्यक्षर 'ति' और अन्तिम प्रत्यय का अन्तिम अनुबन्धाक्षर 'ङ्' इन दो वर्णों के संयोग से 'तिङ्' प्रत्याहार शब्द की निष्पत्ति होती है। अन्य प्रत्याहार शब्दों की भाँति यह शब्द भी लकार के स्थानापन्न अठारह प्रत्ययों का बोधक है। महर्षि पाणिनि से उपदिष्ट इन प्रत्ययों का सानुबन्ध स्वरूप और इनकी अवान्तर संज्ञायें निम्न तालिका में सुस्पष्ट द्रष्टव्य हैं :

परस्मैपद

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम	तिप् = ति	तस्	झि
मध्यम	सिप् = सि	थस्	थ
उत्तम	मिप् = मि	वस्	मस्

आत्मनेपद

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम	त	आताम्	झ
मध्यम	थास्	अथाम्	ध्वम्
उत्तम	इट् = इ	वहि	महिङ् = महि

पाणिनीय परम्परा में यद्यपि सभी लकारों के स्थान पर तिङ् के इन्हीं स्वरूपों का विधान होता है, तथा भिन्न-भिन्न लकारों में इनका स्वरूप और इनके साहचर्य से प्रकृति का स्वरूप भी परिवर्तित हो जाता है। एवञ्च दसों लकारों में इनके रूप बदल जाते हैं। यह रूप-भेद आवश्यक भी है, क्योंकि इसके बिना भिन्न-भिन्न लकारों के भिन्न-भिन्न अर्थों का अभिधान असम्भव नहीं तो भ्रामक और कठिन अवश्य है। हमारे अधिकृत वैयाकरणों में आचार्य चन्द्रगोमी

और धर्मकीर्ति पाणिनीय परम्परा के ही व्याख्याकार हैं। इसके विपरीत जिस परम्परा में दसविध लकारों की संकलपना नहीं की गयी है, वहाँ एक लकार के अर्थ को व्यक्त करने के लिए नव परस्मैपद और नव आत्मनेपद कुल अठारह प्रत्यय स्वीकार किये गये हैं। इस प्रकार दसों लकारों के अर्थों को प्रकट करने के लिए १०×१८=१८० (एक सौ अस्सी) तिङ् प्रत्यय निर्दिष्ट हुए हैं। उस परम्परा के प्रमुख आचार्य शर्ववर्मा, हेमचन्द्र और अनुभूतिस्वरूप हैं। पाणिनीय परम्परा से तुलना करने की दृष्टि से उस परम्परा के आचार्यों द्वारा तिङ् प्रत्ययों के स्वीकृत स्वरूप नीचे तालिका में प्रस्तुत हैं। इसमें उन आचार्यों ने तिङ् की परस्मैपद और आत्मनेपद इन दो संज्ञाओं को यथावत् अंगीकार किया है, किन्तु लकार के स्थान पर उनका अर्थपरक दूसरा नाम रखा है। इसके अतिरिक्त इसमें तीन पुरुष और तीन वचनों की संकलपना पूर्ववत् समझनी चाहिए।

वर्तमाना (लट् लकार) परस्मैपद

कात०	हैम०	सार०	कात०	हैम०	सार०	कात०	हैम०	सार०
ति	तिव्	तिप्	तस्	तस्	तस्	अन्ति	अन्ति	अन्ति
सि	सिव्	सिप्	थस्	थस्	थस्	थ	थ	थ
मि	मिव्	मिप्	वस्	वस्	वस्	मस्	मस्	मस्

वर्तमाना (लट् लकार) आत्मनेपद

ते, आते, अन्ते से, आथे, ध्वे ए, वहे, महे

तीनों व्याकरणों में इसका समानरूप स्वीकृत है। वर्तमान परस्मैपद में देखा गया कि कातन्त्र व्याकरण में अनुबन्ध रहित स्वरूप निर्दिष्ट है तो हैमशब्दानुशासन में 'व' अनुबन्ध का प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत सारस्वत व्याकरण में 'प्' अनुबन्ध का प्रयोग हुआ है। आगे हैमशब्दानुशासन के अनुसार प्रत्ययों का स्वरूप दिखाया जा रहा है। उसका अनुबन्ध रहित स्वरूप कातन्त्र में स्वीकृत है तथा 'व्' के स्थान पर 'प्' और क' के स्थान पर 'ङ्' अनुबन्ध लगाकर उसे सारस्वत व्याकरण में अंगीकार किया

गया है । इस प्रकार सर्वत्र इन तीनों आचार्यों का अनुबन्ध-विषयक ही भेद है । इस परम्परा में अन्य लकारों के स्वीकृत नाम और तिङ् के रूप नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

परोक्षा (लिट् लकार) : णव् (अ), अतुस्, उस् । थव् (थ), अथुस्, अ । णव् (अ), व, म ।
ए, आथे, इरे । से, आये, ध्वे । ए, वहे, महे ।।

श्वस्तनी (लुट् लकार) : ता, तारौ, तारस् । तासि, तास्थस्, तास्थ । तास्मि, तास्वस्, तास्मस् ।
ता, तारौ, तारस् । तासे, तासाये, ताध्वे । ताहे, तास्वहे, तास्महे ।।

भविष्यन्ती (लृट् लकार): स्यति, स्यतस्, स्यन्ति । स्यसि, स्यथस्, स्यथ । स्यामि, स्यावस्, स्यामस् ।
स्यते, स्येते, स्यन्ते । स्यसे, स्येथे, स्यध्वे । स्ये, स्यावहे, स्यामहे ।।

पञ्चमी (लोट् लकार) : तुव् (तु) ताम्, अन्तु । हि, तम्, त । आनिव् (आनि), आवव् (आव), आमव् (आम) ।
ताम्, आताम्, अन्ताम् । स्व, आथाम्, ध्वम् । ऐव् (ऐ), आवहैव् (आवहै) आमहैव (आमहै) ।।

ह्यस्तनी (लङ् लकार) : दिव् (दि), ताम्, अन् । सिव्,(सि) तम्, त । अमव् (अम), च, म, ।
त, आताम्, अन्त । थास्, आथाम्, ध्वम् । इ, वहि, महि ।।

अद्यतनी (लुङ् लकार) : इसमें ह्यस्तनी के ही अनुबन्ध रहित सभी रूप तद्वत् स्वीकार किये गये हैं ।

सप्तमी (विधि लिङ्) : यात्, याताम् युस् । यास्, यातम्, यात । याम् याव, याम ।
ईत, ईयाताम्, ईरन् । ईयास्, ईयाथाम्, ईध्वम् । ईय, ईवहि, ईमहि ।।

आशी : (आशीर्लिङ्) : क्यात् (यात्), क्यास्ताम् (यास्ताम्), क्यासुस् (यासुस्) । क्यास् (यास्), क्यास्तम्, (यास्तम्), क्यास्त (यास्त) । क्यासम् (यासम्), क्यास्व (यास्व), क्यास्म (यास्म) ।

सीष्ट, सीयास्ताम्, सीरन् । सीष्ठास्, सीयास्थाम्, सीध्वम् । सीय, सीवहि, सीमहि ।।

क्रियातिपत्ति (लृङ् लकार) : स्यत्, स्यताम्, स्यन् । स्यस् स्यतम्, स्यत । स्यम्, स्याव, स्याम ।
स्यत, स्येताम्, स्यन्त । स्यथास्, स्येथाम् स्यध्वम् । स्ये, स्यावहि, स्यामहि ।।

यहाँ तक तिङ प्रत्ययों का स्वरूप और उनकी अवान्तर संज्ञा जैसे आत्मनेपद, परस्मैपद, पुरुष और वचन को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया । अध्ययन की अपेक्षा से पाणिनि-भिन्न परम्परा में स्वीकृत स्वरूप को भी रखा गया । इसमें देखा गया कि हेमचन्द्र ने उद्धृत प्रत्यय रूपों में 'व्' 'ण्' एवं 'क्' अनुबन्धों का प्रयोग किया है । इनमें 'व्' अनुबन्ध प्रकृति के अन्त्य व उपधा गुण में प्रयोजक है तथा 'ण्' अनुबन्ध अन्त्यवृद्धि को इंगित करता है । इसके विपरीत 'क्' अनुबन्ध धातु में गुण और वृद्धि के अभाव को सूचित करता है ।[1] प्रत्यय संयोग से जायमान प्रकृति के इस परिवर्तन को सूचित करने के लिए अनुभूतिस्वरूप ने उक्त प्रत्यय रूपों में 'प्' 'ण्' एवं 'ङ' पाणिनीय अनुबन्धों का उपयोग किया है ।[2] किन्तु कातन्त्र की परम्परा में सरलता की दृष्टि से अनुबन्धयोजना पर ध्यान ही नहीं दिया गया है, यद्यपि इससे प्रकृति के परिवर्तन को समझाने में नियम का उपयोग नहीं किया जा सकता ।

समीक्षा : पाणिनि भिन्न-परम्परा की प्रोक्त तिङ प्रत्यय-राशि से स्पष्ट हो जाता है कि कतिपय नियम-वाक्यों के भय से उसमें १८० प्रत्ययों की शब्द-गुरुता स्वीकार की गयी है । यहाँ इतना तो स्पष्ट है, इस प्रत्यय राशि का व्यावहारिक परिज्ञान होने पर परिनिष्ठित क्रियारूपों की आकृति अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हो जाती है । इन प्रत्ययों को दस भागों में विभक्त करने के लिए लट्, लिट् आदि छोटे शब्दों का प्रयोग न कर यहाँ इनके मुख्यार्थक वर्तमाना इत्यादि गुरुभूत

१—तुलनीय—पा० सू० १।१।५; ७।३।८४,८६; ७।२।११५ इत्यादि

२—द्रष्टव्य-सार०, भ्वादि, परस्मैपद तथा सूत्र 'ङ कित्युद्ध्युसि' वहीं १३वाँ सूत्र

और अप्रचलित संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत पाणिनीय परम्परा में तिङ प्रत्ययों के रूप परिवर्तन के कतिपय नियमों को जान लेने के पश्चात् तिङ की वहुत बड़ी राशि के गौरव से बचा जा सकता है। जैसे लोट्-भिन्न टित्लकारों में आत्मनेपद-प्रत्ययों के अन्तिम स्वर या अन्तिम स्वर और व्यजन दोनों को 'ए' हो जाता है तथा ङित् लकारों के परस्मैपद-प्रत्ययों के अन्तिम 'इ' का लोप हो जाता है, यह नियम ज्ञात हो जाने पर अनेक प्रत्ययरूपों की कल्पना से बचा जा सकता है।[1] एवमेव लुट् लकार में 'तास्, लृट् एवं लृङ में 'स्य' विकरण का विधान बता देने पर इन लकारों के ३६ रूपों को अलग से बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती।[2] इसके अतिरिक्त लिट् लुट् एवं लिङ के विषय में महर्षि पाणिनि के ये नियम भी उपयोगी हैं[3], यथा—लिट् लकार परस्मैपद में क्रम से तिवादि के स्थान पर णल् (अ), अतुस्, उस, थल् (थ), अथुस्, अ, णल् (अ), व और म आदेश होते हैं तथा आत्मनेपद में 'त' को एश् (ए) और 'झ' को इरेच् (इरे) आदेश होते हैं। अकारान्त प्रकृत्यंग से पर में 'आताम्' के 'आ' को 'इय्' आदेश होता है। लुट् के उभय पदों में प्रथम पुरुष के स्थान पर क्रमशः डा, रौ, रस् आदेश होते हैं। लोट् परस्मैपद के इ को उ तथा आशीर्लोट् में 'तु' और 'हि' को विकल्प से तातङ् (तात्), 'सि' को 'हि', 'मि' को 'नि' आदेश एवं लोट् उत्तम पुरुष में आट् का आगम आदि परिवर्तन होते हैं। ङित् एवं लोट् लकारों में वस् और मस् का सलोप एवं तस्, थस्, थ, मिप् को क्रमशः ताम्, तम्, त और अम् आदेश होते हैं। टित् लकारों में आत्मनेपद थास् के स्थान पर 'से' आदेश होता है। लोट् आत्मनेपद के अन्तिम 'ए' को 'आम्' तथा 'व' और 'म' से परे 'ए' को 'अम्' आदेश होते हैं। विधिलिङ् परस्मैपद में यासुट् (यास्) का आगम, उसके 'या' को

१—'टित आत्मनेपदानां टेरेः' 'इतश्च'—पा० सू० ३।४।७९, १००

२—'स्यतासी लृलुटोः'—पा० सू० ३।१।३३

३—पा० सू० ३।४।८२, ८१; २।४।८५; ३।४।८६; ७।१।३५; ३।४।८७, ८९, ९२, ९९, १०१, ८०, ९०, ९१, १०३; ७।२।८०; ८।२।२९; ३।४।१०२ इत्यादि

'इय्' आदेश और संयोगादि 'स्' का लोप होता है तथा आत्मनेपद में सीयुट् (सीय्) का आगम तथा आशीर्लिङ् में 'सीयुट्' और 'सुट्' दोनों आगम होते हैं।

अवधेय है कि उपर्युक्त पाणिनीय नियमों को जान लेने पर १८ तिङ् प्रत्ययों से ही धातुरूपों की निष्पत्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त तिङ् के १८० रूपों का ज्ञान कर लेने पर भी नियमों से सर्वथा मुक्ति नहीं मिल सकती है। उदाहरणार्थ प्रथम पुरुष बहुवचन के झि और झ प्रत्यय को देखा जाय। इनमें 'झि' को 'अन्ति' एवं 'झ्' को 'अन्त' रूप में मानने से भी सकल लक्ष्य संगृहीत नहीं होते हैं, क्योंकि अभ्यस्त एवं जक्षादि पाँच धातुओं से पर में इसका 'अति' रूप देखा जाता है। यथा—बिभ्यति, जक्षति, जाग्रति, दरिद्रति, चकासति, शासति इत्यादि। इसी प्रकार अकारान्त अंग से पर में आत्मनेपद 'झ' को 'अन्त' आदेश तथा अन्यत्र 'अत' आदेश होते हैं, किन्तु शीङ् धातु से विहित होने पर इसको 'रत्' आदेश नित्य एवं विद् धातु से यह आदेश विकल्प से होता है। यथा—शेरते, संविद्रते-संविदते। लिङ् लकार में 'झ' को 'रन्' आदेश एवं 'झि' को जुस् (उस्) होता है। लुङ् लकार में आकारान्त अंग से पर में विहित 'सिच्' का लोप हो जाने पर भी यह आदेश होता है। एवमेव लङ् लकार में विद् अभ्यस्त एवं जक्षित्यादि पाँच धातुओं से विहित होने पर 'झि' को जुस आदेश नित्य होता है तथा द्विष् धातु एवं आदन्त अंग से पर में होने पर यह विकल्प से होता है।[1]

इस प्रकार झि एवं झ प्रत्ययों के उद्धृत रूपपरिवर्तन के प्रतिपादन हेतु दोनों पक्षों में समान नियमों को स्वीकार करना ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रत्ययों का विधान करने पर भी परिनिष्ठित रूप की निष्पत्ति के लिए नियम की सरणि का सहारा सबको आवश्यक है। ऐसी स्थिति में प्रत्ययों की संख्या में दस गुनी वृद्धि से कोई अधिक सरलता नहीं आती है।

१—द्रष्टव्य पा० सू० ७।१।४,५,६,७,३; ३।४।१०५, १०८, १०९, ११०, १११, ११२ इत्यादि

आत्मनेपद और परस्मैपद : ऊपर के शीर्षक में तिङ् प्रत्ययों के विशेष स्वरूप का और उनकी अवान्तर संज्ञाओं का अध्ययन किया गया। उसमें देखा गया कि पुरुष और संख्या के भेद से क्रिया का आश्रय नव प्रकार का होता है, अतः उन नवों प्रकारों का बोध कराने के लिए नव तिङ् प्रत्ययों की अपेक्षा है, किन्तु तिङ् में नव-नव प्रत्ययों के दो समूह हैं, जो परस्पर भिन्न हैं। उनमें प्रथम समूह की 'परस्मैपद' संज्ञा है तो दूसरे समूह की 'आत्मनेपद' संज्ञा है। ये दोनों संज्ञायें परम प्राचीन हैं, अतः महर्षि पाणिनि ने इनकी अन्वर्थता पर प्रकाश डाले बिना ही इनका उपयोग किया है ? वैयाकरणों ने इनकी व्युत्पत्तिमूलक प्रवृत्ति का प्रायोवाद के साथ प्रकथन किया है। तदनुसार आत्मनेपद प्रत्यय यह सूचित करते हैं कि इस क्रिया के फल का उपभोग इस क्रिया का आश्रय करेगा तथा परस्मैपद संज्ञक प्रत्ययों से यह ज्ञात होता है कि इस क्रिया के फल का उपभोक्ता इस क्रिया के आश्रयभूत कर्त्ता से भिन्न है अर्थात् पराया है। एवंच कर्त्ता की अपेक्षा परगामी क्रियाफल होने पर परस्मैपद और आत्मगामी क्रियाफल होने पर आत्मनेपद का प्रयोग होता है। स्पष्ट है, यह अर्थ इन दोनों पदों की व्युत्पत्ति से लभ्य होता है। दोनों पदों में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, अतः जो पराये के लिए हो, वह परस्मैपद तथा जो अपने लिए है, वह आत्मनेपद कहलाता है, यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर यहाँ इनकी जो परिभाषा निश्चित की गयी है, वह प्रायोवाद है अर्थात् यह एक सामान्य नियम है।[1] क्योंकि कतिपय धातुओं से फलगामिता का विचार किये बिना ही आत्मनेपद का प्रयोग करते हैं और कुछ विशेष धातुओं से परस्मैपद का[2]। इसके विपरीत कहीं पर फलगामिता का विचार किया भी जा सकता है। एवंच इनकी प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक हो जाता है कि इसका विशेष पर्यालोचन किया जाय। सम्प्रति नीचे उन विशेष धातु प्रकृतियों का उल्लेख करेंगे, जिनसे आत्मनेपद और परस्मैपद का नित्य प्रयोग किया जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इनकी प्रकृतिभूत धातु में गण और सूत्र पठित,

---

१—'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले'—पा० सू० १।३।७२

२—पा० सू० १।३।१२, ७८

तिङन्त सनादि प्रत्यय निष्पन्न और सुबन्त क्विबादि प्रत्यय निष्पन्न भेद से तीन प्रकार की होती हैं, जिनका विवेचन प्रकरण के प्रारम्भ में 'प्रकृति' शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

आत्मनेपद की प्रकृति : (१) पाणिनीय व्याकरण के अनुसार जिन धातुओं में 'ङ' अनुबन्ध है अथवा जिनका अन्तिम स्वर अनुदात्त है, उन धातु प्रकृतियों से तथा कर्तृगामी क्रियाफल होने पर 'ञ्' या स्वरित स्वर अनुबन्ध वाली धातुओं से एवं भाववाच्य और कर्मवाच्य में सभी धातुओं से सदा आत्मनेपद-प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं।[१] यथा—एधते, कुरुते, हसते, भूयते, गम्यते इत्यादि।

(२) पीछे नवगणी धातुओं की चर्चा की गयी है। उनके अतिरिक्त दशम चुरादि गण में भी कुछ धातुएँ पठित हैं, जिनसे स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय होता है। इन स्वार्थिक णिजन्त अथवा प्रेरणार्थक णिजन्त धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल होने पर आत्मनेपद होता है। किन्तु चुरादिगण में 'आकुस्मादि और 'गर्वादि' धातुओं से परगामी क्रियाफल होने पर भी नित्य आत्मनेपद होता है।[२] यथा—चोरयते-चोरयति, अर्थयते, चिन्तयते इत्यादि।

(३) प्रातिपदिक से धात्वर्थ में विहित णिङ् और क्यङ् प्रत्ययान्त धातुओं से, यङन्त एवं कर्मकर्तृ में विद्यमान धातुओं से भी आत्मनेपद होता है। इसके विपरीत सन्नन्त धातुओं से 'सन्' प्रत्यय की प्रकृति के अनुसार आत्मनेपद या परस्मैपद होते हैं।[३] यथा—एदिधिषते, बुभूषति इत्यादि।

१—पा० सू० १।३।१२,१३, व ७८

२—'णिचश्च'—पा० सू० १।३।७४ तथा सिद्धान्तकौमुदी, चुरादिप्रकरण में अवलोकनीय 'अकर्तृगामिफलार्थमिदम्', धातुसंख्या १६७४ से १७१२ एवं १८६८ से १९०७ तक

३—पा० सू० ३।१।८७; १।३।६२

(४) पीछे लिट् लकार में विहित होने वाले 'आम्' प्रत्यय की चर्चा की गयी है। उसकी प्रकृति के अनुसार अनुप्रयुज्यमान कृ, भू एवं अस् धातुओं से आत्मने पद या परस्मैपद होते हैं।[१] यथा-एधाञ्चक्रे, गोपायाञ्चकार इत्यादि।

(५) सम् या प्र उपसर्गक √हृ, नि उपसर्गक √विश्, परि-वि-अव उपसर्गक √क्री, वि-परा-उपसर्गक √जि, आङ् उपसर्गक या समुदित व्याङ उपसर्गक √दा, अनु-सम्-परि एवं आङ् उपसर्गक √क्रीड्, आङ् उपसर्गक √नु और √प्रच्छ, सम्-अव-प्र-वि या आङ् उपसर्गक √स्था, उद् या वि उपसर्गक √तप, सम उपसर्गक तथा अकर्मक √गम्, √ऋच्छ, √विद्, √प्रच्छ, √स्तृ, √ऋ, √श्रु और √दृश, नि-सम्-उप या वि उपसर्गक √ह्वेञ्, वि उपसर्गक एवं अकर्मक √कृ, उप-प्र या परा उपसर्गक √क्रम्, अप-सम्-प्रति उपसर्गक अथवा अकर्मक और स्मरणभिन्नार्थक √ज्ञा, समुदित सम्प्र अप अथवा अनु उपसर्गक एवं अकर्मक √वद्, अव या सम् उपसर्गक √गृ, उत्-सम् उपसर्गक √चर, सन्नन्त √ज्ञा, √श्रु √स्मृ एवं √दृश्, सार्वधातुक लकारों में √शद्, सार्वधातुक एवं लुङ् और लिङ् लकारों में √मृङ् तथा सम् उपसर्गक √क्ष्णु धातुओं से नित्य आत्मनेपद प्रयुक्त होता है।[२]

(६) सम् उपसर्गक √क्रीड् से कूजन भिन्न अर्थ में, ण्यन्त √आगमि से क्षमा अर्थ में, √शिक्ष् से जिज्ञासा में, √नाथ् से आशंसा में, √हृ से प्रकारविशेष के ताच्छील्य में, अप उपसर्गक √कृ से हर्ष-जीविका एवं कुलायकरण अर्थ द्योतित होने पर, √शप् से उपालम्भ में, √स्था से प्रकाशन और निर्णेतृकरण में, √कृ का असूया-भर्त्सन-सेवा-साहसिक्य-गुणाधान एवं विनियोग अर्थ होने पर, √नी का संमानन-उत्क्षेप-आचार्यकरण-निश्चय-भृति-परावर्तन एवं व्यय अर्थ होने पर इसी धातु के शरीरावयवभिन्न कर्म के कर्तृस्थ होने पर, √क्रम् का अप्रतिबन्ध-

१—पा० सू० १।३।६३

२—वार्तिक ८९९, ९०३, ९०९, ९१८, ९२६ तथा पा० सू० १।३।१७, १८ १९, २०, २१, २२, २७, २९, ३०, ३५, ३९, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५१, ५२, ५३, ५७, ६०, ६१, व ६५

उत्साह एवं वृद्धि अर्थ होने पर √वद् का भासन (सूझना)-सान्त्वना, जानना, श्रम, विवाद एवं चाटुकारिता अर्थ होने पर, √भुज् का पालनभिन्न अर्थ होने पर, प्रेरणार्थक धातु से यदि प्रेरणा अर्थ विवक्षित न हो तथा कर्म ही उस क्रिया के कर्तृ रूप में विवक्षित हो तो उस धातु के स्मरणभिन्नार्थक होने पर, प्रेरणार्थक √भी और √स्मि धातु के अर्थ में प्रेरक का हेतु विद्यमान होने पर, प्रेरणार्थक √गृध् और √वञ्च् का वञ्चना अर्थ होने पर, ण्यन्त √लीङ् एवं √ली से पूजा अभिभव और वञ्चना अर्थों में, अनुपसर्ग √ज्ञा का फल कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद का प्रयोग दृष्टिगत होता है।[1]

(७) उत् उपसर्गक √स्था से उर्ध्व देश संयोग भिन्न प्रयत्नात्मक क्रिया व्यक्त होने पर, उप उपसर्गक इसी धातु से करण कारक मन्त्र होने पर अथवा देवपूजा संगतिकरण-मित्रकरण या मार्ग कर्तृक प्राप्ति अर्थ होने पर या अकर्मक होने पर, उत् एवं वि उपसर्गक √तप् का कर्म कारक अंग यदि उसके कर्ता से सम्बन्ध रखता हो तब उस धातु से, आङ उपसर्गक √यम् एवं √हन् के अकर्मक होने पर अथवा इसका अंग स्वरूप कर्म कर्तृ सम्बन्धित होने पर, आङ् उपसर्गक √ह्वे से स्पर्धा अर्थ में, अधि उपसर्गक √कृ का अभिभव या तिरस्कार अर्थ होने पर, वि उपसर्गक इस धातु का शब्दरूप कर्मकारक होने पर या अकर्मक होने पर, आङ् उपसर्गक √क्रम् से ज्योति की उदय-क्रिया व्यक्त होने पर, इसी धातु के पूर्व में वि उपसर्ग के संयोग से सम्यक् पाद-विक्षेप क्रिया व्यक्त होने पर, सम्पूर्वक दान-क्रिया का सम्प्रदान से सम्बन्ध होने पर तथा उप उपसर्गक √यम् का स्वीकार अर्थ होने पर, प्र और उपपूर्वक या स्वरादि अथवा स्वरान्त उपसर्गक √युज् का कर्म यदि यज्ञ पात्र से भिन्न होने पर तथा मिथ्या उपपद √कृ से बारम्बारता बोधन में आत्मनेपद प्रत्यय का प्रयोग होता है।[2]

१—पा० सू० १।३।२३, ३२, ३६, ३७, ३८, ४७, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७६ तथा वार्तिक ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६१०, व ६११

२—पा० सू० १।३।२४, २८, ३१, ३३, ३४, ३५, ४०, ४१, ५५, ५६, ६४ व ७१ तथा वार्तिक ६०७, ६१४, ६१६, ६६६, व ६३६

ऊपर आत्मनेपद प्रत्यय की उन प्रकृतियों का उल्लेख हुआ है जो उपसर्ग के संयोग से विस्तृत अर्थ को प्रगट करती हैं। इनसे आत्मनेपद-प्रत्यय नित्य होते हैं, चाहे क्रिया का फल कर्तृगामी हो अथवा परगामी। अब नीचे ऐसी प्रकृतियों का उल्लेख किया जा रहा है जिनसे ये प्रत्यय विकल्प से होते हैं। इनके अभाव से क्रिया का फल कर्तृगामी हो या परगामी, तद्वाचक धातु-प्रकृति से परस्मैपदसंज्ञक तिबादि प्रत्यय होते हैं।

(८) उप उपसर्गक √स्था से लोभ सूचित होने पर, √अस् (क्षेपार्थक) एवं √ऊह् (वितर्क) का उपसर्ग से सम्बन्ध होने पर, उपसर्ग रहित आरम्भार्थक √क्रम् से, मनुष्यों की विमति सूचित करने हेतु √वद् से, उप उपसर्ग √रम् अकर्मक (मरणार्थक) होने पर, क्यष् प्रत्ययान्त नाम धातु से, स्य विकरण या सन् (इच्छार्थक) प्रत्यय के योग में वृतादि धातुओं से, लुङ् लकार में द्युतादि धातुओं से तथा लुट् लकार या स्य अथवा सन् प्रत्यय के योग में √क्लृप् से आत्मनेपद प्रत्यय विकल्प से होते हैं।[1]

(९) स्वरित स्वर एवं 'ञ्' अनुबन्धवाली धातु, ण्यन्त धातु, 'अप' उपसर्गक √वद्, सम्-उत् एवं आङ् उपसर्गक √यम् तथा उपसर्ग रहित √ज्ञा से कर्तृगामी क्रियाफल की समभिव्याहृत पद के द्वारा प्रतीति होने पर आत्मनेपद-प्रत्यय विकल्प से होते हैं।[2] यथा—स्वम् यज्ञं यजति यजते वा इत्यादि।

परस्मैपद-प्रकृति :—यहाँ तक आत्मनेपद-प्रत्यय की विशेष प्रकृतियों का अध्ययन किया गया। उक्त बिन्दुओं में प्रतिपादित प्रकृति-विशेष से ही इन प्रत्ययों का विशेष विधान होता है। वहाँ नीचे के दो बिन्दुओं में उन प्रकृतियों का उल्लेख हुआ है, जिनसे आत्मनेपद या परस्मैपद विकल्प से होते हैं। सम्प्रति परस्मैपद प्रत्यय की विशेष प्रकृतियों का पर्यालोचन नीचे किया जा रहा है।

१—द्रष्टव्य—वार्तिक ९१९, ९२०, तथा पा० सू० १।३।४३, ५०, ८५, ९० ९१, ९२, व ९३

२—पा० सू० १।३।७७

१—जिन धातुओं में 'ङ्' या अनुदात्त-स्वर अनुबन्ध न हों उन धातुओं से स्वरित-स्वर अथवा 'ञ्' अनुबन्ध होने पर यदि क्रिया का फल परगामी हो तब तथा इसी स्थिति में ण्यन्त धातु से भी परस्मैपद तिङ् विहित होते हैं। एवमेव यङ्लुगन्त धातु से, नामप्रकृति से विहित 'क्विप्' (०), 'क्यच्' (य) एवं 'काम्यच्' (काम्य) प्रत्ययान्त धातुओं से तथा 'सन्' प्रत्यय की प्रकृति के अनुसार सन्नन्त धातुओं से कर्तृवाच्य में नित्य परस्मैपद-प्रत्यय होते हैं।[1]

२—अनु उपसर्गक सन्नन्त √ज्ञा, प्रति और आङ् उपसर्गक सन्नन्त √श्रु, अभिप्रति एवं अति उपसर्गक √क्षिप्, प्र उपसर्गक √वह, परि उपसर्गक √मृष् तथा वि-आङ्-उप एवं परि उपसर्गक √रम् से परस्मैपद का प्रयोग देखा जाता है।[2]

३—'व्यति' उपसर्गक गत्यर्थक, हिंसार्थक और हसादि धातुओं से कर्म-व्यतिहार अर्थ द्योतित होने पर, अनु और परा उपसर्गक √कृ से असूया, भर्त्सन, साहस, गुणाधान, प्रकथन एव विनियोग अर्थ व्यक्त होने पर अथवा न होने पर भी तथा सम् उत्-और आङ उपसर्गक √यम् से ग्रन्थ कर्मकारक होने पर कर्तृवाच्य में परस्मैपद का प्रयोग होता है।[3]

४—सार्वधातुक लकारों में सन्नन्त √शद् तथा सार्वधातुक एवं लुङ् और लिङ् लकारों में सन्नन्त √मृङ्, ण्यन्त √बुध्, √युध्, √नश्, √जन्, √ईङ, √प्रु, √द्रु एवं √स्रु से, निगरणार्थक एवं चलनार्थक धातुओं तथा अकर्मक और चित्तवत्कर्तृक धातु से प्रेरणार्थक 'णिच्' प्रत्यय करने पर नित्य परस्मैपद का प्रयोग दृष्टिगत होता है। किन्तु ण्यन्त √पा, √दम्, √आयम्, √आअस्, √परिमुह्, √रुच्, √नृत्, √वद्, √वस्, एवं √धेट्, (पाने) से परगामी क्रियाफल होने पर ही परस्मैपद-प्रत्यय दृष्टिगत होते हैं।[4]

१—पा० सू० ३ ४।७८; १।३।७४; २।४।७४; १।३।६२

२—पा० सू० १।३।५८, ५९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४

३—पा० सू० १।३।१५, १६, ७५, ७९ तथा वार्तिक ८९८

४—पा० सू० १।३।६२, ८६, ८७, ८८ व ८९

उपर्युक्त चार बिन्दुओं में परस्मैपद-प्रत्यय के उन विशेष प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है, जिनसे क्रियाफल की कर्तृगामिता या परगामिता दोनों ही स्थितियों में नित्य परस्मैपद-प्रत्यय होते हैं। यहाँ प्रकृतियों के उल्लेख में बिन्दुओं का विभाजन अपनी दृष्टि से किया गया है। उपसर्गों के सम्बन्ध से जो प्रकृति विशेष-नियम की अपेक्षा रखती है, उसे पृथक् बिन्दु में निर्दिष्ट किया गया है तथा उपसर्ग सम्बन्ध के अतिरिक्त अर्थ-विशेष की अपेक्षा से प्रत्यय-सम्बन्ध प्राप्त करने वाली प्रकृतियों को एक अलग बिन्दु में निर्दिष्ट किया गया है। एवमेव जिन प्रकृतियों में उपसर्ग संयोग के साथ-साथ अर्थ-विशेष भी अपेक्षित है, उन प्रकृतियों को अलग से दर्शाया गया है तथा प्रत्यय-विशेष के सम्पर्क से जो प्रकृति आत्मनेपद या परस्मैपद के सामान्य नियमों से गतार्थ नहीं होती, उसे एक पृथक् बिन्दु में रखा गया है। इस प्रकार उभयपद तिङ् की सामान्य और विशेष सभी प्रकृतियों को यहाँ प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है।

विकरण : यहाँ तक वैयाकरण के अनुसार तिङ् प्रत्ययों का स्वरूप और उनकी विशेष धातुप्रकृतियों का निरूपण किया गया। यहाँ स्मरणीय है कि प्रकृतिभूत धातु और तिङ् के केवल संयोग से क्रियारूप निष्पन्न नहीं होते हैं, अपितु उन दोनों के बीच कुछ और निश्चित ध्वनियाँ होती हैं, जिन्हें भाषाशास्त्री विकरण और आगम नाम देते हैं।[1] वस्तुतः विकरण अथवा आगम भी स्वार्थिक प्रत्ययों के समान होते हैं, अतः कहीं-कहीं प्रत्यय शब्द से इनका व्यवहार होता है। जैसा कि कहा गया है, इनका स्वरूप निश्चित होता है और ये निश्चित क्रियारूप में प्रयुक्त होते हैं, अतः इनका निश्चित विभाग करके अध्ययन किया जा सकता है। इनका जो विभाग किया जायेगा, वह अर्थ पर आधारित होगा। यद्यपि ये अर्थ के साक्षात् बोधक नहीं होते, तथापि इनके बिना अर्थ की अभिव्यक्ति भी सम्भव नहीं है, अतः अर्थबोधन के आवश्यक उपकरणों में से एक हैं।

१–'भवामि, भविष्यामि इत्यादौ विकरणविशिष्टस्य अङ्गसंज्ञार्थम्', 'तिङि परे धातोर्विहितानां प्रत्ययानां शबादीनां विकरणसंज्ञा प्राचीनाचार्यसिद्धा'— सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, सू० २१६७

विकरण और आगमों का विभागपूर्वक स्वरूप स्पष्ट करने से पूर्व क्रियाओं पर दृष्टि-निक्षेप आवश्यक है। हम देखते हैं, एक लकार में कुछ धातुओं से निष्पन्न क्रियारूप समान हुआ करते हैं तथा उसी लकार में कुछ धातुओं के रूप परस्पर भिन्न हुआ करते हैं। क्रियारूपों के उक्त साम्य और वैषम्य को आधार बनाकर वैयाकरणों ने धातुओं को दस गणों में विभक्त किया है। इन गणों को हम भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि क्रयादि और चुरादि कहते हैं। जैसा कि कहा गया है, वैयाकरणों ने मुख्यरूप से इन्हीं गणों में धातुओं को विभक्त किया है। इसके अतिरिक्त सनादि प्रत्ययान्त और क्विबादि प्रत्ययान्त नामधातुओं का भी प्रयोग होता है, जिन्हें हम द्वितीय स्तर की धातुएँ कह सकते हैं। उक्त सभी धातुओं के चार लकारों के रूपों में विषमता पायी जाती जाती है तथा शेष लकारों के रूपों में समानता होती है। ये चार लकार हैं—लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ्। अतः इन लकारों को भाषाशास्त्रियों ने सार्वधातुक नाम दिया है और इनसे भिन्न लकारों को आर्धधातुक कहा है। सार्वधातुक लकारों में एक गण की धातुओं के क्रियारूप जहाँ परस्पर समान होते हैं, वहीं दूसरे गण की धातुओं के क्रियारूपों से भिन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त आर्धधातुक लकारों में सभी गणों की धातुओं के क्रियारूपों में एक आश्चर्यजनक समानता पायी जाती है। इसे देखकर कतिपय आधुनिक भाषाशास्त्री गणों के बजाय सार्वधातुक और आर्धधातुक लकारों के आधार पर क्रियारूपों का अध्ययन करना चाहते हैं।

यहाँ लकारों को सार्वधातुक और आर्धधातुक दो भागों में विभक्त किया गया है। यद्यपि ये दोनों संज्ञायें अत्यन्त प्राचीन हैं, तथापि लकारों को सार्वधातुक और आर्धधातुक नहीं कहा गया है, प्रत्युत लकार के स्थानापन्न प्रत्यय, विकरण और आगमों की ये सज्ञायें हैं। किन्तु यहाँ तात्पर्यार्थ को लेकर लकारों को सार्वधातुक और आर्धधातुक कहा गया है। महर्षि पाणिनि ने 'तिङ्शित् सार्व-धातुकम्, आर्धधातुकं शेषः, लिट् च और लिङाशिषि,' इन चार सूत्रों

१—पा० सू० ३।४।११३, ११४, ११५ और १०४

से इन संज्ञाओं का विधान किया है। इन सूत्रों का पर्यालोचन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् सार्वधातुक लकार हैं तथा इनसे भिन्न लकार आर्धधातुक हैं। यहाँ अवधेय है कि ये संज्ञायें पाणिनि से भी प्राचीन हैं। अतएव लोक-प्रसिद्ध होने से उन्होंने इन संज्ञाओं का अविकल प्रयोग किया है। अन्यथा टि, घु, भ आदि की भाँति आचार्य लघुसंज्ञा का प्रयोग करते। वैसे, इस 'महासंज्ञा' को सार्थक कहा जा सकता है क्योंकि शबादि नवगणीय विकरण सभी धातुओं से विहित होते हैं। 'सर्वे च ते धातवः, सर्वधातवः, तेषु भवः, सार्वधातुकम्' इस प्रकार इनकी व्युत्पत्ति सम्भव है। इसके विपरीत 'च्लि' आदि विकरण और इट्, अट्, आट् आदि आर्धधातुक लकारों में होने वाले आगम सभी धातुओं से विहित नहीं होते हैं। अतः इस महासंज्ञा को अन्वर्थक स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

ऊपर यह चर्चा आई कि एक समूह की धातुओं से निष्पन्न क्रियारूप सार्वधातुक लकारों में समान होते हैं। इसके विपरीत आर्धधातुक लकारों में सभी समूहों की धातुओं से निष्पन्न क्रियारूप भी समान होते हैं। इस समानता में विकरणों की भूमिका प्रमुख है अर्थात् कुछ विकरण सार्वधातुक लकारों में भिन्न-भिन्न गणों की धातुओं से भिन्न-भिन्न होते हैं तो कुछ विकरण आर्धधातुक लकारों में समान होते हैं। इसके विपरीत कतिपय विकरण समान रूप से उभयत्र दृष्टिगत होते हैं। अतः हम विकरणों को यहाँ सार्वधातुक-विकरण, आर्धधातुक विकरण और उभयगामी विकरण नाम से तीन भागों में विभक्त करके उनके स्वरूप का दिग्दर्शन करेंगे। अवधेय है कि यहाँ विकरणों के अन्तर्गत धातु से विहित कुछ आगमों और प्रत्ययों का भी परिगणन किया गया है। क्योंकि इनकी प्रवृत्ति विकरणों के समान है।

सार्वधातुक विकरण : लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ और सार्व-धातुक लकारों में सभी वर्गों की धातुओं से जो विकरण विहित होते हैं, उन्हें यहाँ सार्वधातुक विकरण कहा गया है। ये विकरण आठ हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—शप् (अ), श्यन् (य), श्नु (नु), श

(अ), श्नम् (न), उ, श्ना (ना) और यक् (य)। कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य की अपेक्षा से उक्त विकरणों के दो विभाग हो जाते हैं। इनमें प्रारम्भ के सात विकरण कर्तृवाच्य में तथा अन्तिम 'यक्' विकरण कर्मवाच्य और भाववाच्य में होता है। यहाँ स्मरणीय है कि धातु से लकार का विधान जब कर्ता अर्थ में होता है तब कर्तृवाच्य कहते हैं, अन्यथा सकर्मक धातु से कर्मवाच्य और अकर्मक धातु से भाववाच्य होता है। एवञ्च सार्वधातुक लकारों में कर्तृवाच्य होने पर सात विकरण होते हैं। ये विकरण भिन्न-भिन्न गणों की धातुओं से होते हैं।

शप् (अ) : इसमें 'श्' और 'प्' अनुबन्ध होने से इसे 'शित्' और 'पित्' कहते हैं। शित् होने से इसकी सार्वधातुक संज्ञा और पित् होने से प्रकृति में गुणीभाव होता है। इस प्रकार इसका स्वरूप बचता है 'अ'। इसका क्षेत्रफल सर्वाधिक है। भ्वादि, चुरादि, तिङन्त प्रकृतिवाले सनादि प्रत्ययान्त और नामधातुओं से सार्वधातुक लकार में इसका विधान होता है। लगभग आधी धातुएँ भ्वादिगण में पठित हैं तथा द्वितीय स्तर की प्रत्ययान्त धातुओं की संख्या भी अधिक है, अतः कर्तृवाच्य में इसका सर्वाधिक प्रयोग होता है। इसका विधान होने पर धातु में गुणीभाव जैसे √भू अ ति > भो अ ति > भवति इत्यादि होता है। पठति, गच्छति, लभते, चोरयति, चोरयते, पिपठिषति, बुभूषति, पुत्रीयति, पठतु, अपठत्, पठेत् इत्यादि सभी रूपों में धातु और तिङ् के बीच इसकी स्थिति है।

कर्तृवाच्य में होने वाले शेष विकरणों की स्थिति इस प्रकार है—दिवादिगण की धातुओं से श्यन् (य) विकरण, स्वादिगण में श्नु (नु), तुदादि गण में श (अ), रुधादि गण में श्नम् (न), तनादिगण में उ, और क्र्यादि गण में श्ना (ना) विकरण होते हैं। दीव्यति, सुनोति, तुदति, रुणद्धि, तनोति और क्रीणाति रूपों में परस्पर अन्तर विकरणों से ही उत्पन्न है। इसके अतिरिक्त अदादि गण में कोई विकरण नहीं होता, अतः अत्ति, याति आदि क्रियारूपों में केवल धातु और तिङ् प्रत्यय श्रुतिगोचर होते हैं। जुहोत्यादि गण की धातुओं से यद्यपि कोई विकरण नहीं होता है तथापि वहाँ सार्वधातुक लकारों

में कर्तृ वाच्य होने पर धातु को 'द्वित्व' होता है। जुहोति, मिमीताम्, अमिमीत, मिमीत इत्यादि रूपों में जुहोत्यादिगणीय होने से धातु को द्वित्व हुआ है।

स्मरणीय है कि ये विकरण आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों तिङ् से पूर्व होते हैं। इसके विपरीत 'यक्' (य) विकरण केवल आत्मनेपद तिङ् से पूर्व होता है, क्योंकि यह धातु से कर्म या भाववाच्य में विहित होता है। जैसा कि कहा गया है, भाववाच्य या कर्मवाच्य में केवल आत्मनेपद तिङ् का प्रयोग होता है। एवञ्च गणपठित तथा प्रत्ययों से निष्पन्न सभी प्रकार की धातुओं से सार्वधातुक लकार में कर्म या भाववाच्य होने पर यक् (य) विकरण का विधान होता है। भूयते, लभ्यते, चोर्यते, अद्यते, हूयते, क्रियते, तुद्यते, पिपठिष्यते इत्यादि सभी रूपों में इस विकरण की स्पष्ट श्रुति होती है। इस प्रकार सार्वधातुक लकारों के कर्तृ वाच्य में जहाँ सात विकरण होते हैं वहाँ कर्मवाच्य और भाववाच्य में केवल 'यक्' होता है।

आर्धधातुक विकरण :—पहले चर्चा हुई है कि लिट्, लुट्, लृट्, आशीर्लिङ्, लुङ् और लृङ् इन छह लकारों को यहाँ आर्धधातुक लकार कहा गया है। इन लकारों में विधीयमान विकरण और आगम को भी यहाँ आर्धधातुक विकरण से बोधित किया गया है। ये विकरण सभी गणों और सभी प्रत्ययान्त धातुओं से कर्तृ वाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य में समान रूप से विहित होते हैं। अन्तर यही है कि कर्मवाच्य और भाववाच्य में धातु से जहाँ नित्य आत्मनेपदसंज्ञक 'तङ' का प्रयोग होता है वहाँ कर्तृ वाच्य में यथाप्राप्त तिङ् प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। अतः इन लकारों में प्रायः सभी धातुरूप समान पाये जाते हैं। जैसे सभी गणों की धातुओं के लृट् लकार में पठिष्यति यास्यति, होष्यति, देविष्यति, सोष्यति, तोदिष्यति, रोत्स्यति, तनिष्यति, क्रेष्यति, चोरयिष्यति, पिपठिषिष्यति, पुत्रीयिष्यति इत्यादि रूपों में समानता परिस्फुट है। अब लकार-क्रम से इन विकरणों के स्वरूप की चर्चा नीचे की जा रही है।

परोक्ष लिट् में छित्व, इट् (इ), आम् और √कृ, √भू अथवा √अस् का अनुप्रयोग पाया जाता है। इनमें द्वित्व या द्विरुक्ति सभी

धातुओं में होती है। जैसे-बभूव, पपाठ, मुमुदे, लेभे इत्यादि रूपों में धातु के प्रथमाक्षर को द्वित्व हुआ है। इट् (इ) एक आगम है, जो सेट् धातुओं में स्वरादि या यकारादि से भिन्न आर्धधातुक प्रत्यय पर में होने पर विहित होता है। जैसे बभूविथ, पठिष्यति, इत्यादि रूपों में 'इ' ध्वनि के रूप में यह श्रूयमाण है। स्मरणीय है कि व्याकरण ग्रन्थों में 'अनिट् धातु' अर्थात् जिनसे 'इट्' नहीं होता, उन धातुओं को गिनाया गया है। उनसे भिन्न और अनेकाक्षर या प्रत्ययान्त धातुएँ 'सेट्' कही जाती हैं। इसके अतिरिक्त 'आम्' और कृ भू अस् का अनुप्रयोग सहगामी हैं अर्थात् जहाँ आम् होता है वहाँ उक्त तीनों में से किसी धातु का अनुप्रयोग अवश्य होता है। और यह आम् आकार भिन्न दीर्घस्वरादि धातुओं में और प्रत्ययान्त धातुओं में अवश्य पाया जाता है, अतः वहाँ-वहाँ 'अनुप्रयोग' भी अवश्यंभावी है। जैसे एधांचक्रे, चोरयामास, पिपठिषांबभूव इत्यादि। इसके अतिरिक्त √आस्, √कास्, √भी, √ह्री, √भृ, √हु आदि परिगणित धातुओं से भी लिट् में आम् और 'अनुप्रयोग' दृष्टिगत होते हैं। जैसे-आसांचक्रे, जुहवांचकार इत्यादि।

लुट् में 'तास', लृट् और लृङ् में 'स्य' भी सर्वत्र पाये जाते हैं। अवधेय है कि इन विकरणों से पूर्व सेट् धातुओं से 'इट्' आगम भी अवश्य होता है। इसके अतिरिक्त लङ्, लुङ् और लृङ् लकारों में धातु के पूर्व 'अट्' (अ) या 'आट्' (आ) आगम होते हैं। स्वरादि धातुओं से आट् अन्यथा अट् होता है। यदि धातु के पूर्व उपसर्ग हो तो ये उपसर्ग के बाद और धातु से पूर्व प्रयुक्त होते हैं। वाक्य में 'मा' अथवा 'मा स्म' का प्रयोग करने पर ये आगम नहीं होते हैं। जैसे—अपठत्, अभूत्, अपठिष्यत्, समभूत्, मा भूत्, मास्म पाठीत् इत्यादि।

आशीर्लिङ् में यासुट् यास्) आगम परस्मैपद और धातु के बीच होता है तथा आत्मनेपद पर में होने पर सीयुट् (सीय्) और सुट् (स्) आगम होते हैं। विधिलिङ् में सार्वधातुकविकरण के अतिरिक्त यासुट् आगम और अकारान्त प्रकृति होने पर 'यास्' को 'इय्' आदेश होते हैं। सुट् आगम केवल तकारादि और थकारादि तिङ् के पूर्व होता है। भूयात्, भूयास्ताम्, एधिषीष्ट, मोदिषीष्ट, पठेत् इत्यादि रूपों में इन आगमों की स्थिति स्पष्ट है। अवधेय है कि हैमशब्दा-

नुशासन आदि पाणिनि-भिन्न व्याकरणों में इन आगमों से युक्त रूप को तिङ् का स्वरूप मान लिया गया है। आशीर्लिङ् में सेट् धातुओं से यथाप्राप्त इट् आगम भी होता है।

लुङ् लकार में धातु और तिङ् के बीच 'च्लि' विकरण का विधान होता है। इसकी क्रिया-रूप में स्थिति नहीं होती, अपितु इसके स्थान पर कर्तृवाच्य एवं कर्मवाच्य में भिन्न-भिन्न विकरण दृष्टिगत होते हैं। यह भेद सामान्य ही है, क्योंकि भाववाच्य या कर्मवाच्य क्रिया रूपों में केवल प्रथम पुरुष एकवचन 'त' से पूर्व 'चिण्' (इ) विकरण देखा जाता है। इसके होने पर 'त' का लोप हो जाता है। यथा—अभावि, अकारि इत्यादि।[1] यह विकरण कर्मकर्तृ प्रयोग में भी देखा जाता है, किन्तु √तप्, √स्नु, √नम्, भूषावाची किरादि, सन्नन्त, प्रेरणार्थक ण्यन्त, √श्रि, √ब्रू, √रुध्, ण्यन्त √श्रन्थि √ग्रन्थि, √ब्रूञ् और अकर्मक आत्मनेपदी धातुओं से 'त' के पूर्व कर्मकर्तृ में यह चिण् नहीं होता है। इसके अतिरिक्त कर्मकर्तृ प्रयोग में ही अजन्त और √दुह् से पर में उक्त विकरण की वैकल्पिक स्थिति रहती है। इसके अभाव में सर्वत्र सिच् विकरण होता है।[2] √दीप्, √जन्, √बुध, √पूरि, √तायि, √प्यायि इन धातुओं से कर्तृवाच्य में भी 'त' से पूर्व चिण् विकल्प से देखा जाता है, किन्तु पद् से पर में इसकी स्थिति नित्य रहती है।[3] 'च्लि' के स्थान पर सिच् और चिण् के अतिरिक्त विशेष प्रकृतियों से पर में चङ् (अ) विकरण पाया जाता है। यथा—ण्यन्त, √श्रि, √द्रु, √स्रु, √कम् धातुओं से कर्तृवाच्य क्रिया रूप में चङ की नित्य स्थिति होती है, किन्तु √धेट् और √शिव धातुओं से कर्तृवाच्य तिङ् से पूर्व इस विकरण की स्थिति वैकल्पिक होती है।[4] उक्त 'च्लि' के स्थान पर जायमान दूसरा विकरण 'क्स' (स) 'इगुपध' एवं 'ऊष्मान्त' अनिट् प्रकृतियों से पर में दृष्टिगत होता है।[5] च्लि स्थानिक 'अङ' (अ) विकरण,

१—पा० सू० ३।१।६६; ६।४।१०४
२—द्रष्टव्य पा० सू० ३।१।६२६ व ४४
३—पा० सू० ३।१।६१ व ६०
४—पा० सू० ३।१।४८ व ४९
५—'शल इगुपधाद निटः क्सः' 'श्लिष आलिंगने' 'न दृशः'—पा० सू० ३।१।४५, ४६ व ४७

जिसका अनुबन्ध रहित रूप 'चङ्' के सदृश है, किन्तु 'च' अनुबन्ध धातु के अभ्यस्त रूप को इंगित करता है,[1] उसका इसमें अभाव है। यह विकरण 'इरित्' धातु और √लिम्प, √सिच√ ह्वेञ् से पर में विकल्प से होता है। किन्तु आत्मनेपद में इरित् धातुओं से जहाँ सिच् प्रत्यय होता है, वहाँ लिम्पादि से परस्मैपद में नित्य ही अङ् विकरण होता है। श्यन् विकरण वाली पुषादि, द्युतादि, लृदित, √सृ, √ऋ, √शास्, √अस्, √वच् एवं √ख्या धातु-प्रकृतियों से भी पर में यही विकरण होता है। किन्तु √दृ, √जृष्, √स्तम्भ्, √मुच्, √म्लुच्, √ग्रुच्, √लिच्, √ग्लुच्, ग्लुंच, √एवं शिव धातुओं से पर में यह विकरण वैकल्पिक रूप में देखा जाता है। इसके अभाव में अथवा अन्य विकरणों के अभाव में 'च्लि' के स्थान पर सामान्य तथा 'सिच्' (स्) रूप दृष्टिगत होता है। इस सिच् से भी पर में आकारान्त या √यम्, √रम्, और √नम् धातु होने पर 'सक्' (स) का आगम होता है अर्थात् वह सिच् द्विरुक्त हो जाता है। इसके आर्धधातुक होने से सेट् धातुओं में इडागम एवं षत्वादि कार्य भी होते हैं।

उभयगामी या प्रत्यय विकरण :–धातु और तिङ् प्रत्यय में अन्तःपाति विकरणों के अतिरिक्त 'णिङ्' 'आय' और 'आम् प्रत्ययों की चर्चा भी इसी संदर्भ में आवश्यक है, क्योंकि ये तीनों प्रत्यय विकरण से भिन्न होते हुए भी उसी कोटि के हैं। अतः इन्हें प्रत्यय विकरण अथवा सार्वधातुक और आर्धधातुक दोनों लकारों में होने से उभयगामी विकरण कह सकते हैं। इनमें से 'णिङ्' (इ) प्रत्यय 'कम् से सार्वधातुक लकारों में नित्य होता है तथा आर्धधातुक लकारों में विकल्प[2] से। यद्यपि इस धातु के प्रसंग में यह अतिरिक्त अर्थ का बोधक नहीं है, तथापि प्रातिपदिकों से विहित होने पर अर्थ की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है, जिसे आगे स्पष्ट किया जायगा। इसकी भाँति 'आय' प्रत्यय भी स्वार्थिक है तथा √'गुप्' √'धुप्', √'विच्छ', √'पण्' एवं √'पन्' धातुओं से सार्वधातुक लकारों में नित्य और आर्धधातुक लकारों में विकल्प विहित होता है।[3] आम् प्रत्यय भी

१—'चङि'—पा० सू० ६।१।११
२—पा० सु० ३।१।३०, ३१
३—पा० सू० ३।१।२८, ३१

स्वार्थिक है। ऋच्छ्, व आकारादि धातुओं से भिन्न दीर्घस्वरादि धातुओं से, √कास्, √दय्, √आय्, √आस् एवं अनेकाक्षर धातुओं से लिट् लकार में प्रकृति के अभ्यस्तरूप से मिल कर यह क्रिया के उपपद की सृष्टि करता है। इसके अतिरिक्त उक्त स्थिति में ही यह √उष्, √विद्, √जागृ, √भी, √ह्री, √भृ, एवं √हु धातुओं से विकल्प से होता है।[1] यथा—एधांचक्रे गोपायांचकार, जुहवांचकार—जुहाव इत्यादि। विद् से लोट् लकार में भी यह पाया जाता है।[2] यथा—विदांकरोतु इत्यादि।

अनुबन्धफल :—यहाँ तक तिङ् प्रत्यय के दसों लकारों में उपलभ्यमान अनेक स्वरूपों की चर्चा के प्रसंग में उपस्थित विकरण-प्रत्ययों पर भी कुछ विचार किया गया। यद्यपि ये प्रत्यय स्वार्थिक कहे गये हैं, पुनरपि परिनिष्ठित क्रियारूप में अत्यन्त सहायक होते हुए अन्ततः 'स्फोट' के अभिव्यंजक होते हैं। यहीं पर अनुबन्धों पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि आत्मनेपद और परस्मैपद संज्ञक तिङ् प्रत्ययों का विधान तथा प्रकृतिगत ध्वनि-परिवर्तन इसी पर आश्रित है। गण पाठ में पठित धातुओं के अनुबन्ध का यही मुख्य प्रयोजन है। एवंच यहाँ पर तिङ्, प्रत्यय विकरण एवं धातुओं के अनुबन्ध प्रयोजन का संक्षेपतः अध्ययन प्रस्तुत है। तिङ् प्रत्ययों में 'प्', 'ट्' एवं 'ङ्' ये तीन अनुबन्ध हैं। इन अनुबन्धों से अनुबद्ध रूप को क्रमशः पित् टित् एवं ङित् नाम से व्यवहृत किया जाता है। इसके अतिरिक्त अनुबन्ध रहित तिङ्रूप ङित्संज्ञक है।[3] इनमें से पित् एवं टित् प्रत्यय पूर्ववर्ती स्वर के गुणीभाव में सहायक होते हैं तथा ङित् और कित् प्रत्यय गुण के निषेध को सूचित करते हैं।[4] लिट् लकार के तिङ् प्रत्ययों में अथवा विकरणों में जहाँ 'ण्' अनुबन्ध है, वह प्रत्यय भी पूर्ववर्ती अंग में वृद्धि एवं गुण का प्रयोजक होता है।[5]

१—द्रष्टव्य-पा० सू० ३।१।३५ से ४० तक २—पा० सू० ३।१।४१

३—कित् एवं ङित् के लिए द्रष्टव्य-पा० सू० १।२।१ से २६ तक तथा ३।४।१०३ व १०४

४—पा० सू० ७।३।८४ व १।१।५ ५—पा० सू० ७।२।११५

इसके विपरित महिङ् प्रत्यय का 'ङ्' अनुबन्ध 'तिङ्' और 'तङ्' इन दो प्रत्याहारों का निर्माण करता है।[1] तिङ् प्रत्याहार जहाँ समस्त अठारह प्रत्ययों का बोधक है, वहीं तङ् प्रत्याहार आत्मनेपद-संज्ञक प्रत्ययों का ही बोध कराता है। धातुओं के अनुबन्धों का प्रयोजन इससे सर्वथा भिन्न है। वह मुख्यतः आत्मनेपद तङ् प्रत्यय एवं परस्मैपदतिबादि प्रत्यय के प्रयोग को सूचित करता है। अवधेय है कि धातुमात्र से आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों नहीं पाये जाते, अपितु कतिपय धातुओं से परस्मैपद एवं अनुबन्ध-विशेष से सम्बद्ध कतिपय धातुओं से आत्मनेपद का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त कुछ अनुबन्ध धातुओं की प्रक्रिया की सिद्धि में सहायक होते हैं। यथा— उदित् धातुओं में विकल्प से 'इट्' (इ) आगम होता है तथा टु, डु, ओ इत्यादि अनुबन्ध कृत् प्रत्ययों के विधान व प्रक्रिया विशेष में सहायक होते हैं।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने भी तिङ् के स्वरूप में ङ्, ण् और व् अनुबन्ध का प्रयोग किया है। इनमें 'ङ्' अनुबन्ध प्रकृति में गुण और वृद्धि के अभाव के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा 'ण्' और 'व' अनुबन्ध प्रकृति में क्रमश वृद्धि और गुण को सूचित करते हैं। यहाँ अनुभूतिस्वरूप ने 'व्' के स्थान पर 'य्' अनुबन्ध का प्रयोग किया है।

उपसंहार :—इस द्वितीय स्तबक में विभक्ति–प्रत्ययों का विवेचन हुआ। सुप् विभक्तियों के अध्ययन में विस्तार भय से संकोच हुआ है। वस्तुतः केवल तिङ का अध्ययन स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। सभी धातुओं के विशेषार्थ की समीक्षा और तिङ् प्रत्यय के संयोग के अनन्तर रूपविज्ञान की एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया का निरूपण, ये दोनों विषय बहुत विशाल हैं। चूँकि यहाँ प्रमुख दृष्टि प्रत्ययों पर रही है, अतः तिङ् के विभिन्न स्वरूप, उसके अर्थ और अनुबन्धों का विवेचन प्रधान रहा है। रूपविज्ञान को दृष्टिगत करते हुए संक्षेप में उसके उपकरणभूत विकरण, आगम और आदेश की चर्चा की गयी है।

१—'महिङो ङकारस्तङिति प्रत्याहारार्थः'—सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी, सू० २१५५

२—पा० सू० ७।२।४४; ३।३।८६, ८८; ८।२।४५ इत्यादि। एतदर्थं द्रष्टव्य रूपावतारः, धातुप्रत्ययपंचिका, भाग २, पृ० १-३

स्तवक के प्रारम्भ में सुप् विभक्तियों का निरूपण हुआ है। वहाँ भी अध्ययन के बिन्दु प्रत्यय स्वरूप, अर्थ और अनुबन्ध रहे हैं, किन्तु प्रक्रियांश का सर्वथा परित्याग नहीं हुआ है।

भाषा की प्रमुख इकाई वाक्य है। अथवा वाक्य-समूह को ही भाषा कहते हैं, जबकि पद-समूह को वाक्य नहीं कहते, अन्यथा 'गौः हस्ती पुरुषः' को भी वाक्या कहना होगा। उस वाक्य के सुबन्त और तिङन्त दो स्कन्ध हैं। ये दोनों ही प्रकार के पद सुप् और तिङ विभक्तियों से निष्पन्न होते हैं। इनसे अछूता कोई पद नहीं हो सकता और 'अपद' का वाक्य में प्रयोग वर्जित है। एवञ्च सुप् और तिङ प्रत्यय 'वाक्यस्फोट' के अभिव्यंजक हैं। वैयाकरणों का चरम निष्कर्ष वाक्यस्फोट ही है। इसी तथ्य को ध्वनित करने के लिए यहाँ द्वितीय स्तबक में विभक्ति-प्रत्ययों का पर्यालोचन हुआ है। अब आगे के स्तबक में विभक्त्यन्त प्रत्ययों का अध्ययन होगा।



तृतीयस्तबक : विभक्त्यन्त प्रत्यय

नामकरण : पिछले अध्याय में सुप् एवं तिङ् नामक विभक्ति प्रत्ययों का अध्ययन किया गया। इन प्रत्ययों के संयोग से सुबन्त एवं तिङन्त पदों की निष्पत्ति होती है। संप्रति प्रकृत स्तवक में उक्त उभयविध पदों से जायमान प्रत्ययों का पर्यालोचन किया जायेगा। यद्यपि अर्थ की दृष्टि से कतिपय प्रत्ययों के अध्ययन का प्रकरण दूसरे स्तवक में आयेगा। जैसे तिङन्त पदों से विधीयमान वे सात प्रत्यय हैं, जो क्रिया के प्रायः प्रकर्ष अर्थ को बोधित करते हैं, उससे भिन्न अर्थ का उपस्थापन नहीं करते तथा उनमें से दो प्रत्ययों के अन्त में 'आम्' प्रत्यय भी संयुक्त होता है, जिसका कोई अर्थ नहीं होता, अपितु वह प्रकर्षार्थ की अभिव्यक्ति में मात्र सहायक होता है और उनके संयोग से धातु का परिनिष्ठित रूप 'पचतितराम्' 'पचतितमाम्' इत्यादि हो जाता है, जिससे पाक आदि क्रियाओं का आधिक्य या प्रकर्ष प्रगट होता है। तथापि तिङन्त पदों से विहित होने के कारण उनका इस स्तवक में यथास्थान उल्लेख समुचित समझा गया है। उक्त तिङन्तीय सात प्रत्ययों के अतिरिक्त इस प्रकरण में प्रक्रंस्यमान समग्र प्रत्यय सुबन्त पदों से ही विहित होते हैं। अतएव इस स्तवक का 'विभक्त्यन्त प्रत्यय' नामकरण किया गया है।

प्रचलित नाम : विभक्त्यन्त पदों से होने वाले इन प्रत्ययों को पाणिनि प्रभृति सभी वैयाकरण 'तद्धित' संज्ञा देते हैं।[१] इस संज्ञा

१—'तद्धिताः'—पा० सू० ४।१।७६

का प्रयोग पाणिनि के अतिरिक्त हेमचन्द्र, शर्ववर्मा, अनुभूतिस्वरूप एवं धर्मकीर्ति ने भी किया है।[1] किन्तु इसकी व्युत्पत्ति सारस्वत व्याकरण की चन्द्रकीर्ति एवं प्रसाद टीकाओं में ही उपलब्ध होती है। इस शब्द में सर्वनाम 'तत्' और 'हित' शब्द का समास हुआ है। हित के योग में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होने से 'तस्मै, ताभ्यां तेभ्यो वा हितो हिता वा तद्धिताः' यह विग्रह-वाक्य सम्पन्न होता है। तत् पद से यहाँ इन प्रत्ययों के पूर्व में व्याख्यात समास अथवा सुबन्त पद परामृष्ट होते हैं। उनके हितैषी अर्थात् उनके स्थान पर उनके अभाव में भी उनके द्वारा प्रतिपाद्यमान अर्थ का बोधक होने से अध्येष्यमाण ये प्रत्यय तद्धित शब्द से व्यवहृत होते आये हैं। इस कथन से यह बात भी ध्वनित हो जाती है कि भाषा में इनका प्रयोग एच्छिक या वैकलिपक है। यदि हम 'देवदत्त के पुत्र' अर्थ को तद्धित प्रत्यय से व्यक्त करना चाहेंगे तभी 'दैवदत्तिः' पद का प्रयोग करेंगे, अन्यथा 'देवदत्तस्य पुत्रः' अथवा 'देवदत्तपुत्रः' इस पद का भी प्रयोग करते हैं। यही इन प्रत्ययों का 'हितत्व' है कि ये प्रत्यय उनके अभाव में उनसे सम्बद्ध अर्थान्तर के अभिव्यंजक हैं। एवंच पर्यालोचयिष्यमाण इन प्रत्ययों की 'तद्धित' इस महासंज्ञा से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये सुबन्त से विकल्प रूप में विहित होते हैं। पुनरपि स्पष्ट प्रतिपत्ति हेतु महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में विकल्प-बोधक-अधिकार-सूत्र का भी प्रणयन किया है।[2]

प्रकृति : यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यथा 'पचतितमाम्' रूप में तिङ् प्रत्यय की श्रुति होती है एवं तदनन्तर तद्धित 'तमाम्' प्रत्यय दृष्टिगत होता है तद्वत् 'दैवदत्तिः' इत्यादि तद्धितान्त पदों में सुप् विभक्ति की श्रुति नहीं होती है, अतः तद्धित प्रत्यय एवं उनकी प्रकृति के मध्य विभक्ति की कल्पना और तदन्त से प्रत्यय-

---

१—'तद्धितोऽणादिः'—हैम० ६।१।१; 'इति नाम्नि चतुष्टये तद्धितः समाप्तः'—कातन्त्रव्याकरण, सूत्रपाठः, बालशिक्षा, जोधपुर, १९६८; 'अथ तद्धितो निरूप्यते'—सार; पूर्वार्द्ध, चौखम्बा, वाराणसी, १९६७, पृ० २७२ तथा 'अथ तद्धितावतारः'—रूपावतार, भाग १, पृ० २१९

२—'समर्थानाम् प्रथमाद् वा'—पा० सू० ४।१।८२

विधान निष्फल कल्पना-प्रसूत हैं। इस प्रश्न का समाधान 'कुत्सिते' (पा० सू० ५-३-७४) सूत्र के भाष्य में पतंजलि इत्यादि वैयाकरणों ने किया[1] है। वहाँ स्पष्ट किया गया है, स्वार्थ, द्रव्य, लिंग, संख्या एवं कारक अर्थों से परिपूर्ण पद ही पदान्तर-सम्बन्ध में समर्थ हो सकता है और इन अर्थों से परिपूर्ण विभक्त्यन्त पद ही होता है। अतः उसका पुत्र आदि अर्थान्तर से सम्बन्ध होने पर ही उस अर्थान्तर को तद्धित प्रत्यय व्यक्त करते हैं। जब तक प्रतिपदिक से विभक्ति का संयोग नहीं होगा तब तक वह अर्थान्तर से संयोग करने योग्य नहीं होगा। तथाच सम्बन्धाभाव में तद्धित प्रत्यय उत्पन्न होकर भी किस अर्थ को अभिव्यक्त करेंगे ? अतः परिनिष्ठित तद्धितान्तरूपों में विभक्ति की श्रुति न होने पर भी ये प्रत्यय विभक्ति के अन्त में ही संयुक्त होते हैं। इनके संयोग के अनन्तर सर्वत्र प्रकृति की सुप् विभक्ति का लोप हो जाता है, जिससे उनकी श्रुति नहीं होती है। इस श्रुति के अभाव में उनकी उपस्थिति का सर्वथा प्रतिषेध अवैज्ञानिक सरणि है। एवञ्च इस स्तबक के प्रत्ययों की प्रकृति विभक्त्यन्त पद हैं।

स्वार्थिक तद्धित :—यहाँ तक यह बात स्पष्ट हुई कि तद्धित प्रत्यय सुबन्त पद से विहित होते हैं और उनके विधान के अनन्तर सुप् विभक्ति का सर्वत्र लोप हो जाता है। यहीं पर यह भी अवधेय है कि सभी तद्धित प्रत्यय सुबन्त पद से विहित नहीं होते, अपितु जो तद्धित सार्थक होते हैं, वे ही सुबन्त पद से विहित हैं, क्योंकि उनके अर्थ से सम्बन्ध करने के लिए प्रकृति को स्वार्थ में परिपूर्ण होना पड़ता है और स्वार्थ में परिपूर्णता विभक्ति लगने के बाद ही होती है। तभी कोई पद अपने सभी अर्थों को व्यक्त करने में समर्थ होता है। यहाँ सभी अर्थों से तात्पर्य जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या और कारक से है। प्रायः प्रत्येक पद से इन पाँचों अर्थों की प्रतीति होती है। किन्तु जो तद्धित प्रकृत्यर्थ के उत्कर्षापकर्ष मात्र को प्रगट करते हैं अथवा केवल प्रकृत्यर्थ का अभिधान करते हैं, वे सीधे प्राति-

---

१—'स्वार्थद्रव्यलिंगसंख्याकारकप्रयुक्तकार्यैः संस्कृतस्य बहिर्भूतापत्यादियोगः'—लघुशब्देन्दु शेखरः, अजन्तपुंल्लिग, ङ्याप्प्रातिपदिकात्

पदिक से ही विहित होते हैं, क्योंकि उनके अर्थ से प्रकृति को सम्बन्ध नहीं करना पड़ता, अपितु उनके अर्थ प्रकृत्यर्थ से अभिन्न होते हैं, अतः उनके विधान में प्रकृति को विभक्ति की अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकार के तद्धितों को स्वार्थिक तथा अत्यन्त-स्थार्थिक नाम से व्यवहृत किया जाता है अर्थात् जो तद्धित प्रकृत्यर्थगत वैशिष्ट्य मात्र का बोधन करते हैं, जैसे—अतिशयेन पटुः इति पटुतमः, ह्रस्वः बालः इति बालकः इत्यादि में 'तम' एवं 'क' प्रत्यय प्रकृत्यर्थ की अतिशयता एवं ह्रस्वता रूप विशेषता को ही बोधित करते हैं, अतः वे तद्धित प्रत्यय स्वार्थिक कहे जाते हैं। इनका विधान प्रातिपदिक प्रकृति से ही होता है। अतएव वैयाकरणों ने 'समर्थानाम् प्रथमाद् वा' सूत्र का अधिकार 'प्राग्दिशो विभक्तिः' (पा० सू० ५-३-१) तक ही माना है। इस सूत्र के अनन्तर सूत्रों से विधीयमान प्रत्यय स्वार्थिक कहलाते हैं, अतः उनकी प्रकृति को समर्थ या सुबन्त होना आवश्यक नहीं है।[1] इन स्वार्थिक प्रत्ययों को सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजिदीक्षित ने 'प्राग्दिशीय' और 'प्रागिवीय' प्रकरणों में प्रतिपादित किया है।

अत्यन्त स्वार्थिक तद्धित :—इनके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के भी तद्धित प्रत्यय होते हैं जिन्हें नागोजिभट्ट ने अत्यन्तस्वार्थिक कहा है।[2] ये प्रत्यय प्रकृत्यर्थ में वैशिष्ट्योत्पादन भी नहीं करते, अपितु केवल 'स्व' अर्थात् प्रकृति के अर्थ को व्यक्त करते हैं। यथा—प्रज्ञः एव 'प्राज्ञः' इत्यादि रूपों में तद्धित प्रत्यय 'अण्' प्रकृत्यर्थमात्र का अभिधान करता है। ये प्रत्यय भी प्रातिपदिक प्रकृति से ही विहित होते हैं, किन्तु इनके और प्रकृति के मध्य में विभक्ति की उपस्थिति अपेक्षित नहीं होती। भट्टोजिदीक्षित ने 'स्वार्थिक' प्रकरण के अन्तर्गत इनका अध्ययन प्रस्तुत किया है। यद्यपि उन्होंने इसका 'अत्यन्त-स्वार्थिक' नामकरण नहीं किया है पुनरपि उन्हीं के शब्दों

१—'अथ स्वार्थिकाः प्रत्ययाः'। 'समर्थानाम्' इति 'प्रथमात्' इति च निवृत्तम्। 'वा' इति तु अनुवर्तत एवं—सिद्धान्तकौमुदी, प्राग्दिशीय प्रकरण, सू० १९४७

२—'उभशब्दाद् वृत्तिविषयेऽत्यन्तस्वार्थिकायज्विधानार्थम्'—लघुशब्देन्दुशेखर, अजन्तपुँल्लिग, द्विवचनपरत्वाभावेनेति प्रतीक

में प्राग्दिशीय एवं प्रागिवीय प्रत्यय स्वार्थिक हैं तथाच उनसे भेद बोधन हेतु उन्होंने कुछ प्रत्ययों को अलग से 'स्वार्थिकप्रकरण' में रखा है।[1] यदि हम उन्हें स्वार्थिक कहते हैं तो उनसे भिन्न प्रत्ययों को भी स्वार्थिक कहना परस्पर विरुद्ध है, जिसे दृष्टिगत करते हुए भट्टनागेश ने अत्यन्तस्वार्थिक की चर्चा की है। एवंच भट्टोजिदीक्षित से उक्त न होने पर भी अर्थविज्ञान की दृष्टि से तद्धित प्रत्ययों में सार्थक, स्वार्थिक और अत्यन्तस्वार्थिक ये तीन विभाग किये जा सकते हैं।

निष्कर्ष :—ऊपर दो प्रघट्टकों में स्वार्थिक और अत्यन्तस्वार्थिक तद्धित प्रत्ययों की चर्चा की गयी है। ये दोनों ही प्रातिपदिक प्रकृति से विहित होते हैं, अतः विभक्त्यन्त प्रत्यय नामक इस स्तवक में इनका विवेचन नहीं किया जायेगा। यहाँ तो केवल सार्थक तद्धित प्रत्ययों का विवेचन किया जायगा, जो कि प्रकृत्यर्थ से सर्वथा भिन्न एवं सम्बद्ध अर्थ को अभिहित करते हैं। इसके विपरीत स्वार्थिक होने पर भी 'तर' एवं 'तम' प्रत्ययों की प्रारम्भ में चर्चा तिङ् विभक्ति से विहित होने के कारण की गयी है। उनके अतिरिक्त इस स्तवक के सभी प्रत्यय सार्थक हैं और विभक्त्यन्त प्रकृति से विहित होते हैं।

अध्ययन प्रणाली :—इन प्रत्ययों का सामान्य अर्थ 'सम्बन्ध' कहलाता है। यथा—राष्ट्रियः=राष्ट्रसम्बन्धी, गव्यम्=गोसम्बन्धी, औपगवः=उपगुसम्बन्धी इत्यादि रूप से सम्बन्ध सामान्य की प्रतीति यद्यपि सर्वत्र होती है, तथापि उन शब्दों से उस सम्बन्ध की विशेषता भी प्रगट होती है अर्थात् ये प्रत्यय सम्बन्ध-विशेष के बोधक हैं। किंच विशेषार्थ में ही इनका प्रयोग होता है। अतः वैयाकरणों ने वैज्ञानिक प्रणाली से इनके विशेषार्थ का निर्धारण किया है। उन्होंने अपने व्याकरण ग्रन्थों में एक आधिकारिक प्रत्यय की संकल्पना की है, जिसके अधिकार में अनेक अर्थों का निरूपण हुआ है और उन-उन अर्थों में विशेष प्रकृतियों से विशेष प्रत्ययों का भी अनुशासन है। इसका यह अभिप्राय है कि जिन अर्थों में जिस प्रत्यय का अधिकार होगा उन अर्थों में प्रकृति-विशेष से प्रत्यय-विशेष के विधान के अभाव

१—द्रष्टव्य- वैया० सिद्धान्तकौमुदी, द्वितीय भाग, चौखम्बा, वाराणसी

में वह आधिकारिक प्रत्यय उस प्रकृति से संयुक्त होकर अधिकृत अर्थ को अभिहित करेगा। यथा—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में आधिकारिक प्रत्यय 'अण्' है। इन अर्थों में यदि प्रकृति-विशेष से प्रत्यय-विशेष का अनुशासन दृष्टि नहीं है तो ऐसी स्थिति में उस प्रकृति से आधिकारिक 'अण्' प्रत्यय ही होगा। इस प्रकार पाणिनि प्रभृति सभी वैयाकरणों ने इन प्रत्ययों का अर्थपरक अध्ययन प्रस्तुत किया है, किन्तु प्रकृत ग्रन्थ में प्रत्ययपरक विवेचन का प्रयास किया गया है। एतदर्थ यहाँ यथावश्यक प्रत्यय-तालिका के माध्यम से प्रत्ययों का अध्ययन प्रस्तुत हुआ है और उसमें सानुबन्ध एवं निरनुबन्ध दोनों स्वरूपों को दर्शाया गया है। इसके साथ ही पाणिनि-सम्मत अनुबन्ध युक्त प्रत्यय-स्वरूप, प्रकृति-विशेष, अर्थविशेष एवं उदाहरणों को एक साथ अकारादि क्रम से तालिका में स्पष्ट किया जायेगा। इसके अतिरिक्त इस स्तबक के अन्त में हेमचन्द्रादि अन्य वैयाकरणों से मान्य प्रत्यय-स्वरूप का भी विवेचन किया जायेगा। अवधेय है कि इन सभी वैयाकरणों के अध्ययन की प्रणाली महर्षि पाणिनि के अनुसार अर्थपरक ही है।

आधिकारिक प्रत्यय व उनके अर्थ :—सम्प्रति आधिकारिक प्रत्यय एवं उनके अर्थों की चर्चा उपादेय होने से उसे अलग से कर लेना आवश्यक है। पहला आधिकारिक प्रत्यय 'अण्' है।[1] इसके अधिकृत अर्थों को 'प्राग्दोव्यतीय' कहते हैं। इसमें निम्नलिखित अर्थ आते हैं :

(१) अपत्य (२) युवापत्य (३) गोत्र (४) राजा (५) रक्त (रंग हुआ) (६) युक्तकाल (७) दृष्टसाम (८) परिवृत रथ (९) अपूर्ववचन (१०) उद्धृत (११) शयिता व्रती (१२) संस्कृत (१३) पौर्णमासी सत्ता (१४) देवता (१५) दुग्ध (१६) बन्ध्य (१७) समूह (१८) विषयदेश (१९) आदिस्थिति (२०) प्रयोजन (२१) योद्धा (२२) प्रहरण (२३) सप्तम्यर्थ (२४) अध्येता (२५) वेत्ता (२६) अस्त्यर्थ (२७) निर्वृत्त (२८) निवास

१—'प्राग्दीव्यतोऽण्'—पा० सू० ४।१।८३; 'तेन दीव्यति'—पा० सू० ४।४।२; इत्यतः प्रागणधिक्रियते'—सिद्धान्तकौमुदी, अपत्याधिकार, सू० १०७३

(२९) अदूरभव (३०) जात (३१) कृत (३२) लब्ध (३३) क्रीत (३४) कुशल (३५) प्रायभव (३६) सम्भूत (३७) सुन्दर पुष्पित होना (३८) उप्त (३९) देय (४०) व्याहर्ता (४१) सोढ (४२) भव (४३) व्याख्यान (४४) आगत (४५) प्रभविता (४६) मार्ग या दूतरूप गन्ता (४७) निष्क्रामक (४८) कृत ग्रन्थ (४९) सम्बन्धी-निवास (५०) अभिजन (५१) भक्ति (५२) प्रोक्त (५३) एक दिक् (५४) उपज्ञात (५५) इदमर्थ (५६) विकार (५७) ग्राहक (५८) क्षोदक (५९) पेषक (६०) दर्शक ।[1]

उक्त अर्थ 'प्राग्दीव्यतीय' कहे जाते हैं । इन अर्थों को व्यक्त करने वाला सामान्य प्रत्यय 'अण्' है । इनमें संख्या ५ से २५ तक के अर्थ 'रक्ताद्यर्थ' शब्द से कहे जाते हैं तथा 'विकार' से भिन्न अवशिष्ट अर्थ 'शैषिक' या शेषार्थ कहे जाते हैं । इसके अतिरिक्त संख्या २६ से २९ तक के चार अर्थों को 'चातुरर्थिक' कहते हैं । प्राग्दीव्यतीय अर्थों की ये अवान्तर संज्ञायें हैं ।

दूसरा आधिकारिक प्रत्यय है 'ठक्' । प्रकृति के आगे इसका स्वरूप 'इक' हो जाता है किन्तु इस्, उस् और तान्त प्रकृति से पर में यह 'क' रूप में ही रहता है । इसके अधिकार में समागत अर्थों को 'प्राग्वहतीयार्थ' कहते हैं । इन अर्थों की सख्या निम्नलिखित है[2] :

(१) वक्ता (२) प्रष्टा (३) कुगामी (४) क्रीडक (५) खनक (६) जेता (७) जित (८) संस्कृत (९) तरिता (१०) चरिता

१–द्रष्टव्य-पा० सू० ४,१,९२,९३,९४, १७२; ४।२।१, ३, ७, ९, १२ १३, १४, १५, २०, २३, ३६, ५१ ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ६६, ६७, ६८, ६९; ४।३।२५, ३८, ३९, ४१, ४३, ४४, ४६, ५१, ५२, ५३, ६६, ७४, ८३, ८५, ८६, ८७, ८९, ९०, ९५, १०१, ११२, ११५, १२०, १३२; ४।२।९२ तथा वार्तिक २७१२

२–द्रष्टव्य–पा० सू० ४।४।२, ३, ५, ८, १२, १५, २२, २६, २७, ३०, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३९, ४३, ४६, ४७, ५०, ५१; ५५, ५७, ६० ६१, ६३, ६५, ६६, ६९, ७१, ७२ व ७३ तथा कार्तिक २१५१, २९५३ व २९५४

(११) जीवक (१२) हर्ता (१३) संसृष्ट (१४) उपसिक्त (१५) वर्तिता (१६) प्रदाता (१७) उछंक (१८) रक्षक (१९) कर्त्ता (२०) हन्ता (२१) स्थाता (२२) धावक (२३) ग्राहक (२४) समवेता (२५) द्रष्टा (२६) धर्म्य (२७) अवक्रय (२८) पण्य सम्बन्धी (२९) शिल्प सम्बन्धी (३०) प्रहरण सम्बन्धी (३१) मत सम्बन्धी (३२) शील सम्बन्धी (३३) वृत्त सम्बन्धी (३४) हित (३५) देय (३६) नियुक्त (३७) अध्येता (३८) व्यवहर्ता (३९) निवासी।

तीसरा आधिकारिक प्रत्यय 'यत्' है। इसमें 'त्' अनुबन्ध होने से प्रत्यय स्वरूप 'य' मात्र अवशिष्ट रहता है। इसके अधिकार में निम्नलिखित अर्थ हैं :

(१) वाहक (२) वेधक (३) लब्धा (४) वंशगत (५) दृश्य अधिकरण (६) उत्पाटनीय (७) संयुक्त (८) अनपेत (९) निर्मित (१०) प्रिय (११) साधु (१२) वासी। इन अर्थों में सामान्यतया 'यत्' प्रत्यय प्रयुक्त होता है।[1]

चौथे आधिकारिक प्रत्यय को 'छ' कहते हैं। इसका प्रकृति से संयुक्त होने वाला स्वरूप 'ईय' है। इसके अधिकार में निम्नलिखित अर्थ आते हैं : (१) हित (२) इदमर्थ (३) सम्बन्धी और (४) अधिकरण।[2]

पाँचवाँ एवं अन्तिम आधिकारिक प्रत्यय 'ठन्' का स्वरूप 'ठक्' के समान है। उक्त दोनों ही प्रत्यय 'इक' रूप में प्रकृति से संयुक्त होते हैं। इसके अधिकार में प्रतिपाद्य अर्थों को 'आर्हीयार्थ' कहते हैं। इनका संकेत नीचे किया जा रहा है[3] :

१—द्रष्टव्य—पा० सू० ४।४।७५, ७६, ८३, ८४, ८६, ८७, ८८, ९०, ९२, ९३, ९५, ९८, १०७

२—पा० सू० ५।१।५, १२, १६

३—द्रष्टव्य—पा० सू० ५।१।१८, १९, २०, ३७, ३८, ४२, ४३, ४५, ४७, ५०, ५२ ५६, ५७, ६३, ७१, ७२, ७३, ७६, ७८, ७९, ९३, ९४, ९५, ९९, १०१, १०४, १०९

(१) क्रीत (२) संयोग (३) उत्पात (४) ईश्वर (५) विदित (६) वाप क्षेत्र (७) वृद्धि अधिकरण (८) आय अधिकरण (९) लाभ अधिकरण (१०) शुल्क अधिकरण (११) उपदा अधिकरण (१२) हारक (१३) वाहक (१४) सम्भावक (१५) अवहारक (१६) द्रावक (१७) अंग सम्बन्धी (१८) मूल्य सम्बन्धी (१९) भृति सम्बन्धी (२०) परिमाण सम्बन्धी (२१) अर्ह (२२) वर्तयिता (२३) संशय युक्त (२४) गन्ता (२५) योग्य (२६) आहृत (२७) निर्वृत्त (२८) अधीष्ट (२९) भृत (३०) भूत (३१) भावी (३२) परिजय्य (३३) लभ्य (३४) कार्य (३५) सुकर (३६) ब्रह्मचर्य सम्बन्धी (३७) दक्षिणा सम्बन्धी (३८) शोभित (३९) प्रभावक (समर्थ) (४०) प्राप्त समय वाला (४१) प्रयोजन सम्बन्धी। इन अर्थों को सामान्यतया 'ठक्' प्रत्यय अभिहित करता है।

अर्थातिदेश : निर्दिष्ट अर्थों में प्रकृति-सामान्य व विशेष से सामान्य-रूपेण विहित होने वाले अनुबन्धरहित चार अथवा सानुबन्ध पाँच प्रत्ययों का निर्देश ऊपर किया गया। इनके अतिरिक्त विशेष प्रत्यय भी विहित होते हैं, जो केवल विशेष अर्थों को ही अभिहित करते हैं। इसके विपरीत प्रकृति-विशेष से जायमान कुछ ऐसे भी विशेष प्रत्यय हैं, जो निर्दिष्ट अर्थ से अतिरिक्त अर्थ में भी उन्हीं प्रकृतियों से विहित होते हैं।[1] यथा—(१) कालवाची प्रकृतियों से भव अर्थ में जो विशेष प्रत्यय होते हैं, वे उन्हीं प्रकृतियों से देवता अर्थ में भी विहित होते हैं। जैसे 'मासे भवः मासिकम्' एवं 'मासः देवता अस्य मासिकम्'। इस प्रकार दोनों ही अर्थों में शब्दरूप समान होते हैं। (२) धर्म अर्थ में प्रकृति-विशेष से विधीयमान प्रत्यय 'समूह' अर्थ में भी होते हैं। (३) गोत्रवाचक प्रकृति के अंक अर्थ में होने वाले प्रत्यय उन्हीं प्रकृतियों से आगत अर्थ में भी होते हैं। (४) जनपद एवं उसके स्वामी के वाचक शब्द समान हों तो उन शब्दों से भव एवं भक्ति अर्थ में समान ही प्रत्यय होते हैं। यथा—'अंगानां जनपदः अंगाः, अंगेषु भवः 'आंगकः' एवं अंगा जनपदो भक्तिः अस्य 'आंगकः' अथवा अंगा क्षत्रियाः भक्तिः अस्य 'आंगकः' इस प्रकार तीनों ही स्थितियों में

१—पा० सू० ४।२।३४, ४६; ४।३।८०, १००, १५४; ५।१।९६

समान प्रत्यय होते हैं। (५) परिमाणवाची शब्दों से क्रीत और विकार अर्थों में समान प्रत्यय होते हैं। यथा—'निष्केण क्रीतं निष्कस्य विकारो वा 'नैष्किकम्'। (६) एवमेव कालवाची शब्दों से 'भव' अर्थ में जो प्रत्यय होते हैं उन्हीं प्रकृतियों से वे ही प्रत्यय 'देय' और 'कार्य' अर्थों में भी होते हैं। यथा—प्रावृषि भवः दीयते कार्यं वा 'प्रावृषेण्यम्'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही प्रकृति से होने वाला एक ही प्रत्यय अनेक अर्थों का बोध करा रहा है। ऐसे प्रत्ययों का एक दूसरे अर्थ में अतिदेश माना जा सकता है। इस दृष्टि से तद्धितरूपों में प्रायः अर्थातिदेश देखा जा सकता है; क्योंकि ये रूप कहीं सामान्य सम्बन्ध के तथा कहीं विशेष सम्बन्ध के बोधक होते हैं।

अनुबन्ध-प्रयोजन : यद्यपि तद्धित प्रत्ययों के प्रतिपादन में हम उनका अनुबन्ध रहित रूप प्रदर्शित करेंगे, तथापि अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण पाणिनिसम्मत सानुबन्ध रूप भी प्रदर्शित किया जायगा। इन प्रत्ययों में प्रक्रिया को दृष्टिगत करते हुए हेमचन्द्र और अनुभूति-स्वरूप ने भी अनुबन्धों का संयोजन किया है। किन्तु इन वैयाकरणों के अनुबन्ध एकांगी हैं। उन सभी भावों को व्यक्त करने में वे सर्वथा सफल नहीं हैं, जिन्हें महर्षि पाणिनि बड़ी वैज्ञानिकता से स्पष्ट कर देते हैं। उनके अनुबन्ध रूपीय प्रक्रिया का निर्वाह तो करते ही हैं, साथ ही उदात्तादि स्वरों के ज्ञान में भी अतीव उपयोगी होते हैं। जबकि इस प्रयोजन के साधन में अन्य वैयाकरण सर्वथा असफल रहे हैं। 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' को समाहित करते हुए धर्मकीर्ति एवं चन्द्र-गोमी ने प्रत्ययों के पाणिनि-सम्मत अनुबन्ध को ही स्वीकार किया है। शर्ववर्मा ने तो अपने कातन्त्र-व्याकरण में पदानुशासन पर ही ध्यान केन्द्रित रखा है। यही कारण है कि उनके यहाँ तद्धित प्रत्ययों की संख्या नगण्य है। उन्होंने विशाल राशि वाले तद्धितों को केवल १३ श्लोकों में गुम्फित करने का प्रयास किया है। यहाँ हम महर्षि पाणिनि के अनुबन्धों की वैज्ञानिकता को दिखाने का प्रयास करेंगे, क्योंकि इससे रूपीय प्रक्रिया समझने में सहायता मिलेगी।

पाणिनि ने अपने तद्धित प्रत्ययों में 'इ, उ, क्, ङ्, च्, ञ्, ट्, ड्, ण्, त्, न्, प्, ल्, ष्, एवं स्, अनुबन्धों का संयोजन किया है। इनके प्रयोजन निम्नलिखित हैं :

इ : यह अनुबन्ध प्रत्यय के उच्चारण सौकर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। हलन्त प्रत्यय स्वरूप के अनन्तर जब कोई व्यंजन अनुबन्ध जोड़ना होता है तब उसके पूर्व इसका प्रयोग प्रत्यय के उच्चारण की दृष्टि से आवश्यक हो जाता है। यथा—इमनिच् इत्यादि।

उ : जिस प्रत्यय के अन्त में इस अनुबन्ध का प्रयोग होता है वह प्रत्यय 'उगित्' कहा जाता है। प्रथमा और द्वितीया के सर्वनामस्थान विभक्तियों में उस उगित् प्रत्ययान्त शब्द से नुम् (न्) का आगम होकर 'गोमान्, गोमन्, गोमन्तौ' इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। एवंच यह विभक्ति प्रत्यय से पूर्व 'न्' आगम का सूचक है।[1]

क् : यह अनुबन्ध प्रक्रिया एवं स्वर दोनों में सहायक होता है। इस अनुबन्ध से युक्त प्रत्यय की प्रकृति के आदि स्वर को जहाँ वृद्धि या 'ऐ अथवा औ' का आगम अवश्य होता है, वहीं इस प्रत्यय से निष्पन्न रूप में अन्तोदात्त स्वर होता है।[2] यथा—आग्नयेः इत्यादि।

ङ् : इस अनुबन्ध का प्रयोजन निष्पन्न शब्द से स्त्रीलिंग में 'चाप्' (आ) प्रत्यय का विधान है। यथा—अजादस्यापत्यं स्त्री 'आजाद्या' इत्यादि।[3]

च् : इस अनुबन्ध के आसंजन से प्रत्यय को 'चित्' कहते हैं। इस चित् प्रत्यय से निष्पन्न पद में अन्तोदात्त स्वर होता है। एवंच यह अनुबन्ध स्वरार्थ है।[4] यह चित् स्वर ञित् स्वर का बाधक होता है। यथा—कौञ्जायनाः इत्यादि।

ञ् : यह अनुबन्ध प्रकृति के आदिस्वर के वृद्धिभाव अथवा ऐ या औ के आगम एवं निष्पन्न रूप में आद्युदात्त स्वर का बोधक है।[5] यथा—पौंस्या इत्यादि।

१—पा० सू० ७।१।७०   २—पा० सू० ७।२।११८; ६।१।१६५

३—पा० सू० ४।१।७४ द्रष्टव्य   ४—पा० सू० ६।१।१६३ तथा ६।१।१६४

५—पा० सू० ७।२।११७; ७।३।३ व ६।१।१९७

ट् : यह अनुबन्ध प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न रूप के स्त्रीलिंग में ङीप् (ई) के विधान का बोधक है अर्थात् वह रूप स्त्रीलिंग में ईकारान्त हो जाता है।[१]

ड् : इसके संयोग से प्रत्यय को डित् कहते हैं। यह प्रकृति के अन्तिम स्वर तथा अन्तिम स्वर के बाद यदि कोई व्यंजन हो तो उस स्वरव्यंजन-समुदाय अर्थात् टि भाग के लोप का सूचक है।[२]

ण् : यह अनुबन्ध प्रकृति के आदि स्वर की वृद्धि अथवा ऐ या औ के आगम का द्योतक है। यथा—औपगवः इत्यादि।[३]

त् : यह अनुबन्ध निष्पन्न रूप में स्वरित स्वर का सूचक है।[४] यथा—'क्व' इत्यादि।

न् : यह अनुबन्ध परिनिष्ठित रूप में आद्युदात्तस्वर को सूचित करता है।[५]

प् : इससे प्रकृति-प्रत्यय संयोग द्वारा निष्पन्न रूप के अनुदात्त स्वर की सूचना मिलती है।[६]

ल् : इससे युक्त प्रत्यय को लित् कहते हैं तथा उस प्रत्यय से पूर्व वर्ण में उदात्त स्वर होने की सूचना इससे प्राप्त होती है।[७]

ष् : यह अनुबन्ध उस प्रत्यय संयोग के द्वारा निष्पन्न रूप से स्त्रीलिंग में 'ङीष्' (ई) के विधान की सूचना देता है।[८]

स् : इस अनुबन्ध से प्रकृति के अन्तिम स्वर के लोप का एवं अन्त्य स्वर 'उ' के गुणीभाव का अभाव बोधित होता है।[९] यथा-पार्श्वम् इत्यादि।

१—पा० सू० ४।१।१५

२—'डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः'—सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादि, सू० २१८८

३—पा० सू० ७।२।११७ व ७।३।३

४—पा० सू० ६।१।१८५

५—वही ६।१।१९७

६—वही ३।१।४

७—वही ६।१।१९३

८—वही ४।१।४१

९—वही १।४।१६

भाषाशास्त्रियों में उक्त अनुबन्धों का प्रचलन होने से उनके प्रयोजन का उल्लेख आवश्यक समझकर यहाँ किया गया है। इससे यह स्पष्ट है, अधिकतर अनुबन्ध ध्वनि-परिवर्तन को सूचित करते हैं तो कतिपय मात्र उदात्तादि स्वर को इंगित करते हैं। इसी प्रकार कुछ अनुबन्ध उभयार्थक हैं तो यहाँ 'इ' अनुबन्ध मात्र उच्चारणार्थक है। एवञ्च ये अनुबन्ध जहाँ प्रयोजनान्तर की सूचना देते हैं वहीं प्रत्ययों के उच्चारण और स्वरूप की सुस्पष्ट प्रस्तुति करते हैं। इस प्रकार हमें प्रयोजनान्तर की सूचना बड़े सरल माध्यम से मिल जाती है। न्याय भी है 'एक सम्बन्धिज्ञानम् अपरसंबन्धिनम् उपास्थापयति' अर्थात् बुद्धि में अपर सम्बन्धी का उन्मेष शीघ्र हो जाया करता है। अतः यहाँ अनुबन्ध अपनी प्रवृत्ति में सर्वथा सफल हैं।

आदिस्वर-परिवर्तन : अनुबन्ध-प्रयोजन के प्रसंग में ञ्, ण्, एवं क् अनुबन्धों से अनुबद्ध प्रत्ययों का संयोग होने पर प्रकृति के आदिस्वर में वृद्धिभाव को प्रतिपादित किया गया है। किन्तु यह परिवर्तन सामान्य स्थिति अर्थात् प्रकृति में समास न होने पर होता है। जब प्रकृति भाग में समास होता है तब उसमें दो पद रहते हैं और कभी-कभी दोनों पदों के आदिस्वर को एवं कभी पूर्व या उत्तर किसी एक पद के आदिस्वर को ही वृद्धि होती है। कतिपय शब्दों में तो वृद्धि न होकर ए या औ का आगम हो जाता है। इन सभी परिस्थितियों को नीचे बिन्दुवार प्रस्तुत किया जा रहा है :

(१) अनुशतिकादि गण में पठित शब्द, देवतावाची शब्दों में द्वन्द्वसमास से निष्पन्न शब्द, चतुर्वेद या चतुर्विद्य शब्द एवं समास में हृद्, भग या सिन्धु शब्द अन्त में रहने पर उभयपदों के आदिस्वर को वृद्धि होती है, किन्तु देवतावाची दीर्घादि शब्द से पर में 'वरुण' शब्द हो तब केवल पूर्वपद के आदिस्वर को वृद्धि होगी।[१] यथा—'आधिदैविकं, सौहार्दः, आग्निमारुतम्, ऐन्द्रावरुणम्' इत्यादि।

१—द्रष्टव्य-पा० सू० ७।३।२०, १९, २१, २२, २३

(२) अवयववाचक पूर्वादि शब्द से पर में ऋतुवाचक शब्द हो; सु, सर्व या अर्ध से पर में जनपद, नगर अथवा ग्रामवाचक शब्द हो; प्रोष्ठपदादि शब्द हों, पूर्वदेश के वाचक नगरान्त शब्द हों; शाण से भिन्न परिमाणवाचक शब्द अन्त में हो; संख्यावाचक शब्द से पर में संवत्सर या संख्यावाचक शब्द हो अथवा भूतकालीन वर्ष के वाचक वर्ष शब्द से पूर्व संख्यावाचक शब्द हो तब उत्तरपद के आदिस्वर को वृद्धि होती है।[1] यथा—पूर्ववार्षिक सुपाञ्चालकः पूर्वपाटलिपुत्रकः, प्रोष्ठपादः, सौह्मनागरः, परमनैष्किकः, द्विषाष्टिकः, द्विवार्षिकः इत्यादि।

(३) जंगल, धेनु या वलजान्त अंग हो तो पूर्वपद को नित्य एवं उत्तर पद को वैकल्पिक वृद्धि होती है।[2] यथा—कौरुजंगलम्-कौरुजांगलम् इत्यादि।

(४) ढ प्रत्ययान्त प्रवाहणेय शब्द में; इसी शब्द से अन्य प्रत्यय होने पर तथा नञ् समास में शुचि, ईश्वर, क्षेत्रज्ञ, कुशल, एवं निपुण शब्द अन्त में होने पर अथवा अर्ध शब्द के बाद परिमाणवाचक शब्द होने पर उत्तरपद के आदिस्वर को नित्य एवं पूर्वपद के आदिस्वर को वैकल्पिक वृद्धि होती है।[3] यथा—प्रावाहणेयिः-प्रवाहणेयिः-आशौचम्-अशौचम्, अर्धद्रौणिकम्-आर्धद्रौणिकम् इत्यादि।

(५) नञ् समास में यथातथा या यथापुर शब्द अन्त में रहने पर पूर्व एवं उत्तरपद के आदिस्वर को विकल्प से वृद्धि होती है।[4] यथा—आयथातथ्यम्-अयाथातथ्यम् इत्यादि।

(६) अर्ध के बाद परिमाणवाचक शब्द का आदिस्वर यदि अकार हो तो केवल पूर्वपद को वैकल्पिक वृद्धि होती है।[5] यथा-अर्धप्रस्थिकम्-आर्धप्रस्थिकम् इत्यादि।

(७) पूर्वपद के अन्त में 'य्' अथवा 'व' होने पर इन अक्षरों के अन्त में क्रमशः 'ऐ' और 'औ' स्वरागम हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वृद्धि नहीं होती है।[6] यथा-वैयासकिः, सौवश्विः इत्यादि।

१—पा० सू० ७।३।११, १२, १३, १४, १८, २४, १७, १५, १६

२—पा० सू० ७।३।२५

३—पा० सू० ७।३।२८, २९, ३०, व २६ ४—पा० सू० ७।३।३१

५—वही ७।३।२७ ६—वही ७।३।३

(८) द्वार, स्वर, स्वाध्याय, स्वग्राम, व्यल्कश, स्वस्ति, स्वर, स्फ्यकृत्, स्वादु, मृदु, श्वस्, श्वन्, स्व एवं न्यग्रोध शब्दों में भी 'औ' एवं 'ऐ' स्वरागम होते हैं। यथा—दौवारिक, सौवरिः, नैयग्रोधम् इत्यादि। किन्तु स्वागत, स्वध्वर, स्वंग, व्यंग, व्यड, व्यवहार एवं स्वपति शब्दों में उक्त स्वरागम नहीं होता है।[1] यथा—स्वागतिकः, व्यावहारिक इत्यादि। श्वापद शब्द में उक्त स्वरागम विकल्प से देखा जाता है। यथा—शौवापदम्-श्वापदम्।

प्रत्यय-संयोग से पद-प्रकृति के आदिस्वर में जायमान वृद्धि-रूप परिवर्तन के विषय में उपलब्ध समग्र नित्य एवं वैकल्पिक विधियों को ऊपर प्रदर्शित किया गया है। ऐ और औ आगम के सन्दर्भ में निर्दिष्ट प्रकृतियों के अतिरिक्त सर्वत्र आदिस्वर में वृद्धि देखी जाती है, किन्तु शर्त यही है कि प्रत्यय में ञ्, ण् या क् अनुवन्ध अवश्य हो।

संज्ञायें :—आगे की प्रत्यय-तालिका में उपयोगी होने से यहाँ चार संज्ञा शब्दों का अर्थ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। ये शब्द हैं: (१) गोत्र, (२) युवापत्य, (३) अपत्य, और (४) तद्राज। इनके अर्थों को क्रमशः नीचे देखें :

(१) गोत्र—लोक में वंश के प्रवर्त्तक अत्रि, कश्यप, वत्स इत्यादि ऋषियों को ही गोत्र कहा जाता है, किन्तु व्याकरण शास्त्र का गोत्र इससे सर्वथा भिन्न पदार्थ है। व्याकरण में मूलपुरुष की तीसरी पीढ़ी अर्थात् पौत्र एवं उससे आगे की पीढ़ियों को गोत्र कहा जाता है।[2] एवंच मूलपुरुष से तृतीय या उससे आगे का होने पर अपत्य को ही गोत्र या गोत्रापत्य कहते हैं। निश्चित है, यह गोत्रापत्य पशुपक्षियों में न होकर मनुष्यों में ही होगा। अतः इस अर्थ में विहित होने वाले प्रत्यय की प्रकृति या तो ऋषिवाचिका होगी या फिर उस पुरुष की वाचिका होगी जिसके नाम से उस पुरुष के अपत्यादि पूरे वंश की प्रसिद्धि है। मूलपुरुष की वाचिका इस प्रकृति को 'परमप्रकृति' भी कहते हैं। यह भी अवधेय है कि उक्त गोत्र मूलपुरुष से तृतीय अपत्य

१— द्रष्टव्य-पा० सू० ७।३।१, २, ४, ६

२—'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्—पा० सू० ४।१।१६२

हो या उसके बाद का सौवाँ, हजारवाँ कोई अपत्य हो, किन्तु परम-प्रकृति से एक ही गोत्रार्थक प्रत्यय होता है।[1]

युव या युवापत्य :—गोत्र-प्रवर्तक उक्त मूलपुरुष के पौत्र के पुत्र अर्थात् चौथी पीढ़ी या इससे आगे की पीढ़ियों के पुत्र को ही युव या युवापत्य कहते हैं, बशर्ते उस पुत्र से आयु एवं पद में श्रेष्ठ उसके पितृकुल या मातृकुल के अभिभावक जैसे पिता, ज्येष्ठ भ्राता, चाचा, नाना या मामा में से कोई एक भी जीवित हो।[2] इसे गोत्र का अनन्तरापत्य कहा जा सकता है। परमप्रकृति से गोत्रार्थक प्रत्यय होने के पश्चात् तदन्तप्रकृति से ही युवापत्यार्थक प्रत्यय विहित होता है। एवंच इसे व्यक्त करने के लिए दो प्रत्यय होते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी गोत्र की भी युवसंज्ञा हो जाती है। ऐसा तब होता है जब गोत्र के अभिभावक जीवित होते हैं और उनके कारण वह अधिक सुख का अनुभव करता है।[3] एवमेव स्वेच्छाचारी युवापत्य की भी गोत्र संज्ञा हो जाया करती है और उस परमप्रकृति से युवापत्यार्थ में भी एक ही गोत्रार्थक प्रत्यय प्रयुक्त होता है।

(३) **अपत्य** :—'गोत्रापत्य' और 'युवापत्य' के अतिरिक्त सामान्य पुत्र को भी 'अपत्य' कहा जा सकता है। इसे अनन्तरापत्य शब्द से भी व्यवहृत करते हैं। यथा—देवदत्तस्य अनन्तरापत्यम् 'दैवदत्तिः' पितृष्वसुरपत्यं 'पैतृष्वसेयः' इत्यादि।

(४) **तद्राज** :—जनपद एवं उसके राजा का बोधक क्षत्रियवाची शब्द जब समान ध्वनिक होते हैं तब ऐसे शब्दों से अपत्यार्थ या उनके राजा अर्थ में विहित होने वाले अञ् अण्, ड्यण्, ञ्यङ, ण्य एवं इञ् प्रत्यय 'तद्राज' कहे जाते हैं।[4]

१—'एको गोत्रे'—पा० सू० ४।१।९३

२—'जीवति तु वंश्ये युवा'—पा० सू० ४।६।१६३-६४ व ६५

३—'युवसंज्ञकानामल्पवयस्कत्वेन वृद्धाधीनत्वेन सुखितया च पूजा'—वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी, अपत्याधिकार, बालमनोरमा, चौखम्बा, वाराणसी, १९५६, पृ० ६८५

४—द्रष्टव्य—'ते तद्राजा'—पा० सू० ४।१।१७४

प्रत्यय-लोप :—तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग आजकल कम हो गया है। इनके अर्थों की प्रतीति समासादि के द्वारा व्यक्त करने की प्रवृत्ति अधिक है। वैसे पहले भी इनका प्रयोग ऐच्छिक था। भाष्यकार पंतजलि के अनुसार दाक्षिणात्यों में ये प्रत्यय अधिक प्रचलित थे।[1] इस प्रकार इनके अल्प प्रयोग के कारण ही दैनिक व्यवहार में आनेवाले शब्दों में अधिकतर इनके लोप का अनुशासन किया गया है। जिन प्रकृतियों से अर्थ-विशेष में इनके लोप का विधान है, उन्हें क्रमशः अधोंकित किया जा रहा है।

(१) तद्धितार्थ में सम्पन्न द्विगुसमास शब्द से अपत्यार्थ-भिन्न प्राग्दीव्यतीयार्थक स्वरादि प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता। यथा-'पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः' इत्यादि। एवमेव भवार्थ में स्थामन् शब्द से विहित अ प्रत्यय, कठ एवं चरक प्रकृति से विहित प्रोक्तार्थ प्रत्यय, जनपद अर्थ में विहित चातुरर्थिक प्रत्यय, नक्षत्रवाची प्रकृतियों से विहित युक्तकालार्थक प्रत्यय, स्थानान्त-गोशाल एवं खरशाल शब्दों से विहित जातार्थक प्रत्यय, फसल-पुष्प या मूल के वाचक प्रकृतियों से विहित फलार्थक प्रत्यय, हरीतकी व लवण से विहित प्रत्यय एवं गुणवाचक शब्दों से विहित मतुप् प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता है। इसी प्रकार द्विगुसमास से अथवा अध्यर्ध शब्द पूर्व में रहने पर आर्हीयार्थक' प्रत्यय का उस प्रकृति से पर में प्रयोग नहीं होता है, किन्तु इसी स्थिति में कार्षापण एवं सहस्र शब्दान्त प्रकृतियों से और द्वि या त्रिपूर्वक निष्क एवं बिस्त प्रकृतियों से आर्हीयार्थक प्रत्यय का वैकल्पिक लोप होता है। अध्याय और अनुवाक अर्थ विशेष्य होने पर मत्वर्थ प्रत्यय का; जम्बू शब्द से विहित फल प्रत्यय का; वत्सशाल, अभिजित्, अश्वयुज् एवं शतभिषज् तथा नक्षत्रवाचक प्रकृतियों से विहित जातार्थक प्रत्यय का वैकल्पिक प्रयोग देखा जाता है। अवधेय है कि ऊपर चर्चित नक्षत्रवाचक प्रकृतियों से युक्तकाल अर्थ में होने वाले प्रत्ययों का अप्रयोग तभी होता है जब प्रत्ययान्त शब्द से अवान्तर काल-विशेष की प्रतीति नहीं होती है यथा—'अद्य पुष्यः'। 'पौषी रात्रिः' इत्यादि शब्दों से अहोरात्र के अवान्तर

१—'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः'—महाभाष्य, पस्पशाह्निक

कालविशेष रात्रि की प्रतीति होने से यहाँ प्रत्यय का अप्रयोग नहीं होता है। एवमेव यस्कादिगण में पठित प्रकृतियों से अथवा अत्रि, भृगु, कुत्स, वशिष्ठ, गोतम एवं अंगिरस् प्रकृतियों से विहित होने वाले अपत्यार्थक या गोत्रार्थक प्रत्यय जब बहुत्व अर्थ में विवक्षित होते हैं तब उनका प्रयोग नहीं होता है। 'तद्राज' प्रत्यय का भी बहुत्व अर्थ में प्रयोग नहीं होता है, किन्तु स्त्रीबहुत्व में तद्राज व यस्कादि से विहित अपत्यार्थक अथवा अत्रि आदि से विहित गोत्रार्थक प्रत्यय का लोप नहीं होता है। इसके विपरीत शूरसेन, अवन्ति, करु एवं वतण्ड शब्दों से विहित अपत्यार्थक प्रत्यय का स्त्रीबहुत्व में प्रयोग नहीं होता है। कम्बोज, चोल, शक, केरल एवं यवन शब्दों से विहित तद्राज प्रत्यय तथा भरतगोत्रवाचक अनेक स्वरों वाली प्रकृति से विहित इञ् प्रत्यय का भी प्रयोग नहीं होता है। इसी प्रकार अपत्यबहुत्व अर्थ विवक्षित होने पर तिककितवादि के द्वन्द्वसमास से विहित, द्वन्द्वसमास होने पर या न होने पर भी उक्तार्थ में 'उपकादि' शब्दों से विहित एवं अगस्त्य और कुण्डिन शब्दों से विहित उक्तार्थक प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता है। इस प्रकार सिद्धान्तकौमुदी में उपलब्ध होने वाले प्रत्ययों के अप्रयोगस्थल को उद्धृत कर यहाँ एक जगह उदाहृत किया गया है।[1]

(२) ऊपर तद्धित प्रत्ययों के अप्रयोग को हमने देखा। अब हम ऐसे स्थलों को उद्धृत करना चाहेंगे, जिनसे एक ही तद्धित प्रत्यय का प्रयोग पाया जाता है। किंच आचार्यों ने एक ही अर्थ में दो-दो तद्धित प्रत्ययों के विधान का प्रतिषेध भी किया है।[2] शैषिक से शैषिक या मतुबर्थ से पुनः मतुबर्थ प्रत्यय का विधान नहीं होता है। इसी प्रकार गोत्र तीसरा हो या उससे आगे का उस अर्थ के अभिधान

१—द्रष्टव्य-पा० सू० ४।१ ८८, ८९; ४।३।१०७; ४।२।८१; २।३।४५; ४।३।३५, १६३, १६७; ५।१।२८, २९, ३०, ३१; ५।२।६०; ४।३। १६६, ३६, ३७; २।४।६३, ६५, ६६, ६८; ६७ ६९ तथा वार्तिक २८८२, २९५९, २९५०, २६७४

२—शैषिकान् मतुबर्थीयात् शैषिको मतुबर्थिकः।
सरूपप्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥
—सिद्धान्तकौमुदी, सन्नन्तप्रकरण

में प्रत्यय एक ही होता है। कुछ प्रकृतियों से तो दो-दो तद्धितार्थ की प्रतीति होने पर भी उनसे एक ही प्रत्यय का विधान देखा जाता है। जैसे—गोत्र अर्थ में विहित 'इञन्त' प्रकृति या पैलादिगणपठित प्रकृति से पुनः युवापत्य में होने वाले प्रत्यय का लोप हो जाता है। एवमेव प्रकृति से प्रोक्तार्थक प्रत्यय होने के बाद पुनः उसी से विहित होने वाले अध्येतृ या वेदितृ प्रत्यय, सूत्र अर्थ में संख्यावाची शब्द से विहित 'क' प्रत्ययान्त प्रकृति से पुनः अध्येतृ और वेदितृ अर्थ में होने वाले प्रत्यय एवं भिन्न तद्धित प्रत्यय विवक्षित होने पर बिल्व-कादि गण में पठित प्रकृति से विहित 'छ' प्रत्यय का भी लोप हो जाता है। इसी प्रकार 'ण्य' प्रत्ययान्त प्रकृति, क्षत्रिय गोत्रा-पत्यार्थक प्रत्ययान्त प्रकृति, ऋषि अभिधायि गोत्रापत्यार्थक प्रत्या-यान्त प्रकृति एवं 'ञ' अनुबन्धक प्रत्ययान्त प्रकृति से युवापत्य अर्थ में विहित होने वाले अण् और इञ् प्रत्ययों का लोप हो जाता है। यथा—'कौरव्यः' पिता और पुत्र दोनों को कहेंगे। एवंच इन उदा-हरणों से यह बात सिद्ध होती है कि निर्दिष्ट प्रकृतियों में अपत्यार्थक प्रत्यय एक ही होता है और वह भी गोत्रापत्यार्थक या अपत्यार्थक ही होता है।[1]

(३) परिनिष्ठित पदरूप में दो से अधिक तद्धित प्रत्यय उपलब्ध नहीं होते हैं अर्थात् गोत्रापत्यार्थक प्रत्यय होने के अनन्तर पुनः उसी प्रकृति से शैषिकार्थक या उससे भिन्न अर्थ में विवक्षानुसार कोई एक प्रत्यय और हो सकता है। यद्यपि यह सम्भव है कि गोत्र, युवा और उससे भिन्न शेषार्थ प्रत्यय एक ही प्रकृति से हों, किन्तु ऐसी स्थितियों में युवार्थक प्रत्यय लुप्त हो जाया करता है। यह अवधेय है, प्रत्यय का लोप या अप्रयोग होने पर भी उसके अर्थ की प्रतीति होती रहती है। क्योंकि उस अर्थ के प्रत्यायन के लिए ही उस प्रकृति का प्रयोग किया जाता है। महर्षि पाणिनि ने दो सूत्रों के द्वारा उक्त अभिप्राय को व्यक्त किया है।[2] तथाहि—स्वरादि प्राग्दी-

---

१—द्रष्टव्य-क्रमशः पा० सू० २।४।६०, ५६; ४।२।६४, ६५; ६।४।१५३; २।४।५८

२—'यूनि लुक्' ४।१।६०, 'फक्फिञोरन्यतरस्याम्' ४।१।६१

व्यतीयार्थक प्रत्यय विवक्षित होने पर युव प्रत्यय का लोप होता है, किन्तु गोत्रार्थक इञन्त प्रकृति से युवार्थक 'फक्' (आयन) एवं 'फिञ्' (आयनि) प्रत्ययों का विकल्प से लोप होता है। यथा—ग्लुचुकस्य गोत्रापत्यं ग्लुचुकायनिः तथा ग्लुचुकायनि के युवापत्य को 'ग्लौचुकायनः' कहेंगे और इस प्रकृति से छात्र अर्थ में पुनः अण् प्रत्यय करने पर युव प्रत्यय का लोप होकर 'ग्लौचुकायनः' रूप ही प्रयुक्त होता है। इसका अर्थ होगा—ग्लुचुक के गोत्रापत्य के पुत्र का छात्र। इस प्रकार प्रत्यय का लोप होने पर भी उसके अर्थ का बोध होता रहता है।

अंत्य-लोप : यहाँ तक प्रत्यय के लोप की चर्चा की गयी। सम्प्रति प्रत्यय विधान के अनन्तर प्रकृति के अन्तिम स्वर के लोप के विषय में यह ध्यातव्य[1] है कि स्वरादि प्रत्ययों से पूर्व प्रकृति के अन्तिम अ-आ एवं इ-ई स्वरों का सामान्यतया लोप हो जाता है तथा अन्तिम स्वर उ-ऊ होने पर उसे गुण एवं अवादेश होते हैं। इसके अतिरिक्त आकार भिन्न स्वरादि तद्धित पर में रहने पर हलन्त प्रकृति से पर में स्थित 'य्' का भी लोप हो जाता है। यथा—गर्ग के गोत्रापत्य को गार्ग्य कहेंगे। इससे छात्रादि अर्थों में 'ईय' प्रत्यय करने पर 'गार्ग्य+ईय' इस स्थिति में प्रकृति के अन्तिम स्वर 'अ' का और 'य्' का भी लोप हो जायेगा। क्योंकि यह अपत्यार्थक है और हलन्त गार्ग् प्रकृति से पर में स्थित है। एवमेव 'एय' प्रत्यय करने पर पितृष्वसृ शब्द एवं कद्रू भिन्न उवर्णान्त शब्द के अन्तिम स्वर का भी लोप होता है। इसी प्रकार 'इष्ठ' 'ईयस्' एवं 'इमन्' प्रत्यय करने पर प्रकृति के अन्तिम स्वर एवं उसके पर में व्यंजन हो तो उसका भी लोप होता है। स्वरादि प्रत्यय होने पर अव्ययों के भी अन्तिम स्वर और यदि पर में व्यंजन हो तो उसका भी लोप होता है। पूर्व शीर्षक में उक्त सभी स्थितियों में तद्धित

१—द्रष्टव्य-क्रमशः पा० सू० ६।४।१४८, १४६, १५१, १५०; ४।१।१३३; ६।४।१४७, १७३ तक एवं १।२।४६ तथा 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः अनित्योऽयं बहिषष्टिलोपविधानात्। तेनेह न, आरातीयः'। उद्धृत—सिद्धान्तकौमुदी सू० १३२४

प्रत्यय का लोप होने पर विशेषणीभूत स्त्रीलिंगबोधक प्रत्ययों का भी लोप हो जाता है।

प्रत्यय-तालिका का विषय व अवलोकन प्रकार :—यहाँ तक वक्ष्यमाण प्रत्यय के संयोग से प्रकृति एवं प्रत्यय में होने वाले सामान्य परिवर्तन को निरूपित किया गया। उक्त नियमों को ध्यान में रखने पर इन प्रत्ययों से परिनिष्ठित रूप के निष्पादन एवं अर्थावबोधन में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। अब हम सार्थक तद्धितों को एक तालिका में प्रस्तुत करेंगे, जिसमें उनकी सामान्य और विशेष प्रकृतियाँ, सामान्य और विशेष अर्थ एवं उदाहरण दिये होंगे। महर्षि पाणिनि ने एक ही प्रत्यय में अनेक अनुबन्ध लगाकर भिन्न-भिन्न अर्थों में उसका अनेकत्र विधान किया है, किन्तु उक्त तालिका में अनेकानुबन्धक एवं अनेकार्थक उस प्रत्यय को एक मानते हुए उसके सभी अर्थों तथा उदाहरणों को एक जगह दिखाया गया है। इस पूरे प्रकरण में प्रत्ययों को वर्णक्रम से ही रखा गया है।

इस तालिका में मुख्यरूप से पाँच भाग : (१) प्रत्यय क्रमांक, (२) प्रकृति, (३) प्रत्ययार्थ, (४) प्रत्यय, और (५) उदाहरण हैं। प्रथम भाग प्रत्यय क्रमांक में हिन्दी और अंग्रेजी दो प्रकार की संख्याओं का प्रयोग किया गया है। हिन्दी अंक अनुबन्ध-रहित प्रत्यय की संख्या बताते हैं तथा उस एक प्रत्यय के जितने प्रकार के विधान हैं, उनकी संख्या अंग्रेजी अंकों के द्वारा बतायी गयी है। आप देखेंगे कि अनुबन्ध रहित कुल एक सौ सात विभक्त्यन्त प्रत्ययों का निर्देश इस तालिका में हुआ है तथा एक-एक प्रत्यय के अनेक विधान हैं, जिन्हें हम अंग्रेजी अंकों से परिगणित किये हैं।

अवधेय है कि विभक्त्यन्त प्रत्ययों की प्रकृति विभक्त्यन्त पद होते हैं। अतः तालिका में क्रमांक के बाद प्र०, द्वि आदि विभक्ति के प्रथमाक्षरों से उस विभक्ति का निर्देश किया गया है जिसका प्रत्यय विधान के लिए प्रकृति में संयोग किया जाता है और प्रत्यय संयोग होने पर उसका लोप हो जाता है। अतः तालिका में 'प्र०' से प्रथमान्त, 'द्वि' से द्वितीयान्त इस प्रकार समझना चाहिए। जहाँ

पर 'सवि०' लिखा है, उसका संकेत 'समर्थ विभक्ति' में है। प्रत्ययार्थ में अन्वय के लिए प्रकृति को जिस विभक्ति की अपेक्षा होती है, उसे समर्थ विभक्ति कहते हैं।

विभक्ति-निर्देश के पश्चात् प्रत्यय की सामान्य और विशेष प्रकृतियों का उल्लेख हुआ है। अदन्त, आकारान्त, प्रत्ययान्त इत्यादि प्रकृतियाँ सामान्य कहलाती हैं तथा पुरुष, गो, हस्ति इत्यादि प्रकृतियाँ विशेष कही जाती हैं। इस प्रकार अपनी कल्पना से सामान्य और विशेष का निर्धारण कर लेना चाहिए। प्रकृति भाग में ही कहीं-कहीं कोष्ठक में आगम, आदेश या प्रत्यय के विकल्प विधान को सूचित किया गया है अथवा अर्थ के विषय में कोई सूचना दी गयी है। विकल्प को यहाँ (विक०) या (वा) शब्दों से सूचित किया गया है।

प्रकृति से आगे के भाग में प्रत्ययार्थ का निर्देश हुआ है। उसमें समाहारबुद्धि से प्राग्दीव्यतीय; आर्हीय; चातुर्र्थिक, इदमर्थ एवं मत्वर्थ या मतुबर्थ शब्दों का उल्लेख हुआ है। इन शब्दों से किन-किन अर्थों का ग्रहण करना चाहिए, यह संकेत पहले विस्तार से कर दिया गया है, अतः इनके संकेत्य या संज्ञी अर्थों का ग्रहण वहाँ-वहाँ करना चाहिए। यहाँ इदमर्थ से तात्पर्य केवल सम्बन्ध-सामान्य से है। चूँकि इन प्रत्ययों से निष्पन्न रूप प्रायः विशेषण होते हैं, अतः उक्त सम्बन्ध से सम्बन्धित व्यक्ति या वस्तु ही 'इदमर्थ' शब्द से ग्राह्य होते हैं। यथा—'राष्ट्रस्य अयमिति राष्ट्रियः' अर्थात् 'राष्ट्र का यह' अथवा 'राष्ट्र से सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति या वस्तु' इत्यादि रूप में इसे समझा जा सकता है।

मत्वर्थ के सम्बन्ध में वार्तिककार की यह कारिका स्मरणीय है :

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥—वा० ३१८३

अर्थात् मतुप् इत्यादि मत्वर्थप्रत्यय प्रकृति से सम्बन्धित अर्थ व्यक्त करते हुए कहीं उसके बहुत्व, कहीं पर निन्दा, प्रशंसा, नित्य

सम्बन्ध या अतिशय को तथा कहीं पर केवल सम्बन्ध को भी द्योतित करते हैं। यथा—'गौः' अस्यास्तीति गोमान्' इत्यादि उदाहरणों से उस व्यक्ति या देश में गो के बहुत्व की सूचना मिलती है तो 'ककुदावर्तिनी' से उसकी निन्दा व्यक्त होती है। इसी प्रकार 'रूपवान्' से प्रशंसा, 'क्षीरिणी' से नित्य सम्बन्ध और 'उदरिणी कन्या' से अतिशय अर्थ द्योतित होता है। 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि शब्दों से प्रत्यय के द्वारा वृत्तितानियामक धार्य-धारणरूप संसर्गविशेष प्रकट होता है, जिससे 'पुरुषी दण्डः' इत्यादि प्रयोग बाधित होते हैं।

प्रत्ययार्थ के आगे प्रत्यय का पाणिनीय स्वरूप दिया गया है। कहीं-कहीं कोष्ठक में अनुवन्धरहित रूप भी निर्दिष्ट हैं। इसके अतिरिक्त यहीं पर (विक०) या (वा) शब्दों से प्रत्यय के विकल्प विधान की सूचना दी गयी है। जिस प्रत्यय के बहुधा विधान हैं, उस पर प्रारम्भ में संक्षिप्त टिप्पणी भी दी गयी है। प्रत्यय स्वरूप के आगे के भाग में उस प्रत्यय के एक या दो उदाहरण दिये गये हैं। यहाँ उन्नीस ऐसे उदाहरण हैं, जिनकी समीक्षात्मक चर्चा इस स्तबक के अन्त में की जायगी, अतः उन उदाहरणों को कोष्ठक में (१), (२) इस क्रम से १९ संख्याओं से उल्लिखित किया गया है। इस प्रकार इस तालिका को सरल, संक्षिप्त, सारवती एवं विश्वतोमुखी बनाने का भरसक प्रयास किया गया है।

सार्थक तद्धितप्रत्यय-तालिका

१. प्रत्यय अ : महर्षि पाणिनि ने इसे—'ण्-ञ्-स्-न्-ङ्-ट्-च्' इन सात अनुबन्धों के साथ एकादश रूपों में व्याख्यात किया है। इसकी सामान्य व विशेष प्रकृतियों, समर्थ विभक्तियों, सभी अर्थों, रूपों व उदाहरणों को क्रमशः नीचे तालिका में प्रस्तुत किया जा रहा है।[१]

१—द्रष्टव्य-क्रमशः पा० सू० ४।१।८३, ९२, ११२, ११३, ११४, ११५, ११८, ११९, १६८ तथा वार्तिक २६७०

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	पाणिनि से मान्य रूप प्रत्यय	उदाहरण
1.	ष० आदि सवि० अश्वपत्यादिगण	अपत्यादि प्राग्दीव्यतीय	अण्	आश्वपतम्
2.	ष० अपवाद-भिन्न प्रकृति मात्र	अपत्य, गोत्र या युवा	(सामान्य) अण्	औपगवम्
3.	ष० शिवादिगण	अपत्य	(विशेष) अण्	शैवः, गांगः
4.	ष० ह्रस्वादि नदी और नारी के नाम	अपत्य	,,	यामुनः, नार्मदः
6.	ष० ऋषिवाची, अन्धक, वृष्णि और कुरुवंशवाची	अपत्य	,,	वासिष्ठः, श्वाफल्कः
6.	ष० संख्या, सम्, भद्रपूर्वक मातृशब्द	अपत्य	,,	द्वैमातुरः
7.	ष० कन्या शब्द (कनीन)	अपत्य	,,	कानीनः
8.	ष० वत्स, भरद्वाज और अत्रिवंशवाची क्रमशः विकर्ण, शुंग और छगल शब्द	अपत्य	,,	वैकर्णः, शौंगः छागलः
9.	ष० पीला शब्द (विकल्प)	अपत्य	,,	पैलः (पैलेयः)
10.	ष० मण्डूक (विकल्प)	अपत्य	,,	माण्डूकः
11.	ष० पुरु, कलिंग, मगध, सूरमस शब्द एवं द्विस्वर प्रकृति	अपत्य एवं राजा	,,	पौरवः, आंगः
12.	ष० पृथिवी, देव व उत्सादिगण	अपत्यादि प्राग्दीव्यतीय	अञ्[1]	पार्थिवी, दैवम्, औत्सः

१—द्रष्टव्य–पा० सू० क्रमशः ४।१।८६, १०४, १४१, १६१, १६६, १६७; वार्तिक २५५४, २५५५; पा० सू० ४।१।१४७, १५०; वार्तिक २५५९, २५६०; पा० सू० ४।२।१, ३, ७, १०, १४, १५, १६, १९, २१, २३, २४, २९; वार्तिक २७०६, २७०७; पा० सू० ४।२।३७, ४८, ५५, ५६ व ५९

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
13.	ष० ऋषिभिन्नार्थक बिदादिगण	अनन्तरापत्य	अञ्	पौत्रः, दौहित्रः
14.	ष० ऋषिवाचक बिदादिगण	गोत्र	,,	वैदः
15.	ष० महाकुल शब्द (विक०)	अपत्य	,,	माहाकुल.
16.	ष० मनु शब्द (ष् आगम)	,,	,,	मानुषः
17.	ष० जनपद एवं क्षत्रिय उभयार्थक	अपत्य एवं राजा	,,	ऐक्ष्वाकः, पांचालः
18.	ष० साल्वेय, गांधारि शब्द	,,	,,	साल्वेयः, गान्धारः
19.	ष० पृथिवी शब्द	अपत्यादि प्राग्दी-व्यतीय	ञ	पार्थिवा
20.	ष० गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीलिंग	कुत्सित युवापत्य	ण	गार्गः
21.	ष० फाण्टाहृति एवं मिमत शब्द	अपत्य	,,	फाण्टाहृतः, मैमतः
22.	ष० अश्वत्थामन् शब्द	भवार्थभिन्न प्राग्दी-व्यतीय	अ	आश्वत्थामः
23.	ष० लोमन्शब्दान्त	अपत्यबहुत्व	,,	उडुलोमाः
24.	तृ० रंजन द्रव्यवाचक	रक्त (रँगा हुआ)	अण्	काषायम्
25.	तृ० नक्षत्रवाचक	युक्तकाल	,,	पौषम् अहः, पौर्णमासी
26.	तृ० समर्थ प्रकृति	दृष्ट साम मन्त्र	,,	वाशिष्ठम् साम
27.	तृ० ,, ,,	आवेष्टित रथ	,,	वास्त्रो रथः
28.	स० पात्रवाचक	उद्धृत	,,	शारावः
29.	स० स्थण्डिल शब्द	व्रत निमित्तक शयनकर्तृ	,,	स्थाण्डिलो भिक्षुः
30.	स० अग्न्याधारवाची	संस्कृत भोज्य पदार्थ	,,	भ्राष्ट्रा यवाः
31.	स० उदश्वित् शब्द (विक०)	,,	,,	औदश्वितः

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
32.	प्र० पौर्णमासीवाचक नक्षत्र	पौर्णमासी से युक्त मास	अण्	पौषः, फाल्गुनः
33.	प्र० देवतावाचक	देवता सम्बन्धी	,,	ऐन्द्रम्
34.	प्र० महेन्द्र शब्द	देवता सम्बन्धी	,,	माहेन्द्रम
35.	प्र० पूर्णमास, नवयज्ञ, पाकयज्ञ शब्द	इनसे युक्त काल	अण	पौर्णमासी
36.	ष० सामान्य प्रकृति	समूह	,,	काकम्, वाकम्
37.	ष० भिक्षादिगण	,,	,,	भैक्षम्
38.	ष० अश्व शब्द (विक०)	,,	,,	आश्वम्
39.	ष० सामान्य प्रकृति	अत्यन्त परिचित देश	,,	शैवः
40.	प्र० वैदिकछन्दवाचक	आदि सम्बन्धी	,,	पाङ्क्तः प्रगाथः
41.	प्र० प्रयोजनवाचक	प्रयोजन सम्बन्धी संग्राम	,,	सौभद्रः
42.	प्र० योद्धावाचक	योद्धा सम्बन्धी संग्राम	,,	भारतः
43.	द्वि० विद्याविशेषवाचक	अध्येता एवं ज्ञाता	,,	वैयाकरणः
44.	तृ० हरिद्रा एवं महारजन	रँगा हुआ	अञ्[1]	हारिद्रम्
45.	तृ० द्वैप एवं वैयाघ्र	आवेष्टित रथ	,,	द्वैपो रथः
46.	द्वि० कुमार शब्द	अपूर्वप्राप्ति	,,	कौमारः कौमारी
47.	ष० अनुदात्तादि प्रकृति	समूह	,,	कापोतम्, मायूरम्
48.	ष० खण्डिकादिगण	समूह	,,	खाण्डिकम्
49.	प्र० गतिकारकपूर्वक घञन्त क्रियावाची	स्त्रीलिंग अधिकरण	ञ	तैलंपाता, दाण्डपाता
50.	प्र० प्रहरणवाचक	आश्रयीभूत क्रीडा	ण	दाण्डा, मौष्टा

१–क्रमशः द्रष्टव्य–वार्तिक २६८२; पा० सू० ४।२।१२, १३, ४४, ४५, ५७; ५८; वार्तिक २७२४, २६८०; पा० सू० ४।२।६७, ६८, ६६, ७०, ७७, ७८, ७६, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ६२, ११०, १००, १११, ११२; वार्तिक २८२०; पा० सू० ४।२।१३०, १३२, १४४, १३३; ४।३।१

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
51.	ष० पर्शु शब्द	समूह	णस्	पार्श्वम्
52.	तृ० नीली शब्द	रँगा हुआ	अन्	नीलम्
53.	प्र० देशनाम निमित्तक	अधिकरणाश्रय देश	अण्	औदुम्बरः
54.	तृ० देशनाम निमित्तक	निर्वृत्त देश	,,	कौशाम्बी
55.	ष० देशनामनिमित्तक	निवास देश	,,	शैवः
56.	ष० देशनामनिमित्तक	अदूरभव देश	,,	वैदिशम्
57.	ष० सुवास्त्वादिगण	अदूरभवदेश एवं नदी	,,	सौवास्तवम्
58.	तृ० रोणी, तदन्त एवं ककारोपध	निर्वृत्त कूप	अण्	रौणः, आजक-रौणः
59.	ष० नदी-भिन्न उवर्णान्त	चातुरर्थिक	अञ्[1]	काक्षतवम्
60.	ष० बहुस्वर मतुबन्त प्रकृति	चातुरर्थिक	,,	सैध्रकावतम्
61.	तृ० बहुस्वर प्रकृति	निर्वृत्तकूप	,,	दैर्घवरत्रः कूपः
62.	तृ० व्यास नदी के उत्तर-कूल के वाचक	निर्वृत्तकूप	,,	दान्तः कूपः
63.	तृ० संकलादिगण	निर्वृत्त	,,	सांकलम्
64.	तृ० सौवीर, साल्व एवं प्रागदेशीय राजा नामवाची	निर्वृत्त नगरी	,,	दात्तामित्री
65.	सवि० प्रकृति	अनुक्त शेषार्थ	अण्	चाक्षुषम् रूपम्
66.	सवि० प्रस्थान्त, पलद्यादि-गण और कोपध	जातादि शेषार्थ	,,	माहिकिप्रस्थः
67.	सवि० रङ्कु शब्द	मनुष्यभिन्न जातादि शेषार्थ	,,	राङ्कवो गौः
68.	सवि० गोत्रप्रत्ययान्त कण्वादिगण	जातादि शेषार्थ	,,	काण्वाः
69.	सवि० गोत्रार्थक इञ् प्रत्ययान्त	जातादि शेषार्थ	,,	दाक्षाः

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४।३।१३, १४, १५, १६, २२, ३०, ३३, ४६, ५७, ७१, ७३, ७६, ८३, १०८; वार्तिक २८१०, २८१४; पा० सू० ४।३।१२७, १२८, १३०, १३२, १३३; ४।२।१०६, १०८, १८; ४।३।७, ३३, ८३, ११८, १२२, १२३

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
70.	स० अरण्यशब्द	सम्भव गोमय	अण्	आरण्याः
71.	सवि० कुरु एवं युगन्धर	जातादि शेषार्थ	,,	कौरवः
72.	सवि० जनपदवाची महि-षिक आदि कोपध शब्द	,,	,,	माहिषिकः
73.	सवि० देशवाची कच्छा-दिगण	,,	,,	काच्छः
74.	सवि० पर्वत शब्द(विक०)	मनुष्यभिन्न शेषार्थ	,,	पार्वतानि फलानि
75.	सवि० युष्मद अस्मद	शेषार्थ	,,	यौष्माकः
76.	सवि० शरद शब्द	रोग एवं आतप	,,	शारदः
77.	सवि० निशा, प्रदोष एवं श्वस्	शेषार्थ	,,	नैषम् शौवस्ति-कम्
78.	सवि० कालबोधक ऋतु एवं नक्षत्रवाची	शेषार्थ	,,	ग्रैष्मम्
79.	सवि० सन्धिवेलादि	,,	,,	सान्धिवेलम्
80.	सवि० संवत्सर	फल एवं पर्व	,,	सांवत्सरम्
81.	सवि० हेमन्त (तलोप वा)	शेषार्थ	,,	हैमन्तम्-हैमनम
82.	स० अमावास्या, सिन्धु एवं अपकर	जात	,,	आमावास्यः
83.	स० ग्रीष्म एवं वसन्त	उप्त (बोये गये)	,,	ग्रैष्मम्
84.	स० ग्रीवा शब्द (वा)	भव	,,	ग्रैवम्
85.	ष० स० छन्दस्	व्याख्यान एवं भव	,,	छान्दसः
86.	ष० स० ऋगयनादिगण	,,	,,	आर्गयनः
87.	पं० शुण्डिकादिगण	आगत	,,	शौण्डिकः
88.	प्र० सिन्ध एवं तक्षशिलादि	अभिजन सम्बन्धी	,,	सैन्धवः
89.	तृ० कलापिन् शब्द	प्रोक्त	,,	कालापाः
90.	ष० संवोढृ शब्द (संवहितृ)	इदमर्थ	,,	सांवहित्रम्
91.	ष० देवासुरादिगण	वैर	,,	दैवासुरम्
92.	ष० अञ्, यञ्, इञ् प्रत्ययान्त	संघ अंक एवं लक्षण	,,	बैदः, गार्गः
93.	ष० शाकल शब्द (वा)	,,	,,	शाकलः

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
94.	ष० गोत्र-प्रकृति	दण्डमाणव, शिष्य	अण्	दाक्षाः शिष्याः
95.	ष० कौपिंजल एवं हास्तिपद	इदमर्थ	,,	कौपिंजलः
96.	ष० आथर्वणिक (इकलोप)	धर्म एवं आम्नाय	,,	आथर्वणः
97.	सवि० तीरान्त शब्द	शेषार्थ	अञ्	काकतीरम्
98.	सवि० दिक्पूर्व मद्र	,,	,,	पौर्वमद्रः
99.	सवि० उत्तरदेशीय ग्रामवाची बहुस्वर अन्तोदात्त	,,	,,	शैवपुरम्
100.	सवि० ग्राम एवं जनपद का भागवाची	शेषार्थ	,,	पौर्वार्धाः
101.	ष० सिन्धु एवं अपकर शब्द	जात, अभिजन	,, (वा)	सैन्धवः
102.	प्र० सिन्धु व तक्षशिलादिगण	अभिजन सम्बन्धी	,,	ताक्षशिलः
103.	तृ० क्षुद्रा, भ्रमर, वटर एवं पादप	कृत	,,	क्षौद्रम्
104.	ष० वाहनपूर्व रथान्त	इदमर्थ	,,	आश्वरथम्
105.	ष० वाहनवाचक	ढोने योग्य	,,	आश्वम्
106.	ष० अध्वर्यु एवं परिषद्	इदमर्थ	,,	आध्वर्यवम्
107.	सवि० दिक्पूर्वपद	असंज्ञाभूतशेषार्थ	ञ[1]	पौर्वशालः
108.	सवि० अरण्य शब्द	शेषार्थ	ण	आरण्याः
109.	स० अषाढा	जात स्त्री	अन्	अषाढा
110.	ष० मध्य शब्द	साम्यरूप शेषार्थ	अ	मध्योवैयाकरणः
111.	स० अमावास्या शब्द	जात	,,	अमावास्यः

१—क्रमशः द्रष्टव्य-पा० सू० ४।२।१०७; वार्तिक, २७८२, २८५८; पा० सू०, ४।३।६, ३१; ४।३।१३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १५२, १५३, १५८, १६४, १६५, १३६, १४०, १४१, १५४, १५५, १५८, १६५, १६६; ४।४।४, १८, २५, ४८, ५६, ६८, ४६, ६२, ८०, ६४, ८५, १००, १०१; ५।१।१५

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
112.	स० फल्गुनी शब्द	जात स्त्री	ट	फल्गुनी
113.	ष० समर्थ विक्रियमाण	विकार	अण्	आश्मः
114.	ष० प्राणि, औषधि एवं वृक्षवाची	,, एवं अवयव	,,	मायूरः
115.	ष० बिल्वादिगण	,,	,,	बैल्वम्
116.	ष० कोपध वृक्षवाची	,,	,,	तैत्तिडीकम्
117.	ष० त्रपु, जतु एवं तालादि शब्द	,,	,,	त्रापुषम्, तालम्
118.	ष० सुवर्ण पर्यायवाची	परिमाणरूपविकार	,,	हाटकः
119.	ष० उमा०, जम्बू एवं प्लक्षादि	फलादिविकार एवं अवयव	,,	प्लाक्षम्
120.	ष० प्राणि, औषधि एवं वृक्षवाची उकारान्त	विकार, अवयव	अञ्	दैवदारवम्
121.	ष० अनुदात्तादि एवं पलाशादिगण	,, ,,	,,	दाधित्थम्
122.	ष० प्राणिवाची एवं रजतादिगण	,, ,,	,,	शौकम् राजतम्
123.	ष० विकारार्थक अनुबन्धक प्रत्ययान्त	,, ,,	,,	शामीलम्
124.	ष० उर्णा, जम्बू एवं परशव्य	,, ,,	,,	जाम्बु, पारशवः
125.	तृ० कुलत्थ एवं कोपध	संस्कृत	अण्	कौलत्थम्
126.	तृ० कुटिलिका	हरणकर्तृ	,,	कौटिलिकः
127.	तृ० मुद्ग	संसृष्ट	,,	मौद्गः
128.	ष० महिष्यादिगण	आचरण योग्य	,,	माहिषम्
129.	प्र० मड्डुक एवं झर्झर (वा)	वादन शिल्पी	,,	झार्झरः
130.	प्र० भक्त शब्द (वा)	सम्प्रदानाश्रय	,,	भाक्तः
131.	ष० ऋकारान्त एवं नर	धर्म्य	अञ्	यात्रम्, नारी
132.	ष० छत्रादिगण	शील	ण	छात्रः

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
133.	द्वि० शकट	वहनकर्तृ	अण्	शाकटो गौः
134.	तृ० उरस् (वा)	निर्मित	,,	औरसः
135.	द्वि० अन्न	लब्धा	ण	आन्नः
136.	स० भक्त एवं परिषद्	साधु	,,	भाक्ताः
137.	च० चर्मविकारवाची	तदर्थ	अन्	वार्ध्रम्
138.	च० सर्व (वा)	हित	ण[1]	सार्वम्
139.	तृ० शतमान, विंशतिक, सहस्र एवं वसन	क्रीतादि आर्हीय	अण्	शातमानम्
140.	तृ० आदि द्वि त्रिपूर्व शाणान्त	,, ,,	,, (वा)	द्वैशाणम्
141.	ष० सर्वभूमि	संयोग एवं उत्पात	,,	सार्वभौमः
142.	द्वि० द्रोण	समावेश एवं पाककर्तृ	,, (वा)	द्रौणी
143.	तृ० आदि शूर्प (वा)	क्रीतादि आर्हीय	अञ्	शौर्यम्
144.	ष० पृथिवी	संयोग एवं उत्पात	,,	पार्थिवः
145.	प्र० त्रिंशत् एवं चत्वारिंशत्	परिमाणि ब्राह्मण ग्रन्थ	डण्	त्रैंशानि
146.	प्र० संख्यावाची	परिमाणि स्तोम	ड	पंचदशः
147.	स० चतुर्मास	भव	अण्	चातुर्मासी
148.	द्वि० पथिन्	गमनकर्तृ	ण	पान्थः
149.	स० व्युष्टादि एवं अग्निपदादिगण	देय एवं कार्य	अण्	वैयुष्टम्
150.	प्र० ऋतु एवं उपवस्त्रादि शब्द	प्राप्ति सम्बन्धी	,,	आर्तवम्

१—क्रमशः द्रष्टव्य-पा०सू० ५।१।१०, २७, ३६, ४१; वार्तिक ३०३८, पा० सू० ५।१।२६, ४१, ६१; वार्तिक ३०४५, ३०७०; पा० सू० ५।१।७६, ६७, १०५, ११०, ६८, १३०, १३१, १२६; ५।२।३८, ६१, १०३, वार्तिक ३१६७; पा० सू० ५।२।१०४, १०५, १०१; वार्तिक ३१६५; पा० सू० ५।२।८३, १२७, ४५, ४६, ४८, ४६, ५१, ५२

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
151.	प्र० विशाखा, आषाढ़ और चूडादिगण	प्रयोजन सम्बन्धी	अण्	वैशाखो मन्थः
152.	यथाकथाच शब्द	देय एवं कार्य	ण	याथाकथाचम्
153.	ष० हायनान्त एवं युवादिगण	भाव एवं कर्म	अण्	द्वैहायनम्
154.	ष० लघुपूर्व इ, उ, ऋ, लृ वर्णान्त	,,	,,	शौचम्
155.	ष० प्राणिजाति, वयोवाची और उद्गात्रादिगण	,,	अञ्	औष्ट्रम्
156.	प्र० पुरुष एवं हस्तिन्	प्रमाण सम्बन्धी	अण्	पौरुषम्
157.	प्र० विमुक्तादिगण	अध्याय एवं अनुवाक रूप अस्त्यर्थ	,,	वैमुक्तः
158.	प्र० तपस् एवं सहस्र	अस्त्यर्थ (मत्वर्थ)	,, (वा)	तापसः
159.	प्र० ज्योत्स्नादिगण	मत्वर्थ	,,	ज्यौत्स्नः
160.	प्र० सिकता व शर्करा	,,	,,	सैकतो घटः
161.	प्र० प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा एवं वृत्ति	मत्वर्थ	ण	प्राज्ञः, वार्तः
162.	प्र० कुल्माष	,,	अञ्	कौल्माषी
163.	प्र० अर्शस् आदि गण	,,	अच्	अर्शसः
164.	प्र० दशन् शब्दान्त, विंशति व शदन्त संख्या	,,	ड	एकादशम् शतम्
165.	ष० संख्येयार्थ संख्यावाची	पूरण	डट्	एकादशः
166.	ष० असंख्यादि नान्त-संख्यावाची	,, (आगम)	मड् (म)	पञ्चमः
167.	ष० षष्, कति, कतिपय व चतुर्	,, (आगम)	थुक् (थ)	षष्ठः
168.	ष० बहु, पूग, गण, संघ	,, (तिथ आगम)	तिथुक्	बहुतिथः
169.	ष० वतुप् प्रत्ययान्त[1]	,, (इथ आगम)	इथुक्	यावतिथः

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।२।५३, ५६, ५७ व ५८

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
170.	ष० विंशत्यादि (विक०)	पूरण (तम आगम)	तमड्	विंशतितमः
171.	ष० मास, अर्धमास, संवत्सर व शतादि	,, (तम आगम)	,,	एकशततमः
172.	ष० असंख्यादि षष्ट्यादि	,, (तम आगम)	,,	षष्टितमः

२. **अक** : पाणिनि ने "वु" का विधान कर उसके स्थान पर यह आदेश किया है।[1] इसे "न्-ञ्-ड्-क्" अनुबन्धों के साथ चार रूपों में प्रस्तुत किया गया है। इसके सामान्य व विशेष विधानों को नीचे देखें।[2]

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	प्र० गोषदादिगण	अध्याय व अनुवाक	वुन्	गोषदकः
2.	स० पथिन्	कुशल	,,	पथकः
3.	ष० योपध से पूर्व गुरुस्वर	भाव एवं कर्म	वुञ्	रामणीयकम्
4.	ष० द्वन्द्व, मनोज्ञादिगण एवं सहाय	भाव एवं कर्म	,,	शैष्योपाध्यायिका
5.	ष० गोत्रप्रत्ययान्त व शाखाध्येतृवाची	,, श्लाघा, अधिक्षेप व अवगति	,,	गार्गिका
6.	सवि० विंशति व त्रिंशद्	क्रीतादि आर्हीय	ड्वुन्	विंशकः
7.	ष० उष्ट्र, उमा व ऊर्णा	अवयव एवं विकार	वुञ्	औष्ट्रकः
8.	स० पूर्वाह्ण, अपराह्ण आर्द्रा, मूल प्रदोष, अवस्कर, पथिन् एवं अमावास्या	जात	वुन्	पन्थकः, मूलकः, अमावास्यकः

१—"युवोरनाकौ"—पा० सू० ७।१।१

२—क्रमशः द्रष्टव्य-पा० सू० ५।२।६२, ६३; ५।१।१३२, १३३; वार्तिक ३०८४; पा० सू० ५।१।१३४, २४; ४।३।१५७, १५८, २८, २९, ३०, १२७, १२८, १२९, १३०, १३४, १३५, १३६; ४।३।२७, ४५, ४६, ४९

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
9.	स० कलापिन्, अश्वत्थ व यवबुस	देय ऋण	वुन्	कलापकम्
10.	प्र० वासुदेव व अर्जुन	भक्ति सम्बन्धी	,,	वासुदेवकः
11.	ष० द्वन्द्व समास	वैर व विवाह	,,	काकोलूकिका
12.	सवि० सिन्धुप्रान्तीय कन्था	शेषार्थ	वुक्	कान्थकम्
13.	सवि० मरुस्थल-विशेष-वाची, दीर्घादि-यका-रोपध देशवाची, व प्रस्थ, पुर, वहान्त	,,	,,	ऐरावतकः नान्दीपुरकः
14.	सवि० दीर्घादि रोपध ईकारान्त प्राग्देशवाची	,,	,,	पाटलिपुत्रकः
15.	सवि० जनपद एवं सीमावाचक	,,	,,	आदर्शकः
16.	सवि० बहुवचनान्त जनपद एवं सीमावाची	,,	,,	आजमीढकः
17.	सवि० कच्छ, अग्नि, वक्त्र व वर्तान्तदेशवाची	,,	,,	दारुकच्छकः
18.	सवि० देशवाची धूमादिगण	,,	,,	धौमकः
19.	सवि० नगर शब्द	निन्दा व कौशल	,,	नागरकश्चौरः
20.	स० अरण्य	मनुष्य, मार्ग अध्याय, न्याय, विहार, हस्ति, गोमय	वुञ्	आरण्यकाः
21.	स० कुरु एवं युगन्धर (विक०)	शेषार्थ	,,	कौरवकः
22.	स० देशवाची कच्छादिगण	मनुष्य और मनुष्यस्थ	,,	काच्छको मनुष्यः
23.	स० साल्व	अपदाति नर, गो व यवागू	,,	साल्वको गौः
24.	स० शरद्	कुशाव मूंग विशेष की संज्ञा	,,	शारदकाः

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
25.	स० आश्वयुजी, ग्रीष्म व वसन्त	बोये गये	वुञ् (विक०)	आश्वयुजका:
26.	स० ग्रीष्म एवं अवरसम	देयऋण	,,	ग्रैष्मकम्
27.	स० संवत्सर एवं आग्रहायणी	देयऋण[1] (वा)	,,	सांवत्सकरकम्
28.	पं० विद्या व योनि सम्बन्धवाची	आगत	,,	औपाध्यायक:
29.	प्र० गोत्रप्रत्ययान्त व क्षत्रियवाची	भक्ति सम्बन्धी	,,	नाकुलक:
30.	तृ० कुलालादिगण	कृत संज्ञार्थक	,,	कौलालकम्
31.	ष० गोत्रप्रत्ययान्त व शाखाध्येतृवाची	सम्बन्धी	,,	औपगवकम्
32.	ष० शाकल (विक०)	संघ, अंक व लक्षण	,,	शाकलक:
33.	ष० अपत्यप्रत्ययान्त, उक्षन् उष्ट्र, उरभ्र, राजन, राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य, अज एवं दीर्घादि	समूह	,,	ग्लौचुकायनकम् राजन्यकम् वात्सकम्
34.	ष० केदार (विकल्प)	,,	,,	कैदारकम्
35.	ष० राजन्यादि गण	परिचित देश	,,	राजन्यक:
36.	सवि० अरीहणादिगण	चातुर्थिक	,,	आरीहणकम्
37.	द्वि० क्रम, पद, शिक्षा व मीमांसा	अध्येता एवं वेत्ता	वुन्	क्रमक:
३.	स० कर्मन्	संगत	अठच्[2]	कर्मठः
४.	प्र० किं शब्द	परिच्छेद सम्बन्धी	डति[3]	कति

१—क्रमश: द्रष्टव्य-पा० सू० ४।३।५०, ७७, ९९, ११८, १२६, १२८; ४-२-३९; वार्तिक २७१६; पा० सू० ४-२-४०, ५३, ८०, ६१

२—पा० सू० ५।२।३५

३—पा० सू० ५।२।४१

५. अन—हेमचन्द्र ने इसे 'तनद्' रूप में माना है[1], जबकि महर्षि पाणिनि ने इसके दो रूप 'ट्यु' ट्युल्' का विधान करके इसमें 'तुट्' का आगम किया है।

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रेग	शेषार्थं[2]	ट्यु (अन) ट्युल् (तन)	सायन्तनम् (1)
2.	सवि० पूर्वाह्ण व अपराह्ण	,,	,, (विक०)	पूर्वाह्णेतनम् अपराह्णेतनम्

६. अय—यह अत्यन्त स्वार्थ में भी विहित होता है।

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	द्वि, त्रि (विक०)	अवयव सम्बन्धी	अयच्[3]	द्वयम्, त्रयम्
2.	प्र० उभ	,,	,,	उभयम्
७.	प्र० वाच्[4]	निन्दित मत्वर्थ	आटच्	वाचाटः
८	ष० मातृ व पितृ	पिता[5]	डामहच्	मातामहः (2)
६.	प्र० स्व[6]	मत्वर्थ सम्बन्धी	आमिनच्	स्वामी

१०. आयन : महर्षि पाणिनि "फ" विधान कर उसके स्थान पर 'आयन' आदेश किया है।[7] अष्टाध्यायी में इसे चार अनुबन्धों के साथ चार रूपों में निर्दिष्ट किया गया है, जिसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।[8]

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	सवि० कापिशी	शेषार्थ	ष्फक् (आयन)	कापिशायनम्

१—हैम० ६।३।८७ व ८८

२—पा० सू० ४।३।२३, २४

३—पा० सू० ५।२।४३, ४४

४—पा० सू० ५।२।१२५

५—पा० सू० ४।२।३६

६—पा० सू० ५।२।१२६

७—द्रष्टव्य-पा० सू० ७।१।२

८—क्रमशः द्रष्टव्य-पा० सू० ४।२।६६, १००; ४-१-६८, ११०, १११, ६६, १००, १०१, १०२, १०३

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
2.	सवि० रङ्कु	"मनुष्य भिन्न"	ष्फक् (आयन)	राङ्कवायण: गौ:
3.	ष० कुञ्जादिगण	गोत्र	च्यञ् (आयन)	कौञ्जायन:
4.	ष० अश्वादिगण	,,	फञ् (आयन)	आश्वायन:
5.	ष० भर्ग	त्रैगर्त गोत्र	,,	भार्गायण:
6.	ष० नडादिगण	गोत्र	फक् (आयन)	नाडायन:
7.	ष० अञन्त हरितादिगण	युवापत्य	,,	हारितायन:
8.	ष० गोत्रार्थक यञ् इञन्त	,,	,,	गार्ग्यायण:
9.	ष० शरद्वत्, शुनक व दर्भ	क्रमश: भृगु, वत्स व आग्रायण गोत्र	,,	शारद्वतायन:
10.	ष० द्रोण, पर्वत व जीवन्त	गोत्र	,, (विक०)	द्रौणायन:
11.	सवि० पक्षादिगण	चातुरर्थिक[1]	फक् (आयन)	पाक्षायण:

११. **आयनि** : महर्षि पाणिनि ने इसे "फि" रूप में अनुशिष्ट किया है।[2]

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	ष० फाण्टाहृति व मिमत	अपत्य (विकल्प)	फिञ् (आयनि)	फाण्टाहृतायनि:
2.	ष० तिकादिगण, कौशल्य व कार्मार्य	,,	,,	तैकायनि:
3.	ष० छाग्य, वृष्य तथा अणन्त द्विस्वर	,,	,,	छाग्यायनि:

१—पा० सू० ४-२-८०

२—द्रष्टव्य-पा० सू० ४-१-५०, १५४, १५५; वार्तिक २६४३; पा० सू० ४।१।१५६ से १६०; ४-२-८०

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
4. ष० दीर्घादि गोत्रभिन्न-प्रत्ययान्त	अपत्य	फिञ् (विक०)	आम्रगुप्तायनिः
5. ष० वाकिनादिगण एवं पुत्रान्त	,,	,, (,,)	वाकिनकायनिः
6. ष० आदिस्वरदीर्घ-भिन्न	,,	फिन् (आयनि)	ग्लुयुकायनिः
7. सवि० कर्णादिगण	चातुरर्थिक	फिञ्	कार्णायनिः
१२. ष० गोधा, जड, पण्ड व षण्ड	अपत्य[1]	आरक् (आर)	गौधारः
१३. प्र० शृंग व वृन्द	मत्वर्थ सम्बन्धी[2]	आरकन्	शृंगारकः
१४. प्र० वाच्[3]	निन्दित बहुवक्तृ	आलच्	वाचालः

१५. आलु : हेमचन्द्र के अनुसार इसका स्वरूप 'आलु' है। इसके दो अर्थ हैं।

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. प्र० हृदय (विकल्प)[4]	मत्वर्थ सम्बन्धी	चालु	हृदयालुः
2. द्वि० शीत, उष्ण व तृप्र	असहिष्णु	,,	शीतालुः
१६. सवि० उत्तर	शेषार्थ[5]	आहञ्	औत्तराहः

१७. इ : इसे 'ञ्' अनुबन्ध के साथ प्रस्तुत किया गया है[6], जिससे आदिस्वर में यथानिर्दिष्ट वृद्धिभाव होता है।

प्रकृति	प्रययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. ष० अदन्त एवं बाह्वादिगण	अपत्य	इञ्	दाक्षिः, बाह्विः

१—द्रष्टव्य-पा० सू० ४।१।१३०
२—वार्तिक ३२१४
३—पा० सू० ५।२।१२५
४—वार्तिक ३२१६, ३२१७
५—वार्तिक २७७४
६—क्रमशः-पा० सू० ४।१।९५, ९६, ७९, १५३, १७१; ४।२।८०

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
2.	ष० सुधातु, व्यास, वरुड, निषाद, चाण्डाल व विम्ब	अपत्य (अक आगम)	इञ्	सौधातकिः
3.	ष० सेनान्त, लक्षण व शिल्पीवाची	अपत्य	(विक०) इञ्	हारिषेणिः
4.	ष० उदुम्बर, तिलखल, मद्रकार, युगन्धर, भूलिङ्ग, शरदण्ड, प्रत्यग्रथ, कलकूट व अश्मक	,, एवं राजा	,,	औदुम्बरिः यौगन्धरिः कालकूटिः
5.	सवि० सुतङ्गमादिगण	चातुरर्थिक	,,	सौतङ्गमिः

१८. **इक** : महर्षि पाणिनि ने विधान तो 'ठ' का किया है, जिसे 'इक' आदेश होता है, किन्तु इस्, उस्, उ, ऋ, लृ एवं तान्त प्रकृति से पर में रहने पर इसे 'क' आदेश भी होता है।[1] इसके अतिरिक्त 'इक' रूप में भी इसका विधान हुआ है, जिसे यथास्थान निर्दिष्ट किया जायेगा। महर्षि पाणिनि ने इसे 'क्-न्-ञ्-ष्-ट्-इ-च्-प्-ल्' अनुबन्धों से संयुक्त करके एकादश रूपों में प्रतिपादित किया है, जो सभी तालिका में निर्दिष्ट हैं।[2]

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	स० उदर	प्रसित (भूखा)	ठक् (इक)	औदरिकः
2	तृ० अयःशूल	अन्वेषण (संज्ञा)	,,	आयःशूलिकः
3.	तृ० भूषावाची	शोभित होने वाला	,,	कार्णवेष्टकिकम्
4.	च० सन्तापादिगण	समर्थ	ठञ् (इक्)	सान्तापिकः
5.	च० योग (विक०)	,,	,,	यौगिकः
6.	प्र० समय	प्राप्ति सम्बन्धी	,,	सामयिकः
7.	प्र० काल	प्राप्ति सम्बन्धी	,,	कालिकम् वैरम्

१—पा० सू० ७।३।५० व ५१

२—क्रमशः द्रष्टव्य-पा० सू० ५।२।६७, ७६; ५।१।६६, १०१, १०२, १०४, १०८, १०६, ११३, ११४; वा० ३०७८, ३०५५

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
8.	प्र० प्रयोजनवाची प्रकृति	प्रयोजन-सम्बन्धी	ठञ् (इक)	ऐन्द्रम-हिकम्
9.	प्र० एकागार शब्द	,, (चोर)	,,	ऐकागारिकः
10.	प्र० आकाल (विक०)	शीघ्रविनाशी	,,	आकालिकः
11.	प्र० आकाल (विक०)	शीघ्रविनाशी	ठन् (इक)	आकालिका विद्युत्
12.	द्वि० क्रोशशत व योजन-शत	गमनकर्तृ	ठञ् (इक)	क्रौशशतिकः
13.	तृ० वारि, जंगल, स्थल, उत्तर व अन्तरपूर्व पथान्त	गत एवं आहृत	ठञ् (इक)[1]	औत्तरपथिकम्
14.	प्र० षण्मास विक०)	व्यतीत	,,	षाण्मासिकः
15.	सवि० संख्यापूर्व समान्त	निर्वृत्त, अधीष्ट, भूत, भूत व भावी	,, (विक०)	द्वैरात्रिकः
19.	सवि० संख्यापूर्वरात्रि अह्न, संवत्सरान्त	,, (त्रा)	,,	द्विवार्षिकः
17.	सवि० वर्षान्त (विक०)	,, (अचित्त)	,,	द्विवार्षिकः
18.	ष० महानाम्नी आदि	ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी	,,	महानाम्नीकः
19.	द्वि० षण्मास (विक०)	भूत अवस्था-सम्बन्धी	ठन् (इक)	षण्मासिकः
20.	ष० पात्र	वाप (खेत)	ष्ठन्(इक)	पात्रिकी
21.	द्वि० आढक, आचित, पात्र व कुलिजान्त द्विगु	समावेशक, अवहारक पाचक	,, (विक०)	द्व्याढकिकी

१—क्रमशः द्रष्टव्य—वार्तिक २०५७; पा० सू० ५।१।८३, ८६, ८७, ८८; वार्तिक ३०६४; पा० सू० ५।१।८४, ४६, ५४, ५५, २६, ४४; वार्तिक ३०३८, पा० सू० ५।१।५५, २१, ४८, ४६, ५१, २५; वार्तिक ३०२८; पा० सू० ५।१।२०; वार्तिक ३०३३, ३०३७; पा० सू० ५।१।६५; वार्तिक २६६७, २६६८; पा० सू० ४।४।८१, १०२, १०३, ६, ११, ३८, ५२, ५८

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
22.	तृ० आदि परिमाणवाची शूर्प (विक०)	क्रीतादि आर्हीय	ठञ् (इक)	शौर्पिकम्
23.	स० सर्वलोक एवं लोक	विदित	,,	सार्वलौकिक:
24.	द्वि० द्रोण, आढक, आचित व पात्र शब्द	सम्भावक, अबहारक पाचक	,, (विक०)	द्रौणिकी
25.	द्वि० कुलिजान्त द्विगु	,, ,,	,,	द्वैकुलिजिकी
26.	तृ० शत	आर्हीयार्थ	ठन् (इक)	शतिकम्
27.	प्र० पूरण-प्रत्ययान्त व अर्ध	वृद्धि, आय, लाभ शुल्क व उपदा देयाधिकरण	,,	तृतीयक:
28.	प्र० भाग (विक०)	,, ,,	,,	भागिकम्
29.	द्वि० वस्न	हारक, वाहक व उत्पादक	,,	वस्निक:
30.	तृ० आदि कंस, अर्ध, कार्षापण व प्रति	क्रीतादि आर्हीय	टिठन् (इक)	कंसिकी, प्रतिकी
31.	तृ० असमस्त निष्कादि-गण	,, ,,	ठक् (इक)	नैष्किकम्
32.	ष० वात, पित्त श्लेष्मन् व सन्निपात	शमन एवं कोपन	,,	वातिकम्
33.	द्वि० शीर्षच्छेद	निरन्तर अर्हक	,, (विक०)	शैर्षच्छेदिक:
34.	च० सर्वजन (विक०)	हित	ठञ् (इक)	सार्वजनिक:
35.	च० महाजन	,,	,,	माहाजनिक:
36.	द्वि० हल व सीर	वाहक	ठक् (इक)	हालिक:
37.	स० कथादिगण	साधु	,,	काथिक:
38.	स० गुडादिगण	,,	ठञ् (इक)	गौडिक: इक्षु:
39.	तृ० गोपुच्छ	तरणकर्तृ	,,	गौपुच्छिक:
40.	तृ० श्वगण	विचरण कर्तृ	,, (विक०)	श्वागणिक:
41.	द्वि० आक्रन्द	धावन कर्तृ	,,	आक्रन्दिक:

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
42.	प्र० लवण	पण्यस विक्रेता	ठञ् (विक०)	लावणिक:
43.	प्र० परश्वध	शस्त्र स्वामी	,,	पारश्वधिक:
44.	प्र० बहुस्वरपूर्व-अन्यान्त	अध्येता[1]	ठञ् (इक)	द्वादशान्यिक:
45.	प्र० श्राणा, मांस व ओदन	सम्प्रदान	टिठन् (इक)	मांसौदनिक:
46.	द्वि० दशैकादश	सूदखोर	ष्ठच् (इक)	दशैकादशिक:
47.	सवि० कुमुदादिगण	चातुर्थिक	ठक् (इक)	कौमुदिक:
48.	सवि० शर्करा	,,	,, (विक०)	शार्करिकम्
49.	ष० रेवत्यादिगण	अपत्य	ठक्	रैवतिक:
50.	ष० गोत्र प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग	निन्दित युवापत्य	,, (विक०)	गार्गिक:
51.	ष० आदिस्वर दीर्घ व फिञन्त सौवीर गोत्रवाची	,, ,,	,,	भागवित्तिक:
52.	द्वि० यज्ञविशेषवाची	वेत्ता एवं अध्येता	,,	आग्निष्टोमिक:
53.	द्वि० उक्थादिगण-पठित ग्रन्थवाची	,, ,,	,,	औक्थिक:
54.	द्वि० कल्पभिन्नपूर्व सूत्रान्त	,, ,,	,,	सांग्रहसूत्रिक:
55.	द्वि० अंग, छत्र, धर्म व त्रिभिन्न शब्दपूर्वक विद्या, लक्षण व कल्प शब्दान्त	,, ,,	,,	आश्वलक्षणिक: वायसविद्यिक:

१—क्रमश: द्रष्टव्य—पा० सू० ४।४।६४, ६७, ३१; ४।२।८०, ८४; ४।१।१४६, १४७, १४८, १४६; ४।२।६०; वार्तिक २७४१, २७४६; पा० सू० ४।२।६३, २, १८, १६, २२, २३, ४७, ४८, १०२; ४।३।१८, ४०, ७२, ७५, ६६, १२४; वार्तिक २१५१, २६५२, २६५३, २६५४

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
56. द्वि० आख्यान व आख्यायिका विशेषवाची	वेत्ता एवं अध्येता	ठक् (विक०)	वासवदत्तिकः
57. द्वि० इतिहास पुराण व वसन्तादिगण	,, ,,	,,	ऐतिहासिकः
58. तृ० लाक्षा, रोचन, शकल व कर्दम	रँगा हुआ	,,	लाक्षिकम्
59. स० दधि	संस्कृत	,,	दाधिकम्
60. स० उदश्वित्	,,	,,	औदश्वित्कः
61. प्र० आग्रहायणी एवं अश्वत्थ	अधिकरण मास	,,	आग्रहायणिको मासः
62. प्र० फाल्गुनी, श्रवणा, कार्तिकी व चैत्री	,, ,,	,,	फाल्गुनिकः
63. ष० अप्राणिवाची हस्ति व धेनु	समूह	,,	हास्तिकम्
64. ष० केश	,,	,,	कैशिकम्
65. सवि० कन्था	शेषार्थ	,,	कान्थिकः
66. स० वर्षा	जातादि शेषार्थ	,,	वार्षिकम्
67. स० उपजानु, उपकर्ण व उपनीवि	प्रायः भव	,,	औपजानुकः
68. स० व ष० द्विस्वर, ऋकारान्त, ब्राह्मण, ऋच्, प्रथम, अध्वर, पुरश्चरण, नामन् व आख्यात शब्द	भव एवं व्याख्यान	ठक्	शैषिकः चातुर्होतृकः
69. पं० आयस्थान—विशेषवाची	आगत	,,	शौल्कशालिकः
70. प्र० देश व काल-भिन्न अप्राणिवाची	भक्ति सम्बन्धी	,,	आश्विकः
71. ष० हल एवं सीर	इदमर्थ सम्बन्धी	,,	हालिकम्

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
72. द्वि० माशब्दादि व प्रभूतादि	कहने वाला	ठक	माशब्दिकः
73. द्वि० सुस्नातादिगण	पूछने वाला	,,	सौस्नातिकः
74. द्वि० परदारादिगण	गमनर्कतृ	,, (इक)	पारदारिकः
75. तृ० विवध शब्द[1]	हारक	,, (वा)	वैवधिकः
76. द्वि० प्रति, अनुपूर्वक, ईप, लोम, व कूल	रहने वाला	,,	प्रातीपिकः
77. द्व० परिमुख एवं परिपार्श्व	,,	,,	पारिमुखिकः
78. द्वि० आक्रन्द	धावनकर्तृ	,,(विक०)	आक्रन्दिकः
79. द्वि० प्रतिकण्ठ, अर्थ व ललाम	ग्राहक	,,	प्रातिकण्ठिकः
80. द्वि० धर्म व अधर्म	आचरण कर्तृ	,,	धार्मिकः
81. द्वि० प्रतिपथ	गमन कर्तृ	,,	प्राति-पथिकः
82. द्वि० सेना	समवेत कर्तृ	,,	सैनिकः
83. प्र० शलालु	विक्रेता (विक०)	,, (क)	शलालुकः
84. प्र० मड्डुक एवं झर्झर	वादक	,,(विक०)	माड्डुकिकः
85. प्र० परश्वध	स्वामी (चालक)	,,	पारश्वधिकः
86. प्र० भक्त	सम्प्रदान	,,	भाक्तिकः
87. प्र० महाराज व प्रोष्ठपद	देवता भक्त	ठञ (इक)	माहा-राजिकः
88. प्र० नवयज्ञ आदि शब्द	अधिकरणाश्रय	,,	नावयज्ञिकः

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४।४।१७, २८, २९, ३८, ४०, ४१, ४२, ४५, ५४, ५६, ५८, ६८; ४।२।३५, ४१; वार्तिक २७०६; पा० सू० ४।२।११५, ११६, ११७, ११८, ११९; ४।३।६, ७, ११, १२, १३, १४, १५, २४, ५०, ६०, ६१; वार्तिक २८६९

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
89.	ष० केदार	समूह	ठञ् (विक०)	कैदारिकम्
90.	ष० कवचिन्	,,	,,	कावचिकम्
91.	ष० व स० भवत्	शेषार्थ	,, (क)	भावत्कः
92.	सवि० काश्यादिगण	,,	,,	काशिकी
93.	सवि० वाहीकदेश के ग्रामवाची दीर्घादि	,,	,,	कास्तीरिकी
94.	सवि० उशीनर देश के ग्रामवाची दीर्घादि	,,	,, (विक०)	सौदर्शनिकी
95.	सवि० उवर्णान्त देश या ग्रामवाची	,,	,, (क)	नैषादकर्षुकः
96.	सवि० पूर्वदेश के दीर्घादि उवर्णान्त	,,	,,	आढकजम्बुकः
97.	सवि० दिक्पूर्व अर्धान्त	,,	,, (विक०)	पौर्वार्धिकम्
98.	सवि० कालवाची प्रकृति	,,	,,	मासिकम्
99.	स० शरद्	शेषार्थ श्राद्ध	,,	शारदिकम्
100.	स० शरद् शब्द	रोग एवं आतप	,,(विक०)	शारदिकः
101.	स० निशा, प्रदोष, श्वस्, पूर्वाह्ण व अपराह्ण	शेषार्थ	,,	नैशिकम्
102.	स० संवत्सर व आग्रहायणी	देय ऋण	,,	सांवत्सरिकम्
103.	स० अन्तः शब्दपूर्वक अव्ययीभाव	भव	,,	आन्तर्वेश्मिकम्
104.	स० अध्यात्म आदि शब्द	,,	,,	आध्यात्मिकम्
105.	स० परि व अनुपूर्वक ग्रामान्त	,,	,,	पारिग्रामिकः

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
106. ष० व स० अन्तोदात्त दीर्घादि[1]	व्याख्यान एवं भव	ठञ् (इक)	षात्वणत्विकः
107. ष० व स० सोमासोमक द्विविध यज्ञ व ऋषिवाची	,,	,,	वाजपेयिकः वासिष्ठिकः
108. पं० ऋकारान्त	आगत	,, (क)	हौतृकम्
109. पं० पितृ	,,	,, (विक०)	पैतृकम्
110. प्र० महाराज	भक्ति सम्बन्धी	,,	माहाराजिकः
111. तृ० दण्डाजिन शब्द	धारक (ढोंगी)	,,	दाण्डाजिनिकः
112. प्र० एक व गोपूर्वक शत व सहस्र	मत्वर्थ	,,	ऐकशतिकः
113. प्र० निष्कपूर्वक शत, सहस्र	,,	,,	नैष्कशतिक;
114. सवि० काश्यादिगण	शेषार्थ	ञिठ (इक)	काशिका
115. सवि० वाहीकदेशीय ग्रामवाची दीर्घादि	,,	,,	कास्तीरिका
116. सवि० उशीनर देशीय ग्रामवाची दीर्घादि	,,	,,	सौदर्शनिका
117. तृ० नौ	तरणकर्तृ	ठन् (इक)	नाविकः
118. तृ० वस्न, क्रय, विक्रय	जीनेवाला	,,	वस्निक
119. तृ० आयुध् शब्द	,,	,, (विक०)	आयुधिकः
120. द्वि० प्रतिपथ	गमन कर्तृ	,,	प्रतिपथिकः
121. स० अगारान्त	नियुक्त	,,	देवागारिकः
122. प्र० श्राद्ध	भोजन किया हुआ	,,	श्राद्धिकः
123. प्र० अकारान्त, केश व व्रीह्यादिगण	मत्वर्थ	,,	केशिकः, दण्डिकः

१—क्रमशः द्रष्टव्य–पा० सू० ४।३।६७, ६८, ६९, ७८, ७९, ८७; ५।२।७६, ११८, ११९; ४।२।११६, ११७, ११८; ४।४।७, १३, १४, ४२, ७०; ५।२।८५, १०९, ११५, ११६, ११७, १२१; वार्तिक ३२१६; पा० सू० ४।३।७०; ४।४।१०, ११, १६, १७, ३१, ५३, ५४, वार्तिक २७४९, २७५०; पा० सू० ४।२।८०; ४।३।२६; ४।४।६

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
124. प्र० खल, यव, नौ व कुमारी	मत्वर्थ	ठन्	यविकः
125. प्र० तुन्दादिगण, असन्त, माया, मेधा, स्रज् व हृदय	,,	,, (,,)	तुन्दिकः,-हृदयिकः
126. ष० व स० पौरोडाश व पुरोडाश	व्याख्यान एवं भव	ष्ठन् (इक)	पौरोडाशिकी
127. तृ० पर्पादिगण	चलने वाला	,,	पर्पिकः
128. तृ० श्वगण	,,	,, (विक०)	श्वगणिकः
129. तृ० भस्त्रादिगण	हारक	,,	भस्त्रिकः
130. तृ० वीवध एवं विवध शब्द	हारक	ष्ठन्	विवधिकः
131. द्वि० कुसीद	सूदखोर उत्तमर्ण	,,	कुसीदिकः
132 प्र० किसरादिगण	विक्रेता	,,	किसरिकः
133. प्र० शलालु (वा)	,,	,, (क)	शलालुकः
134. द्वि० शतपथ व षष्टिपथ	अध्येता व वेत्ता	षिकन्	शतपथिकः
135. सवि० कुमुदादिगण	चातुरर्थिक	ठच् (इक)	कुमुदिकम्
136. स० प्रावृष्	जात	ठप् (इक)	प्रावृषिकः
137. तृ० आकर्ष	चलने वाला	ष्ठल् (ठक)	आकर्षिकः
138. स० आवसथ शब्द[1]	रहने वाला	,, (इक)	आवसथिकः
139. द्वि० पद शब्दान्त	अध्येता व वेत्ता	इकन्	पूर्वपदिकः
१६. प्र० तारकादियण[2]	युक्त	इतच्	तारकितम् नभः

1. क्रमशः द्रष्टव्य, पा० सू० ४।४।७४ व वार्तिक २७४६, २७५०
2. पा० सू० ५।२।३६

२०. इन्—आदिस्वर की वृद्धि के लिए इसमें 'ण' व उच्चारणार्थ 'इ' अनुबन्ध प्रयुक्त होते हैं। इसके प्रकृत्यादि[1] निम्नांकित हैं—

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. तृ० पाण्डुकम्बल	आवेष्टित रथ	इनि	पाण्डुकम्बली रथ
2. ष० खलादिगण	समूह	,,	खलिनी
3. द्वि० अनुब्राह्मण	अध्येता व वेत्ता	,, (विक०)	अनुब्राह्मणी
4. सवि० प्रेक्षादिगण	चातुरर्थिक	,,	प्रेक्षी
5. तृ० कर्मन्द व कृशाश्व	प्रोक्त भिक्षु नटसूत्र	,,	कर्मन्दी
6. तृ० काश्यप व कौशिक	प्रोक्त	णिनि	काश्यपी
7. तृ० कलापि व वैशम्पायन के शिष्यवाची	प्रोक्त	,,	हारिद्रविणः
8. तृ० पुरातन मुनिवाची	प्रोक्त ब्राह्मण व कल्पसूत्र	,,	भाल्लविनः
9. तृ० शौनकादिगण	प्रोक्त छन्दस्	,,	शौनकिनः
10. तृ० पाराशर्य व शिलालिन्	क्रमशः प्रोक्त भिक्षा व नटसूत्र	,,	पाराशरिणः
11. तृ० चूर्ण	संसृष्ट	इनि	चूर्णिनोऽपूपाः
12. प्र० श्राद्ध	खाया हुआ	,,	श्राद्धी
13. प्र० पूर्व व पूर्वान्त शब्द	कर्त्ता	,,	पूर्वी, कृतपूर्वी
14. प्र० क्तान्त इष्टादिगण	कर्त्ता	,,	इष्टी, अधीती
15. प्र० अनुपद	अन्वेष्टा	,,	अनुपदी

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४।२।११, ५१, ६२, ८०; ४।३।१११, १०३, १०४, १०५, १०६, ११०; ४।४।२३; ५-२-८५, ८६, ८७, ८८, ९०, ९१, १०२, १०९, ११५, ११६, ११७, १२१; वार्तिक ३२१६; पा० सू० ५।२।१२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५; वार्त्तिक ३२२५, ३२२६, ३२२७, ३२२८; पा० सू० ५।२।१३६ व १३७

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
16.	प्र० साक्षात्	द्रष्टा	इनि	साक्षी
17.	प्र० शिखा, माला, संज्ञा, वीणा, वडवा, बलाका, पताका, वर्मन् व शर्मन्	मत्वर्थ	,,	शिखी, माली, पताकी, वर्मी
18.	प्र० सहस्र, केश, अदन्त व व्रीह्यादिगण	,,	,, (विक०)	सहस्री, केशी, ज्ञानी, व्रीही
19.	प्र० तुन्दादिगण, असन्त, माया, मेधा, स्रज् व हृदय	,,	,,	तुन्दी मनसी
20.	प्र० द्वन्द्वसमास, रोग व निंद्य-वाची प्राणीविषयक अदन्त शब्द	,,	,,	कुष्ठी, अर्बुदी
21.	प्र० वात, अतिसार व पिशाच	,,	,,	वातकी
22.	प्र० पूरण प्रत्ययान्त संख्या-वाची	,, (आयुबोधक)	,,	पंचमी उष्ट्र:
23.	प्र० सुखादिगण, धर्म, शील व वर्णान्त	,,	,,	सुखी, गोधर्मी
24.	प्र० हस्त व वर्ण (क्रमश:)	जाति व ब्रह्म-चारी	,,	हस्ती, वर्णी
25.	प्र० पुष्करादिगण, बाहु व उरुपूर्वक बलान्तशब्द	मत्वर्थ	,,	पुष्करिणी
26	प्र० सर्वपूर्वक शब्द, अर्थ व अर्थान्त	,,	इनि	सर्वधनी
27.	प्र० बलादिगण, मन्नन्त व मान्त	मत्वर्थ विशेषण व संज्ञा	,, (विक०)	बली

२१. इन—इसमें अन्तोदात्त स्वर के लिए 'च्' अनुबन्ध का प्रयोग होता है। विधान[1] निम्नांकित हैं—

१—पा० सू० ५।२।३३, ११४; वार्तिक ३२१५

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	नि निपात (चिक् आदेश)	अवनत नासिका	इनच्	चिकिनम्[1]
2.	प्र० शृंग, मल, फल बर्ह	मत्वर्थ सम्बन्धी	,,	शृंगिणः, मलिन

२२. इन—इसमें 'ड्' 'च्' व 'प्' अनुबन्धों[2] का संयोग किया जाता है—

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	स० अग्र, आदि, पश्च व अन्त	शेषार्थ	डिमच्	अग्रिमम्
2.	तृ० भावप्रत्ययान्त शब्द	निर्वृत्त	इमप्	पाकिमम्
२३.	ष० पृथ्वादि, दृढादिगण व वर्णवाची	भाव	इमनिच्	प्रथिमा, शुक्लिमा

२४. इय—पाणिनि ने "घ" का विधान करके उसके स्थान पर 'इय' आदेश लाघवार्थ कहा है। इसमें स्वरार्थ 'च्' व 'न्' अनुबन्धों का संयोग करके इसका तीन रूपों[3] में विधान किया गया है—

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1	स० क्षत्र शब्द	जाति	घ (इय)	क्षत्रियः
2.	प्र० अपोनप्तृ, अपांनप्तृ, शतरुद्र व महेन्द्र	देवता वाला	,, (वा)	अपोनप्त्रियम्
3.	प्र० शुक्र शब्द	,,	घन् (इय)	शुक्रियम्
4.	स० राष्ट्र	जातादि शेषार्थ	घ (इय)	राष्ट्रियः
5.	द्वि० यज्ञ शब्द	योग्य	,,	यज्ञियः
6.	द्वि० पात्र शब्द	,,	घन् (विक०)	पात्रियः
7.	स० क्षेत्र शब्द	अप्रतिकार्यव्याधि	घच् (इय)	क्षेत्रियः (३)

१—पा० सू० ५।१।१२२, १२३

२—वार्तिक २८४४, २६५६

३—पा० सू० ४।१।१३८; ४।२।२७, २८, २६, २६, ६३; ५।१।७१, ६८; ५।२।६२, ६३, ८४

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
8.	सवि० इन्द्र शब्द	लिंग, दृष्ट, सृष्ट जुष्ट, व दत्त	घच्	इन्द्रियम्
9.	द्वि० छन्दस् (श्रोत्र)	अध्येता	घन्(इय)	श्रोत्रियः(५)

२५. इल—इसमें केवल च् अनुबन्ध लगता है और पाँच सूत्रों से इसका[1] विधान हुआ है—

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	सवि० काश्यादिगण	चातुरर्थिक	इल	काशिल
2.	प्र० पिच्छादि, तुन्दादिगण, सिकता, शर्करा व फेन शब्द	मत्वर्थ-सम्बन्धी	इलच्	फेनिलः पिच्छिलः

२६. ईक—इसमें 'क्' एवं 'न्' अनुबन्धों[2] का प्रयोग हुआ है—

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	बहिष्	प्राग्दीव्यतीय	ईकक्	बाहीकः
2.	प्र० शक्ति व यष्टि शब्द	शस्त्र-चालक	,,	शाक्तीकः
3.	प्र० अध्यर्ध व संख्या-वाचीपूर्वक खारी व खारी शब्दान्त	परिमाणी	ईकन्	खारीकम्

२७. ईन—पाणिनि ने प्रत्यय का स्वरूप 'ख' एवं उसका आदेश 'ईन' माना है। यह 'ञ्' अनुबन्ध के साथ और निरनुबन्धक रूप[3] में भी विहित हुआ है—

१—पा० सू० ४।२।८०, ५।२।९९, १००, १०५, ११७

२—वार्तिक २५५७; पा० सू० ४।४।५९ व ५।१।३३

३—पा० सू० ४।४।१३९; वार्तिक २७२२, २७२३; पा० सू० ४।२।९४; ४।३।१; ४।२।९३, ४।३।६४; ४।४।९९

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. ष० कुल एवं कुलान्त शब्द	अपत्य	ख (ईन)	कुलीनः
2. स० अहन् शब्द	होने वाला यज्ञ	,,	अहीनः
3. सवि० ग्राम, युष्मद् अस्मद्	जातादि शेषार्थ	खञ् (ईन)	ग्रामीणः
4. सवि० अवारपार, अवार, पार, पारावार व वर्गान्त	,, (शब्द-भिन्न)	ख (ईन)	पारीणः मद्वर्गीणः
5. स० प्रतिजन शब्द	साधु	खञ् (इन)	प्रातिजनीनः
6. द्वि० सर्वधुर शब्द	वाहक[1]	ख (ईन)	सर्वधुरीणः
7. द्वि० एकधुर	,,	,, (विक०)	एकधुरीणः
8. च० माणव एवं चरक	हित	खञ् (ईन)	माणवीनम्
9. च० आत्मन् विश्वजन एवं भोग शब्दान्त कर्मधारय	,,	ख (ईन)	विश्वजनीनम्
10. च० पंचजन शब्द	,,	,,	पंचजनीनम्
11. च० सर्वजन	,,	,, (विक०)	सर्वजनीनम्
12. द्वि० ऋत्विज्	कर्मार्हे	खञ् (ईन)	आर्त्विजीनः
13. तृ० अध्यर्ध व संख्यावाचीपूर्व विंशतिक (द्विगुसमास)	क्रीत	ख (ईन)	अध्यर्धविंशतिकीनम्
14. द्वि० आढक, आचित व पात्र	आवेशक, अवहारक व पाचक (द्रावक)	,, (विक०)	आढकीनः
15. द्वि० सख्यापूर्व आढक, आचित, व पात्र शब्दान्त (द्विगु)	,,	,, (विक०)	द्वयाढकीना

१—द्रष्टव्य–पा० सू० ४।४।७८, ७९; ५।१।११, ९; वार्तिक २९९६, २९९७; पा० सू० ५।१।७१, ३२, ५३, ५४, ५५, ८५, ८६, ८७, ८८, ८१; ५।२।१, ४, ५, १८, १९, २०, २१, २२, २३, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
16.	द्वि० संख्यापूर्व कुलिजान्त (द्विगु)	आवेशक, अवहारक व पाचक (द्रावक)	ख (विक०)	द्विकुलिजीना
17.	द्वि० समा शब्द	अधीष्ट, भृत, भूत व भावी	,,	समीनः
18.	तृ० रात्रि, अहन्, संवत्सर व वर्षा शब्दान्त (द्विगु)	,, ,, ,, व निर्वृत्त	,, (,,)	द्विसमीनः
19.	प्र० मास शब्द (वा)	भूत वयस्	खन् (ईन)	मासीनः
20.	ष० धान्यविशेषवाची	क्षेत्र (खेत)	खञ् (ईन)	मौद्गीनम्
21.	ष० तिल, माष, उमा, भंग व अणु	,,	,, (विक०)	तैलीनम्
22.	तृ० सर्वचर्मन्	सम्पूर्ण रूप से कृत	,,	सार्वचर्मीणः
23.	प्र० गोष्ठ	भूतपूर्व प्रकृत्यर्थ	,,	गौष्ठीनः
24.	तृ० अश्व शब्द	एक दिन में गम्य मार्ग आदि	,,	आश्वीनः
25.	द्वि० शाला व कूप	अर्ह, अघृष्ट व अकार्य	,,	शालीनः कौपीनः
26.	तृ० व्रात शब्द	जीनेवाला	,,	व्रातीनः
27.	तृ० सप्तपद	प्राप्यमैत्री	,,	साप्तपदीनम्
28.	ष० ह्योगोदोह	विकार (संज्ञा)	,,	हैयंगवीनम्
29.	तृ० सर्वचर्मन् (विक०)	सम्पूर्णतया कृत	ख (ईन)	सर्वचर्मीणः
30.	ष० यथामुख व सम्मुख	दर्शनाश्रय	,,	यथामुखीनः
31.	द्वि० सर्वादिपथिन्, अंग, कर्म, पत्र व पात्र शब्दान्त	व्याप्तिकर्त्ता	,,	सर्वपथीनः
32.	द्वि० अप्रपद शब्द	प्राप्तिकर्त्ता	,,	आप्रपदीनः
33.	द्वि० अनुपद, सर्वान्न व अयानय	क्रमशः बद्ध, भक्षक, नेय	,,	अनुपदीना
34.	द्वि० परोवर, परम्पर, पुत्र व पौत्र	अनुभव करने वाला	,,	परोवरीणः

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
35. द्वि० अवारपार, अत्यन्त व अनुकाम	गन्ता	ख (इन)	अवारीणः
36. द्वि० समांसमा, व अद्यश्वस्	प्रसूता	,,	समांसमीना
37. द्वि० आगु शब्द	कर्मकर	,,	आगवीनः
38. द्वि० अनुगु	अलंगामी[1]	,,	अनुगवीन, गोपालः
39. द्वि० अध्वन् व अभ्यमित्र	,,	,, (वा)	अध्वनीनः
२८. प्र० मल शब्द[2]	मत्वर्थ सम्बन्धी	ईमसस्	मलीमसः

२९. ईय : पाणिनि ने इसका मूलरूप 'छ' स्वीकार किया है और 'ण्' व 'स्' अनुबंधों के साथ इसे तीन रूपों[3] में प्रतिपादित किया है —

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. ष० स्वसृ शब्द	अपत्य	छ (ईय)	स्वस्रीयः
2. ष० भ्रातृ शब्द	,,	,, (विक०)	भ्रात्रीयः
3. ष० फिञन्त सौवीर गोत्र-वाची	निन्दित अपत्य	,,	यामुन्दाय-नीयः
4. तृ० नक्षत्रवाची (द्वन्द्व-समास)	युक्त काल	,,	तिष्यपुनर्व-सवीयम्
5. प्र० अपोनप्तृ, अपांनप्तृ, शतरुद्र	देवता वाला	,,	अपोनप्त्रीयः
6. प्र० महेन्द्र, पैंगाक्षीपुत्र आदि	,, ,,	,,	महेन्द्रीयः

१—पा० सू० ५।२।१४, १५, १६, व १७ २—पा० सू० ५।२।११४

३—क्रमश : द्रष्टव्य—पा० सू० ४।१।१४३, १४४, १४९; ४।२।६, २७, २८, २९, ३२, ४८, ११४, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५; ४।३।१, ६२, ६३, ६४, ८९, ८८, ९१, १३१; ४।४।१४; ५।१।४, ९, १०

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
7. प्र० द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति व गृहमेध	देवता वाला ,, ,, ,, ,,	छ (विक०) ,, (,,) ,, (,,)	मरुत्वतीयम् गृहमेधीयम्
8. ष० अश्व शब्द	समूह	,, (,,)	अश्वीयम्
9. सवि० आदिस्वर दीर्घ शब्द	शेषार्थ	,,	शालीयः
10. सवि० गर्तशब्दान्त देशवाची व गहादिगण	,,	,,	वृकगर्तीयम्
11. सवि० कटादि नगर, घोष व पल्वलान्त पूर्वदेशवाची	,,	,,	कटनगरीयम्
12. सवि० राजन्, पर्वत	,,	,,	राजकीयम्, पर्वतीयम्
13. सवि० अक, इक प्रत्ययान्त एवं खकारोपध दीर्घादि	,,	,,	ब्राह्मणकीयः
19. सवि० कन्या, पलद, नगर, ग्राम व ह्रदशब्दान्त	,,	,,	दाक्षिकन्थीयम्
20. सवि० भारद्वाज देशवाची कृकण व पर्ण	,,	,,	पर्णीयम्
21. सवि० पर्वत शब्द	,, (मनुष्यभिन्न)	छ	पर्वतीयानिफलानि
22. सवि० युष्मद्, अस्मद्	,,	,, (विक०)	युष्मदीयः
23. स० जिह्वामूल, अंगुलि व वर्गान्त	भव	,,	कवर्गीयम्, मद्वर्गीय,
24. पं० हेतुसूचक व मनुष्यवाची	आगत	,, (विक०)	समीयम् चैत्रीयम्
25. द्वि० शिशुक्रन्द, यमसभ, द्वन्द्वसमास व इन्द्रजननादिगण	विषय में रचितग्रन्थ	,,	शिशुक्रन्द्रीयम् किरातार्जुनीयम

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
26.	प्र० पर्वत विशेषवाची	अभिजन वाले आयुध जीवी	छ (विक०)	हृद्गोलीयाः
27.	ष० रैवतिकादिगण	इदमर्थ सम्बन्धी	,,	रैवतिकीयम्
28.	तृ० आयुध शब्द	जीने वाला	,,	आयुधीयः
29.	च० हविष् विशेष व अपूपादिगण	हित	,,	आमिक्षीयम्
30.	च० विश्वजन शब्द	,,	,,	विश्वजनीयम्
31.	च० सर्व	,,	,, (,,)	सर्वीयम्
32.	ष० पुत्र शब्द (विक०)[1]	निमित्ती भूत संयोग या उत्पात	छ (ईय)	पुत्रीयम्
33.	द्वि० कडंकर, दक्षिण व स्थालीविल	अर्हं	,, (वा)	कडंकरीयः
34.	प्र० अनुप्रवचनादिगण	प्रयोजनवाला	,,	अनुप्रवचनीयम्
35.	प्र० समापन शब्दान्त	,,	,,	व्याकरण-समापनीयः
36.	ष० ऋत्विज् विशेषवाची	भाव या कर्म	,,	अच्छा-वाकीयम्
37.	द्वि० अभ्यमित्र शब्द	अलंगामी	,, (विक०)	अभ्यमित्रीयः
38.	प्र० सूक्त या साम के पदवाची	अधिकरणभूत सूक्त या साम	,,	अच्छा-वाकीयम्

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।१।४०, ६६, ७०, १११, ११२, १३५; ५।२।१७, ५६, ६०; वार्तिक ३१५८; पा० सू० ४।१।१३२, १३४; ४।२।८४, ६०, ६१, ८०, १३८; वार्तिक १८५६; पा० सू० ४।३।६४, १०२; ४-२-११५

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
39.	प्र० सूक्त, साम के पदवाची	अध्याय या अनुवाक	छ	गर्दभाण्डीयः
40.	ष० चतुर शब्द (आदि-वर्णलोप)	पूरण	,,	तुरीयः
41.	ष० पितृष्वसृ व मातृष्वसृ	अपत्य	छण् (ईय)	पैतृष्वस्रीयः
42.	सवि० शर्करा (विक०)	चातुरर्थिक	छ (ईय)	शर्करीयम्
43.	सवि० उत्करादिगण	,,	,,	उत्करीयः
44.	सवि० नडादि (क आगम)	,,	,,	नडकीयम्
45.	सवि० कृशाश्वादि	,,	छण् (ईय)	कार्शाश्वीयम्
46.	सवि० वेणुकादि	शेषार्थ	,,	वैणुकीयम्
47.	स० श्रविष्ठा व अषाढा	जात	,,	श्राविष्ठीयः
48.	प्र० सलातुर	अभिजन वाला	,,	सालातुरीयः
49.	तृ० तित्तिरि, वरतन्तु खण्डिक व उख	प्रोक्त	,,	तैत्तिरीयः
50.	ष० भवत्	शेषार्थ	छस् (ईय)	भवदीयः
३०.	प्र० काण्ड व आण्ड[1]	मत्वर्थ सम्बन्धी	ईरन् (ईर)	काण्डीर
३१.	स० कर्मन्	समर्थ	उकञ्	कार्मुकम्
३२.	प्र० दन्त	उठे दाँतों वाला	उरच्	दन्तुरः
३३.	ष० मातृ	भ्राता	डुलच्	मातुलः
३४.	द्वि० बल	न सहने वाला	ऊल	बलूलः
	ष० वात	समूह	,,	वातूलः
३५.	सवि० प्रावृष्	शेषार्थ	एण्य	प्रावृषेण्यः
३६.	सवि० दूर	,,	एत्य	दूरेत्यः
३७.	ष० समिध्	मन्त्र या ऋचा	षेण्यण् (एन्य)	सामिधेन्यः

१ क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।२।१११; ५।१।१०३; ५।२।१०६; ४-२-३६; वार्तिक ३२१६, ३२२०; पा० सू० ४।३।१७; वार्तिक २७८३; २६१२

३८. एय—महर्षि पाणिनि ने इसे 'ढ' का आदेश माना है तथा 'क्' और 'ञ्' अनुबन्धों के साथ इसका निम्नलिखित दो रूपों[1] में विधान किया है—

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	सवि० अग्नि व कलि शब्द	प्राग्दीव्यतीय	ढक् (एय)	आग्नेयम्
2.	ष० मण्डूक	अपत्य	,, (विक०)	माण्डूकेय:
3.	ष० स्त्री प्रत्ययान्त द्विस्वर या अनेकस्वर	,,	ढक्	वैनतेय:, दात्तेय:
4.	ष० इञ्-भिन्न इकारान्त व शुभ्रादिगण	अपत्य[2]	ढक् (एय)	दौलेय:, शौभ्रेय:
5.	ष० विकर्ण, कुषीतक	कश्यपवंशीय अपत्य	,,	वैकर्णेय:
6.	ष० भ्रू (व आगम)	अपत्य	,,	भ्रौवेय:
7.	ष० कल्याण्यादिगण (इन आगम)	,,	,,	कल्याणिनेय:
8.	ष० कुलटा (इन आगम विक०)	,,	,,	कौलटेय:
9.	ष० अंग व आचारहीन व्यक्तिवाची	,,	,, (विक०)	काणेय:, दासेय:
10.	ष० दुष्कुल शब्द	,,	,, (विक०)	दौकुष्लेय:
11.	ष० पितृष्वसृ व मातृष्वसृ	,,	,,	पैतृष्वसेय:
12.	तृ० कलि	दृष्ट साम	,,	कालेयम्
13.	सवि० नद्यादिगण	शेषार्थ	,,	नादेयम्
14.	प्र० तुदी शब्द	अभिजन वाला	,,	तौदेय:
15.	द्वि० धुर् या धुरा	वाहक	,, (विक०)	धौरेय:,

१—पा० सू० ४।१।११९, १२०, १२१; वार्तिक २६८९

२—क्रमश: द्रष्टव्य—पा० सू० ४।१।१२२, १२३; १२४, १२५, १२६, १२७, १३१, १४२, १३३, १३४; ४।२।८, ९७; ४।३।९४; ४-४-७७; ५।१।१२७; ५।२।२; ४।१।१३५, १३६; ४।२।२०, ८०; ४।३।४२, ५६, ५७, ६४, १५९; ४।४।१०४; ५।१।१३, १७

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
16.	ष० कपि व ज्ञाति	भाव एवं कर्म	ढक्	कापेयम्
17.	ष० व्रीहि व शालि	खेत	,,	व्रैहेयम्
18.	ष० चतुष्पाद जातिवाची व गृष्ट्यादिगण	अपत्य	ढञ् (एय)	कामण्डलेयः
19.	स० क्षीर	संस्कृत	,,	क्षैरेयी
20.	सवि० सख्यादिगण	चातुरर्थिक	,,	साखेयः
21.	स० कोश	सम्भूत	,,	कौशेयम् वस्त्रम्
22.	स० दृति, कुक्षि, कलशि, वस्ति, अस्ति व अहि	भव	,,	दार्तेयम् आहेयम्
23.	स० ग्रीवादिगण	,,	,, (विक०)	ग्रैवेयम्
24.	प्र० वर्मती	अभिजन वाला	,,	वार्मतेयः
25.	ष० एणी	अवयव व विकार	,,	ऐणेयम्
26.	स० पथिन्, अतिथि, वसति व स्वपति	साधु	,,	पाथेयम् आतिथेयम्
27.	सवि० पुरुष	वध, विकार, समूह व कृत	,,	पौरुषेयः
28.	च० छदिस् व बलि	तदर्थ	,,	छादिषेयाणि तृणानि
29.	प्र० परिखा	मत्वर्थ आधार	,,	पारिखेयी भूमिः

३९. एयक—महर्षि पाणिनि ने इसका मूल रूप 'ढकञ्' स्वीकार किया है।[1]

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	सवि० कत्र्यादिगण	जातादि शेषार्थ	एयक	कात्रेयकः
2	स० कुल शब्द	कुत्ता, कुक्षि, असि व कण्ठाभूषण	,, (विक०)	कौलेयकः
3.	ष० कुल	अपत्य	,,(विक०)	कौलेयकः
४०.	तृ० छगलिन्	प्रोक्त[2]	(एयिन्)ढिनुक्	छागलेयिनः

१—पा० सू० ४।२।९५, ९६; ४।१।१४०   २—पा० सू० ४।३।१०९

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
४१. द्वि० हिम[1]	न सहने वाला	एलु	हिमेलुः

४२. एर—महर्षि पाणिनि ने इसका मूल रूप 'ढ्रक्' और 'ऐरक्' दो प्रकारों में स्वीकार किया है ।[2]

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. ष० चटक व चटका शब्द	अपत्य पुरुष	ऐरक्	चाटकैरः
2. ष० गोधा	,,	ढ्रक् (एर)	गौधेरः
3. ष० अंग व आचारहीन व्यक्तिवाची	,,	,, (विक०)	काणेरः दासेरः

४३. क—महर्षि पाणिनि ने इसमें 'क्' ष् एवं न् अनुबन्धों का आसञ्जन किया है । इस प्रकार इसका विधान चार रूपों में हुआ है ।[3]

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. सवि० वराहादिगण	चातुरर्थिक	कक्	वाराहकः
2. सवि० ऋक्षयादिगण	,,	क	ऋक्षयकम्
3. तृ० पीत शब्द	रँगा हुआ	कन्	पीतकम्
4. सवि० मद्र व वृजि शब्द	शेषार्थ	,,	मद्रकः
5. स० सिन्धु व अपकर	जात	,,	सिन्धुकः
6. स० कर्ण व ललाट शब्द	आभूषण	,,	कर्णिका
7. ष० पिष्ट	विकार (संज्ञा)	,,	पिष्टकः
8. तृ० याचित	निर्वृत्त	,,	याचितकम्

१—वार्तिक ३२१८

२—पा० सू० ४।१।१२८, १२९, १३१

३—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४।२।८०; वार्तिक २६८१; पा० सू० ४।२।१३१, ४।३।३२, ६५, १४७; ४।४।२१; ५।१।२२, २३, २४, ५१, ७५, ९०; वार्तिक ३१२१; पा० सू० ५।२।८२, ६४, ६५, ६६; ६८, ६९, ७०, ७२, ७३, ७४

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
9. अपमित्य (अव्यय)	निर्वृत्त	कक्	आपमित्यकम्
10. सवि० ति शत्वर्णान्त से भिन्न संख्यावाची	क्रीतादि आर्हीय	कन्	पञ्चकः
11. सवि० वतु प्रत्ययान्त	,,	,,	तावतिकः
12. तृ० विंशति व त्रिशत्	क्रीत (संज्ञा)	,,	विंशतिकः
13. द्वि० द्रव्य	हारक, प्रापक व उत्पादक	,,	द्रव्यकः
14. द्वि० पथिन् शब्द	गन्ता	ष्कन्	पथिकः
15. तृ० षष्टिरात्र (रात्रलोप)	पकने वाला	कन्	षष्टिकः
16. नि० निपात (चिक् आदेश)	चिपटी नाक	क	चिक्कम्
17. प्र० अन्नवाची	आधार	कन्	गुडापूपिका पौर्णमासी
18. स० आकर्षादिगण	कुशल	,,	आकर्षकः
19. स० धन व हिरण्य शब्द	इच्छुक	,,	धनकः
20. स० स्वांगवाची	उत्सुक	,,	केशकः
21. तृ० सस्य व शस्य	सम्बद्ध	,,	सस्यकः साधुः
22. द्वि० अंश	हारी	,,	अंशकः
23. पं० तन्त्र	नवीन	,,	तंत्रकः
24. प्र० ब्राह्मण व उष्ण	आधार (संज्ञा)	,,	उष्णिका यवागूः (६)
25. द्वि० शीत व उष्ण	कारी (संज्ञा)	,,	शीतकोऽलसः
26. अधि निपात	आरूढ (संज्ञा)	,,	अधिकम् (७)
27. अनु, अभि व अभी	कामना करने वाला	,,	अनुकः
28. द्वि० पार्श्व शब्द	अन्वेषक (संज्ञा)	कन्[१]	पार्श्वकः
29. तृ० पूरण प्रत्ययान्त	ग्रहण	,,	द्वितीयकम्, द्विकम्
30. तृ० पूरण प्रत्ययन्त	ग्रहीता	,, (लोप)	षट्कः
31. प्र० व्यक्तिवाची शब्द	जिनका मुखिया है	,,	देवदत्तकाः

१—पा० सू० ५।२।७५; वार्तिक ३१७२; पा० सू० ५।२।७८, ८०, ८१

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
32.	प्र० श्रृंखल	बन्धन योग्य करभ	,,	श्रृंखलकः
33.	उत्	उत्कण्ठित	,,	उत्कः
34.	स० तृ० कालवाची व प्रयोजनवाची	रोग	,,	द्वितीयको ज्वरः

४४. कट—इसमें केवल 'च्' अनुबन्ध का प्रयोग किया जाता है।[1]

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	सम् व प्र निपात	दुख व प्रत्यक्ष	कटच्	संकटम्, प्रकटम्
2.	उत् व वि	बढ़ा हुआ व भयंकर	,,	उत्कटम्, विकटम्
3.	अव निपात	अवनत व गहरा	,,	अवकटम
4.	ष० अलाबु, तिल, उमा व भंगा	धूलि	,,	अलाबूकटम्
5.	ष० पशुवाची	समूह	,,	गोकटम्
४५.	ष० रथ शब्द	,,	कट्यच्[2]	रथकट्या
४६.	अव	अवनत व गहरा	कुटारच	अवकुटारः
४७.	ष० पील्वादिगण	पाक	कुणप्	पीलुकुणः
४८.	ष० पशुवाची शब्द	जोड़ा	गोयुगच्	वृषगोयुगम्
४९.	ष० पशुवाची	स्थान (शाला)	गोष्ठच्	गोगोष्ठम् (८)
५०.	तृ० प्रसिद्धि हेतुक	प्रसिद्ध	चुञ्चुप्	विद्याचुञ्चुः
५१.	तृ० प्रसिद्धि हेतुक	,,	चणप्	विद्याचणः

१—पा० सू० ५।२।२९, ३०; वार्तिक ३१०७, ३१३०

२—क्रमश: द्रष्टव्य—पा० सू० ४।२।५१; ५।२।३०, २४; वार्तिक ३११६, ३१०९; पा० सू० ५।२।२६, २४, ३१, ४२; ५।१।११९; ४।२।४३; ५।२।१३८; वार्तिक ३२२१; पा० सू० ४।३।११३, ११४; ५।२।२५; १३८, ५४, ५५, १३८

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
५२. कर्णादिगण	मूल	जाहच्	कर्णजाहम्
५३. अव	नत नाक वाला	टीटच्	अवटीटम्
५४. प्र० अवयवबोधक संख्यावाची	अवयव	तयप्	पञ्चतयम् दारु

५५. त—इसमें 'ल्' अनुबन्ध स्त्रीलिंग व 'प्' अनुबन्ध पित् स्वर का सूचक है।

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. ष० संज्ञावाची शब्द	भाव (धर्म)	तल्	गोता
2. ष० ग्राम, जन, बन्धु, गज व सहाज	समूह	,,	गजता
3. प्र० कम् व शम्	मत्वर्थ सम्बन्धी	त (विक०)	कन्तः, शन्तः
4. प्र० पर्वन् व मरुत्	,, (संज्ञा)	तप्	पर्वतः, मरुत्तः
५६. पृ० पीलुमूल इत्यादि व उरस्	एकदिशावाला	(तस्) तसि	पीलुमूलतः
५७. ष० प्र० पक्ष, कम् और शम्	मूल व मत्वर्थ	ति (वा)	पक्षतिः, कन्तिः
५८. ष० द्वि व त्रि शब्द	पूरण	तीय	तृतीयः
५९. प्र० कम् व शम्	मत्वर्थ सम्बन्धी	तु (विक०)	कन्तुः, शन्तुः
६०. ष० तिलहनवाची शब्द	तेल	तैलच्[1]	तिलतैलम् (६)
६१. चिर, परुत् व परारि	जातादि शेषार्थ	त्न	चिरत्नम्

६२. त्य—इसमें आदि स्वर की वृद्धि के लिए 'क्' व स्वरार्थ 'प्' अनुबन्ध संयुक्त होता है।[2]

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. दक्षिणा, पश्चात् व पुरस्	जातादि शेषार्थ	त्यक्	अमात्यः

1—द्रष्टव्यः वार्तिक ३११८, २८४२

२—पा० सू० ४।२।९८, १०४; वार्तिक २७८०, २७८१; पा० सू० ४।२।१०५

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
2. अमा इह, क्व शब्द व तस् एवं त्र प्रत्ययान्त	जातादि शेषार्थ	त्यप्	अमात्यः इहत्यः
3. नि व निस् निपात	ध्रुव व गत	,,	नित्यः, निष्ट्यः
4. एषमस्, ह्यस् व श्वस्	जातादि शेषार्थ	,,	ह्यस्त्यम्
६३. उप व अधि निपात (संज्ञा)	आसन्न व आरूढ	त्यकन्[1]	उपत्यका
६४. ष० गो शब्द	समूह	त्र	गोत्रा
६५. ष० संज्ञावाची शब्द(वा०)	भाव (धर्म)	त्व	गोत्वम्
ष० ऋत्विग्वाची ब्रह्मन्	,, एवं कर्म	,,	ब्रह्मत्वम्
६६. च० अज व अवि शब्द	हित	थ्यन्	अजथ्या
६७. प्र० पुरुष, हस्ति व प्रमाण-बोधक	प्रमाणवाला	दघ्नच्	ऊरु दघ्नम्
६८. ष० अवि शब्द	दुग्ध	दूस	अविदूसम्
६९. प्र० पुरुष, हस्ति व प्रमाण-बोधक	प्रमाणवाला	द्वयसच्	ऊरुद्वयसम्

७०. न—प्रकृति के आदि स्वर की वृद्धि के लिए इसमें 'ञ्' अनुबन्ध भी जुटता है।[2]

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. सवि० स्त्री शब्द	प्राग्दीव्यतीय, आर्हीय व भाव कर्म	नञ्	स्त्रैण.
2. प्र० पामादि व अंग शब्द	मत्वर्थ सम्बन्धी	न (संज्ञा)	पामनः, अगना
3. प्र० बलि शब्द	,, ,,	,, (विक०)	बलिनः
4. प्र० ज्योतिस्	,, ,,	न (संज्ञा)	ज्योत्स्ना

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।२।३४; ४।२।५१; ५।१।११९, १३६,८; ५।२।३७, ३८; वार्तिक २७१२

२—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४।१।८७; ५।२।१००, ११४, १३९

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
७१. न व वि	बहुत्व व असहार्थ	(नाञ्) न्त[1]	नाना, विना
७२. अव निपात	नत नाक	नाटच्	अवनाटम्
७३. पशुवाची शब्द	विस्तार	पटच्	अविपटः
७४. नि निपात	नाक की नति	पिटच्	चिपिटम् (१०)
७५. नि नियात	,, ,,	बिडच्	निबिडम् (११)
७६. नि निपात	,, ,,	बिरीसच्	निबिरीसम् (१२)
७७. प्र० कम्, शम्, तुन्दि, बलि व वटि	मत्वर्थ	भ	कम्भः, तुन्दिभः
७८. ष० ऐषुकार्यादिगण	परिचित देश	भक्तल्	ऐषुकारिभक्तम्
७९. अव निपात	नाक की नति	भ्रटच्	अवभ्रटम्

८०. म—इसमें पित्स्वरार्थ केवल 'प्' अनुबन्ध संयुक्त होता है।[2]

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. सवि० मध्य शब्द	जातादिशेषार्थ	म	मध्यमः
2. प्र० द्यु एवं द्रु शब्द	मत्वर्थ (संज्ञा)	,,	द्युमः, द्रुमः
3. तृ० क्त्रिप्रत्ययान्त शब्द	निर्वृत्त	मप्	कृत्रिमम्

८१. मत्—इनमें 'ड्' व 'प्' अनुबन्ध रहता है एवं निर्दिष्ट प्रकृति से इसे 'वत्' आदेश भी होता है।[3] इस तरह निम्नलिखित कुल दो रूपों[4] में इसका विधान किया गया है—

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।२।२७, ३१; वार्तिक ३११५; पा० सू० ५।२।३३, ३२, १३८, १३९; ४।२।५४; ५।२।३१

२—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४।३।८; ५।२।१०८; ४।४।२०

३—द्रष्टव्य—पा० सू० ८।२।९ से १४

४—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४।२।८७, ८५, ८६; ५।२।९४, ९५, ९६, ९७, ९९, १००, १०५, १०९, ११७, १२१; वार्तिक ३२१६; पा० सू० ५।२।१३६

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. सवि० कुमुद, नड, बेतस व महिष	चातुरर्थिक	ड्मतुप्	कुमुद्वान्
2. सवि० नदी वाचक व मध्वादिगण	,,	मतुप्	इक्षुमती
3. प्र० प्रकृतिमात्र (सामान्य)	मत्वर्थ	,,	गोमान्
4. प्र० रसादिगण	,,	,,	रसवान्
5. प्र० प्राणी के अंगवाची आकारान्त	,,	,, (विक०)	चूडावान्
6. प्र० सिध्मादिगण व फेन शब्द	,,	,, (,,)	सिध्मवान्
7. प्र० लोमादि, पामादि व पिच्छादिगण	,,	,, (,,)	लोमवान्
8. प्र० सिकता, शर्करा व केश शब्द	,,	,, (,,)	सिकतावान्
9. प्र० तुन्दादिगण, असन्त, माया, मेधा व स्रज्	,,	,, (,,)	तुन्दवान् स्रग्वान्
10. प्र० हृदय शब्द व बलादिगण	,,	,, (,,)	बलवान्

८२. मय—सभी आचार्यों के द्वारा यह केवल 'मयट्' रूप में प्रतिपादित है। 'ट्' अनुबन्ध होने से निष्पन्न विशेषण रूप स्त्रीलिंग में ईकारान्त होता है। इसके विधान अधोऽकित हैं।[1]

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. पं० हेतुबोधक व मनुष्य-वाची	आगत (विक०)	मयट्	सममयम
2. प्र० भागबोधक व संख्यावाची	सम्बन्धी	,,	द्विमयम् उदश्वित्

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४-३-८२; ५-२-४७; ४-३-१४३, १४४; वार्तिक ५०५२; पा० सू० ४-३-१४५, १४६, १४८, १४६

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
3. ष० भक्ष्य व आच्छादनार्थक से भिन्न संज्ञावाची	अवयव एवं विकार	,, (विक०)	अश्ममयम्
4. ष० आदिस्वरदीर्घ शरादिगण	,,	,, ,,	शरमयम्
5. ष० एकस्वरवाले शब्द	,,	,, ,,	त्वङ्मयम्
6. ष० गो एवं पिष्ट शब्द	पुरीष व विकार	,,	गोमयम्
7. ष० व्रीहि	पुरोडाशरूप विकार	,,	व्रीहिमयः
8. ष० तिल एवं यव	विकार	,,	तिलमयम्
८३. ष० अवि	दुग्ध[1]	मारीसच्	अविमरीसम्

८४. मात्र—अन्तोदात्त स्वरार्थ इसमें 'च्' अनुबन्ध का आसञ्जन किया जाता है। यह निर्धारणार्थक एक स्वतंत्र पद भी है। इसके विधान[2] निम्नांकित हैं—

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. प्र० प्रमाणसूचक शब्द	प्रमाणवाला	मात्रच्	ऊरुमात्रम् (१३)
2. प्र० पुरुष एवं हस्तिन्	,,	,,	पुरुषमात्रम्
3. प्र० दीर्घता, परिमाण व संख्यावाची	संशययुक्त-प्रमाणादि	,,	पञ्चमात्रम्
८५. प्र० गो० शब्द	मत्वर्थ संम्बन्धी	मिन्[3]	गोमी
८६. प्र० वाच् शब्द	,,	ग्मिन्	वाग्मी

८७. य—इसमें क-त-प्-ञ्-ण्-ड्-ङ-स्-ष्-ट् अनुबन्ध यथास्थान प्रयुक्त हैं। इन दस अनुबन्धों के साथ कुल पन्द्रह रूपों में इसका विधान है।[4]

१—वार्तिक २७१२

२—पा० सू० ५।२।३७, ३८; वार्तिक ३१३३, ३१३४

३—पा० सू० ५।२।११४ व १२४

४—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४।१।८५; १५१, १५२, १७०; ४।२।८० ४।४।४४

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. सवि० दिति, आदिति, आदित्य, यम	प्राग्दीव्यतीय	ण्य	दैत्यः
2. ष० कुर्वादिगण	अपत्य	,,	कौरवः
3. ष० सेनशब्दान्त, शिल्पि-वाची व लक्षण	,,	,,	हारिषेण्यः
4. ष० कुरु और नकारादि देशवाची	राजा व अपत्य	,,	कौरवः
5. सवि० संकाशादिगण	चातुर्थिक	,,	सांकाश्यम्
6. द्वि० परिषद्	संयोजक	,,	पारिषद्यः
7. स० परिषद् शब्द	साधु[1]	ण्य (वा)	पारिषद्यः
8. द्वि० सेना	संयोजक	,, (,,)	सैन्याः
9. स० चतुर्मास	सम्पन्न यज्ञ	,,	चातुर्मास्यो यज्ञः
10. ष० जनपद व क्षत्रियवाची दीर्घादि	अपत्य एवं राजा	ञ्यङ्	सौवीर्यः
11. ष० जनपद व क्षत्रियवाची इदन्त, कोशल व अजाद	,,	,,	कौशल्यः, आवन्त्यः
12. सवि० प्रगदिन् आदिगण	चातुर्थिक	ञ्य	प्रागद्यः
13. च० ऋषभ व उपानह्	तदर्थ	,,	आर्षभ्यः
14. सवि० रूपान्तसमास	शेषार्थ	,,	शैवरूप्यम्
15. स० गम्भीर एवं पंचजन	भव	,,	गांभीर्यम्
16. स० परिमुखादिगण	,,	,, (विक०)	पारिमुख्यम्
17. पं० विदूर शब्द	सम्भव	,,	वैदूर्यो मणिः

१—क्रमशः द्रष्टव्य–पा० सू० ४।४।१०१, ४५; वार्तिक ३०६६; पा० सू० ४।१।१६६; ४।२।८०; ५।१।१४; ४।२।१०६; ४।३।५८; वार्तिक २८६८; पा० सू० ४।३।५६, ८४, ६२, १२६; वार्तिक २५५५, २५५६; पा० सू० ४।१।१०५ से १०८; वार्तिक २७१६; पा० सू० ४।२।४०, ४८; ४।३।१०, १६८; वार्तिक २५६१; पा० सू० ४।१।१३७, १४०, १६१; ४।२।१७, ३१, ३२, ४२; वार्तिक २७२०; पा० सू० ४।२।१०१; ४।३।६, ५, ४

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
18.	प्र० शण्डिकादिगण	अभिजनवाला	ञ्य	शाण्डिक्य:
19.	ष० छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच् व नट शब्द	धर्म व आम्नाय	,,	छान्दोग्यम्, बाह्वृच्यम्
20.	सवि० देव व बहिष्	प्राग्दीव्यतीय	,,	दैव्यम्, बाह्यम्
21.	ष० गर्गादिगण	गोत्र	,,	गार्ग्य:
22.	ष० मधु एवं बभ्रु (क्रमश:)	ब्राह्मण व कौशिक गोत्र	,,	माधव्य: बाभ्रव्य:
23.	ष० कपि, बोध, वतण्ड	आंगिरस गोत्र	,,	काप्य:
24.	ष० गणिका	समूह	,,	गाणिक्यम्
25.	ष० केदार व केश	,,	,, (विक०)	कैदार्यम्
26.	सवि० द्वीप	शेषार्थ	,,	द्वैप्यम्
27.	कंसीय (ईयलोप)	विकार	,,	कांस्यम्
28.	सवि० गो	प्राग्दीव्यतीय	यत्	गव्यम्
29.	ष० राजन् एवं श्वसुर (क्रमश:)	जाति व अपत्य	,,	राजन्य:
30.	ष० कुल व मनु (ष् आगम)	अपत्य व जाति	,,	मनुष्य:, कुल्य
31.	स० शूल एवं उखा	संस्कृत	,,	शूल्यम्
32.	प्र० वायु, ऋतु, पितृ व उषस्	देवता वाला	,,	वायव्यम्, पित्र्यम्
33.	प्र० द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत् अग्निषोम, वास्तोष्पति व गृहमेध	,, ,,	,, (विक०)	द्यावापृथिव्यम् अग्निषोम्यम्
34.	ष० ब्राह्मण, माणव, वाडव व पृष्ठ	समूह	,,	ब्राह्मण्यम्

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
35. सवि० दिव्, प्रांच्, अपांच् उदंच् व प्रत्यंच्	जातादि शेषार्थ	यत् (विक०)	दिव्यम् प्राच्यम्
36. सवि० दिशावाचीपूर्वक अर्धान्त	,,	,,	पूर्वार्ध्यम्
37. सवि० पर, अवर, अधम, उत्तमादि अर्धान्त व अर्थ शब्द	,,	,, (,,)	परार्ध्यम्, अर्ध्यम्
38. स० दिगादिगण व शरीरावयववाची	भव	यत्[1]	दिश्यम्, दन्त्यम्
39. स० वर्ग शब्दान्त	शब्द भिन्न भव	,,	मदवर्ग्यः
40. स० ष० छन्दस् शब्द	व्याख्यान व भव	,,	छन्दस्यः
41. ष० पितृ शब्द	आगत	,, (विक०)	पित्र्यम्
42. तृ० उरस्	एक दिशा वाला	,, (,,)	उरस्यः
43. ष० रथ	सम्बन्धी	,,	रथ्यम्
44. ष० गो, पयस् व द्रु	अवयव, विकार	,,	गव्यन्, द्रव्यम्
45. द्वि० धुर्	वाहक	,,	धुर्यः
46. द्वि० जनी एवं धेनु	,, (संज्ञा)	,, (,,)	जन्याः, धेनुष्या
47. तृ० उरस्	निर्मित	,, (,,)	उरस्यः
48. तृ० कम्बल	क्रीत (संज्ञा)	,,	कम्बल्यम्
49. च० हविष्वाची व अपूपादिगण	हित	,,(,,)	आमिक्ष्यम्
50. च० शरीरावयववाची, खल, यव व माष शब्द	,,	,,	दन्त्यम्, खल्यम्

---

१. क्रमश. द्रष्टव्य--पा० सू० ४।३।५४, ५५, ६४, ७१, ७६, ११४, १२१ १६०, १६१; ४।४।७७, ८२, ८६, ६४; ५।१।३, ४, ६, ७, २१, ३४, ३५; वार्तिक ३०३५; पा० सू० ५।१।३६, ४०, ४६, ६५, ६८, ६६, ७०, ६६, ८१, ६८, १००, १०२, १०७, १२५; ५।२।३, ४

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
51.	च० तिल० वृष, ब्रह्मन्, वरथ	हित	यत्	तिल्यम्
52.	सवि० असमस्त शत	क्रीतादि आर्हीय	,,	शत्यम्
53.	सवि० अध्यर्ध व संख्या-पूर्व पण, पाद भाष व शतशब्दान्त	,,	,,	अध्यर्धपण्यम् द्विमाष्यम्
54.	सवि० अध्यर्ध व संख्या-पूर्व शाण शब्दान्त (द्विगु)	,,	,, (विक०)	दिशाण्यम्
55.	ष० ब्रह्मवर्चस् शब्द	निमित्तीभूत संयोग व रोग	,,	ब्रह्म-वर्चस्यम्
56.	ष० गो, संख्या, परिमाण एवं अश्वा दिभिन्न द्विस्वर	,,	,,	गव्यः यशस्यः
57.	ष० पुत्र	,,	,, (,,)	पुत्र्य
58	प्र० भाग शब्द	वृद्धि, आय, लाभ शुल्क व उत्कोच देने का प्रयोजक	,,	भाग्यम्
59.	द्वि० शीर्षच्छेद, पात्र कडंकर, दक्षिणा व स्थालीबिल	अर्ह	,,	शीर्षच्छेद्यम् कडङ्कर्यम्
60.	द्वि० दण्डादिगण	,,	,,	दण्ड्यः
61.	द्वि० मास शब्द	व्यतीत (अवस्था)	,,	मास्यः
62.	तृ० हस्त शब्द	देय कार्य	,,	हस्त्यम्
63.	तृ० कर्मन् व वेष शब्द	सम्पादित	,,	कर्मण्यम्
64.	च० योग शब्द	समर्थ	,,	योग्यः
65.	प्र० काल शब्द	प्राप्त सम्बन्धी	,,	काल्यम्
66.	ष० स्तेन शब्द	भाव व कर्म	,,	स्तेयम्
67.	ष० यव, यवक व षष्टिक	खेत	,,	यव्यम्
68.	ष० तिल, माष, उमा, भंग व अणु	,,	,, (,,)	तिल्यम्

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
69.	द्वि० अध्वन् एवं अभ्यमित्र	अलंगामी[1]	यत् (विक०)	अध्वन्यः
70.	ष० चतुर् (आदिवर्ण-लोप)	पूरण	,, (,,)	तुर्य
71.	ष० पाण्डु	अपत्य व राजा	ड्यण्	पाण्ड्यः
72.	प्र० सोमः	देवतावाला	ट्यण्	सौम्यम्
73.	तृ० वामदेव	दृष्ट साम	ड्य (,,)	वामदेव्यम्
74.	तृ० वामदेव	,, ,,	ड्यत् (,,)	वामदेव्यम्
75.	ष० वर्णवाची व दृढा-दिगण	भाव	ष्यञ् (,,)	शौक्ल्यम्
76.	ष० गुणवाची ब्राह्मणा-दिगण	कर्म व भाव	,,	जाड्यम्
77.	ष० सहाय शब्द	भाव व कर्म	,, (,,)	साहाय्यम्
78.	प्र० षण्मास शब्द	जिसका बीता हो	ण्यत् (,,)	षाण्मास्यः
79.	ष० पतिशब्दान्त एवं पुरोहितादिगण	भाव व कर्म	यक्	सैनापत्यम्
80.	प्र० कूचवार शब्द	अभिजन वाला	,,	कौचवार्यः
81.	ष० पाशादिगण, खल, गो, रथ	समूह	य	पाश्या
82.	सवि० बलादिगण	चातुरर्थिक	,,	बल्यम
83.	सवि० ग्राम शब्द	जातादि शेषार्थ	,,	ग्राम्यः
84.	ष० सखि, दूत व वणिज्	भाव एवं कर्म	,,	सख्यम
85.	स० सभा व सोदर (क्रमशः)	साधु व शयित	,,	सभ्यः, सोदर्यः
86.	प्र० मास शब्दान्त (द्विगु)	भूत अवस्थावाला	यप्	द्विमास्यः

१—क्रमशः द्रष्टव्य-पा० सू ५।२।१६, १७; वार्तिक ३१५८, २६७१; पा० सू० ४।२।३०, ६; ५-१-१२३, १२४; वार्तिक ३०६४; पा० सू० ५।१।८३, ८४, १२८; ४।३।६४; ५।२।१२०; वार्तिक ३२१०, पा० सू० ५।२।१३८

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
87.	प्र० षण्मास	भूत अवस्थावाला	यप् (विक०)	षण्मास्यः
88.	प्र० रूप शब्द	अभिनव रूपवाला	,,	रूप्यः
89.	प्र० हिम शब्द (अधिक-या प्रशस्त)	हिमवाला	यप्	हिम्याः पर्वताः
90	प्र० कम् व शम् शब्द	मत्वर्थ सम्बन्धी	यत् (विक०)	कँय्यः, शँय्यः
८८	प्र० कम् व शम्[1]	,,	युस् ('')	कँय्युः शँय्युः
	प्र० ऊर्णा, अहम् व शुभम्	,,	,,	ऊर्णायुः, अहंयु
८९. 1.	ष० अग्नीध्	शरण (स्थान)	रण्[2]	आग्नीध्रः
2.	सवि० अश्मादिगण	चातुर्थिक	र	अश्मरः
3.	प्र० ऊष, सुषि, मुष्क, मधु, ख व मुख शब्द	मत्वर्थ सम्बन्धी	,,	ऊषरः खरः, मुखरः
4.	प्र० कुंज, नग, पांसु, पाण्डु, कच्छु व तमस् शब्द	,, ,,	,,	तमिस्रा, नगरम् कुञ्जरः
९०.	पं० हेतुसूचक व मनुष्यवाची	आगत[3]	रूप्य (विक०)	समरूप्यम्

९१. ल—इसमें ष्, ञ् एवं च् अनुबन्धों का प्रयोग होता है।[4]

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	ष० शमी शब्द	अवयव व विकार	ष्लञ्	शामीली
2.	प्र० क्लिन्न शब्द (चिल्, पिल् व चुल् भाव)	नेत्रवाला	ल	चिल्लः पिल्ल चुल्लः

१—पा० सू० ५।२।१३८, १२३ व १४०

२—वार्तिक २९११; पा० सू० ४।२।८०; ५।२।१०७, ११४

३—पा० सू० ४।३।८१

४—पा० सू० ४।३।१४२; वार्तिक ३१२२, ३१२३; पा० सू० ५।२।९६ से ९९

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
3. प्र० प्राणी के अंगवाची आकारान्त	मत्वर्थ सम्बन्धी	लच् (विक०)	चूडालः
4. प्र० सिध्मादिगण व फेन शब्द	,, ,,	,, (,,)	सिध्मलः
5. प्र० वत्स एवं अंश शब्द	दयालु व पुष्ट	लच्	वत्सलः

९२. व—अनुबन्ध रहित यह प्रत्यय केवल मत्वर्थ को अभिहित करता है।[1]

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. प्र० केश, मणि व हिरण्य	मत्वर्थ	व (विक०)	केशवः
2. प्र० अर्णस्, कम्, शम्	,,	,, (,,)	अर्णवः कँव्वः
3. प्र० गाण्डि, गाण्डी व अजग	,, (संज्ञा)	,,	गाण्डीवम्

९३. वत्—इसमें इ, उ, एवं प् अनुबन्ध होते हैं।[2]

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. प्र० यत्, तत् व एतत् शब्द	परिमाण वाला	वतुप्	यावान्
2. प्र० किम् व इदम्	,, ,,	,,(यत्)	कियान्
3. प्र० संज्ञावाची शब्द	क्रियासादृश्य	वति	ब्राह्मण-वदधीते
4. स० ष० संज्ञावाची शब्द	सादृश्य विशिष्ट	,,	पाटलीपुत्रवत्
5. द्वि० विशेषण व भाव-वाची	अर्ह	,,	विधिवत्

९४. ष० द्रु शब्द	माप विशेष	वय[3]	द्रुवयम्

१—क्रमश द्रष्टव्य—पा० सू० ५।२।१०९; वार्तिक, ३२१०, ५०५३; पा० सू० ५।२।१३८, ११०

२—पा० सू० ५।२।३९, ४०; ५।१।११५ से ११७

३—पा० सू० ४।३।१

९५. वल—इसमें 'च्' एवं 'ड्' अनुबन्ध प्रयुक्त किये गये हैं ।[1]

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	प्र० नड व शाद शब्द	सम्बन्धी	ड्वलच्	नड्वलः
2.	प्र० शिखा व दन्त शब्द	सम्बन्धी (संज्ञा)	वलच्	दन्तावलः
3.	रजस्, कृषि आसुति, परिषद्, पर्षद्, भ्रातृ, पुत्र व शत्रु शब्द	मत्वर्थ ,,	वलच् ,,	रजस्वला शत्रुवलः(१४)
4.	प्र० ऊर्जस् शब्द	,,	,, (विक०)	ऊर्जस्वलः
९६.	ष० भौरिक्यादिगण	परिचित देश	विधल्[2]	भौरिकि-विधम् (१५)

९७. विन्—इस नान्त प्रत्यय में 'इ' अनुबन्ध मात्र उच्चारणार्थक है ।[3]

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	प्र० तपस्, उर्जस् व असन्त	मात्वर्थ	विनि (विक०)	तपस्वी
2.	प्र० माया, मेधा व स्रज्	,,	,, (,,)	मायावी
3.	प्र० आमय (दीर्घ आदेश)	,,	,,	आमयावी
९८.	ष० पितृ व भ्रातृ (क्रमशः)	भाई व शत्रु	व्य[4]	पितृव्यः, भ्रातृव्यः
९९.	प्र० लोमादिगण	मत्वर्थ	श (विक०)	लोमशः
१००.	वि० निपात	बृहत्	शंकटच्	विशंकटम् (१६)
१०१.	ष० धान्यवाची शब्द	खेत	शाकट	इक्षुशाकटम् (१७)

१—पा० सू० ४।२।८८, ८९; ५।२।११३, ११२, ११४

२—पा० सू० ४।२।५४

३—पा० सू० ५।२।१०२, ११४, १२१; वार्तिक ३२१३

४—क्रमशः द्रष्टव्य—४।२।३६; ४।१।१४५, १४४; ५।२।१००, २८; वार्तिक ३११९, पा० सू० ५।२।२८; वार्तिक ३११७

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
१०२. ष० धान्यवाची शब्द	खेत	शाकिन	इक्षुशाकिनम्
१०३. क्रियावान् 'वि' निपात	बृहत्	शालच्	विशालम्(१८)
१०४. ष० पशुवाची शब्द	छः का समूह	षड्गवच्	अश्वषड्गवम्(१६)
१०५. सवि० तृणादिगण	चातुरर्थिक	स[1]	तृणसम्
१०६. ष० अवि शब्द	दुग्ध	सोढ	अविसोढम्
१०७. सवि० पुंस् शब्द	प्रागदीव्यतीय आर्हीय	स्नञ्	पौंस्नः

तालिका में प्रदर्शित सभी एक सौ सात प्रत्यय सार्थक हैं। प्रकृति से सर्वथा भिन्न पदार्थ इनका वाच्यार्थ होता है। इनके अर्थ से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रकृति को स्वार्थ में परिपूर्ण अर्थात् विभक्त्यन्त-रूप में परिणत होना पड़ता है। प्रकृति और प्रत्यय के संयोग के अनन्तर जो परिनिष्ठित शब्दरूप निष्पन्न होता है उसमें प्रत्यय का अर्थ प्रधान रहता है और उसमें विशेषण होता है प्रकृत्यर्थ। वाक्य में प्रयोग करने के लिए उक्त सभी शब्द-रूपों में वाक्यार्थसम्बन्धाभि-व्यक्ति हेतु पुनः सुप् विभक्ति का संयोजन करना पड़ता है। अतएव उपर्युक्त तालिका के उदाहरण में परिनिष्ठित सुबन्त प्रथमान्तरूप को ही स्थान दिया गया है। जहाँ तद्धित प्रत्ययों के कारण स्त्रीलिंग में ङीप् (ई) प्रत्यय होता है, ऐसे प्रत्ययों का उदाहरण स्त्रीलिंग प्रथमान्त दिया गया है। विभक्तियों में प्रथमोपस्थित 'सु' है, अतः यहाँ सभी उदाहरणों में प्रथमा के एकवचन का ही प्रयोग हुआ है।

धातुत्वाधायि-प्रत्यय :—सम्प्रति ऐसे प्रत्ययों को चर्चित किया जा रहा है जिनके संयोग के अनन्तर प्रकृति और प्रत्यय समुदित शब्दरूप वाक्यप्रयोगार्ह होने के लिए तिङविभक्ति से संयुक्त होते हैं, क्योंकि इनमें प्रधान प्रत्ययार्थ साध्यावस्थापन्न क्रियारूप होता है। असत्त्वभूतो भावश्च तिङपदैरभिधीयते, अर्थात् अकारक का संकेत तिङ प्रत्यय करते हैं। अतः ऐसे प्रत्ययों को, विभक्त्यन्तपद से विहित होने पर भी तालिका द्वारा प्रस्तुत नहीं किया गया है। ऐसे प्रत्यय कुल तीन हैं—इ, य और काम्य। अब आगे इनका विवरण प्रस्तुत है।

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४।२।८०; वार्तिक २७१२; पा० सू० ४।१।७८

१. **शून्य-प्रत्यय :** इनके अतिरिक्त वैयाकरणों ने अर्थविज्ञान को दृष्टिगत करते हुए इन्हीं स्थितियों में अर्थात् कारक की सुप्त क्रिया को उद्भूत करने के लिए शून्यात्मक 'क्विप्' प्रत्यय की भी संकल्पना की है। इसमें 'प्' अनुबन्ध परिनिष्ठित शब्दरूप के पित्स्वर का सूचक है एवं 'क्' अनुबन्ध गुण व वृद्धि के निषेध और 'त्' आगम का बोधक है। इसमें इकार अनुवन्ध उच्चारण-सौकर्य की दृष्टि से प्रयुक्त हुआ है तथा 'व्' को अनुबन्धकोटि से पृथक् प्रत्ययरूप समझा जाता है। यद्यपि 'वेरपृक्तस्य' (पा० सू० ६।१।६७) सूत्र इस 'व्' के नित्यलोप का अनुशासन करता है तथापि इसके प्रत्यय होने से प्रकृति से पर प्रत्यय को 'वलादि' या 'वशादि' समझा जाता है, जिससे 'नेड्वशि-कृति' (पा० सू० ६।२।८) एवं 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) सूत्रों की प्रवृत्ति होती है। अतः इस प्रत्यय का विधान होने पर प्रकृति के अन्त में इडागम नहीं होता एवं य्-व् का लोप होता है। यथा—कण्डूयते इति 'कण्डूः' इत्यादि प्रयोगों में प्रकृत्यवयव कण्डूय् के 'य्' का वलादि प्रत्यय क्विप् पर में होने से ही लोप हुआ है।

धातुप्रकृति से विहित होने वाले 'कृत्' प्रत्ययों के अध्ययन-क्रम में भी शून्यात्मक क्विप् प्रत्यय की चर्चा की जायेगी, किन्तु यहाँ सुप्-विभक्त्यन्त प्रकृतियों की चर्चा आयी है। इन प्रकृतियों से भी यह प्रत्यय विकल्प से होता है। जैसा कि महर्षि कात्यायन ने कहा है…… 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः आचारे' (वार्तिक—१७२२)। यहाँ अवधेय है कि 'अतोगुणे' (पा० सू० ६।१।९७) सूत्र से पररूप के विधान के लिए वार्तिककार ने इसकी प्रकृति को प्रातिपदिक कहा है, परन्तु वस्तुतः इसकी प्रकृति उपमानवाची सुबन्त ही होती है। इसकी समस्त सुप्विभक्त्यन्त प्रकृतियाँ उपमानरूप में स्थित रहती हैं। क्विप् प्रत्यय होने पर उक्त प्रकृतियाँ प्रत्यय के संयोग से 'कर्तृ-वृत्ति स्वसदृश-आचरणक्रिया' अर्थ को प्रगट करती है। यथा—कृष्णइव आचरति इति 'कृष्णति' शीतति, गर्दभति इत्यादि इसके उदाहरण हैं। स्पष्ट है, इन रूपों में प्रत्ययांश प्रत्यक्षतः अर्थाविबोधन में सहायक नहीं है। इस प्रत्यय के संयोग से जो शब्द-रूप निर्मित होते हैं, वे धातुसंज्ञक होते हैं और उनसे धातुप्रक्रिया के अनुसार दसों लकारों में परस्मैप-दीयरूप निष्पन्न होते हैं। पद-प्रकृति से प्रत्ययों का वैकल्पिक विधान

होने के कारण इस प्रत्यय के अभाव में 'कृष्णइव आचरति' इत्यादि वाक्य का ही व्यवहार होता है। यहाँ पर अवगल्भ, क्लीब एवं होड इन तीन शब्दों के विषय में विशेषतया अवधेय है कि इन प्रकृतियों से इस प्रत्यय का संयोग होने पर लकारों के स्थान पर आत्मनेपद-संज्ञक तिङ प्रत्यय होते हैं, जिससे 'अवगल्भते' 'अवगल्भांचक्रे' इत्यादि रूप परिनिष्ठित माने गये हैं।[1] इन तीनों प्रकृतियों से भी यह प्रत्यय विकल्प से होता है। इसके अभाव में 'क्यङ' प्रत्यय विकल्प से होता है तथा उसके अभाव में विग्रह-वाक्य का ही प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार क्विप् प्रत्यय का बाधक क्यङ प्रत्यय है। यह बाधन उसके सर्वथा अप्रयोग को सूचित नहीं करता, अपितु उसको वैकल्पिक स्थिति को इंगित करता है। एवञ्च सभी प्रातिपदिकों की विशिष्ट क्रिया को प्रकट करने के लिए उनसे इस प्रत्यय का यादृच्छिक विधान होता है।

२. **इ—प्रत्यय :** इसमें ण्, ङ एवं च् अनुबन्धों का प्रयोग क्रमशः प्रकृति के वृद्धिभाव, आत्मनेपदप्रत्यय एवं स्वर का सूचक है। इसकी प्रकृति प्रातिपदिक और धातु दोनों ही होती है किन्तु यहाँ सुबन्त प्रातिपदिकप्रकृति की चर्चा की जायेगी। इसका अर्थ धात्वर्थ अर्थात् 'करना' एवं 'कहना' स्थित होता है। सामान्यतया सुप्विभक्त्यन्त-प्रकृतिमात्र से उक्त अर्थों में इसका प्रयोग पाया जाता है, यथा—सत्यापयति' पाशयति, पटयति इत्यादि। किन्तु कुछ प्रकृतियों से यह विशेष अर्थ को भी प्रगट करता है, यथा—[2]

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
पाश	मुंचन	णिच्	पाशयति
रूप	दर्शन	,,	रूपयति
तूल	स्वच्छ करना	,,	तूलयति

१—'वा ग्रहणात् क्यङपि············ तेन तङ', सिद्धान्तकौमुदी, नामधातु, सूत्र २६६५

२—द्रष्टव्य–सिद्धान्तकौमुदी, नामधातु, पृ० ४६१, मोतीलाल प्रका०, १९६५ ई०, तथा ग० सू० २०३, २०५, २०७; पा० सू० ३।१।१७, २१ एवं वार्तिक ५०६०, ५०६१, ५०६२

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
श्लोक	उपस्तवन	णिच्	श्लोकयति
सेना	आक्रमण करना	,,	सेनयति
लोमन्	सफाई	,,	लोमयति
त्वच् व वर्ण	ग्रहण	,,	त्वचयति
वर्मन्	ढकना	,,	वर्मयति
चूर्ण	अवध्वंसन	,,	चूर्णयति
अतिक्रमणसाधनीभूत	अतिक्रमण	,,	अश्वयति
आयुधवाची करणकारक	हनन	,,	असयति
हलि, कलि, कृत व तृस्त	ग्रहण	,,	हलयति
व्रत	आहारविशेष का त्याग	,,	व्रतयति
वस्त्र	आच्छादन	,,	वस्त्रयति

उपर्युक्त प्रकृतियों से णिच्-प्रत्यय के संयोग से जो शब्दरूप निर्मित होते हैं, उन्हें वैयाकरणों ने नामधातु कहा है और इससे कर्तृगामी क्रियाफल होने पर आत्मनेपद अन्यथा परस्मैपद के तिङ-प्रत्यय संयुक्त होकर इन रूपों को वाक्य-प्रयोगार्ह स्वरूप प्रदान करते हैं, यह एक सामान्य नियम है। परन्तु यहाँ ऐसी स्थिति नहीं हैं क्रियाफल-कर्तृगामी हो या परगामी, णिच् प्रत्यय से सम्बद्ध उक्त नामधातुरूप परस्मैपद में ही व्यवहृत होते हैं। इसके विपरीत 'ङ' अनुबन्ध वाले णिङ प्रत्यय के संयोग से जिन नामधातुरूपों की सर्जना होती है, वे नित्य आत्मनेपद में ही प्रयुक्त होते हैं, यथा—'हस्तयते, श्वेतयते' इत्यादि। यह णिङ प्रत्यय णिच् का सर्वथा बाधक है अर्थात् जिन प्रकृतियों से इसका विधान होता है उनसे णिच् प्रत्यय सर्वथा नहीं होता है तथा णिङ भी विकल्प से होता है, अतः इसके अभाव में विग्रह वाक्य का ही प्रयोग किया जाता है। इसकी प्रकृतियों एवं अर्थों को नीचे देखें।[1]

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	उदाहरण
द्वि० अंगवाची प्रातिपदिक	फेंकना	हस्तयते
तृ० श्वेताश्व व अश्वतर	अतिक्रमण या कथन	श्वेतयते, अश्वयते

१—क्रमः द्रष्टव्य—ग० सू० २०६, २१०, २११; पा० सू० ३।१।२० तथा वार्तिक १७४६, १७४४, १७४५

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	उदाहरण
गालोड	वाणी की विवेचना	गालोडयते
आह्वर	बनाना या कष्ट पहुँचाना	आह्वरयते
पुच्छ	उठाना	पुच्छयते
भाण्ड	इकठ्ठा करना	भाण्डयते
चीवर	,, या पहनना	चीवरयते

यहाँ सर्वत्र आत्मनेपद का प्रयोग होता है। इन नामधातु-रूपों से भी उपसर्गों के संयोग से विभिन्नार्थ की प्रतीति करायी जाती है। यथा—उत्पुच्छयते—पूँछ ऊपर उठाता है। विपुच्छयते—पूँछ इधर-उधर हिलाता है, परिपुच्छयते—पूँछ चारों तरफ हिलाता है इत्यादि। किंच इन शब्दों से अर्थ की व्यंजना बड़ी तीव्र होती है।

३. **य-प्रत्यय** : इसकी चर्चा सार्थक तद्धितप्रत्ययों की तालिका में भी आयी है। वहाँ प्रोक्त प्रकृतियों से इसके संयोग के उपरान्त वाक्य-प्रयोगार्हरूप बनाने के लिए पुनः अन्त में सुप्विभक्ति का संयोग करना पड़ता है। किन्तु यहाँ कतिपय ऐसी सुबन्तप्रकृतियों का उल्लेख किया जा रहा है, जिनके पर में इस प्रत्यय का संयोग होने के बाद वाक्य-प्रयोगार्हरूप निष्पन्न करने के लिए अन्त में तिङविभक्तियों का प्रयोग किया जाता है। इसी दृष्टि से इस प्रत्यय में ङ, ष् एवं च् अनुबन्धों का अनुबन्धन भी उपात्त है। ङ अनुबन्ध की स्थिति में जहाँ नित्य आत्मनेपदसंज्ञक तिङप्रत्यय प्रयुक्त होते हैं वहीं ष् अनुबन्ध से उभयपदीय तिङ के संप्रयोग का बोध कराया गया है, किन्तु प्रत्यय में च् अनुबन्ध रहने पर केवल परस्मैपद तिङ का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रकृत्यवयव में गुण व वृद्धि के निषेध आदि कार्यों की सूचना देने के लिए इसमें नित्य क् अनुबन्ध का आसंजन सभी वैयाकरणों से मान्य है। इसकी प्रकृति में भिन्न-भिन्न समर्थ विभक्तियाँ होती हैं, क्योंकि इसके अर्थ अनेक हैं। जिस अर्थ से सम्बन्ध करने के लिए जो विभक्ति उचित होती है उसी का प्रयोग प्रकृति से पर विग्रह-वाक्य में किया जाता है। अतः विभिन्न प्रकृतियों और

संबद्ध अर्थों को निर्दिष्ट करने के लिए संक्षेपार्थ नीचे एक तालिका दी जा रही है :[1]

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
प्र० उपमानवाची कर्तृकारक	आचरण	क्यङ् (विक०)	कृष्णायते, ओजायते
,, ,, अवगल्भ, क्लीब व होड	,,	,,	अवगल्भ्यते
,, ,, भृशादिगण (हल् लोप)	अभूततद्भाव	,,	भृशायते, सुमनायते
,, ,, श्यामादिगण	,,	,,	श्यामायते
च० कष्ट शब्द	उत्साह करना	,,	कष्टायते
वि० सत्र, कक्ष, कष्ट, कृच्छ्र व गहन	पापचिकीर्षा	,,	सत्रायते
द्वि० रोमन्थ	करना	,,	रोमन्थायते
द्वि० तपस् शब्द	,, (परस्मैपद)	,,	तपस्यति
,, वाष्प, ऊष्म व फेन	उद्वमन	,,	वाष्पायते
,, शब्द, बैर, कलह, अभ्र,	करना	,, (विक०)	शब्दायते
कण्व, मेघ, सुदिन, दुर्दिन	,,	,,	नीहारायते
व नीहार	,,	,,	मेघायते
,, सुखादि गण (कर्तृवृत्ति)	अनुभवन	,,	सुखायते
प्र० लोहित व डाच प्रत्ययान्त	अभूततद्भाव	क्यष्	लोहितायति–ते
द्वि० इच्छा का कर्म	इच्छा	क्यच्	पुत्रीयति

१—क्रमशः द्रष्टव्य–पा० सू० ३।१।११; वार्तिक १७२१; पा० सू० ३।१।१२, वार्तिक १७२६; पा० सू० ३।१।१४ से १८, १३, ८; ७।४।३४; ७।१।५१; वार्तिक ४६१६; पा० सू० ३।१।१०; वार्तिक १७१७; पा० सू० ३।१।१६

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
द्वि० अशन, उदक् व धन	भूख, प्यास व लोभ सूचिका इच्छा	क्यच्	आशनायति अशनीयति
द्वि० अश्व व वृष	मैथुनेच्छा	,,	अश्वस्यति
द्वि० प्रातिपदिकमात्र (स् आगम)	लालसापूर्वक इच्छा	,,	क्षीरस्यति
द्वि० उपमानभूत कर्म	आचरण	,,	पुत्रीयति छात्रम्
स० उपमानभूत अधिकरण	आचरण	,,	प्रासादीयति
द्वि० नमस्, वरिवस्, व चित्र	,, (पूजा, सेवा व आश्चर्यसूचक)	,,	नमस्यति देवान् वरिवस्यति

ऊपर के उदाहरणों से व्यक्त है कि क्यङ प्रत्यय होने पर जहाँ प्रकृति के अन्तिम 'अ' स्वर का दीर्घीभाव होता है वहीं क्यच् होने पर उसे 'ई' आदेश हो जाता है। एवमेव आर्धधातुक लकारों में प्रत्यय का सर्वथा लोप देखा जाता है। किन्तु प्रकृति के व्यंजनान्त होने पर यह लोप विकल्प से होता है। जैसा कि स्पष्ट है, यह प्रत्यय प्रकृतिमात्र से होता है, किन्तु मकारान्त किम्, इदम् इत्यादि प्रकृति एवं अव्यय प्रकृतियों से क्यच् प्रत्यय का प्रयोग नहीं देखा जाता।[1] इसके अतिरिक्त सकारान्त ओजस् तथा अप्सरस् के अन्तिम स्वर का नित्य लोप होता है, किन्तु दूसरी सकारान्त प्रकृतियों के अन्त्य 'स्' का लोप विकल्प से होता है। तालिका में यह भी व्यक्त कर दिया गया है कि इच्छार्थक क्यच् होने पर उत्कट इच्छारूप लालसा को व्यक्त करने के लिए स् का आगम हो जाया करता है। एवंच उक्त प्रक्रिया को ध्यान में रखकर इस प्रत्यय से अनेक रूपों की निष्पत्ति की जा सकती है।

४. काम्य प्रत्यय : इसमें केवल 'च्' अनुबन्ध प्रयुक्त होता है, जो परस्मैपद तिङ् के प्रयोग की एवं अन्तोदात्त स्वर की सूचना देता है। 'आत्मनः पुत्रम् इच्छति' इस वाक्य में इच्छा क्रिया का कर्म, जो उसके कर्ता से सम्बन्धित है, उस द्वितीयान्त कर्मकारक पुत्र इत्यादि प्राति-

१—'मान्तप्रकृतिकसुबन्तात् अव्ययाच्च क्यच् न'—वार्तिक १७१४

पदिक मात्र से इस प्रत्यय का प्रयोग विकल्प से देखा जाता है।[1] इसके अभाव में विग्रहवाक्य का व्यवहार होता है। पुत्रकाम्यति, छात्रकाम्यति इत्यादि इसके उदाहरण होते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता, अपितु एक लम्बे वाक्य को छोटे से रूप के द्वारा प्रकट करने की यह एक अनोखी विधि है। वस्तुतः इसे प्रत्यय का रूप मानना भी मात्र एक व्यवस्था का निर्वाह है, अन्यथा इसे पुत्र आदि प्रातिपदिक और काम्य धातु का समुदित प्रयोग कह सकते हैं।

उपसंहार : ऊपर 'क्विप्' को लेकर जिन चार प्रत्ययों की चर्चा की गयी है उन्हें 'नामधातु' प्रत्यय कहा जाता है, क्योंकि वे सुबन्त नाम को असत्त्वभूतक्रिया के वाचक धातुरूप में परिणत करते हैं। इस प्रकार नाम के धातु बन जाने पर व्याकरण की वे सारी प्रक्रियायें इनसे सम्पन्न होती हैं, जो धातुगण में पठित धातुओं से विहित हैं। नाम को धातु बनाने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है, चाहे वह नाम शुद्ध अव्युत्पन्न हो, तद्धितान्त अथवा कृदन्त हो। प्रतिबन्ध केवल वहीं हैं जिनका निर्देश इन प्रत्ययों के अध्ययनक्रम में किया गया है।

तिङन्त प्रत्यय :—यहीं पर हम और तीन प्रत्ययों की चर्चा आवश्यक समझते हैं, जिनकी प्रकृति तो सुबन्त नहीं है, किन्तु वे तिङ् व कृत् से सर्वथा भिन्न हैं और ऐसी धातु प्रकृति से विहित होते हैं, जो एक भाव को व्यक्त कर चुकी होती है। स्पष्ट है कि अपने भाव को व्यक्त करने के लिए धातु को तिङन्त होना आवश्यक है, अतः ये प्रत्यय तिङन्त प्रकृति से विहित होते हैं। अतएव इन्हें हम 'तिङन्त प्रत्यय' कह सकते हैं। प्रत्यय का संयोग होने के उपरान्त भी वह समुदाय धातु कहा जाता है और उससे पुनः लकारादि का विधान होता है। लकारों के स्थान पर अनुबन्ध के अनुसार आत्मनेपद अथवा परस्मैपद तिङ का प्रयोग करके वाक्य-प्रयोगार्हरूप निष्पन्न किये जाते हैं।

१—पा० सू० ३।१।९

१. इ-प्रत्यय :—धातुप्रकृति में वृद्धिभाव करने के लिए इसमें 'ण्' अनुबन्ध तथा परस्मैपद व आत्मनेपद विधानार्थ क्रमशः च् एवं ङ् अनुबन्धों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार णिच् व णिङ् इन दो रूपों में से इसका मुख्यरूप णिच् है। यह प्रत्यय धातुमात्र से प्रेरणा अर्थ में विहित होता है और प्रेरक के व्यापार को इंगित करता है।[1] यथा-'गच्छन्तम् प्रेरयति इतिर्गमयति' इत्यादि उदाहरणों में प्रेरित होने वाले कर्त्ता के व्यापार के वाचक धातु से यह प्रत्यय होता है। इसके संयोग के अनन्तर धातु का रूप 'गमि' इत्यादि हो जाता है। तदनन्तर तिङ् विभक्ति एवं विकरण के संयोग से परिनिष्ठित 'गमयति' इत्यादि रूपों की निष्पत्ति होती है। इस रूप से प्रेरित होने वाले गन्ता के व्यापार की प्रतीति गौणरूप से एवं प्रेरक (भेजने वाले) को प्रतीति प्रधानरूप से होती है। यदि प्रेरक के भी प्रेरक के व्यापार को प्रतीति करानी हो तो पुनः इस प्रत्यय का विधान होगा, किन्तु उसका लोप होकर परिनिष्ठित शब्दरूप 'गमयति' इत्यादि वही रहता है, जो प्रथम णिच् के विधान पर निष्पन्न होता है। लुङ् लकार में धातु के रूप को द्वित्व होकर 'अजीगमत्' 'अपीपिबत् इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। चुरादिगण में पठित धातुओं से यह प्रत्यय नित्य स्वार्थ में विहित होता है।[2] किन्तु व्याकरणिक प्रक्रिया समान होती है। जैसे 'चोरयति, कथयति, अचूचुरत्, अचीकथत्' इत्यादि उदाहरण हैं। इसके रूपों में कर्तृगामी क्रियाफल होने पर आत्मनेपद एवं परगामी क्रियाफल होने पर परस्मैपद का प्रयोग किया जाता है।[3] किन्तु इस स्वार्थिक प्रत्यय का एक स्वरूप 'णिङ्' भी है, जिसके होने पर नित्य आत्मनेपद का ही प्रयोग होता है। इसकी प्रकृति केवल 'कम्' धातु है, जिससे सार्वधातुक लकारों में यह नित्य एवं आर्धधातुक लकारों में विकल्प से होता है।[4] वहाँ किसी विशेष अर्थ को प्रगट नहीं करता, अपितु केवल रूप निष्पादन में सहायक होता है। यथा—'कामयते, कामयांचक्रे-चकमे' इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

---

१. "तत्प्रयोजको हेतुश्च" "हेतुमति च"—पा० सू० १-४-५५ : ३-१-२६
२. पा० सू० ३-१-२५, ३. पा० सू० ३-१-७४
४. पा० सू० ३-१-३०, ३१

२. य-प्रत्यय : इसका अध्ययन पहले भी किया जा चुका है, किन्तु यहाँ जिस रूप की चर्चा की जा रही है, वह सर्वथा अनधीत है। इसका मुख्यस्वरूप 'यङ्' है, जिसमें 'ङ्' अनुबन्ध वाक्यप्रयोगार्ह-रूप में आत्मनेपद की सूचना देता है। प्रकृत प्रसंग में इसकी प्रकृति एक स्वरवाली हलादि धातु है।[1] प्रकृतिभूत धातु के वाच्यार्थ क्रिया के समभिहार अर्थात् 'वारम्वारता' और 'आधिक्य' अर्थ को प्रगट करने के लिए इस प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। यथा—बोभूयते, बोभूयांचक्रे, बोभविता इत्यादि क्रियारूप इसके उदाहरण हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रत्ययसंयोग होने से धातु को द्वित्व एवं पूर्व रूप में गुणीभाव होते हैं। इसके अतिरिक्त आर्धधातुक लकारों में प्रत्यय का लोप हो जाता है। यदि सार्वधातुक और आर्धधातुक दोनों ही लकारों में इसका लोप कर दिया जाय तब धातु में द्वित्वादि कार्य तो अवश्य होंगे, किन्तु परिनिष्ठित रूप में परस्मैपद का ही प्रयोग होगा।[2] जैसे बोभवीति, पास्पर्धीति-पास्पर्धि इत्यादि इसके उदाहरण हैं। धातु के अभ्यास में गुणीभाव के अतिरिक्त अकारवान् धातु में दीर्घ, √चर् √फल् √जप्, √जभ् √दह् √दर्श् √भंज् √पस् √स्पश्[3] धातु के अभ्यास में अनुनासिक का आगम एवं ऋकारोपध धातुओं में रेफ, रि और री का आगम भी देखा जाता है। √भाम क्रोधे से भिन्न √यम् √रम् इत्यादि अनुनासिकान्त धातुओं के अनुनासिक का प्रभाव अभ्यास में भी श्रुत रहता है। इस प्रकार अटाट्यते, वरीवृत्यते, नर्नति, नरिनर्तीति, नरीनर्तीति, चंचूर्यते, जङ्गम्यते, वनीवच्यते, जेघ्नीयते इत्यादि इन आगमों के उदाहरण हैं। उदाहरण में 'नी' आगम की चर्चा की गयी है, जो √वंच √ध्वंस् √कस् √पत् √पट् √एवं √स्कन्न्

१—'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्'—पा० सू० ३।१।२२

२—'यङोऽचि च'—पा० सू० २।४।७४

३—'स्पशबाधनस्पर्शनयोः इत्यत्न माधवः'—उद्धृत, सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्व-बोधिनीटीका, यङ्प्रकरण

धातुओं में होता है। एवंच इस प्रत्यय के संसर्ग से परिनिष्ठित रूप बनाने में सहायक आगम मात्र का यहाँ निरूपण किया गया है। इसकी विशेष-प्रक्रिया तिङन्तरूपों के समान है।

इस प्रत्यय के जिस अर्थ की चर्चा ऊपर की गयी है, यह उससे भिन्न अर्थ को भी यत्र कुत्रचित् प्रकट करता है। यथा—गत्यर्थक धातुओं से इसका सम्बन्ध होने पर यह गति के टेढ़ेपन का बोध कराता है।[1] √लुप् √सद् √चर् √जप √जभ √उद् √दृश √दश एवं √गृ धातुओं से सम्बन्ध होने पर यह धात्वर्थ की गर्हा को सूचित करता है।[2] यथा—सासद्यते अर्थात् बुरी तरह काटता है इत्यादि। अवधेय है कि इस प्रत्यय का एक दूसरा 'यक्' रूप धातु प्रकृति से विकरण के रूप में व्यवहृत होता है। तथाहि—कण्वादिगण में पठित धातुओं से जहाँ सभी लकारों में इस विकरण का प्रयोग होता है, वहीं भाववाच्य, कर्मवाच्य एवं कर्म-कर्तृवाच्य क्रियारूपों में धातु से केवल सार्वधातुक लकारों में ही इसका प्रयोग होता है। कर्म-कर्तृवाच्य रूपों की धातुओं में इसके अपवादस्थल हैं। √दुह √स्नु √नम्, भूषार्थक किरादि, सन्नन्त, प्रेरणार्थक √ण्यन्त, √श्रि, √श्रन्थि √ग्रन्थि, अकर्मक √कुष एवं √रंज्। इन धातुओं से सार्वधातुक लकारों में भी विकरण के रूप में इसका प्रयोग नहीं होता है।[3]

३. **स-प्रत्यय :** इसका सानुबन्ध स्वरूप 'सन्' है। 'न्' अनुबन्ध आद्युदात्तस्वर का बोधक है। इसका प्रधान अर्थ है 'इच्छा'। यह इच्छा जिस कर्त्ता की जिस क्रिया को करने के लिए होगी, उसी क्रिया के वाचक धातु से उसी कर्त्ता के इच्छा व्यापार को यह प्रत्यय प्रगट करता है।[4] यथा—गन्तुमिच्छति, 'जिगमिषति' इत्यादि उदाहरणों

१—पा० सू० ३।१।२३ २—पा० सू० ३।१।२४

३—द्रष्टव्य—पा० सू० ३।१।८९, ९०; वार्तिक १८८०, १८८१, १८८२

४. 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'—पा० सू० ३।१।७

में कर्त्ता की इच्छा गमन विषयिणी है, अतः गम् धातु से उसके इच्छा व्यापार को व्यक्त करने के लिए इसका वैकल्पिक प्रयोग हुआ है। इसके अभाव में विग्रह वाक्य का ही व्यवहार होता है। उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट है कि इस प्रत्यय के जुड़ने से धातु को द्वित्व एवं उसके 'सेट्' होने पर 'इट्' आगम भी होता है। णिच्, यङ, यङ-लोप व स्वार्थिक सन् प्रत्ययान्त धातुओं से भी उक्तार्थ में इस प्रत्यय का विधान होता है, किन्तु इच्छार्थक सन् प्रत्यय होने के बाद पुनः उसी प्रकृति से इच्छार्थ सन् प्रत्यय का विधान नहीं होता है।[1]

उक्त इच्छा अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी इसका विधान देखा जाता है। तद्यथा—इच्छा की आशंका में इसका प्रयोग होता है।[2] यथा-'कूलं पिपतिषति' कूल गिरने की इच्छा करता है, ऐसी आशंका है अर्थात् गिरने की आशंका है, यह इसका अर्थ है। इतने बड़े अर्थ को यह अपने में समेटे हुए है, इससे इस प्रत्यय का अर्थ-गांभीर्य स्वतः प्रस्फुटित है। किंच ध्वनिमाधुर्य एवं रूपनिष्पत्ति-सौकर्य भी इस प्रत्यय की प्रसिद्धि में मूलकारण हैं। इसके प्रचलित अन्य अर्थों को नीचे देखा जा सकता है—

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	उदाहरण
1. गुप्	निन्दा	जुगुप्सते
2. तिज्	क्षमा (सहन करना)	तितिक्षते
3. कित्	चिकित्सा, पकड़ना, अपसारण, नाश व संशय	चिकित्सते
4. बध्	घृणा करना	बीभत्सते
5. दान्	ऋजुता	दीदांसते
6. शान्	तेज करना	शीशांसति
7. मान्	विचार	मीमांसते

१—शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः।
सरूपप्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥—वार्तिक २६२८

२—वार्तिक १७०७

तालिकान्तर्गत इन धातुओं से उक्तार्थ में सन् प्रत्यय होने के पश्चात् पुनः सन्नन्त रूप से इच्छार्थ में भी सन् प्रत्यय हो सकता है। उस स्थिति में जुगुप्सिषते इत्यादि रूप निष्पन्न होंगे। इनमें प्रथम सन् प्रत्यय तो उक्तार्थ में ही होगा। अतएव महर्षि पाणिनि ने एतदर्थ पृथक् सूत्रों का प्रणयन किया है।[1] उक्त सात रूपों में परस्मैपद एवं आत्मनेपद का प्रयोग क्रियाफल की परगामिता और कर्तृगामिता के आधार पर होता है।

प्रसंग-संगति :—यद्यपि धातुप्रकृतिक उक्त तीनों प्रत्ययों का यहाँ उल्लेख असंगत-सा जान पड़ता है, तथापि इनके सार्थक होने के कारण इनसे सम्बन्ध करने के लिए प्रकृति को समर्थ सुप् या तिङ विभक्ति से सम्बन्ध करना आवश्यक होता है। एवंच सुबन्त या तिङन्त प्रकृति से विहित होने के कारण इन्हें 'विभक्त्यन्त प्रत्यय' के स्तबक में प्रस्तुत किया गया है किन्तु परिनिष्ठित पदरूप की ही विभक्तियाँ गोचर होती हैं, प्रकृति की विभक्तियाँ लुप्त हो जाती हैं, यह एक दूसरी बात है।

तिङन्तान्त-तद्धित :—अब कतिपय ऐसे प्रत्ययों की चर्चा करेंगे जो स्तबक के नामकरण की उपपत्ति में आरम्भ में चर्चित हैं। वे तिङन्त प्रकृतियों से विहित होते हैं और विधान के अनन्तर भी प्रकृति की तिङविभक्ति श्रुत रहती है, अर्थात् उसका लोप नहीं होता। किन्तु परिनिष्ठित रूप के अन्त में नपुंसक लिंग प्रथमा एकवचन सुप् विभक्ति का ही प्रयोग होता है। इनकी कुल संख्या सात (७) है। इनके स्वरूप और अर्थ को नीचे तालिका में देखें।[2]

---

१. 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य'—पा० सू० ३।१।५; ६

२. क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।३।५६, ५७, ६६, ६७, व 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः'— पा० सू० ५।३।७१; 'तिङश्च इत्यनुवर्तते'—सिद्धान्तकौमुदी, प्रागिवीय सू० २०२६

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
१.	तिङन्त	क्रिया में अतिशय	तमप् (तमाम्)	पचतितमाम्
२.	,,	अपेक्षाकृत अतिशय	तरप् (तराम्)	पचतितराम्
३.	,,	क्रिया प्राशस्त्य	रूपप् (रूपम्)	पठतिरूपम्
४.	,,	क्रिया में किंचित् नैयून्य	कल्पप्(कल्पम्)	अध्येतिकल्पम्
५.	,,	,, ,,	देश्य (म्)	गच्छतिदेश्यम्
६.	,,	,, ,,	दशीयर्(देशीय)	लिखतिदेशीयः
७.	,,	अज्ञात, कुत्सित एवं अनुकम्पित क्रिया	अकच् (अक)	पचतकि

यद्यपि इन प्रत्ययों का अध्ययन स्वार्थिक तद्धित के क्रम में अग्रिम स्तबक में किया जायेगा, तथापि इनके प्रत्यक्षतः तिङ्विभक्त्यन्त होने से प्रकृत्यर्थ से भिन्नार्थ की प्रतीति न कराने पर भी इनका यहाँ निरूपण आवश्यक समझा गया। पूरे तद्धित-प्रत्ययों में कुल ये ही सात प्रत्यय हैं, जो तिङन्त प्रकृति से विहित होकर प्रकृत्यर्थ को विशेषित करते हैं।

तद्धितीय-पद्धतियाँ : विभक्त्यन्त-प्रकृति से जायमान प्रत्ययों के प्रतिपादक इस स्तबक को समाप्त करने से पूर्व तुलनात्मक दृष्टि से अन्य वैयाकरणों की पद्धतियों से परिचित होना आवश्यक समझकर उन्हें यहाँ रखा जा रहा है। तदनन्तर सिंहावलोकन-क्रम में कतिपय प्रत्ययों एव उनके शब्दरूपों पर भी समीक्षात्मक दृष्टि डाली जायेगी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विभक्त्यन्त प्रत्यय नाम से प्रकरण का विभाग करके वैयाकरणों ने इन प्रत्ययों का अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है, पुनरपि उनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकरणों अथवा अध्याय व पादों में ये प्रत्यय व्याख्यात हैं। चान्द्रव्याकरण एवं रूपावतार में आचार्य चन्द्रगोमी और धर्मकीर्ति ने प्रत्ययों के उसी सानुबन्ध-स्वरूप और क्रम को अंगीकार किया है जो भट्टोजिदीक्षित द्वारा सिद्धान्तकौमुदी में प्रतिपादित है। यह भी विदित है, भट्टोजिदीक्षित ने महर्षि पाणिनि व कात्यायन के प्रत्ययों को प्रायः उसी क्रम में

निरूपित किया है, जिस क्रम से वे अष्टाध्यायी में व्याख्यात हैं। यह बात दूसरी है कि उन्होंने चौथे व पाँचवें अध्यायों को पहले एवं तृतीय-अध्याय के प्रत्ययों को उत्तरार्ध में स्थान दिया है, किन्तु प्रत्यय-विधायक सूत्रों के क्रम को उन्होंने आगे-पीछे करने की आवश्यकता नहीं समझी है, अपितु केवल अतिदेश, आदेश तथा आगम विधायक सूत्रों को ही प्रायः छठे व सातवें अध्याय से लेकर प्रक्रिया की दृष्टि से तत्तत् स्थानों पर सन्निविष्टि किया है। आचार्य धर्मकीर्ति ने भी इसी क्रम को सरल समझते हुए इन सभी प्रत्ययों को पाणिनीयानुबन्ध के साथ ही सरल शब्दों में निरूपित किया है। इसके विपरीत आचार्य चन्द्र-गोमी ने पाणिनीय सभी प्रत्ययों को उन्हीं से निर्दिष्ट अनुबन्धों के साथ स्वीकृत करके यद्यपि उन्हीं उपाधि-विशेषों से उनका विधान किया है, पुनरपि उनका क्रम उक्त दोनों प्रक्रियाकारों से भिन्न और अपेक्षाकृत पाणिनीय है, जिससे हम चान्द्रव्याकरण के माध्यम से प्रकृति, प्रत्यय एवं तदर्थ को रूपीय प्रक्रिया से पृथक् रूप में पहचान सकते हैं। यह उसकी अपनी विशेषता है, उसमें उनके एक सूत्र से अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों की गतार्थता का आयास निहित है।

आचार्य हेमचन्द्र का दृष्टिकोण पाणिनीय से किंचित् पृथक् है। यह पार्थक्य कतिपय प्रत्ययों के स्वरूप और अनुबन्ध को लेकर है। क्योंकि उनके जैन-धर्मानुयायी होने से उनके लिए अर्थ के भेद-ज्ञान में सहायक उदात्तादि स्वरों के निरूपण की आवश्यकता नहीं रही है। यद्यपि यह दृष्टिकोण एक वैयाकरण के लिए संकुचित कहा जा सकता है, तथापि सरलता की दृष्टि से ग्राह्य भी है। यही कारण है, प्रकृति-प्रत्यय की विशाल राशि को वैज्ञानिकता के साथ प्रस्तुत करने के उपरान्त भी उनका व्याकरण 'सिद्धान्तकौमुदी' की भाँति सर्वजन-हिताय और सर्वजनग्राही नहीं हो सका। उन्होंने पाणिनि के ख, फ, छ, ठ, ढ, घ, यु एवं वु प्रत्ययों को सरलता की दृष्टि से क्रमशः ईन,

आयन, ईय, इक (क), एय, इय, अन एवं अक रूपों में रखा है ।[1] इन प्रत्ययों के संयोग से प्रकृति के आदिस्वर में जायमान वृद्धि को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इनमें 'ण्' अथवा 'ञ्' अनुबन्धों का अनुबन्धन भी किया है । स्त्रीलिंग में निष्पन्न रूपों से 'ई' प्रत्यय के विधान की सूचना देने के लिए जहाँ 'ट्' अनुबन्ध का प्रयोग किया है, वहीं प्रकृति के 'टि' अर्थात् अन्तिम स्वर अथवा अन्तिम स्वर के बाद कोई हल हो तो उसके भी लोप के लिए 'ड्' अनुबन्ध का सहारा लिया है । संख्यात्मक दृष्टि से इनके प्रत्ययों की संख्या पाणिनि के प्रत्ययों से अधिक है, क्योंकि महर्षि पाणिनि अनुबन्धभेद से जितने प्रत्यय अनुशिष्ट किये हैं, उन सभी को उन्होंने भी निरूपित किया है । इसके अतिरिक्त महर्षि पाणिनि ने सरलता की दृष्टि से जिन्हें आगम कोटि में रखा है, उन्हें भी उन्होंने प्रत्यय कोटि में गिनाया है । यथा—संख्यावाची शब्दों से ग्यारहवाँ, बारहवाँ इत्यादि 'पूरण' अर्थ की प्रतीति कराने के लिए महर्षि पाणिनि ने 'डट्' प्रत्यय की परिकल्पना की है । इसी प्रत्यय को संख्यावाची शब्द नान्त होने पर एवं पूर्व में संख्यावाचीशब्द न रहने पर मट् का आगम किया है । एवमेव 'डट्' के ही स्थान पर 'तमट्', 'तिथुक्' 'थुक्' एवं 'इथुक्' का आगम भी किया गया है । यह प्रवृत्ति संक्षेप करने की है, क्योंकि इसमें एक ही बार 'ट्' अनुबन्ध बता दिया गया और उसी के भिन्न-भिन्न आगम

---

१. 'कल्यग्नेरेयण्'—हैम० ६।१।१७ 'अग्नेर्ढक्'—पा० सू० ४।२।३३
'नडादिभ्यः आयनण्—हैम० ६।१।५३ 'नडादिभ्यः फक्—पा० सू० ४।१।६६
'रेवत्यादेरिकण्'—हैम० ६।१।८६ 'रेवत्यादिभ्यष्ठक्'—पा० सू० ४।१।१४६
'ईयः स्वसुश्च'—हैम० ६।१।८६ 'स्वसुश्छः—पा० सू० ४।१।१४३
'क्षत्रादियः'—हैम० ६।१।६३ 'क्षत्राद्घः'—पा० सू० ४।१।१३८
'कुलादीनः'—हैम० ६।१।६६ 'कुलात् खः'—पा० सू० ४।१।१३६
'णकतृचौ'—हैम० ५।१।४८ 'ण्वुल्तृचौ'—पा० सू० ३।१।१३३
'नन्द्यादिभ्योऽनः—हैम० ५।१।५२ 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' —पा० सू० ३।६।१३४

बताये गये हैं। इस आगमागमिभाव[1] निर्देश से यह सूचना प्राप्त हो जाती है कि उक्त आगमों के संयोग के अनन्तर जो शब्दरूप निष्पन्न होते हैं, वे स्त्रीलिंग में ईकारान्त होते हैं अर्थात् उनमें ङीप् प्रत्यय संयुक्त होता है। इसके विपरीत हैमशब्दानुशासन में इन आगमों के स्थान पर 'ट्' अनुबन्ध के साथ पृथक्-पृथक् उतने ही प्रत्यय कल्पित हैं।[2] यथा–'तिथुक्' आगम के स्थान पर 'तिथट्' को सीधे प्रत्यय के रूप में स्वीकार कर लेना सरलता की दृष्टि से तो कथञ्चित् ग्राह्य समझा जा सकता है, किन्तु इससे वे सारी सूचनायें प्राप्त नहीं होती हैं, जितनी 'क्' अनुबन्ध के साथ 'डट्' स्थानिक आगम होने से मिलती हैं। स्पष्ट है कि इससे हमें स्त्रीलिंग में 'ई' के प्रयोग के साथ-साथ 'कित् स्वर'[3] एवं प्रकृति के आदिस्वर की वृद्धि का अभाव, ये सारी सूचनायें प्राप्त हो जाती हैं, जबकि हेमचन्द्र की दौड़ केवल स्त्रीरूप 'ई' प्रत्यय तक ही सीमित है। यहाँ तालिका में उक्त पाँचों आगमों को यद्यपि प्रत्यय के रूप में दर्शाया गया है, किन्तु वहाँ उनके निरूपण का अनुक्रम पाणिनीय ही रखा गया है अर्थात् उन्हें 'अ' प्रत्यय के सन्दर्भ में रखा गया है। अतएव अन्य प्रत्ययों के सम्बन्ध में भी प्रायः पाणिनीय स्वरूप ही रखे गये हैं। यह बात दूसरी है कि सारल्यार्थ सबके निरनुबन्धरूप भी निर्दिष्ट हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने इन प्रत्ययों का नाम वही रखा है, जो पाणिनि-सम्मत है। किन्तु उन्होंने भट्टोजिदीक्षित के समान तद्धितों में 'रक्ताद्यर्थ' 'चातुरर्थिक' आदि प्रकरण विभाग नहीं किया है, पुनरपि सरूप व सामानार्थक प्रत्ययों को एक साथ निरूपित करने की उनकी प्रवृत्ति अवश्य ही सरल कही जा सकती है। अपिच पाणिनि के

१—'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते—परिभाषेन्दुशेखरः, प्रकरण १, परिभाषा १०

२—'संख्यापूरणे डट्' 'विशंत्यादेर्वा तमट्' 'नो मट्' 'पित्तिथट् बहुगणपूगसंघात्' 'अतोरिथट्' 'षट्कतिकतिपयात् थट्—हैम० ७।१।१५५, १५६, १५९, १६०, १६१, १६२

३—'कितः'—पा० सू० ६।१।१६५ अन्तः उदात्तः

समान उन्होंने भी त्रिविध तद्धित-प्रत्ययों को एक साथ रखा है। उनके प्रत्ययों की सूची पाठकों के समीक्षार्थ परिशिष्ट में रहेगी, क्योंकि उससे और अनेक दृष्टियाँ सम्भूत हो सकती हैं।

आचार्य अनुभूतिस्वरूप एवं शर्ववर्मा उपर्युक्त वैयाकरणों से भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। अन्य वैयाकरणों ने जहाँ भाषा के सर्वाङ्ग को सुस्पष्ट प्रकाशित करने के लिए विस्तार व जटिलता का भी आश्रय लिया है, वहीं इन दोनों आचार्यों ने अपने व्याकरण को कोमल मस्तिष्क छात्रों के लिए अतीव उपयोगी बनाया है। इन्होंने नाममात्र के प्रत्ययों से परमविशाल तद्धितार्थ को स्पष्ट करने की 'वामन-प्रतिज्ञा' की है। स्पष्ट है, प्राग्दीव्यतीयार्थ की जटिलता एक-दो प्रत्ययों से नहीं समझाई जा सकती है, जबकि सारस्वत व्याकरण में केवल छः प्रत्ययों से त्रिविध अपत्यार्थों को निरूपित किया गया है। इसमें 'अण्' एवं 'इ' को सामान्य प्रत्यय मानते हुए ढ, छ, एय एवं ण्य प्रत्यय को विशेषरूप से विहित किया गया है।[1] इन विशेष प्रत्ययों को महर्षि पाणिनि की परम्परा से भिन्न आयनण्, एयण् एवं अणीय रूप में रखा गया है। इससे स्पष्ट है, प्रकृति के आदिस्वर के वृद्धिभाव की सूचना मिल जाती है, परन्तु उदात्तादिस्वर असूचित ही रह जाते हैं। इससे यह भी सुस्पष्ट हो जाता है कि इन पर महर्षि पाणिनि के साथ-साथ हेमचन्द्र का भी प्रभाव है। इनके समय में आज की भाँति अपत्यार्थक प्रत्ययों से निष्पन्न रूप अवश्य कोशस्थ रहे होंगे। यही कारण है कि सारस्वतव्याकरण में उनका वितान नहीं तना है। इसके विपरीत अति-प्रचलित सार्थक एवं स्वार्थिक तद्धित प्रत्यय कुछ विस्तार व बड़ी सरलता से प्रस्तुत किये गये हैं, जो प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिए अतीव उपयोगी हैं। तद्धित प्रत्ययों की लगभग २५० की संख्या में से इन्होंने केवल ६० प्रचलित प्रत्ययों को ही निरूपित किया है। इन प्रत्ययों की प्रकृति और प्रत्ययार्थ में अन्तर न होने से इनकी पुनः प्रस्तुति पुनरुक्ति मात्र होगी। हाँ, पाठकों की तुलनात्मक दृष्टि के लिए अन्त में इनकी सूची का उल्लेख अवश्य किया जायेगा।

१—'अपत्येऽण्' अत इञन्टषेः बाह्वादेश्च' ण्यायनणेयणणीया गर्गनडात्रिस्त्री-पितृष्वस्रादेः—सार०, तद्धितप्रकरण १।५।६।७

आचार्य शर्ववर्मा ने तो मात्र १३ कारिकाओं से समस्त तद्धित प्रपंच को प्रतिपादिक करने का अद्भुत प्रयास किया है। अवश्य ही यह प्रणाली पुरातन एवं छात्रोपयोगी है, जिसमें गणित तक के जटिल नियम समझाये गये हैं। संक्षेप व सरलता की दृष्टि से इनकी जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम होगी। इसके द्वारा प्रचलित प्रत्ययों को छोड़ा नहीं गया है एवं जटिलता को स्थान दिया नहीं गया है।

ये कारिकायें निम्नांकित हैं और सारस्वत से तुलनीय हैं:

वाणपत्येण्यगर्गादिः कुंजादेरायनण् स्मृतः।
स्त्र्यत्यादेरेयण् इणतः बाहवादेश्च विधीयते ॥ १ ॥

रागान्नक्षत्रयोगाच्च समूहात् सास्य देवता।
तद् वेत्त्यधीते तस्येदमेवमादेरणिष्यते ॥ २ ॥

तेन दीव्यति संसृष्टं तरतीकण् चरत्यपि।
पण्याच्छिल्पान्नियोगाच्च क्रीतादेरायुधादपि ॥ ३ ॥

नावस्तार्यै विषाद् वध्ये तुलया संमितेऽपि च।
तत्र साधौ य ईयस्तु हिते यदुगवादितः ॥ ४ ॥

उपमानेवतिः तत्वौ भावे यण् च प्रकीर्तितः।
तदस्यास्तीति मन्त्वन्त्वीन् संख्यायाः पूरणे डमौ ॥ ५ ॥

द्वेस्तीयः त्रेस्तृ चान्तस्थो डेर्षोः कतिपयात् कतेः।
विंशत्यादेस्तमट् नित्यं शतादेः षष्ट्याद्यतत्परात् ॥ ६ ॥

विभक्तिसंज्ञा विज्ञेया वक्ष्यन्तेऽतः परं तु ये।
अद्व्यादेः सर्वनाम्नस्ते बहोश्चैव पराः स्मृताः ॥ ७ ॥

तत्रेदमिः रथोरेतेत् तेषु त्वेतदकारताम्।
पंचम्यास्तस् त्रसप्तम्याः इदमोहः किमोऽत्क्व च ॥ ८ ॥

तहोः कुः काले किं सर्वयदेकान्येभ्य एवदा।
इदमोर्ह्यधुनादानीं दादानीमौ तदः स्मृतौ ॥ ९ ॥

सद्य आद्यानिपात्यन्ते प्रकारवचने तु था।
इदं किभ्यां थमुः कार्यः आख्याताच्च तमादयः ।। १० ।।
समासान्तगतानाम् वा राजादीनामदन्तता।
डानुबन्धेऽन्त्यस्वरादेर्लोपः तेर्विंशतेरपि ।। ११ ।।
इवर्णावर्णयोर्लोपः स्वरे ये च नतु क्वचित्।
उवर्गस्त्वोत्वमापाद्यः एयेऽकद्र् वास्तु लुप्यते ।। १२ ।।
कार्याववावादेशावोकारौकारयोरपि ।
वृद्धिरादौसणे नय्वोः पदाद्योर्वृद्धिरागमः ।। १३ ।।

—कातन्त्रव्याकरण, अध्याय-२, पाद-६

उक्त कारिकाओं का अध्येता सहज ही यह अनुमान लगा सकता है कि अनुभूतिस्वरूप ने इन्हीं भावों को गद्य की पंक्तियों में रख दिया है। कारिका के ५० प्रत्ययों के अतिरिक्त उन्होंने अपने व्याकरण में १० प्रत्यय अधिक रखे हैं, यही उनकी निजी विशेषता है। किन्तु, जितनी स्पष्टता इन कारिकाओं में है, सम्भवतः वह सारस्वत व्याकरण में दुर्लभ है। कारिका में केवल सामान्य प्रत्यय ही बताये गये हैं। अन्त में बहुप्रचलित विभक्ति संज्ञक तद्धितीय प्रत्यय एवं सामान्य प्रक्रिया भी निर्दिष्ट है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि भाषा की जिस विशालता का सर्वाङ्गीण अध्ययन महर्षि पाणिनि ने प्रस्तुत किया है, वह अन्य व्याकरण ग्रन्थों के विद्यमान रहते हुए भी उतना ही उपयोगी व उपादेय हैं, जितना कि उनके अभाव में था क्योंकि हम देख चुके हैं, प्रत्ययों की लम्बी सूची होने पर भी आचार्य हेमचन्द्र उन सभी विशेषताओं को निरूपित कर सकने में सफल नहीं रहे हैं। इसके विपरीत अन्य वैयाकरणों का दृष्टिकोण तो सर्वथा संकुचित रहा है, जिसे हम बालोपयोगी सरलता का प्रदर्शन अथवा 'लोकाच्छेषस्य सिद्धिः' की दृष्टि मान सकते हैं।

नाम से प्रत्यय : एक दृष्टि : प्रत्ययों की इस विशाल रशि का निरूपण कर लेने के पश्चात् हम पाठकों का ध्यान कतिपय प्रत्ययों के स्वरूप पर केन्द्रित करना चाहते हैं। वस्तुतः वे प्रत्यय स्वतन्त्र नाम के रूप में प्रयुक्त होते आये हैं। उनके स्वरूप पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि सार्थक नामध्वनियों के विकास या विकार के फलस्वरूप अथवा अतिप्रसिद्धि के कारण ही उन ध्वनियों ने प्रत्ययस्वरूप को प्राप्त कर लिया है। वे प्रत्यय हैं :

(१) तन, (२) मह, (३) गोष्ठ, (४) तैल, (५) मात्र, (६) विध, (७) शाकट, (८) शाल एवं (९) शंकट। इनमें हम तन' को 'तनु' ध्वनि का विकास कह सकते हैं, जिसका अर्थ 'शरीर तो छूट गया, किन्तु 'सम्बन्ध-सामान्य' बच गया। फलस्वरूप यह 'अद्यतन' 'श्वस्तन' इत्यादि शब्दों में काल के सम्वन्ध का बोध कराता है अर्थात् विशेष सम्बन्धी को छोड़कर सामान्य सम्बन्धी का बोधक हो गया। फलतः अर्थ-विस्तार के साथ इसका स्वरूप-विस्तार भी हो गया है।

'वि' निपात से विहित होने वाले 'शंकट' और 'शाल' प्रत्यय भी पूर्ववत् संकट और शाला शब्द के रूप में स्वतन्त्र रहे होंगे, किन्तु अर्थसाम्य के कारण 'वि' के साथ प्रत्यय के रूप में इनका प्रयोग भाषा का त्रिकास कहा जा सकता है। शाला चूँकि लम्बे एवं बड़े घर का वाचक है। अतः यह शब्द अपने विशेष्यभूत 'घर' अर्थ का परित्याग कर वि के साथ 'बृहत्' अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। समास होने पर इस शब्द के अन्तिम दीर्घस्वर का ह्रस्व हो जाता है।[1] यह परिवर्तन भी इसके प्रत्यय स्वरूप में सहायक कहा जा सकता है। इसी प्रकार विघ्न या कष्ट अर्थ का वाचक संकट या शकट शब्द प्रसिद्ध है। यहाँ यह सकट शब्द विनष्ट अर्थ के सूचक 'वि' के साथ मिलकर संकट का विनाश होने से 'विशाल अर्थ में परिवर्तित हो गया है। यह निश्चित है कि प्रतिबन्ध के अभाव में कोई भी वस्तु विशाल हो सकती है, इसी अर्थसाम्य के आधार पर यहाँ अर्थादेश माना जा सकता है।

१—विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्—पा० सू० २।४।२५

बहुत पहिले और आज भी शकट (बैलगाड़ी) के द्वारा खेतों से अन्न आदि फसल को लाया जाता है। यदि वह अन्न विपुल मात्रा में है तब तो लाने के लिए शकट की आवश्यकता होती है, अन्यथा उसका गट्ठर या बोझा बनाकर स्वयं लाया जाता है। इस प्रकार शकट से खेत में पर्याप्त उपज की सूचना मिलती है। संभवतः इसी सूचना के कारण इसका तद्धितीयरूप 'शाकट' प्रत्यय के रूप में विकसित होकर पर्याप्त उपज वाले खेत का बोधक हो गया तथा खेत में उपजने वाले सभी प्रकार के अन्नवाची शब्दों के अन्त में जुड़कर उस अन्न की अधिक उपज को सूचित करता हुआ आधारभूत 'खेत' अर्थ का वाचक हो गया है। एवमेव 'महस्' शब्द तेज एवं महनीय अर्थ में, 'मात्र' शब्द केवल अर्थ में एवं विधा शब्द 'प्रकार' अर्थ में बहुप्रचलित हैं। किसी परिवर्तन के बिना भी ये प्रत्यय के रूप में परिकल्पित कर लिए गये हैं। अतः प्रत्ययरूप में मातामह, पितामह ऊरुमात्र, ह्रस्वमात्र, भौरिकिविधि इत्यादि उदाहरणों में प्रयुक्त होकर ये अपने नामिक अर्थ को ही प्रकट करते हैं।

सदा से पालतू पशुओं में आर्थिक व धार्मिक दृष्टि से गाय और बैल का प्रमुख स्थान रहा है। गाय और बैल इन दोनों अर्थों के लिए संस्कृत में एक 'गो' शब्द का व्यवहार होता है। इस पशु की प्रमुखता के कारण ही पशुमात्र के बाँधने या बैठने के स्थान को गोष्ठ कहा जाता है। इसी प्रकार पशुओं के झुण्ड को बताने के लिए भी संख्यावाचीशब्द के साथ गो का प्रयोग कालान्तर में होने लगा। गो शब्द के इस अर्थ-विस्तार का मुख्य कारण उसकी अतिप्रसिद्धि ही है। कालान्तर में तो यह गोगोष्ठ, अश्वगोष्ठ, अश्वषड्गव, उष्ट्रपंचगव इत्यादि शब्दों में प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त होकर पशुमात्र का संकेतक हो गया। ठीक यही स्थिति 'तैल' प्रत्यय की भी है। प्रारम्भ में यह तिल के तेल का बोधक रहा होगा, किन्तु कालान्तर में सरसो आदि के तेल अर्थ को भी व्यक्त करने लगा। इस अर्थ विस्तार के साथ-साथ इसका स्वरूप भी 'तेल' से 'तैल' रूप में विस्तृत हो गया। फलतः वैयाकरणों ने इस विस्तृत रूप को प्रत्यय की कोटि में स्थान दे दिया।

यहाँ केवल नव प्रत्ययों के स्वरूप पर सामान्य चर्चा की गयी है। इनके अतिरिक्त पीछे प्रस्तुत सार्थक तद्धितप्रत्यय तालिका में कतिपय उदाहरणों को संख्यांकित किया गया है। उनमें संयुक्त प्रत्ययों के स्वरूप भी इसी दृष्टि से विवेचनीय हैं। उक्त विवेचन में अनेक सम्भावनायें सम्भावित हैं। वस्तुतः इस दृष्टि से प्रत्ययों का एक स्वतन्त्र अध्ययन अपेक्षित है। इसी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए यहाँ यह संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

तीन प्रकृतियाँ : एक दृष्टि : ऊपर कतिपय प्रत्ययों के प्रत्ययत्व की उपपत्ति निरूपित की गयी है। अब हम तीन प्रकृतियों के विषय में एक दृष्टि देंगे, जिन्हें महर्षि पाणिनि ने आदेश माना है। इनमें पहली प्रकृति है 'नासिका इसके चिपटेपन को बताने के लिए 'चिक्' और 'चि' आदेश किया गया है तथा 'इन' और 'पिट' को प्रत्यय मानकर 'चिकिन' एवं 'चिपिट' शब्दों की निष्पत्ति की गयी है। चूँकि ये दोनों शब्द नासिका के ही चिकनेपन और चिपटेपन के बोधक हैं, अतः नासिका को मूल शब्द मानकर उसके स्थान पर इन दो आदेशों की परिकल्पना की गयी है, जबकि वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। चिक्कण और चिपिट शब्द आज वस्तुमात्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार श्रोत्रिय शब्द है। इसमें 'छन्दस्' को मूलप्रकृति तथा 'श्रोत्र' को उसका आदेश निरूपित किया गया है। इसमें मुख्य कारण वेदों को सुनकर कण्ठस्थ करने की परिपाटी रही है। यह आदेश उसी परम्परा को इंगित कर रहा है। एवमेव यवागू (हलुआ) अर्थ का वाचक 'उष्णिका' शब्द में 'अल्पान्न' को मूलप्रकृति और 'उष्ण' को आदेश स्वीकार किया गया है। इसमें मुख्य कारण यवागू के मुख्य दो भागों को सूचित करने की प्रवृत्ति ही कही जा सकती है। जहाँ यवागू की उष्णता ही प्रशस्त एवं रुचिकर मानी गयी है, वहीं उसमें अन्न की मात्रा भी घृतादि की अपेक्षा अल्प रहनी चाहिए। इसी प्रकार की 'उष्णिका' स्वादिष्ट मानी गयी गयी है। इसके विपरीत 'यवागू' में यव और गुड़ का संयोग व्यक्त हो रहा है। एवंच इस आदेश से हलुवे की उक्त दोनों स्थितियाँ सूचित हो रही हैं।

यहाँ अवधेय है कि किसी समृद्ध भाषा के प्रत्येक पद अपनी निजता एवं अपना इतिहास अपने में संजोये रखते हैं। अतः ऊपर के विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि यह वैशिष्ट्य केवल तीन प्रकृतियों में ही निहित है। किंच स्वयं पाणिनीय व्याकरण में इनके अतिरिक्त अन्य अनेक शब्दादेश हैं, जो विशेष विभक्तियों, लकारों या परिस्थितियों में एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द के प्रयोग का अनुशासन करते हैं। उन सबके पीछे कोई न कोई भाषावैज्ञानिक रहस्य विद्यमान है। अवश्य ही उनका इस दृष्टि से अध्ययन रोचक और ज्ञानवर्द्धक होगा। अतः यहाँ उसकी एक झलक मात्र प्रस्तुत की गयी है।

यह भी स्मरणीय है कि भाषा का प्रवाह सतत गतिशील होता है। अतः कुछ प्रत्ययों का शब्द हो जाना एवं कतिपय शब्दों का प्रत्यय बन जाना यह एक स्वाभाविक शब्द-धारा है। प्रकृतिप्रत्यय संयुक्त रूप भी व्याप्य-व्यापकभाव को प्राप्त करते रहते हैं। आज की संस्कृत एवं उससे विकसित आधुनिक भारतीय भाषाएँ उपर्युक्त प्रत्ययों में से कुछ को न्यूनाधिक रूप में अपनाती रहती हैं, जिससे उनका क्षेत्र अर्थात् उनकी प्रकृतियाँ व्यापक परिवेश में परिवर्तित होती रहती हैं।

उपसंहार :—विभक्त्यन्त प्रत्ययों के इस स्तबक में हमने उन सभी प्रत्ययों को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है, जो सुबन्त या तिङन्त पदों से विहित होते हैं। अतएव जहाँ स्वार्थिक एवं अत्यन्त-स्वार्थिक तद्धितप्रत्यय इस प्रकरण में छोड़ दिये गये हैं, वहीं धातु-विधायक सार्थक नामधातु आदि प्रत्यय गृहीत कर लिए गये हैं। इस स्तबक में प्रत्ययों को स्थान देने के सम्बन्ध में हमारी दृष्टि मुख्यरूप से प्रकृति की 'द्वैत-वृत्ति' पर रही है, अतः किसी अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ प्रकृति एवं उससे विहित प्रत्यय ही यहाँ व्याख्यात हुए हैं। प्रत्ययों का निरूपण यहाँ समास-शैली में हुआ है, अतएव संक्षेप में प्रस्फुटाभिव्यक्ति के लिए तालिका का सहारा लिया गया और उसमें वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी में निरूपित सभी पाणिनीय प्रकृति-प्रत्ययों को स्थान दिया गया है। इस प्रकार इस स्तबक में प्रत्ययों की एक

लम्बी तालिका को स्पष्ट करना हमारा प्रमुख लक्ष्य रहा है। एतदर्थ प्रकरण के प्रारम्भ में ही उन विषयों का विवेचन किया गया, जो उक्त तालिका में उपयोगी हैं। जैसे 'तालिका में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की सुस्पष्ट परिभाषा, उदाहरणों की निष्पत्ति के लिए प्रत्ययों के अनुबन्धों का प्रयोजन, प्रकृति के सामान्य ध्वनि-परिवर्तन एवं तालिका को देखने की विधि' इत्यादि विषयों का निरूपण हुआ है। प्रत्यय-तालिका के अनन्तर भाषाशास्त्रीय दृष्टि से प्रत्ययों के स्वरूप की समीक्षा की गयी, जिसमें पाणिनीयेतर पद्धतियों का भी मन्तव्य प्रस्तुत हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्त में पाठकों के विचारार्थ कतिपय नवीन बिन्दु भी उपस्थापित हैं। अब अग्रिम स्तबक में विभक्तिसंज्ञक, स्वार्थिक, अत्यन्तस्वार्थिक, समासान्त एवं स्त्रीप्रत्ययों का पर्यालोचन प्रस्तुत किया जायगा।

———

चतुर्थस्तबक : प्रातिपदिक प्रत्यय

प्रतिपाद्य प्रत्यय : प्रथम स्तबक में द्विविध शब्दप्रकृति का प्रतिपादन करते हुए प्रातिपदिक के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रातिपदिक को ही अन्य वैयाकरण 'नाम' शब्द से परिभाषित करते हैं। जैसे, 'सत्त्वाभिधायकं नाम'[1] इस उक्ति के अनुसार लिंग एवं संख्या से युक्त द्रव्य का वाचक नाम कहा जाता है। किन्तु प्रातिपदिक का क्षेत्र कहीं इससे व्यापक है। वह सत्त्वासत्त्व द्विविध पदार्थों का वाचक है। किंच 'पदं पदम् इति प्रतिपदम्, प्रतिपदि भवः प्रातिपदिकम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रातिपदिकत्व धर्म पदमात्र में व्याप्त होना चाहिए, किंतु यहाँ योगरूढि के द्वारा इसे सुबन्त पदों में ही अनुस्यूत माना गया है। यह विदित है कि असत्त्ववाची अव्यय एवं निपात भी सुबन्तपद कहे जाते हैं। एवंच ब्राह्मणकाल[2] से ही व्यवहृत यह एक सार्थक संज्ञा है। अतएव महर्षि पाणिनि ने इस 'महासंज्ञा' का व्यवहार किया है।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस स्तबक में प्रातिपदिक प्रकृति से विधीयमान प्रत्ययों का निरूपण किया जायेगा। इन प्रत्ययों को हम विभक्तिसंज्ञक, स्वार्थिक, अत्यन्तस्वार्थिक, समासान्त एवं स्त्रीप्रत्यय नामों से व्यवहृत करेंगे। उक्त पाँचों प्रकार के प्रत्यय प्रातिपदिक से ही विहित होते हैं, अतएव इन्हें एक ही स्तबक में स्थान दिया गया है। इनमें प्रारम्भ के चतुर्विध प्रत्ययों को तद्धित नाम से

१—दुर्गाचार्यवृत्तिः, निरुक्त १-९

२—'ओङ्कारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकम्'—गोपथब्राह्मण, पूर्वार्ध १-२४

भी जाना जाता है, जिसकी चर्चा पूर्वस्तबक में आयी है। समास के अन्त में उसके अवयव के रूप में विहित होने वाले प्रत्ययों को यद्यपि समासान्त नाम से जाना जाता है, तथापि प्रकृति के अन्तिम स्वर के लोप की विधि तद्धित के समान होने से इन्हें भी तद्धित के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। अर्थ की दृष्टि से यद्यपि ये अत्यन्त स्वार्थिक की कोटि में आते हैं, पुनरपि प्रकृति के स्वरूप की दृष्टि से इन्हें पृथक् समझा जाता है। एवंच इनके संयोग से व्याकरण की रूपीय प्रक्रिया तद्धित के समान ही होती है। स्त्रीप्रत्यय इनसे भिन्न हैं, क्योंकि उनके संयोग से आदिस्वर को दीर्घ इत्यादि प्रक्रियायें नहीं होती हैं, किन्तु प्रकृति के स्वरूप एवं अन्तिमस्वर-लोप को दृष्टि-गत करते हुए स्त्रीप्रत्यय को भी तद्धितों के साथ ही रखा गया है।

पूर्व में यह निर्दिष्ट है कि प्रत्यय जब प्रकृत्यर्थ से भिन्न अर्थ को प्रगट करता है, तब उससे सम्बन्ध करने के लिए प्रकृति को समर्थ-विभक्ति से युक्त होकर परिपूर्ण होने की आवश्यकता होती है, किन्तु जब वह प्रकृति के अर्थ में ही उत्कर्ष या अपकर्ष मात्र का आधान करता है, तब प्रकृति को विभक्ति से संयुक्त होने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि अभी वह परिपूर्ण ही नहीं हुई है, जब तक की प्रत्यय संयोग नहीं हो जाता। अतएव इन प्रत्ययों का विधान प्रातिपदिकावस्था में ही उचित है। अतएव अष्टाध्यायी में 'समर्थानां प्रथमाद्वा' (पा० सू० ४।१।८२) सूत्र का अधिकार इन प्रत्ययों के विधान से पूर्व ही समाप्त हो जाता है, किन्तु 'वा' पद का अधिकार इन प्रत्ययों के विधान में भी रहता है,[1] जिससे समासान्त और स्त्री-प्रत्यय से भिन्न इस स्तबक के प्रत्यय भी विकल्प से होते हैं। प्रयोक्ता इनका संयोग करके भी व्यवहार कर सकता है और इनके बिना भी।

१—'समर्थानाम्' इति 'प्रथमात्' इति च निवृत्तम्। 'वा' इति तु अनुवर्तत एव'—सिद्धान्तकौमुदी, प्राग्दिशीय, प्रकरणं, पृ० ८७६, चौखम्बा, वाराणसी, १९५६

नित्य प्रत्यय : यहाँ एक अवधेय तथ्य यह है कि इस स्तवक के प्रतिपाद्य समासान्त एवं स्त्रीप्रत्यय जिस प्रकार नित्य कहे गये हैं अर्थात् समास-विशेष के अन्त में समासान्त एवं स्त्रीलिंग-बोधनार्थ स्त्रीप्रत्यय का प्रयोग वक्ता की इच्छा पर आश्रित नहीं है, अपितु ये अपनी प्रकृति से अवश्य होते हैं, अन्यथा प्रकृति अभीष्टार्थ प्रतिपादन में अक्षम रहेगी, उसी प्रकार विभक्तिसंज्ञक, स्वार्थिक एवं अत्यन्त-स्वार्थिक प्रत्ययों में भी कतिपय भाष्यपरिगणित प्रत्यय अपनी प्रकृति से नित्य होते हैं। वे 'नित्य-प्रत्यय' निम्नलिखित हैं :

(१) तमप्-इष्ठन्, (२) तरप्-ईयसुन्, (३) रूपप् (प्रशंसार्थक), (४) कल्पप्-देश्य-देशीयर्, (५) जातीयर्, (६) अकच्, (७) कन् (संज्ञार्थक, अल्पार्थक व ह्रस्वार्थक), (८) ठच्-घन-इलच्, (९) अडच्-वुच्, (१०) र, (११) डुपच् (१२) ष्टरच्, (१३) डतरच्, (१४) डतमच्, (१५) ञ्य (पूगार्थक), (१६) ञ्यङ्, (१७) टेण्यण्, (१८) छ (दामन्यादि से विहित), (१९) अण् (पार्श्वादि से विहित), (२०) अञ् (पार्श्वादि से विहित), (२१) यञ् (अभिजिदादि से विहित), (२२) कन् (बृहती से विहित), (२३) (अषडक्षादि से विहित), (२४) छ (जात्यन्त से विहित), (२५) आमु, (२६) अमु, (२७) ठक् (अनुगादि से विहित), (२८) अञ् (णच् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिंग में विहित), (२९) अण् (इनुणन्त से विहित), (३०) कृत्वसुच्, (३१) सुच्, (३२) सकृत् एवं (३३) धा।[1]

इनके अतिरिक्त आचार्य कैयट ने अष्टध्यायी में ५।३।४७ से ५।३।५४ सूत्र तक विहित 'पाशप्' 'अन्, अच्, ञ, आकिनिच्, चरट् एवं रूप्य' इन सात प्रत्ययों को भी नित्य माना है, किन्तु बालमनोरमा-

---

१—'केचित् स्वार्थिकाः प्रत्यया नित्यमिष्यन्ते। तमबादयः प्राक्कनः, ञ्यादयः प्राग्वुनः, आमादयः प्राङ् मयटः। बृहतीजात्यान्ताः समासान्ताश्च, इति भाष्यम्'—सिद्धान्तकौमुदी, सू० २०७९

कार वासुदेव दीक्षित ने इसका खण्डन किया है।[1]

वस्तुस्तु जिनके अभाव में प्रकृति स्वार्थ-बोधन में असमर्थ हो, वे ही प्रत्यय नित्य होते हैं। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त सभी प्रत्ययों को नित्य नहीं कहा जा सकता, अपितु जो प्रत्यय संज्ञार्थक हैं अथवा केवल प्रकृत्यर्थक हैं, वे ही नित्य कहे जा सकते हैं। इस प्रकार के प्रत्यय क्रमांक 7, 11, 12 और 15 से 29 में निर्दिष्ट हैं। इनके अतिरिक्त कैयटोक्त प्रारम्भ के पाँच प्रत्यय, स्त्रीप्रत्यय तथा समासान्त प्रत्यय भी नित्य ही प्रयुक्त होते हैं। अतएव भट्टोजि दीक्षित ने सूत्र संख्या २०४८ की व्याख्या में 'महाविभाषया कः, यः, सः कहा है तथा वासुदेव दीक्षित ने २०७६ सूत्र में 'केचित्स्वार्थिकाः प्रत्ययाः नित्यामिष्यन्ते'। इस भट्टोजि दीक्षित की उक्ति की व्याख्या में कैयट का खण्डन किया और २०४८ सूत्र की व्याख्या में 'तमबादयः प्राग-वक्षेपणकनो नित्याः इति तु प्रायिकम्' यह कहा है।

शब्दप्रकृति से इन प्रत्ययों का संयोग होकर जो रूप निर्मित होता है, उसे वाक्यप्रयोगार्ह बनाने के लिए उससे सुप्विभक्ति का विधान होता है। यद्यपि कतिपय स्वार्थिक प्रत्यय तिङन्त पद से भी विहित होते हैं, किन्तु उनकी चर्चा यहाँ नहीं की जायेगी, क्योंकि उन्हें पूर्वस्तबक में निरूपित कर चुके हैं।

(१) विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय

प्रकृति से इन प्रत्ययों का संयोग होने पर जो रूप निष्पन्न होते हैं, यद्यपि वे अर्थबोधन में सर्वथा समर्थ होते हैं, तथापि 'अपदं न प्रयुंजीत' इस भाष्योक्त सिद्धान्त के अनुसार वैयाकरणों ने उस रूप से सुप्विभक्ति का विधान एवं उसके लोप की परिकल्पना की है। अन्त में विहित सुप् का लोप करने के लिए निष्पन्न रूप की अव्ययसंज्ञा की

१—'बहुवचननिर्देशात् पाशबादयोऽपि षष्ठ्याद्रूप्य च' इत्यन्ता गृह्यन्त इति कैयटः, वस्तुतस्तु परिगणिता एव नित्याः, न तु पाशबादयोऽपि—सिद्धान्त-कौमुदी, बालमनोरमा, सू० २०७६

जाती है ।[1] महर्षि पाणिनि ने भाषावैज्ञानिक एवं व्याकरणात्मक दोनों दृष्टियों से इन प्रत्ययों की विभक्तिसंज्ञा का विधान किया है ।[2] अनएव इन्हें 'विभक्तिसंज्ञक' प्रत्यय कहते हैं । इनके द्वारा निष्पन्न-रूपों से सुप् के आगम व उसके लोप की परिकल्पना केवल वैयाकरण के मस्तिष्क में उद्बुद्ध हो सकती है । सामान्य जन तो इन रूपों को निर्विभक्तिक अथवा इन रूपों के अन्तिम प्रत्ययांश को ही विभक्ति समझेगा, क्योंकि अर्थ की दृष्टि से भी ये प्रत्यय सुप् विभक्ति की ही कोटि में आते हैं । इनके अपादान, अधिकरण आदि वे ही अर्थ हैं, जो कि सुप् विभक्ति के होते हैं । इसके अतिरिक्त प्रक्रिया की दृष्टि से भी इन प्रत्ययों के अवयव तवर्ग, सकार और मकार का सुप् के समान ही लोप नहीं होता है । एवंच इन प्रत्ययों को विभक्ति मानने में कोई विसंगति या विप्रतिपत्ति दृष्टिगत नहीं होती । अतएव इनकी 'विभक्तिसंज्ञा' सर्वथा सार्थक है ।

इन प्रत्ययों की दूसरी विशेषता यह है कि ये सभी द्वि, युष्मद्, अस्मद् एवं भवत् से भिन्न सर्वादिगण पठित ३१ सर्वनाम शब्दों से विहित होते हैं । इनमें से कुछ सामान्य हैं अर्थात् द्वि आदि से भिन्न सभी सर्वनाम शब्दों से विहित होते हैं तथा कतिपय सर्वनाम विशेष से ही विहित होते हैं । सामान्य-विशेषात्मक इन प्रत्ययों की प्रकृति, स्वरूप, अर्थ एवं उदाहरण को नीचे सूची के द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है :

विभक्ति संज्ञक प्रत्यय-तालिका

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	द्वि, अस्मद्, युष्मद् व भवत् से भिन्न सर्वादिगण	पंचम्यर्थ अपादान	(तस्) तसिल्	कुतः, ततः सर्वतः
2.	,,	आदर या पूजा	,,	ततोभवान्

१—'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः'—पा० सू० १।१।३८; 'अव्यादाप्सुपः'—'पा० सू० २।४।८२

२—'प्राग्दिशो विभक्तिः'—पा० सू० ५।३।१

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
3.	परि एवं अभि (क्रमशः)	चारों ओर और दोनों ओर	(तस्) तसिल्	परितः, अभितः
4.	द्वि, युष्मद्, अस्मद् व भवत् से भिन्न सर्वादिगण	अधिकरण एवं पूजा	त्रल् (त्र)	यत्र, तत्र-भवान्
5.	किम्	अधिकरण	,, (विकल्प)	कुत्र
6.	द्वि, अस्मद्, युष्मद् एवं भवत्-भिन्न सर्वादिगण	प्रकार	(था) थाल्	यथा, तथा
7.	किम् (विकल्प)[1]	अधिकरण	अ	क्व
8.	इदम् (सर्वलोप)	,, काल	अधुना	अधुना
9.	पूर्वतर (पर आदेश)	अधिकरण वर्ष	आरि	परारि
10.	पूर्व (पर आदेश)	,,	उत्	परुत्
11.	पर	,, दिन	एद्यवि	परेद्यवि
12.	पूर्व, अन्य, अन्यतर, इतर, अपर, अधर, उभय व उत्तर	,, ,, ,, ,,	एद्युस्	पूर्वेद्युः अन्येद्युः
13.	इदम्, एतद् व किम्	प्रकार	थम्	इत्थम्, कथम्
14.	सर्व, एक, अन्य, यत्, तत् व किम्	अधिकरण काल	दा	सर्वदा, एकदा
15.	इदम् व तद्	,, ,,	दानीम्	इदानीम्, तदानीम्
16.	इदम् (अ आदेश)	,, दिन	द्य	अद्य
17.	समान (स आदेश)	तत्काल	द्यस्	सद्यः
18.	उभय	अधिकरण दिन	द्युस्	उभयद्युः
19.	इदम्, किम्, यत्, तत् व एतत्	,, काल	र्हिल्	एतर्हि, कर्हि
20.	इदम् (इ आदेश)	अधिकरण	ह	इह
21.	इदम् (ऐ आदेश)	,, वर्ष	समस्	ऐषमः

१—क्रमशः प्रारम्भ से द्रष्टव्य—पा० सू० ५।३।७, १४, ९, १०, १४, १२, २३, १२, १७, २२, २४, २५, १५, १९, १८, २२; वार्तिक ३२५१; पा० सू० ५।३।१६, २१, ११, २२; ५।४।११, २०; ५।३।४२, ४४, ४५

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
22.	किम् प्राह्णेतम, प्रगेतम, तिङन्त व अव्यय से तमप् के बाद	स्वार्थ ,,	आम् ,,	किन्तमाम्, पचतितमाम्
23.	समीपकालवाची बहु	बारंबारता	धा (विक०)	बहुधा
24.	संख्यावाची शब्द	प्रकार	,,	चतुर्धा
25.	एक, द्वि व त्रि	,,	,, (वा)	एकधा, द्विधा
26.	संख्यावाची शब्द[1]	द्रव्यविभाग	धा	पंचधा कुरु
27.	द्वि व त्रि (वा)	क्रियाप्रकार	एधा	द्वेधा, त्रेधा
28.	,, ,,	,, (विकल्प)	धमुञ् (धम्)	द्वैधम्, त्रैधम्
29.	एक	,, (,,)	ध्यमुञ् (ध्यम्)	ऐकध्यम्
30.	दक्षिण एवं उत्तर (वा)	अधिकरण व प्रथमान्तार्थ दूरस्थ दिग्, देश एवं काल	आहि	दक्षिणाहि, उत्तराहि
31.	पूर्व, अधर, अवर (पुर्, अध्, अव्)	अपादान, अधिकरण व प्रथमान्तार्थ दिग्, देश, काल	अस्तात्	पुरस्तात् अधस्तात्
32.	पर एवं अवर (वा)	,,	,,	परस्तात्
33.	ऊर्ध्व (उप आदेश)	,,	रिल् (वि०)	उपरि
34.	,, ,,	,,	रिष्टात् (,,)	उपरिष्टात्
35.	पूर्व, अधर, अवर (पुर्, अध्, अव्)	,,	अस्	पुरः, अधः
36.	दक्षिण एवं उत्तर	,,	अतस्	दक्षिणतः
37.	पर एवं अवर	,,	,, (वि०)	परतः, अवरतः
38.	प्रति योग में पंचम्यन्त	पंचमी विभक्त्यर्थ	तस्	कृष्णतः

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।३।४३, ४६, ४५, ४४, ३७, ३८, २७, २६, ३१, ३९, २८, २९; ५।४।४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९; ५।३।३२, ३४, ३६, ३८, ३५; ५।४।४२, ४३, १६, १८, १७, २०, ५० ५१, ५२।

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
39. √रुह्, √हा से असम्बद्ध पंचम्यन्त	अपादान	तस्	ग्रामतः आयाति
40. कर्तृ भिन्न तृतीयान्त	अतिक्रान्त, अव्यथन एवं निन्दायुक्त तृतीयार्थ	,, (वि०)	चारित्रतः
41. हीयमान व पाप से सम्बद्ध कर्तृ भिन्न तृतीयान्त	तृतीयार्थ	,, (वि०)	वृत्ततो हीयते
52. षष्ठ्यन्त शब्द	व्याश्रय (की ओर)	,, (वि०)	अर्जुनतः, कर्णतः
43. रोगवाचक शब्द	चिकित्सा	,, (वि०)	प्रवाहिकातः कुरु
44. अपर (पश्च)	अधिकरण, अपादान व प्रातिपदिकार्थ दिग्, देश, काल	आत्	पश्चात्
45. उत्तर, अधर व दक्षिण	,, ,,	,, (वि०)	उत्तरात्
46. दक्षिण एवं उत्तर	अधिकरण व प्राति-पदिकार्थ दूरस्थ दिग्, देश व काल	आच् (वि०)	दक्षिणा, उत्तरा
47. उत्तर, अधर एवं दक्षिण	,, ,, अदूरस्थ ,, ,,	एनप्	उत्तरेण
48. मतान्तर से दिशावाची सभी शब्द	,,	,,	पूर्वेण
49. बहुत एवं अल्पार्थक	कारक	शस् (वि०)	बहुशः अल्पशः
50. संख्या एवं परिमाणवाची	वीप्सा	,,	द्विशः, माषशः
51. एक (सर्वलोप)	क्रिया बारंबारता	सकृत्	सकृत् भुङ्क्ते
52. द्वि, त्रि व चतुर्	,,	सुच् (व्)	द्विः भुङ्क्ते
53. अवशिष्ट संख्यावाची	,,	कृत्वसुच्	पंचकृत्वः पठति
54. √कृ, √भू, व √अस् के योग में सम्पन्न क्रिया का कर्तृवाची	अभूतपूर्व की तद्रूपता	च्वि (०)	कृष्णीकरोति
55. अरुस्, मनस् चक्षुस्, चेतस्, रहस् रजस्	,, ,,	,,	अरुकरोति

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
56	√कृ √भू √अस् के प्रयोग में संपद्यमानवाची	अभूतपूर्व की तद्‌रूपता (सम्पूर्णता)	च्वि (वि०)	अग्नीभवति
57.	,, ,, ,,(विकल्प)	कुछ भागों में विकार	च्वि (०)[1]	अग्नीभवति शस्त्रम्
58.	,, ,, ,, ,,	सम्पूर्ण ,,	सात्	अग्निसाद्‌भवति
59.	,, एवं सम्पद्	कुछ ,, ,,	सात् (वि०)	जलसात् सम्पद्यते
60.	,,	अधीन	,,	राजसात् करोति
61.	,,	,, देय	,, (वि०)	विप्रसात् करोति
62.	,,	,, ,,	त्रा(,,)	विप्रत्रा सम्पद्यते
63.	,, देव, मनुष्य, पुरुष, पुर्, मर्त्य व बहु	द्वितीया व सप्तम्यर्थ	,,	देवत्रा वन्दे
64.	,, अव्यक्त ध्वन्यनुकरण अनेक स्वर	विभक्त्यर्थ	डाच् (आ)	पटपटाकरोति
65.	कृ के योग में द्वितीय, तृतीय, शम्ब व बीज	कर्षण (जोतना)	,,	द्वितीया करोति
66.	,, गुणान्त संख्यादि	,,	,,	द्विगुणा करोति
67.	,, समय	यापन	,,	समया करोति
68.	,, सपत्र व निष्पत्र	अतिवेध (प्रवेश)	,,	सपत्रा करोति
69.	,, निष्कुल	सवर्था रिक्त	,,	निष्कुला करोति
70.	,, सुख व प्रिय	द्वितीयार्थ (अनुकूलता)	,,	सुखा करोति
71.	,, दुःख	,, (प्रतिकूलता)	,,	दुःखा करोति
72.	,, शूल	पाक (पकाना)	,,	शूला करोति
73.	,, सत्य	निश्चय (क्रयण)	,,	सत्या करोति
74.	,, मद्र व भद्र	मांगलिक मुण्डन	,,	मद्राकरोति

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।४।५३, ५२, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८; ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६ व ६७

तालिका-क्रम :—इस प्रत्यय तालिका का क्रम वही है, जो पिछले स्तबक की तालिका में दिया गया है। कतिपय प्रत्ययों के कोष्ठक में या उसी प्रत्यय के प्रकृति अथवा अर्थवाले कोष्ठक में 'वि०, 'वा' 'या' 'विकल्प' लिखने का तात्पर्य निर्दिष्ट शब्द प्रकृति से उस प्रत्यय की विकल्प स्थिति का बोधन है। इस विकल्प से यह समझना चाहिए कि निर्दिष्ट प्रकृति से प्रदर्शित अर्थ में वह प्रत्यय तथा उससे भिन्न प्रत्यय भी विहित होते हैं। इस प्रकार एक ही प्रकृति से समान अर्थ में दो या उससे अधिक प्रत्यय भी सम्भव हैं। इस तालिका में प्रकृति से विग्रह-वाक्य में सम्बद्ध होने वाली समर्थ विभक्तियों का निर्देश नहीं किया गया है, क्योंकि प्रत्यय से सम्बन्ध करने के लिए प्रकृति को उसकी आवश्यकता नहीं होती। पुनरपि अर्थ—बोधक विग्रह-वाक्य में विभक्ति का निर्देश किया जाता है। जैसे—'अस्मिन् वर्षे इति ऐषमः, पूर्वस्मिन् वर्षे इति परुत्' इत्यादि, अन्यथा विग्रह का उद्देश्य 'अर्थबोधन' ही सम्भव न होगा।

जैसा कि कहा गया है, अनुबन्ध का लोप एवं ञ्, ण् और क् अनुबन्ध होने पर प्रकृति के आदिस्वर को वृद्धि आदि कार्य उक्त प्रत्ययों के विधान में भी होते हैं। प्रत्ययों को प्रायः व्याकरण-सम्मत अनुबन्धों से युक्त करके प्रदर्शित किया गया है। जहाँ अनुबन्धों से प्रत्यय-स्वरूप का पार्थक्य किंचित् कठिन है, वहाँ कोष्ठक मे प्रत्यय का अनुबन्ध-रहित स्वरूप भी दिखाया गया है। एवंच प्रक्रिया की दृष्टि से निष्प्रयोजन अनुबन्धों को यथासम्भव नहीं दिखाया गया है। रूपनिष्पादन की दृष्टि से यत्र-कुत्रचित् प्रकृति के कोष्ठक में उसके आदेशों को निर्दिष्ट कर दिया गया है। फिर भी एक-दो प्रत्ययों के सम्बन्ध में रूप-विधान की सरलता के लिए कुछ निर्देश आवश्यक हैं।

शस् और वीप्सा :—वीप्सा अर्थ में शस् प्रत्यय का विधान विहित है। व्याप्ति की इच्छा को वीप्सा कहते हैं अर्थात् उपस्थित समूह की सभी व्यक्तियों या अवयवों से सम्बन्ध करना वीप्सा कहा जायेगा। यथा 'द्विशः ददाति' का उपस्थित समूह की सभी व्यक्तियों

को दो-दो वस्तुएँ देता है, यह अर्थ है। वार्तिककार के अनुसार बहुत अर्थ के वाचक बहु, भूरि इत्यादि शब्दों से यह प्रत्यय तभी होगा, जबकि आभ्युदयिक कार्यों में बहुत देना हो अर्थात् अनिष्ट में बहुत दान होने पर इसका विधान नहीं होगा। एवमेव अल्पार्थक शब्दों से अमांगलिक कार्य की प्रतीति होने पर ही इस प्रत्यय की औचिती है।[1] इस प्रत्यय के विधान में आचार्य वामन[2] का मत है कि एकत्व-संख्या विशिष्ट शब्द परिमाणवाची हो अथवा जातिवाची, गुण और क्रिया का वाची क्यों न हो, एकत्वसंख्या से विशिष्ट होने पर उससे यह प्रत्यय अवश्य होगा। उनके अनुसार घटं-घटं ददातीति 'घटशः' ददाति, यह प्रयोग भी साधु है, जबकि भट्टोजि दीक्षित केवल परिमाण-वाची शब्दों से ही इसका विधान करते हैं। फलतः दीक्षित के अनुसार 'घटशः' प्रयोग असाधु है।[3]

च्वि : परिवर्तन : तालिका में प्रथमा व द्वितीया विभक्ति के अर्थ में 'च्वि' प्रत्यय का विधान दिखाया गया है। इसमें 'च्' अनुबन्ध स्वरार्थ, 'व्' अनुबन्ध प्रत्ययस्वरूप की शून्यता के बोधनार्थ एवं 'इ' अनुबन्ध उच्चारणार्थ प्रयुक्त हुए हैं। एवंच इसमें प्रत्यय का कुछ भी अंश नहीं बचता है, किन्तु उसके विधान से प्रकृति के अन्तिम स्वर में परिवर्तन होता है, जिससे प्रत्यय एवं तदर्थ की प्रतीति होती है। तथाहि—अकारान्त व आकारान्त प्रकृति का अन्तिम स्वर 'ई' स्वर में परिवर्तित हो जाता है। जैसे—'कृष्णी करोति, ब्रह्मीभवति, गङ्गीस्यात्' इत्यादि। यदि उक्त स्वर अव्यय शब्द के अवयव हों तो परिवर्तित नहीं होते हैं। जैसे—'दोषाभूतम् अहः, दिवाभूता रात्रिः' इत्यादि। यदि अन्त में अ या आ से भिन्न ह्रस्व स्वर हो तो वह अपने दीर्घ रूप में परिवर्तित हो जाता है। जैसे—'शुची भवति, पटू स्यात्, स्वस्ती स्यात्' इत्यादि। इसी प्रकार ऋ का विकास 'री' के रूप में होता है। जैसे—'मात्री

१—'बह्वल्पार्थान् मंगलामंगलवचनम्'—वार्तिक ३३३८

२—'वामनस्तु उक्तनियमे प्रमाणाभावात् जातिशब्देभ्योऽपि शस् भवत्येव'
—सिद्धान्तकौमुदी, बाल मनोरमा टीका, स्वार्थिकप्रकरण, सू० २११०

३—'संख्यैकवचनात् किम् ? घटंघटं ददाति'—वही

करोति, पित्रीस्यात्' इत्यादि। अरुस्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस् व रजस् शब्दों के अन्तिम वर्ण का लोप तथा पूर्ववर्ती अस्वर को ई एवं उ स्वर को दीर्घ होता है। इसके अतिरिक्त इन शब्दों में वि और उत् उपसर्गों का प्रयोग भी होता है। जैसे—'उन्मनी भवति, उच्चक्षू करोति' इत्यादि।

च्वि प्रत्यय के ही अर्थ में 'सात्' एवं 'त्रा' प्रत्यय भी होते हैं। यहाँ यह अवधेय है कि विकाररूप या भिन्नरूप को प्राप्त होने वाली प्रकृति को जब हम उस विकार शब्द अथवा भिन्नरूप के बोधक शब्द से निर्दिष्ट करेंगे, तब उस विकारवाचक अथवा भिन्नरूप के वाचक शब्द से इन प्रत्ययों का विधान होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्यय से अभूततद्भावरूप की भी सूचना मिलती है। यथा—अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते, तम् करोति इति कृष्णी करोति, अर्थात् जो वस्तु पहले काली नहीं थी उसे काला कर रहा है। एवंच यह प्रत्यय अभूतपूर्व रूप की तद्रूपता को इंगित करता है। यदि यह परिवर्तन सम्पूर्ण रूप से होता है तो उसे कात्स्न्र्य कहते हैं तथा यदि कुछ ही अंशों में परिवर्तित हुआ हो तब उसे अभिविधि कहेंगे। उक्त दोनों भावों को सूचित करने के लिए 'सात्' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग हिन्दी में भी पर्याप्त होता है जैसे—'भस्मसात् कर दिया' इत्यादि।

तालिका के प्रत्यय :—अवधेय है कि वैयाकरणों के अनुसार तालिका के क्रमांक 1 से 21 तक के प्रत्ययों की ही 'विभक्ति संज्ञा' होती है। किन्तु मैंने तदतिरिक्त प्रत्ययों को भी एक साथ तालिका में प्रस्तुत किया है। कारण यह है कि जैसे वे प्रत्यय सर्वनाम, संख्या एवं निपात शब्दों से विहित होते हैं और अलग-अलग भावों को इंगित करते हुए विभक्त्यर्थ में विश्रान्त हो जाते हैं, तद्वत् तदतिरिक्ति निर्दिष्ट प्रत्यय भी प्रायः संख्या एवं निपात शब्दों से विहित होते हैं तथा विभिन्न भावों को द्योतित करते हुए अन्त में विभक्ति के अर्थ को भी प्रकट करते हैं। अतएव इस तालिका के सभी प्रत्ययों के द्वारा निष्पन्न सभी शब्दों से पुनः विभक्ति के विधान की आवश्यकता नहीं रह जाती है। दूसरे शब्दों में उन सभी रूपों को अव्यय माना जाता

है और उनसे उत्पन्न सुप् विभक्ति का लोप कर दिया जाता है। एवंच रूपविज्ञान और अर्थविज्ञान की दृष्टि से तालिका में निर्दिष्ट सभी प्रत्ययों की समान स्थिति होने के कारण इन्हें एक ही कोटि में परिगणित करते हुए एक ही तालिका में एक साथ प्रस्तुत किया गया है।

(२) स्वार्थिक प्रत्यय

प्रकृति के अर्थ को पूर्णता प्रदान करने के लिए जिन प्रत्ययों का विधान होता है, उन्हें 'स्वार्थिक' कहते हैं। इन प्रत्ययों का कुछ भी अर्थ न होता हो, ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत ये प्रकृति के अर्थ में विस्तार या संकोच के आपादन में सहायक होते हैं। अतएव इन्हें 'अत्यन्तस्वार्थिक' प्रत्ययों से भिन्न मानकर निरूपित किया जा रहा है। एक दो अपवादों को छोड़कर शेष प्रत्यय प्रकृति से भिन्नार्थ की प्रतीति नहीं कराते। भिन्नार्थ की प्रतीति होने पर इनसे निष्पन्न शब्दरूप रूढ संज्ञाशब्द कहे जाते हैं। अन्यथा सभी शब्दरूप विशेषण होते हैं। ये प्रत्यय भी महाविभाषा के अधिकार में परिगणित हैं। फलतः इनका भी प्रयोग वैकल्पिक है। प्रयोक्ता चाहे तो इनका प्रयोग न कर विग्रह-वाक्य से भी इनके अर्थ की प्रतीति करा सकता है। संक्षेप, सरलता और स्पष्टता की दृष्टि से इन्हें भी नीचे तालिका में प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वार्थिक प्रत्यय–तालिका

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1. उपमानभूत शर्करादिगण	उपमेय[1]	अण्	शार्करम्
2. पर्शुआदिगण (संज्ञा)	आयुधजीविसंघ	,,	पार्शवः
3. विसारिन्	मत्स्य	,,	वैसारिणः

१—क्रमशः द्रष्टव्य–पा० सू० ५।३।१०७; ५।४।१६, ३६, ३७; ५।३।७३, ७६, ७७, ८५, ८६; ६३, ५०, ४६, ४८; ५।४।१, २; वार्तिक ३३१४; पा० सू० ५।३। ८०, ७८,७६

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
4.	ओषधि (संज्ञा)	दवा-विशेष	अण्	औषधम्
5.	कर्मन् (दूतवाक्य से)	क्रियमाण	,,	कार्मणम्
6.	अव्यय, सर्वनाम व तिङन्त	अज्ञात, अनुकम्पित, निन्दित, अल्प व ह्रस्व	अकच्	उच्चकैः, पचतकि
7.	,, (अनुकम्पायुक्त)	सामादि नीति	,,	एहकि
8.	किम्, यत् व तत्	निर्धारण	,,(वि०)	यकः, सकः
9.	षष्ठ व अष्टम्	भाग	ञ (,,)	षाष्ठः
10.	,, व ,,	,,	अन् (,,)	षष्ठः
11.	चतुर्थ से दशम तक के पूरण	,,	,,	चतुर्थः
12.	तीयान्त पूरण	,,	,,	द्वितीयः
13.	संख्यादि पद, मोदक, शतान्त	वीप्सा, दण्ड, दान	वुन्(अक)	द्विपदिकाम्
14.	उपपूर्वक मनुष्यनामवाची बहुस्वर	अनुकम्पा व नीति	वुच्(वि०)	उपकः
15.	,, ,, ,,	,, ,, (वि०)	अडच्	उपडः
16.	मनुष्यनामवाची बहुस्वर	,, ,, (,,)	ठच् (इक)	देविकः
17.	,, ,,	,, ,, (,,)	घन् (इय)	देवियः
18.	,, ,,	,, ,, (,,)	इलच्	देविलः
19.	एकशाला[1]	सदृश (वि०)	ठच् (इक)	एकशालिकः
20.	,,	,, (,,)	ठक् (,,)	ऐकशालिकः
21.	अंगुल्यादिगण	,,	,,	आंगुलिकः
22.	वाक्	संदेश	,,	वाचिकम्
23.	कर्क, लोहित व स्फटिक	सदृश	ईकक्	कार्कीकः
24.	किम्, यत्, तत् व एक	दो में निर्धारण	डतरच् (अतर)	कतरः, एकतरः
25.	किम्	बहुतों में ,,	,,	एषां कतरः

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।३।१०६, १०८; ५।४।३५; ५।३।११०, ६२, ६३, ६४, वार्तिक ३३२८; ३३२७; पा० सू० ५।४।८; ५।३।१०५, १०६; ५।४।६, १०; ५।३।१०१, १०२, १०३, १०४, ८६ ६१, ८८, ५७, ५५, ५६, ६७

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
26.	किम्, यत्, तत् व एक	बहुतों में निर्धारण	डतमच् (अतम)	एकतम:, कतम:
27.	एक	असहाय	आकिन्	एकाकी
28.	प्र	पुराना	न (वि०)	प्रणम्
29.	नू	नवीन	त्न (,,)	नूत्नम्
30.	प्र	प्राचीन	,, (,,)	प्रत्नम्
31.	नू	नवीन	तनप् (,,)	नूतनम्
32.	प्र	प्राचीन	,, (,,)	प्रतनम्
33.	प्र एवं प्राच्	,, (वि०)	ख (ईन्)	प्रीणम्, प्राचीनम्
34.	प्रतीच् व अर्वाच्	नवीन	,,	प्रतीचीनम्
35.	कुशाग्र	सदृश	छ (ईय)	कुशाग्रीय:
36.	सदृशार्थक प्रत्ययान्त समास	,,	,,	काकतालीय:
37.	जाति शब्दान्त	व्यक्ति	,,	ब्रह्मणजातीय:
38.	स्थानान्त	आकृति से तुल्य	,,	पितृस्थानीय:
39.	वस्ति	सदृश	ढञ् (एय)	वास्तेयम्
40.	शिला	,,	,, (वि०)	शैलेयम्
41.	,,	,, (वि०)	ढ (एय)	शिलेयम्
42.	शाखादिगण व द्रु	,,	य (वि०)	शाख्य:, द्रव्यम्
43.	कुतू (संज्ञा)	छोटा	डुपच् (उप)	कुतुप:
44.	कासू-गोणी, वत्स, उक्षन्, अश्व, ऋषभ	,, (संज्ञा)	ष्टरच् (तर)	कासूतरी वत्सतर:
45.	कुटी, शमी, शुण्डा	,, (,,)	र	कुटीर:
46.	विभाजक धर्मवाची (वि०)	दो में अधिक	ईयसुन् (ईयस्)	लघीयान्, पटीयसी
47.	,, (वि०)	,,	तरप्	लघुतर: कर्तृतर:
48.	,, (,,)	बहुतों में अधिक	इष्ठन्	लघिष्ठ:, करिष्ठ:

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
49.	विभाजकधर्मवाची (वि०)	बहुतों में अधिक	तमप्	आढ्यतमः
50.	सुबन्त (,,)	कुछ कम	कल्पप्	विद्वत्कल्पः
51.	,, (,,)	,, ,,[1]	देश्य	विद्वद्देश्यः
52.	,, (,,)	,, ,,	देशीय	विद्वद्देशीयः
53.	,, (,,)	,, ,,	बहुच्	बहुपटुः
54.	गुणवाची विशेषण	भूतपूर्व	चरट्	आढ्यचरः
55.	षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक	,, (वि०)	,,	कृष्णचरः
56.	प्रातिपदिक	प्रकारवान्	जातीयर्	पटुजातीयः
57.	प्रथमान्त प्रातिपदिक	निन्दित	पाशप्	भिषक्पाशः
58.	तिल (संज्ञा)	ओषधि विशेष	पिञ्ज	तिलपिञ्जः
59.	,, (,,)	,,	पेज	तिलपेजः
60.	देवतान्त, पाद व अर्घ	तादर्थ्य	यत्	पितृदेवत्यम्
61.	अतिथि	,,	ञ्य	आतिथ्यम्
62.	सुबन्त प्रातिपदिक	प्रशस्त	रूपप्	पटुरूपः
63.	षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक	भूतपूर्व (वि०)	रूप्य	कृष्णरूप्यः
64.	मृत् (वि०)	प्रशस्त	स	मृत्सा
65.	,, (,,)	,,	स्न	मृत्स्ना
66.	सुबन्त प्रातिपदिक	प्रचुर	मयट्	अन्नमयम्
67.	प्रातिपदिक मात्र	अज्ञात, निन्दित, अनुकम्पित, सान्त्वना, अल्प व ह्रस्व	क	वृक्षकः अश्वकः
68.	तूष्णी	शीलवाला	,,	तूष्णीकः
69.	षष्ठ (वि०)	भाग	कन्	षष्ठकः
70.	एक (,,)	असहाय	,,	एकक; एकः
71.	प्रातिपदिक (संज्ञा)	निन्दित	,,	शूद्रकः
72.	जातिवाची मनुष्यनाम	अनुकम्पा, सान्त्वना	,,	सिंहकः

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।३।६७, ६८, ५३, ५४, ६९, ४७; वार्तिक २७१३; पा० सू० ५।४।२४, २५, २६; ५।३।६६, ५४, ४०; ५।४।२१; ५।३।७३, ७४, ७६, ७७, ८५, ८६; वार्तिक ३२८६; पा० सू० ५।३।५१, ५२, ७५, ८१; ८७, ९५, ९६, ९७; ५।४।३; ग० सू० १३०; पा० सू० ५।४।४, ५, ६; ३०, ३१, ३२, ३३

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
73. अजिनान्त मनुष्यनाम	अनुकम्पा, सान्त्वना (अजिनलोप)	कन्	व्याघ्रक:
74. वंश व वेणु	ह्रस्व (संज्ञा)	,,	वंशक:
75. सुबन्त प्रातिपदिक	गर्व	,,	व्याकरणकेन गर्वित:
76. उपमानभूत शब्द	प्रतिकृति	,,	उष्ट्रक:
77. ,, ,, (संज्ञा)	सदृश	,,	अश्वक:
78. स्थूलादिगण, चञ्चत् बृहत्	प्रकारवान्, सदृश	,,	स्थूलक:, चंचत्क:
79. सुरा शब्द	सर्प	,,	सुरक:
80. बृहती व लोहित (क्रमश:)	आच्छादन व मणि	,,	बृहतिका
81. क्त प्रत्ययान्त शब्द	शेषावयव सम्बन्ध		छिन्नकम्
82. लोहित व काल	अनित्यता	,,	लोहितिका, कालकम्

ऊपरिनिर्दिष्ट प्रत्ययतालिका में स्वार्थिक प्रत्यय एवं उनकी प्रकृतियों को ही स्थान दिया गया है। जिन प्रकृतियों से प्रत्यय का विधान होने पर किसी विशेष अर्थ की अवगति नहीं होती, उन प्रकृतियों एवं प्रत्ययों को आगे की तालिका में प्रस्तुत किया जायेगा। महाविभाषा के अधिकार में पठित होने से ये प्रत्यय भी स्वैच्छिक हैं। किन्तु तालिका में जिस प्रत्यय को 'वि०' से दर्शाया गया है, उसके अतिरिक्त उस प्रकृति से उससे भिन्न-प्रत्यय के प्रयोग की भी सूचना मिलती है। इन प्रत्ययों के आदि या अन्त में 'ण्' ञ्, क्, ड्' इत्यादि अनुबन्ध लगाये गये हैं, उनसे प्रकृति में वृद्धि, लोप, आदि ध्वनि-परिवर्तन अवगन्तव्य हैं। संज्ञा शब्दों को प्रथक् कोष्ठक में दिखा दिया गया है। तदतिरिक्त शब्द या तो विशेषण हैं या फिर विशिष्ट प्रकृत्यर्थ के ही बोधक हैं। तालिका के चिह्नादि की तकनीक भी पूर्ववत् है, किन्तु इसके कतिपय प्रत्ययों की व्याकरणिक प्रक्रिया और अर्थविज्ञान को स्पष्ट करने के लिए कुछ निर्देश आगे प्रस्तुत हैं।

क और अकच् : अज्ञात, कुत्सित इत्यादि समान अर्थों में अकच् और क दोनों प्रत्यय निर्दिष्ट हैं और इनका श्रुति-गोचर रूप भी

समान है । इनमें भेद केवल प्रकृति और तद्गत स्थान का है । अव्यय, सर्वनाम एवं तिङन्त प्रकृतियों से 'अकच्' होता है तथा उनसे भिन्न प्रातिपदिक मात्र से 'क' का विधान जानना चाहिए, यह हुआ प्रकृतिगत भेद । अकच् प्रत्यय के स्थान के सम्बन्ध में महर्षि पाणिनि ने स्पष्ट किया है कि यह प्रत्यय 'टि' अर्थात् प्रकृति के अन्तिम स्वर से पूर्व संयुक्त होता है ।[1] यथा—पचति के अन्ति मइ से पूर्व इसका संयोग होने पर पचत्+अक्+इ='पचतकि' रूप निष्पन्न होता है । इसी तरह धित् से धकित्, एहि से एहकि रूप निष्पन्न होते हैं । किन्तु युष्मद् एवं अस्मद् शब्द में इसकी स्थिति कुछ विशेष रहती है । इसे वार्तिकार ने स्पष्ट किया[2] है । तदनुसार ओकार, सकार एवं भकारादि सुप् विभक्तियों की विवक्षा में युष्मद् और अस्मद् शब्द के अन्तिम स्वर से पूर्व तथा उनसे भिन्न विभक्तियों की विवक्षा में इन दोनों शब्दों के परिनिष्ठित सुबन्तरूप के अन्तिम स्वर के पूर्व में इसका विधान अनुशिष्ट है । इसके विपरीत इन्हीं अर्थों में विधीयमान 'क' प्रत्यय सर्वथा व सर्वत्र प्रकृतियों के अन्त में ही संयुक्त होता हैं । यही इन दोनों प्रत्ययों में स्थान भेद है ।

कन्-प्रत्यय : वैयाकरणों ने 'क' से भिन्न 'कन्' प्रत्यय का भी विधान किया है । यद्यपि इसमें भी प्रत्यय का स्वरूप पूर्ववत् 'क' ही अवशिष्ट रहता है, किन्तु इसकी प्रकृतियाँ एवं अर्थ उससे सर्वथा भिन्न हैं । कन् प्रत्यय जब प्रतिकृ (मूर्ति) अर्थ में विहित होता है तब कुछ प्रकृतियों से उसका लोप हो जाता है । तद्यथा वृत्तिग्रन्थ में पठित है :

अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च ।
इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु ।।[3]

अर्थात् देवप्रतिमावाचक गणपति, शिव, विष्णु आदि शब्दों से अथवा पूजार्थ निर्मित चित्र (फोटो) वाचक रावण, कुम्भकर्ण आदि

१—'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः'—पा० सू० ५।३।७३

२—'ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्, अन्यत्र तु सुबन्तस्य' —वार्तिक ३२४८

३—उद्धृत—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, स्वार्थिकप्रकरण, सूत्र २०५५

विशेष शब्दों से प्रतिकृति अर्थ में विहित 'कन्' प्रत्यय का लोप हो जाता है। एवमेव पताका में चित्रित कपि, चक्र, गरुड इत्यादि के वाचक शब्दों से एवं 'देवपथादिगण' में पठित शब्दों से भी इसका लोप हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य-संज्ञावाची 'चंचा' इत्यादि शब्दों से भी इसका लोप होता है। तिनके के समान कृश मनुष्य को अथवा रक्षा के लिए खेतों में घास-फूस या लकड़ी आदि से बनाकर खड़ी की गयी पुरुषाकृति को चञ्चा कहते हैं। एवंच पूजा की प्रतिकृतियों एवं संज्ञा में 'गणपतिः शिवः, विष्णुः चञ्चा' इत्यादि शब्द ही साधु हैं। किन्तु जो देवमूर्तियाँ या खिलौने बाजार में बेचने के लिए दुकान में रखी होती हैं, उन्हें तो 'रामकः, सीतकाम् हस्तिकः' इत्यादि शब्दों से अर्थात् कन् का संयोग करके ही व्यवहार किया जाता है।[1] क्त प्रत्ययान्त छिन्न-भिन्न इत्यादि शब्दों से किंचित् सम्बन्ध को सूचित करने के लिए भी कन् का प्रयोग किया जाता है। तद्यथा—वृक्ष से जो शाखा छिन्न होने पर भी वृक्ष से कुछ जुड़ी हो, उसे 'छिन्नका' शाखा से व्यवहार करेंगे। यहाँ यह अवधेय है, क्त-प्रत्ययान्त शब्द से पूर्व यदि अर्थ शब्द या उसके पर्यायवाची शब्द रहेंगे, तब उक्त सम्बन्ध को गम्य करने के लिए यह प्रत्यय नहीं होगा। फलतः किंचित् अवयवों के सम्बन्ध में ही इसकी प्रवृत्ति होती है।

मयट् : महर्षि पाणिनि के 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पा० सू० ५।४।२१) सूत्र में उपात्त 'वचन' शब्द को भावसाधन व अधिकरण साधन दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है।[2] एवंच मयट् प्रत्यय के अर्थ भी दो प्रकार के हो जाते हैं। भाव पक्ष में इसका वाच्य 'प्रचुर' अर्थ प्रकृत्यर्थ में विशेषण बन जाता है। इस अर्थ में निष्पन्न रूप संज्ञा कहलाते हैं। इसके विपरीत अधिकरण पक्ष में प्रकृत्यर्थ के प्राचुर्य से विशिष्ट भिन्न आश्रय अर्थ की प्रतीति होती है। फलतः इस अर्थ में निष्पन्न रूप विशेषण होते हैं। जैसे—'अन्नमयो यज्ञः, अपूपमयं पर्व,

१—'देवपथादिभ्यश्च' 'लुम्मनुष्ये' 'जीविकार्थे चापण्ये'—पा० सू० ५।३।१००, ९८, ९९

२—'भावेऽधिकणे वा ल्युट्'—सिद्धान्तकौमुदी, स्वार्थिकप्रकरण, सूत्र २०८२

ग्रन्थमयी शाला' इत्यादि इसके उदाहरण हैं। यहाँ यह भी अवधेय है, प्रचुरता वाली बहुत-सी वस्तुओं के होने पर प्रकृति से मयट् प्रत्यय के अतिरिक्त पूर्व स्तबक में निर्दिष्ट समूहार्थक प्रत्यय भी होते हैं। एवंच उक्त स्थिति में 'मोदकमयम्-मौदकिकम्, शष्कुलीमयम्-शाष्कुलिकम् पर्व' इस प्रकार वैकल्पिक रूप प्रयुक्त होते हैं।

व्यक्तिवाची नाम : लोकभाषा में बच्चों के नामों का उच्चारण प्यार से तदनुरूप छोटा करके अथवा कुछ प्रत्यय जोड़कर सरलीकृत रूप में किया जाता है। इस प्रवृत्ति का मूल संस्कृत में वुच्, अडच्, ल, इल् एवं घन् प्रत्ययों का अध्ययन करते समय प्राप्त होता है। यदि नाम के आगे 'उप' शब्द जुड़ा हो तब दया-भाव या सान्त्वना अर्थ को व्यक्त करने के लिए उससे वुच् (अक्) और अडच् प्रत्यय होते हैं तथा 'उप' शब्द के बाद 'इन्द्र' या 'दत्त' अथवा कोई भी शब्द हो तो उसका लोप हो जाता है। यदि पूर्व में उप शब्द के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द हो तथा उसके बाद एक या दो या उससे अधिक शब्द हों तो प्रथम शब्द ही अवशिष्ट रहता है, तदुत्तरवर्ति पद या पदों का लोप हो जाता है और अवशिष्टांश से ही घन् (इय), छ (ईय) अथवा इलच् प्रत्यय का संयोग कर व्यवहार किया जाता है। जैसे किसी बच्चे का नाम 'चन्द्रकान्तः' है। व्यवहार करते समय उक्त प्रत्ययों के योग से इसका रूप 'चन्द्रियः' 'चन्द्रिलः', 'चन्द्रीयः' इत्यादि हो जाता है। वहाँ शेष शब्द ही लुप्यमान का बोधक हुआ करता है। इसमें मनुष्य की कम वर्णों से अधिकार्थ प्रत्यायन की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। स्मरणीय है, ऐसे शब्दों का प्रयोग अपनी आयु व पद से छोटे व्यक्तियों के लिए अथवा बच्चों के लिए ही किया जाता है। उन्हीं के ऊपर अनुकम्पा की जाती है या उन्हें सान्त्वना दी जाती है अथवा प्यार जताया जाता है।

तारतम्य-बोधक-प्रत्यय : जहाँ विभाग करते समय दो में अथवा बहुतों में किसी एक की अधिकता बतायी जाती है वहाँ तरप्, तमप् एवं इन्हीं अर्थों में ईयसुन् व इष्ठन् प्रत्यय भी होते हैं। इनमें इतना भेद है कि जब विभाजक धर्म गुणवाची होता है तब उस प्रकृति से

इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं, अन्यथा तरप् और तमप् का ही प्रयोग किया जाता है। यथा—पाचक शब्द क्रियावाची है, अतः इससे पाचकतरः, पाचकतमः ये ही रूप निष्पन्न होते हैं। किन्तु धातु से तृन् या तृच् प्रत्यय के योग से जो क्रियावाची रूप निष्पन्न होते हैं, उनसे भी ईयसुन् और इष्ठन् का प्रयोग विहित है। वस्तुतः ये अपवाद और वैदिक प्रयोग हैं, जैसा कि महर्षि पाणिनि ने निर्दिष्ट किया है।[1] किन्तु इनका प्रयोग लोक में भी साधु है। ऐसे शब्दों के अन्तिम स्वर 'ऋ' का लोप हो जाता है। यथा—'कर्तृ-करिष्ठः, दोग्धृ-दोहीयसी' इत्यादि।

इष्ठन्, ईयसुन् इमनिच् एवं नामधातु-निष्पादक णिच् (इ) प्रत्ययों का विधान होने पर कतिपय प्रकृतियों में आदेशात्मक और भाषायी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ध्वनि-परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। रूप-निष्पादन की दृष्टि से उनका बड़ा महत्त्व है। जैसे—प्रशस्य शब्द को 'श्र' तथा प्रशस्य एवं वृद्ध शब्द को 'ज्य' आदेश होते हैं। फलतः श्रेष्ठः, ज्येष्ठः एवं ज्यायान्-ज्यायसी इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य परिवर्तनों को नीचे की तालिका में देखें[2]—

शब्द	परिवर्तन	उदाहरण	शब्द	परिवर्तन	उदाहरण
अन्तिक	नेद्	नेदिष्ठः	बाढ	साध्	साधिष्ठः
स्थूल	स्थव्	स्थविष्ठः	दूर	दव्	दविष्ठः
युवन्	यव्, कन्	यविष्ठः कनिष्ठः	ह्रस्व	ह्रस्	ह्रसिष्ठः
क्षिप्र	क्षेप्	क्षेपिष्ठः	क्षुद्र	क्षोद्	क्षोदिष्ठः
प्रिय	प्र	प्रेष्ठः	स्थिर	स्थ	स्थेष्ठः
स्फिर	स्फ	स्फेष्ठः	उरु	वर्	वरिष्ठः
बहुल	बंह्	बंहिष्ठः	गुरु	गर्	गरिष्ठः

१—'तुश्छन्दसि'—पा० सू० ५।३।५९, भट्टोजिदीक्षित के द्वारा लौकिक प्रक्रिया में इस सूत्र का निरूपण किये जाने से, इससे निष्पन्न रूपों की लौकिकता अनुमित होती है।

२—द्रष्टव्य—पा० सू० ५।३।६० से ६४; ६।४।१५६ से १५९, इत्यादि

शब्द	परिवर्तन	उदाहरण	शब्द	परिवर्तन	उदाहरण
वृद्ध	वर्ष	वर्षिष्ठः	तृप्	त्रप्	त्रपिष्ठः
दीर्घ	द्राघ्	द्राघिष्ठः	वृन्दारक	वृन्द्	वृन्दिष्ठः
बहु	भूय्	भूयिष्ठः	अल्प	अल्प्, कन्	अल्पिष्ठः, कनिष्ठः

इसमें देखा गया है कि अतिप्रचलित होने से प्रशस्य और वृद्ध शब्दों की भाँति युवन् एवं अल्प शब्द भी 'यव्' और 'कन्' दो रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त शब्द के अन्त में विन् या मतुप् प्रत्यय हो तो इष्ठन् आदि उक्त अजादि प्रत्ययों के विधान से उनका लोप हो जाता है। यथा—'स्रग्वी-स्रजिष्ठः, त्वग्वत्-त्वचिष्ठः, इत्यादि। अपनी उपयोगिता और नादीय मधुरिमा के कारण ये रूप अतिप्रसिद्ध हैं, अतः कुछ विस्तार के साथ इनका विवेचन यहाँ आवश्यक समझा गया।

बहुच् :—यह बात पूर्व में चर्चित है कि सभी प्रत्यय प्रकृति के अन्त में ही संयुक्त होते हैं। किन्तु बहुच् प्रत्यय का संयोग प्रकृति के पूर्व में होता है। इस प्रकार 'बहुविद्वान् बहुपटु' इत्यादि रूप बनते हैं। इसके समानान्तर वहु या बहु शब्द भी प्रचलित हैं, किन्तु जहाँ वे 'बहुत' अर्थ के वाचक हैं वहीं बहुच् किंचित् न्यून अर्थ की सूचना देता है। इसके अतिरिक्त दोनों के उदात्तादि स्वरों में भी भेद है। अतएव इसकी प्रत्यय के रूप में संकल्पना की गयी है।

(३) अत्यन्त-स्वार्थिक प्रत्यय

स्वार्थिक प्रत्ययों के निरूपण-क्रम में यह देखा गया है कि वे प्रकृत्यर्थ से भिन्न अर्थ का उपस्थापन नहीं करते, अपितु उसी में विशेषाधान करते हैं, किन्तु अत्यन्त-स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृत्यर्थ के किसी वैशिष्ट्य की भी सूचना नहीं देते हैं। ये केवल प्रकृति के अर्थ में ही विहित होते हैं अर्थात् इनके अभाव में प्रकृति का जो अर्थ होता है, वही अर्थ इनका संयोग होने पर भी रहता है। अतएव इन्हें 'अत्यन्त स्वार्थिक' शब्द से अभिहित किया गया है। भट्टोजिदीक्षित ने इन प्रत्ययों को किसी एक प्रकरण में व्याख्यात नहीं किया है, अपितु

तद्धित के विभिन्न प्रकरणों में विशेषतः स्वार्थिकप्रकरण में इनका निरूपण किया है। किंच सिद्धान्तकौमुदी के ही कतिपय संस्करणों में स्वार्थिक नाम से कोई प्रकरण निर्दिष्ट नहीं है, प्रत्युत उसके स्थान पर वहाँ 'तद्राज' नाम से इसका अभिधान हुआ है। हेमचन्द्रादि अन्य वैयाकरणों ने भी इस प्रकार का कोई विभाग नहीं किया है। इस प्रकार तद्धित के अनेक प्रकरणों में तथा विशेषतः स्वार्थिक या तद्राज प्रकरण में निरूपित अत्यन्त-स्वार्थिक प्रत्ययों को संकलित करके संक्षेप व सरलता की दृष्टि से नीचे तालिका में इनकी प्रकृति एवं उदाहरण के साथ इन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है।

अत्यन्त-स्वार्थिक प्रत्यय-तालिका

प्रकृति	प्रत्यय	उदाहरण
1. वैदिक छन्द—विशेषवाची	अण्[1]	त्रैष्टुभम्
2. इनुण् प्रत्ययान्त	,,	सांराविण:
3. प्रज्ञादिगण व आयुधजीवि-संघवाची पर्श्वादिगण	,,	प्राज्ञ:, पार्शव:
4. आयुधजीविसंघवाची यौधेयादिगण	अञ्	यौधेय:
5. आग्नीध्र व साधारण	,,	आग्नीध्री, साधारणी
6. द्वैध व त्रैध	ड (अ)	द्वैधानि, त्रैधानि
7. विनयादिगण एवं अनुगादिन्	ठक् (इक)	वैनयिक:, आनुगादिक:
8. संख्यावाची तीयान्त (विद्या-भिन्न विशेष्य)	ईकक्	द्वैतीयीक:

१—क्रमश: द्रष्टव्य–वार्तिक २७४४; पा० सू० ५।४।१५, ३८; ५।३।११७; वार्तिक ३३३४, ३२३०; पा० सू० ५।४।३४, १३; वार्तिक २६६१; पा० सू० ५।४।७; वार्तिक ३३२७; पा० सू० ५।३।११६, ११५; ५।१।१३; ५।४।२८, २९, २७, ३९; वार्तिक ३१३४, ३३३१; पा० सू० ५।३।११२, ११३; ५।४।२३; ५।३।११८; वार्तिक ३०६१ एवं पा० सू० ५।३।११४

	प्रकृति	प्रत्यय	उदाहरण
9.	अषडक्ष, आशितङ्गु, अलं-कर्मन्, अलंपुरुष, अधि शब्दान्त व नव	ख (ईन) ,,	अषडक्षीण: अलंकर्मीण:, नवीनम्
10.	आयुधजीविसंघवाची दामन्यादिगण	छ (ईय)	दामनीय:
11.	आयुधजीविसंघवाची वृक	टेण्यण्(एण्य)	वार्केण्य:
12.	उपधि	ढञ् (एय)	औपधेयम्
13.	अवि	क	अविक:
14.	यावादिगण	कन् (क)	यावक:
15.	देव	तल् (त)	देवता
16.	मृत्	तिकन्	मृत्तिका
17.	तावत्, यावत् व एतावत्	द्वयसच्	तावद्द्वयसम्
18.	भाग, रूप व नाम	धेय	भागधेयम्
19.	यावत्, तावत् व एतावत्	मात्रच्	तावन्मत्रम्
20.	संघविशेषवाची (पूग विशेष)	ञ्य (य)	लौहितध्वज्य:
21.	व्रातवाची च्फञन्त	,,	कौञ्जायन्य:
22.	अनन्त, आवसथ, इतिह व भेषज	,,	आनन्त्यम्
23.	अण् प्रत्ययान्त अभिजित्, विदभृत् शालावत्, शिखा-वत्, शमीवत्, ऊर्णावत् व श्रुमत्	यञ् (य) ,,	आभिजित्य: बैदभृत्य:
24.	चतुर्वर्णादिगण	ष्यञ् (य)	चातुर्वर्ण्यम्
25.	ब्राह्मण विशेषवाची व राजन्य-भिन्न वाहीक-देशीय आयुधजीविसंघ-वाची	ञ्यट् (य)	क्षौद्रक्य: मालव्य:

ये प्रत्यय भी अपनी प्रकृति से नित्य विहित नहीं होते हैं, क्योंकि इनके संयोग के बिना भी प्रकृति अपने पूर्ण अर्थ को प्रकट करने में समर्थ है। हाँ, इनके संयोग से प्रकृति के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य हो जाता

है। जैसे–'प्रज्ञः एवं प्राज्ञ; अनन्तम् एव आनन्त्यम् विनयः एव वैनयिकः' इत्यादि उभयविध रूपों में अर्थ की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। वाक्य में दोनों शब्दों का व्यवहार सर्वथा साधु है। किन्तु संघ, पूग, व्रात आदि संज्ञावाची शब्दों में प्रत्यय का संयोग आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उसके बिना अभीष्ट संज्ञा रूप की प्रतीति संभव नहीं है।

पूग और व्रात : ऊपर संघ, पूग एवं व्रात शब्दों की चर्चा आयी है। ये तीनों शब्द ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। पर्वतीय क्षेत्र में अनेक आदिम जातियों के संघ को पूग या व्रात कहा गया है।[१] इन जातियों की आजीविका अनिश्चित होती थी। धर्म में इनकी तनिक भी आस्था नहीं होती थी। ये लोग अर्थ और काम को ही परम पुरुषार्थ समझते हुए आजीविका चलाने के लिए कुछ भी करने में नहीं हिचकते थे। सिद्धान्तकौमुदी के उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि इनके अनेक संघ थे तथा जितने संघ थे उतने ही इनके नेता या राजा हुआ करते थे। उनके पास भिन्न-भिन्न वर्णों की अपनी ध्वजायें हुआ करती थीं। इन संघों के विशेष नाम हुआ करते थे, उन नामों से अपत्य, राजा एवं संघ अर्थों में प्रत्यय होते हैं। तालिका में उन आयुधजीवी संघों से जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, वे तथा अभिजिदादि से विहित यञ् प्रत्यय 'तद्राज' कहे जाते हैं। फलतः बहुवचन एवं स्त्रीलिंग में उन प्रत्ययों का लोप हो जाता है। अवशिष्ट प्रकृति भाग ही संघ, राजा या अपत्य अर्थ का बोधन कराती है। इन संघों की नामावली परिशिष्ट (ख) के पार्श्वादि व दामन्यादिगणों में प्रस्तुत की जायेगी। इसके अतिरिक्त 'लौहितध्वज्य, कापोतपाक्य, क्षौद्रक्य, मालव्य, वार्कण्य, कौण्डोपरथीय, दाण्डकीय, क्रौष्टुकीय, जालमानीय, ब्राह्मगुप्तीय एवं जालकीय' ये नाम भी इन्हीं संघों के हैं। इनमें से अन्तिम छह नाम 'त्रिगर्तषष्ठ' शब्द से भी अभिहित

१—'नानाजातीयः अनियतवृत्तयो, अर्थकामप्रधानाः संघाः पूगाः'—सिद्धान्तकौमुदी, स्वार्थिकप्रकरण, सूत्र सं० २०६६; 'भारोद्वहनादिशरीरायासजीवनात् नाना जातीयानाम् अनियतवृत्तीनां संघो व्रातः'—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, स्वार्थिकप्रकरण, सूत्र सं० २०६६

होते हैं।[1] किंच इन्हीं प्रत्ययों के आधार पर सिद्धान्तकौमुदी की कुछ प्रतियों में स्वार्थिकप्रकरण के स्थान पर 'तद्राज प्रकरण' शब्द भी उल्लिखित हुआ है।[2]

यत्र-तत्र अनेक प्रकरणों में उल्लिखित इन अत्यन्त-स्वार्थिक प्रत्ययों की एक तालिका में प्रस्तुत करने का मूल प्रयोजन यही रहा है कि इनकी संख्या, स्वरूप और प्रकृति के विषय में पाठक को सन्देह न रह जाय, अन्यथा यह संदेह तद्वत् तदवस्थ रहता, जैसे सिद्धान्त-कौमुदी के अध्येता को यह सन्देह बना ही रहता है कि 'अभी ये और होंगे' इत्यादि। एवंच इन प्रत्ययों के निरूपण के साथ-साथ तद्धित प्रत्ययों का निरूपण समाप्त हो जाता है। पणिनि प्रभृति सभी वैयाकरणों ने पूर्वस्तबक से लेकर यहाँ तक के प्रत्ययों को तद्धित नाम से परिभाषित किया है, क्योंकि इन प्रत्ययों के संयोग से प्रकृति में समान परिवर्तन हुआ करते हैं। अतएव इनमें समान अनुबन्ध अनुबद्ध हैं। अवधेय है कि अनुबन्धों का प्रयोजन पूर्वस्तबक में निर्दिष्ट कर दिया गया है।

(४) समासान्त प्रत्यय

इन्हें 'रूपनिष्पादक' शब्द से भी अभिहित किया जा सकता है, क्योंकि इनका एक मात्र प्रयोजन समास से निष्पन्न शब्दों की रूप निष्पत्ति है अर्थात् इनके संयोग से शब्द के अर्थ में किंचिदपि परि-वर्तन नहीं होता है। अतः इन्हें 'नित्यप्रत्यय' भी कह सकते हैं। किंच इनके संयोग के बिना प्रकृति स्वार्थ प्रतिपादन में सर्वथा असमर्थ रहती है। वैयाकरणों ने इन्हें भी तद्धित के अन्तर्गत परिगणित किया है। यद्यपि इनके विधान से प्रकृति के आदिस्वर में परिवर्तन नहीं हुआ

१—आहुस्त्रिगर्तषष्ठांस्तु कौण्डोपरथदाण्डकी।
क्रौष्टुकिर्जालमानिश्च ब्राह्मगुप्तोऽथ जालकिः॥
—सिद्धान्तकौमुदी, स्वार्थिक प्रकरण, सू० २०६६

२—द्रष्टव्य—वैयाकरसिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी, पृ० ३१७; निर्णयसागर बम्बई, १६२१ ई०

करता, तथापि अन्तिमस्वर का लोप अथवा टिलोप अवश्य होते हैं। अतः इन्हें 'रूपीय तद्धित' भी कह सकते हैं।

संक्षिप्त व सरल शब्दों से भावाभिव्यंजन की मानव की प्रवृत्ति सहज व सार्वकालिक है। इसी के आधार पर समासान्त प्रत्ययों की संकल्पना हुई है। अकारान्त शब्दों की रूपरचना प्रायः सरल एवं अति प्रसिद्ध है। यही कारण है कि सामासिक रूपों को अकारान्त रूपों में व्यवहार करने की प्रवृत्ति अधिक रही है। अतएव समासान्त प्रत्ययों में 'अ' प्रत्यय का क्षेत्र सर्वाधिक है। यदि प्रायोवाद से केवल इसे ही समासान्त प्रत्यय कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वैयाकरणों ने उदात्तादि स्वर एवं स्त्रीलिंग के रूप को दृष्टिगत करते हुए इसी को च्, ट्, प्, ष् एवं ड् अनुबन्धों के साथ विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त 'अन्, अस्, इ एवं क' को भी समासान्त प्रत्ययों की कोटि में रखा गया है, किन्तु इनके विधान का क्षेत्र बहुत कम है। पर हाँ, अकारान्त होने से अपेक्षाकृत 'क' प्रत्यय का प्रयोग अधिक है। आगे उक्त प्रत्ययों की विशेष स्थितियों एवं प्रकृतियों का निरूपण किया जा रहा है।

(१) **अ-प्रत्यय** : ऊपर इसके अनुबन्धों की चर्चा की गयी है। उनमें च् अनुबन्ध होने से निष्पन्नरूप में अन्तोदात्तस्वर तथा ट् अनुबन्ध से निष्पन्न रूप के स्त्रीलिंग में ई प्रत्यय एवं अनुदात्तस्वर की सूचना मिलती है।[1] 'ड्' अनुबन्ध जहाँ प्रकृति के टिभाग के लोप को द्योतित करता है वहीं 'ष्' अनुबन्ध अनुदात्तस्वर को प्रकट करता है।[2] एवमेव 'ष्' अनुबन्ध से निष्पन्नरूप के स्त्रीलिंग में ई प्रत्यय के विधान की अवगति होती है।[3] एवंच जिन प्रकृतियों से अनुबन्धरहित अथवा ष् एवं ट् से भिन्न अनुबन्धों के साथ इसका विधान किया

१—'चितः' 'टिड्ढाण्' 'अनुदात्तौ सुप्पितौ'—पा० सू० ६।१।१६३; ४।१।१५; ३।१।४

२—'डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः'—सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादि सू० २१८८ तथा पा० सू० ३।१।४

३—'षिद्गौरादिभ्यश्च'—पा० सू० ४।१।४१

जाता है, उन सामासिक प्रकृतियों का स्त्रीलिंगबोधक रूप आकारान्त होता है ।[1]

निरनुबन्ध और सानुबन्ध इस प्रत्यय की उद्देश्यभूता प्रकृति दो प्रकार की है। पहली, सर्वसमासीय तथा दूसरी, समासविशेषीय, अर्थात् कुछ शब्द ऐसे हैं जो किसी भी समास के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होने पर उनसे यह प्रत्यय अवश्य विहित होता है, ऐसी प्रकृतियों को 'सर्वसमासीय प्रकृति' कहा गया है। इसके विपरीत कतिपय ऐसे शब्द हैं जो समासविशेष में प्रयुक्त होने पर ही इस प्रत्यय से संयुक्त होते हैं, इस प्रकार की प्रकृति को 'समासविशेषीय' शब्द से अभिहित किया गया है। नीचे इन प्रकृतियों और उनसे विधीयमान इस प्रत्यय के विशेष रूपों एवं उदाहरणों को प्रस्तुत किया जायेगा :

सर्वसमासीय प्रकृतियाँ

प्रकृति	प्रत्यय	उदाहरण
1. ऋच्, पुर्, अप्, पथिन् व धुर्	अ[2]	अर्धर्चः, विष्णुपुरम्
2. प्रति, अव, अनुपूर्वक सामन् व लोमन्	अच्	प्रतिसामम्, प्रतिलोमम्
3. कृष्ण, उदक्, पाण्डु व संख्यापूर्वक भूमि	,,	कृष्णभूमः, द्विभूमः प्रासादः
4. संख्यापूर्वक नदी व गोदावरी	,,	पंचनदम् सप्तगोदवरम्
5. पद्मपूर्वक नाभि	,,	पद्मनाभः
6. नेत्रभिन्नार्थक अक्षि शब्दान्त	,,	गवाक्षः, अश्वाक्षः
7. अव, सम् व अन्धपूर्वक तमस्	,,	अवतमसम्, अन्धतमसम्
8. अनु, अव व तप्तपूर्वक रहस्	,,	अनुरहसम्, तप्तरहसम्
9. उपसर्गपूर्वक अध्वन् शब्दान्त	,,	प्राध्वः, अतिध्वः

१—'अजाद्यतष्टाप्'—पा० सू० ४।१।४

२—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।४।७४, ७५; वार्तिक ५०४६, ५०४७; पा० सू० ५।४।७६, ७६, ८१, ८५

कुल ये ही प्रकृतियाँ हैं, जिनसे सभी समासों में अ एवं अच् रूप में यह प्रत्यय विहित होता है। तालिका के अध्ययन से स्पष्ट है कि ये प्रकृतियाँ हलन्त या इकारान्त हैं। सुविधा के लिए ही इन्हें अकारान्त बनाकर व्यवहृत किया जाता है। धुर् शब्द के विषय में यह अवधेय है कि इसका रथ या गाड़ी का धुर्रा अर्थ होने पर समासीय प्रकृति से यह प्रत्यय नहीं होता है। जैसे :—'अक्षधूः, दृढधूः अक्षः' इत्यादि उदाहरणों में धुर् शब्द धुरावाची है, अतः इससे यह प्रत्यय नहीं हुआ है। इसी प्रकार अनृच और बहवृच शब्द अध्येता अर्थ प्रकट करने से प्रत्यय-संयुक्त हुए हैं, अन्यथा 'अनृक् साम' इत्यादि नञ्-समास में उक्तार्थ का अभाव होने से यह समासान्त नहीं हुआ है।

अव्ययीभावीय-प्रकृतियाँ : इस प्रत्यय के समासविशेषीय प्रकृतियों के अध्ययन क्रम में पहले अव्ययीभाव समास का आलोचन उपस्थित है। इस समास की प्रकृति से टच् और अच् के रूप में केवल यही प्रत्यय विहित होता है। इनमें भी अच् केवल 'सरजस्, प्रत्युरस्, अनुगो और उपश्वन्' इन्हीं चार प्रकृतियों से विहित होता है।[1] फलतः उक्त चारों शब्द 'सरजसम्, प्रत्युरसम्, अनुगवम् और उपश्वनम्' रूप में अकारान्त हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त शेष प्रकृतियों से इस प्रत्यय का 'टच्' रूप विहित होता है।

जैसा कि सर्वविदित है, अव्ययीभावसमास से निष्पन्न रूप अव्यय एवं नपुंसकलिंग होते हैं। केवल तृतीया और सप्तमी विभक्तियों में वैकल्पिक तथा पंचमी एकवचन में नित्य ही इनके भिन्न रूप होते हैं। इनकी यह विशेषता है कि ये प्रायः अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त हुआ करते हैं। यदि समास का अन्तिम शब्द इकारान्त, ईकारान्त, एकारान्त या ऐकारान्त है तो वह इकारान्त हो जाता है। इसी प्रकार उत्तरपद का अन्तिम स्वर यदि उ, ऊ, ओ या औ होगा तो वह अपने ह्रस्व रूप 'उ' वर्ण में परिवर्तित हो जायेगा। यह एक सामान्य नियम है। इसके विपरीत नदी, पौर्णमासी, आग्रहायणी या गिरि शब्द उत्तरपद होने पर निष्पन्न रूप

१—पा० सू० ५।४।७७, ८२, ८३

विकल्प से अकारान्त और इकारान्त दोनों रूपों में पाये जाते हैं।[१] उत्तरपद का अन्तिम स्वर अ या आ होने पर तो निष्पन्न रूप अकारान्त होता ही है, किन्तु अन्त में अन्तस्थ एवं उष्म से भिन्न वर्ण होने पर भी वह अव्ययीभाव विकल्प से अकारान्त हो जाता है।[२] यथा–उपगंगम्, उपसमिधम्–उपसमित्, अनुवाचम्–अनुवाक् इत्यादि। अव्ययीभाव के अन्त में 'अन्' होने पर यदि वह अन्नन्त शब्द नपुंसकलिंग नहीं है तो नित्य 'न्' का लोप होकर वह अकारान्त होता है।[३] जैसे—उपराजम्, अध्यात्मम् उपचर्मम्-उपचर्म इत्यादि। इसके अतिरिक्त शरदादिगण में पठित शरद्, विपाश् (पिपाश्), अनस्, मनस्, उपानह्, दिव्, हिमवत्, अनडुह् दिश्, दृश्, विश्, चेतस्, चतुर्, त्यद्, तद्, यद्, कियत्, जरस् व अक्षि शब्दों से टच् प्रत्यय नित्य होता है।[४] फलतः इनसे अव्ययीभाव समास में नित्य अकारान्त रूप ही निष्पन्न होते हैं। एवंच अव्ययीभाव के अधिकांश रूप समासान्त की महिमा से सरलीकृत होकर अकारान्त हो जाते हैं।

तत्पुरुषीय प्रकृतियाँ : अव्ययीभाव की भाँति तत्पुरुषसमास में भी केवल 'अ' प्रत्यय ही विहित होता है। नीचे इस समास की उन विशेष प्रकृतियों को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनसे अच्, टच् व डच् रूपों में यह प्रत्यय संयुक्त होता है।

प्रकृति	प्रत्यय	उदाहरण
1. संख्या व अव्ययपूर्वक अंगुलि शब्दान्त	अच्[५]	निरंगुलम् समङ्गुलम्
2. सर्व, संख्यात, पुण्य, अवयवार्थक, संख्या व अव्ययपूर्वक रात्रि शब्दान्त	,,	सर्वरात्रम्, पूर्वरात्रम्

१—पा० सू० ५।४।११०, ११२ २—पा० सू० ५।४।१११
३—पा० सू० ५।४।१०८, १०९ ४—पा० सू० ५।४।१०७
५—क्रमशः द्रष्टव्य–पा० सू० ५।४।८६, ८७, ७७, ७८, ८०, ८४, ९२, ९१, ९३ से १०२, १०४, १०६ तथा वार्तिक ३३४८

प्रकृति	प्रत्यय	उदाहरण
3. निः श्रेयस्, पुरुषायुष्, द्व्यायुष्, त्र्यायुष्	अच्	निःश्रेयसम्, पुरुषायुषम्
4. जातोक्षन्, महोक्षन्, वृद्धोक्षन् व गोष्ठश्वन्	,,	जातोक्षः, गोष्ठश्वः
5. ब्रह्मन्, हस्ति, पल्य व राजन्पूर्वक वर्चस् शब्दान्त	,,	ब्रह्मवर्चसम्, राजवर्चसम्
6. श्वोवसीयस् व श्वःश्रेयस्	,,	श्वोवसीयम्, श्वःश्रेयसम्
7. यज्ञ की वेदी अर्थ में द्विस्तावत् त्रिस्तावत्	,,	द्विस्तावा, त्रिस्तावा
8. गो, राजन्, अहन् व सखि शब्दान्त	टच्	पचगवधनः अतिराजी
9. उपमित समास में प्रधानार्थक उरस्	,,	अश्वोरसम् उष्ट्रोरसम्
10. अनस्, अश्मन्, अयस् व सरस्	,, (संज्ञा)	महानसम्, कालायसम्
11. ग्राम व कौटपूर्वक तक्षन्	,,	ग्रामतक्षः, कौटतक्षः
12. अतिपूर्वक श्वन्	,,	अतिश्वः, अतिश्वी
13. अप्राणिवाची उपमेयपूर्वक श्वन्	,,	आकर्षश्वः, दारुश्वः
14. उत्तर, मृग व उपमानपूर्वक सक्थि	,,	उत्तरसक्थम्, मृगसक्थम्
15. नौशब्दान्त (तद्धितलोप न होने पर)	,,	द्विनावरूप्यः, पंचनावप्रियः
16. अर्धपूर्वक नौ	,,	अर्धनावम्
17. संख्या व अर्धपूर्वक खारी	,, (वि०)	द्विखारम्–द्विखारि
18. द्वि, त्रिपूर्वक अंजलि	,, (,,)	द्व्यंजलम्–द्व्यंजलि
19. ब्रह्मन् शब्दान्त (विप्रार्थक)	,,	सुराष्ट्रब्रह्मः
20. कु व महत्पूर्वक ब्रह्मन्	,, (वि०)	कुब्रह्मः-कुब्रह्मा
21. अव्ययपूर्वक संख्या	डच्	निस्त्रिंशानि, निर्विशः

उक्त तालिका में प्रस्तुत समास-प्रकृतियाँ अधिकतर तत्पुरुष समास की तथा कुछ कर्मधारय एवं द्विगु की हैं। इन तीनों ही समासों में उत्तरपदार्थ का प्राधान्य होने से इन्हें एक ही तालिका में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यह अवधेय है कि 'पंचगु' इत्यादि तद्धितार्थ द्विगु समास में गो शब्द अन्त में होने पर भी समासान्त प्रत्यय नहीं होता है। कारण यह कि वहाँ तद्धितार्थ प्रत्यय का लोप हुआ है। इसी प्रकार अहन् शब्द से पूर्व यदि उत्तम, पुण्य, सुदिन, एक या संख्यात शब्द हो अथवा द्विगु समास हुआ हो तो समासान्त प्रत्यय नहीं होता है। अवधेय है कि समासान्त होने पर 'अहन्' को 'अह्न' आदेश हो जाता है। तालिका में निर्दिष्ट प्रकृतियों से उक्त प्रत्ययों की अप्राप्ति में एक-दो और स्थितियाँ हैं। तद्यथा—प्रशंसार्थक सु और अति से परे, निन्दार्थक किन् से परे अथवा नञ् तत्पुरुष में समासान्त प्रत्यय नहीं होते हैं। यथा—सुराजा, अतिराजा, किंसखा, असखा इत्यादि। किन्तु 'पथिन्' शब्द उत्तरपद होने पर नञ् तत्पुरुष में समासान्त विकल्प से होते हैं।[1] एवंच—'अपथम्'—अपन्थाः' ये दोनों रूप प्रयुक्त होते हैं।

तालिका में दी गई प्रकृतियों की समीक्षा से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश प्रकृतियाँ सकारान्त हैं, जिनका सातों विभक्तियों में रूप चलाना, विशेषतः पुंलिंग में अपेक्षाकृत कठिन होता है। इसके अतिरिक्त नान्त, ओकारान्त गो, नौ व इकारान्त जो भी प्रकृतियाँ निर्दिष्ट हैं, वे अतिप्रचलित सामान्य जन के नित्य व्यवहार की हैं। अतः उनका सरलीकृत में परिवर्तित हो जाना स्वाभाविक है।

द्वन्द्वसमासीय प्रकृतियाँ : समाहारद्वन्द्व समास में भी अधिकांश प्रकृतियों का नपुंसकलिंग अकारान्तीकरण हो जाता है। इस द्वन्द्व में चवर्गान्त द्, ष् एवं हकारान्त प्रकृतियों से जहाँ टच् होता है वहीं इसी समास के 'अहोरात्रम्, ऋग्यजुषम् अक्षिभ्रुवम्, दार्गवम्, उर्वष्ठीवम्, पदष्ठीवम्, नक्तंदिवम रात्रिन्दिवम् व अहर्दिवम्' रूपों में अच्

1—द्रष्टव्य—पा० सू० ५।४।६७, ७०, ७१

हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त इतरेतरयोगद्वन्द्व के 'स्त्रीपुंसौ, धेन्वनडुहौ, ऋक्सामे एवं वाङमनसे' इन चार रूपों में भी अच् होता है। द्वन्द्व-समास की इन्हीं प्रकृतियों से समासान्त 'अ' विहित होता है तथा इसके अतिरिक्त अन्य कोई समासान्त प्रत्यय द्वन्द्व में नहीं होते हैं।

बहुव्रीहिसमासीय प्रकृतियाँ : बहुव्रीहि-समास की प्रकृतियों से अच्, अप्, ष, षच् एवं डंच् इन पाँच रूपों में उक्त 'अ' समासान्त प्रत्यय विहित होता है। बहुव्रीहि में इनके अतिरिक्त और भी समा-सान्त प्रत्यय विहित होते हैं। फलतः इस समास से निष्पन्न प्रायः सभी रूपों के अन्त में नित्य या विकल्प कोई न कोई समासान्त प्रत्यय अवश्य रहता है। जहाँ किसी अन्य समासान्त की प्राप्ति नहीं होती वहाँ 'कप्' प्रत्यय विकल्प से अवश्य होता है।[2] यहाँ सर्वप्रथम प्रकान्त 'अ' समासान्त प्रत्यय का निरूपण करने के पश्चात् बहुव्रीहि-समास के अन्य समासान्त प्रत्ययों का अध्ययन किया जायेगा। नीचे तालिका में 'अ' समासान्त के सानुबन्ध रूप एवं उनकी प्रकृतियाँ उदाहरण के साथ प्रस्तुत की जा रही हैं :

	प्रकृति	प्रत्यय	उदाहरण
1.	स्थूलभिन्न-शब्दपूर्वक नासिका (नस्)	अच्[3]	द्रुणसः खुरणसः
2.	खुर व खरपूर्वक नासिका (नस्)	,,(वि०)	खुरणसः—खुरणाः
3.	विपूर्वक नासिका (ग्र एवं ख्य)	,,	विग्रः, विख्यः

१—पा० सू० ५।४।१०६, ६७, ७७

२—'शेषाद् विभाषा'—पा० सू० ५।४।१५४

३—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ५।४।११८, ११९; वार्तिक ३३६३, ३३६५, ३३६६; पा० सू० ५।४।१२०, १२१, ७७, ७३, ११६ वा० ३३६०, पा० सू० ५।४।११७, ११५, ११४ व १३३

प्रकृति	प्रत्यय	उदाहरण
4. सुप्रातर, सुश्वस्, सुदिव्, शारिकुक्षि, चतुरश्रि, एणीपद्, अजपद् व प्रोष्ठपद्	,,	सुप्रातः, शारिकुक्षः सुश्वः, सुदिवः
5. नञ्, दुर्, सुपूर्वक हलि, सक्थि, शक्ति	,,	अहलः—अहलिः
6. नञ्, वि, सु, उप, त्रिपूर्वक चतुर्	,,	अचतुरः, सुचतुरः
7. सख्या व अव्ययपूर्वक बहु, गण से भिन्न संख्येयार्थक संख्या	डच्	द्वित्राः, उपदशाः, अधित्रिशाः
8. पूरणसंख्यावाची या प्रमाणीशब्दान्त	अप्	कल्याणीपंचमाः
9. नक्षत्रवाचिपूर्वक नेतृ	,,	मृगनेत्राः
10. अन्तर् बहिर्पूर्वक लोमन्	,,	अन्तर्लोमः बहिर्लोमः
11. द्वि व त्रिपूर्वक मूर्धन्	ष	द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः
12. अक्षि, सक्थि, अंगुल्यन्त (संज्ञा)	षच्	जलजाक्षी, पंचाङ्गुलम्

यहाँ तक 'अ' प्रत्यय के समीक्षा-क्रम में उसके सभी अनुबन्धों एवं प्रयोजनों, उसकी व्यापकता एवं कारण तथा प्रकृतियों एवं उदाहरणों का निरूपण किया गया। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि एकमात्र यही समासान्त प्रत्यय ऐसा है जो अव्ययीभाव, तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु, द्वन्द्व व बहुव्रीहि इन सभी समासों में विहित होता है। बहुव्रीहि समास में इसकी प्रकृतियों के प्ररूपण के पश्चात् अब इसी समास में जायमान अन्य समासान्त प्रत्ययों की चर्चा क्रम-प्राप्त है।

(२) **अन् प्रत्यय** :—इसमें 'ङ्' एवं 'च्' अनुबन्धों का प्रयोग क्रमशः स्थान तथा अन्तोदान्तस्वर को अभिव्यक्त करता है।[1] प्रत्यय के उक्त दोनों ही रूपों में अनुबन्धोच्चारण की सुकरता के लिए क्रमशः 'अ' एवं 'इ' स्वरों का संयोग करके महर्षि पाणिनि ने इसे स्वरूप प्रदान किया है—अनङ् और अनिच्। विशेषणीभूत समास के अन्त में धनुष् शब्द के रहने पर जहाँ अनङ् होता है वहीं धर्म, जम्भ व ईर्म शब्द के रहने पर अनिच्[2]। इसका प्रयोग 'द्विधन्वा, सुधन्वा, महाधन्वा धृतधन्वा' इत्यादि रूपों में हुआ है। यहाँ धनुष् के अन्तिम वर्ण 'ष्' के स्थान पर अन् प्रत्यय एवं यणादेश से यह शब्द नान्तरूप में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु संज्ञा अर्थ में बहुव्रीहिसमास होने पर धनुष् शब्द का उक्त परिवर्तन ऐच्छिक होता है, अतः संज्ञा में 'शतधन्वा-शतधनुः' ये दोनों ही रूप साधु हैं। अनिच् प्रत्यय की जो तीन प्रकृतियाँ निर्दिष्ट की गयीं, उनके साथ तीन नियम अवधेय हैं, (१) धर्मशब्द के पूर्वपद को एक ही पद होना चाहिए, (२) जम्भ शब्द के पूर्व सु, हरित्, तृण व सोम पद में से कोई एक होना चाहिए तथा (३) ईर्म शब्द के पूर्व में केवल दक्षिण पद होना चाहिए। एवंच कल्याणधर्मा, मानवधर्मा, सुजम्भा, तृणजम्भा, दक्षिणेर्मा इत्यादि इसके उदाहरण प्रयुक्त होते हैं।

(३) **अस् प्रत्यय** :—महर्षि पाणिनि ने अन्तोदात्तस्वर को सूचित करने के लिए इसमें च् अनुबन्ध का प्रयोग किया है और उसके उच्चारण के लिए इ के साथ इसे 'असिच्' रूप दिया है। यह केवल बहुव्रीहि समास में नञ्, दुर् व सु से परे प्रजा अथवा मेधा शब्द से विहित होता है।[3] इसके संयोग से प्रकृति सकारान्त हो जाती है। फलतः संबोधनभिन्न सु विभक्ति में प्रकृति के अन्तिमस्वर को दीर्घ और सकार को विसर्ग होकर अमेधाः, अप्रजाः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। वस्तुतः केवल 'प्रजा' शब्द अपने आकारान्तरूप में व्यवहृत नहीं होता

१—'चित': 'ङिच्च'—पा० सू० ६।१।१६३ व १।१।५३

२—पा० सू० ५।४।१३२, १३३ १२४, १२५ व १२६.

३—पा० सू० ५।४।१२२

क्योंकि वह नित्य बहुवचनान्त है। अतः विशेषण होने पर समास की महिमा से वह अपना अर्थ तो बदल देता है, किन्तु स्वरूप नहीं। एवमेव मेधाः या मेधस् पर मेदस् की छाया अवश्य होनी चाहिए।

(४) **इ प्रत्यय :** यह प्रत्यय उदात्त होता है, अतः इसे 'च्' अनुबन्ध के साथ रखा गया है। यह 'इच्' प्रत्यय वस्तुतः एक स्वरपरिवर्तन है। जब प्रकृति अपने मुख्यार्थ से अधिक अर्थ प्रकट करने लगती है तब उसमें कुछ परिवर्तन अवश्यम्भावी होते हैं। अवधेय है कि प्रकृतियों में बहुव्रीहिसमास और यह स्वरपरिवर्तन सर्वथा भिन्न भाव को अभिव्यक्त करते हैं। झगड़ा-लड़ाई में जब दोनों पक्ष परस्पर एक दूसरे पर प्रहार करते हों, प्रहरण-क्रिया का आदान-प्रदान चल रहा हो तो ऐसे भाव को शब्दरूप प्रदान करने के लिए प्रहार के साधनवाची प्रकृति को द्वित्व करके और दोनों के अन्तिम स्वरों में परिवर्तन करके प्रयोग किया जाता है[1]—केशाकेशि, मुष्टामुष्टि, दण्डादण्डि, मुसलामुसलि इत्यादि शब्द रूपों का। स्पष्ट है, इनके द्वित्वरूपों में प्रथम रूप के अन्तिम स्वर का जहाँ दीर्घीकरण हुआ है वहीं द्वितीय रूप का अन्तिम स्वर 'इ' ध्वनि में परिवर्तित हुआ है। वैयाकरणों ने इस प्रत्यय के रूप में इसी परिवर्तन की संकल्पना की है तथा उक्त गुत्थमगुत्थी भाव को 'कर्मव्यतिहार' शब्द से परिभाषित किया है। इसके अतिरिक्त यह प्रत्यय कर्मव्यतिहार के अभाव में भी 'द्विदण्ड्यादिगणीय' प्रकृतियों से विहित है।[2]

(५) **क प्रत्यय :** अनुदात्त होने से महर्षि पाणिनि ने इसका 'कप्' रूप में विधान किया है। यह प्रत्यय सामान्य और विशेष दोनों रूपों में उपलब्ध होता है। इसकी विशेष स्थितियाँ निम्नलिखित हैं[3]—(१) उरःप्रभृति गण के शब्द बहुव्रीहिसमास के अन्त में रहने पर यथा—व्युढोरस्कः, (२) इन्नन्त शब्द अन्त में होने पर यथा—बहुदण्डिका इत्यादि, (३) इकारान्त, ऊकारान्त, ऋकारान्त अथवा स्त्रीलिंग

१—'इच् कर्मव्यतिहारे'—पा० सू० ५।४।१२७ २—पा० सू० ५।४।१२८

३—पा० सू० ५।४।१५१ से १५३

इकारान्त, उकारान्त शब्द अन्त में होने पर यथा—कल्याणपंचमीकः, वामवधूकः, शोभनमतिकः, धृतधेनुकः, वहुकर्तृकः इत्यादि। उल्लिखित तीनों स्थितियों में यह विशेषरूप से विहित होता है। ईकारान्त शब्द अन्त में रहने पर यह अवधेय है कि इसके अर्थ को समासार्थ अन्य-पदार्थ का घटक नहीं होना चाहिए अर्थात् वहाँ 'अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि' होना चाहिए, अन्यथा उस ईकारान्त शब्द के पूरणार्थक होने पर उससे 'अप्' समासान्त का प्रयोग होगा। यथा—'कल्याणी-पंचमाः रात्रयः' इत्यादि उदाहरणों के 'कल्याणकारिणो है पाँचवीं रात जिन रातों में' इस अन्य पदार्थ रात्रि में पंचमी का अर्थ घटक है अतः यहाँ कप् का प्रयोग नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त संज्ञा में, निष्प्रवाणि शब्द में अथवा ईयसन्त शब्द, बड़े भाई का वाचक भ्रातृ शब्द, स्वांग-वाची नाडी एवं तन्त्री शब्द अन्त में रहने पर भी 'कप्' का प्रयोग नहीं होता हैं।[1]

इसकी सामान्य स्थिति यह है कि बहुव्रीहि समास में प्रकृति-विशेष से समासान्तविशेष की प्राप्ति न होने पर यह उन प्रकृतियों से विकल्परूप में प्रयुक्त होता है।[2] एवंच 'वीरपुरुषकः- वीरपुरुषः, ऊढरथः-ऊढरथकः' इस प्रकार दोनों रूप व्यवहृत होते हैं। स्पष्ट है, इसके प्रयोग से अन्य पदार्थ की असंदिग्ध अवगति झटिति हृदयंगत हो जाती है। यही कारण है कि मैथिली, गुजराती आदि आधुनिक भाषाओं में भी इसका प्रचुर प्रयोग किया जाता है।

आदेश : कुछ विशेष सामासिक प्रकृतियों के अन्त में अ, इ. अस्, अन् और क ध्वनियों का आगम होता है। ऊपर समासान्त प्रत्ययों के रूप में इसी ध्वन्यागम का अध्ययन किया गया। अब ध्वनि-परिवर्तन पर विचार होगा। इसे ही वैयाकरणों ने 'आदेश' कहा है। यह छह प्रकार का है और केवल बहुव्रीहि के अन्त में होता है। ये इस समास के अवयव माने गये हैं, अतः इस प्रकरण में इनका निर्देश प्रस्तुत है।

१—'शेषाद् विभाषा'—पा० सू० ५।४।१५४

२—द्रष्टव्य—पा० सू० ५।४।१५५ से ५।४।१६०

(१) इ आदेश : बहुव्रीहि में उत्, पूति, सु एवं सुरभि शब्द के पर गन्ध शब्द के अन्तिम स्वर को यह आदेश होता है।[1] यथा—सुगन्धि पुष्पम् इत्यादि। उक्त समास में जब गन्ध शब्द उपमानवाची से पर में रहे अथवा अल्प अर्थ की अभिव्यक्ति करे तब भी उक्त स्वरादेश होता है। फलतः 'पद्मगन्धि' कस्तूरीगन्धि, सूपगन्धि' इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। सूपगन्धि एवं घृतगन्धि इत्यादि पद उस भोजन को विशेषित करते हैं, जिसमें दाल, घी इत्यादि की कमी हो, अर्थात् उसकी गन्ध भर हो।

(२) ज्ञु आदेश : प्र एवं सम् से परे नित्य तथा उर्ध्व से परे वैकल्पिक 'जानु' शब्द को यह आदेश होकर बहुव्रीहि में 'प्रज्ञुः, संज्ञुः व उर्ध्वज्ञुः-उर्ध्वजानुः' रूप निष्पन्न होते हैं।[2]

(३) नि आदेश : बहुव्रीहि में जाया शब्द अन्त में होने पर उसके अन्तिम वर्ण को यह आदेश होता है। एतदर्थ इसके अन्त में ङ का अनुबन्धन किया जाता है।[3] 'युवजानिः, सीताजानिः' इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(४) हृद् आदेश : बहुव्रीहि समास में सु और दुर् पूर्वपद होने पर यह आदेश होता है। इस प्रकार सुहृत् एवं दुर्हृत् ये दो रूप निष्पन्न होते हैं।[4] वस्तुतः हृदय अर्थ का वाचक स्वतन्त्र हृत् शब्द भी है,[5] जिसके प्रथमा एकवचन एवं द्वितीया बहुवचन से आगे के सभी विभक्तियों में रूप व्यवहृत होते हैं।

(५) दत् (दतृ) आदेश : शिशुत्व आदि अवस्था गम्य होने पर संख्यावाची शब्द या सु पूर्व में होने पर दन्त शब्द को यह आदेश होता है।[6] यथा—'द्विदन्, चतुर्दन्' इत्यादि शब्द स्वार्थ के

१—पा० सू० ५।४।१३५ से १३७

२—द्रष्टव्य—पा० सू० ५।४।१२९ व १३०

३—पा० सू० ५।४।१३४

४—पा० सू० ५।४।१५०

५—'स्वान्तम् हृन् मानसंमनः'—अमरकोष, काण्ड१, धीवर्ग, पंक्ति २७७

६—द्रष्टव्य—पा० सू० ५।४।१४० से ५।४।१४५

अतिरिक्त अवस्था को भी व्यक्त करते हैं। 'अयोदती, फालदती' इत्यादि संज्ञा में भी यह आदेश होता है। इसके अतिरिक्त श्याव, अरोक, अग्रशब्दान्त, शुद्ध, शुभ्र, वृष् एवं वराह शब्द पूर्वपद होने पर यह आदेश विकल्प से होता है। फलतः 'श्यावदन्-श्यावदन्तः, कुड्मलाग्रदन्-कुड्मलाग्रदन्तः, वराहदन्-वराहदन्तः' ये दोनों रूप प्रचलित हैं। वस्तुतः दन्त समानार्थक 'दत्' शब्द भी है, किन्तु उसका क्वाचित्क प्रयोग होने से महर्षि पाणिनि ने एतदर्थ आदेश का आश्रय लिया है।[1]

(६) **लोप आदेश :** अन्य आदेशों की भाँति इसे भी समासान्त प्रत्यय की कोटि में रखा गया है, क्योंकि लोप या निर्दिष्ट दूसरा आदेश होने पर पुनः कोई समासान्त प्रत्यय नहीं होता है, इसी स्थिति को व्यक्त करने के लिए इन आदेशों को भी समास का अन्तिम अवयव 'समासान्त' कहा जाता है। यह लोप आदेश बहुव्रीहि समास के केवल चार शब्दों के अन्त में प्रवृत्त होता है।[2] वे शब्द हैं—'पाद, पद, काकुद और ककुद'। लोप इनके अन्तिम स्वर का ही होता है। फलतः ये शब्द दकारान्त हो जाते हैं। किन्तु इन शब्दों में यह लोप सदा नहीं होता, प्रत्युत पाद शब्द के पूर्व में हस्त्यादि गण से भिन्न उपमानवाची, संख्यावाची या सु शब्द होना चाहिए। यथा—'व्याघ्रपात्, द्विपात्, सुपात्' इत्यादि इसके उदाहरण हैं। पद के पूर्व में केवल कुम्भपद्यादिगण का शब्द होना चाहिए। लोप होने पर स्त्रित्व की विवक्षा में 'कुम्भपदी' इत्यादि रूप व्यवहृत होते हैं। ककुद के पूर्व में अजात तथा त्रि होने पर यह लोप प्रवृत्त होता है। एवंच 'अजातककुत्' से जहाँ अवस्था की अभिव्यक्ति होती है वहीं 'त्रिककुत्' पर्वतविशेष की संज्ञा है। एवमेव काकुद के पूर्व में उत्, वि या पूर्ण शब्द होने पर यह लोप होता है। 'उत्काकुत्, विकाकुत्, पूर्णकाकुत्-पूर्णकाकुदः' ये रूप निष्पन्न होते हैं। उदाहरण से स्पष्ट है, पूर्ण शब्द होने पर लोप की प्रवृत्ति वैकल्पिक होती है।

१—"पददन्नोमासहृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकन्शकन्उदन्आसन्शस्प्रभृतिषु"
—पा० सू० ६।१।६३

२—पा० सू० ५।४।१३८ से १४०, १४६ से १४९

समासान्त पदार्थ : समासान्त पद में समास और अन्त ये दो शब्द हैं। प्रथम शब्द का तात्पर्य है—'समास के अर्थ-बोधन के लिए कल्पित अलौकिक 'प्रक्रिया-वाक्य' तथा 'अन्त' शब्द अन्त्यावयव का बोधक[1] है। स्मरणीय है, कल्पित अलौकिक प्रक्रिया-वाक्य की ही समास संज्ञा होती है। एवंच अव्ययीभाव आदि शब्द भी तत्परक ही हैं। ऐसी स्थिति में उक्त प्रत्यय जिस समय अलौकिकविग्रहवाक्य की समास संज्ञा होती है, ठीक उसी समय युगपत् जुड़ जाते हैं। अतएव 'बहुजस् कुमारीजस्क' ऐसी स्थिति हो जाने से उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्ततदादि प्रातिपदिक न होने के कारण स्त्रीप्रत्यय कुमारी के 'ई' को 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (पा० सू० १।२।४८) सूत्र से ह्रस्व नहीं होता, क्योंकि 'बहुजस्कुमारीजस्' समुदाय उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्ततदादि है, किन्तु वह प्रातिपदिक नहीं, प्रातिपदिकसंज्ञा तो यहाँ 'क' विशिष्ट समास की होती है और 'बहुजस्कुमारीजस्क' यह समुदाय समास होने से प्रातिपदिक तो है किन्तु उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्ततदादि नहीं है। फलतः 'बहुकुमारीकः' रूप निष्पन्न होता है। अतः उक्त प्रत्यय समाससंज्ञा-समकाल में ही प्रवृत्त होते हैं और उस समास के चरमावयव कहे जाते हैं, ऐसा न मानने पर बहुकुमारीकः की भाँति अन्य अनेक प्रयोगों में व्याकरणिक प्रक्रिया व्यवस्थित नहीं हो सकेगी। इसके अतिरिक्त 'उपशरदम्' के सदृश अनेकों रूपों में विभक्ति को 'अम्' आदेश की व्यवस्था भी असम्पन्न हो जायेगी। इन्हें समासावयव न मानने पर 'उपशरद्' समुदाय ही अव्ययीभाव कहा जायेगा। एसी स्थिति में टच् होने पर भी जहाँ यह 'अदन्त अव्ययीभाव' नहीं कहलायेगा, वहीं उस प्रत्यय के पर में होने से पूर्वस्थित प्रकृति के टिभाग का लोप प्राप्त होगा। किन्तु समास का अवयव मान लेने पर उक्त दोनों अवांछित स्थितियाँ समाप्त हो जाती हैं अर्थात् 'उपशरद' समुदाय अदन्त होने से जहाँ विभक्ति को अम् आदेश की प्राप्ति होती है, वहीं उक्त समुदाय के पर में प्रत्यय का अभाव होने से भ संज्ञा और टिलोप का प्रश्न नहीं उठता है।

१—'समासस्य समासार्थोत्तरपदस्य वा चरमावयव इत्यर्थः'—सिद्धान्तकौमुदी-तत्त्वबोधिनी, अव्ययीभाव, सू० ६७६।

उक्त कथन से निष्कर्ष निकला, ये प्रत्यय समाससंज्ञा के साथ समकाल में विहित होते हैं, वैयाकरणों का यही सिद्धान्त है।[१] इसी के साथ एक और सिद्धान्त स्थित होता है—समासान्त प्रत्ययों में प्रत्ययावयव आदि अक्षर को उदात्त करने वाला 'आद्युदात्तश्च' (पा० सू० ३।१।३) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है, अन्यथा 'डच्' का च् अनुबन्ध निष्फल होगा, क्योंकि उस अनुबन्ध का प्रयोजन 'उपदशाः' इत्यादि प्रयोगों में शकारोत्तर अकार को उदात्त करना है। उसको उदात्त विधान से शेष सभी अक्षर अनुदात्त हो जायेंगे।[२] फलतः वहाँ पूर्वपद का पूर्ववर्ती प्रकृतिस्वर नहीं हो सकेगा।[३] किन्तु यह प्रयोजन 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) सूत्र की समासान्त में प्रवृत्ति मानने पर उसी सूत्र से शकारोत्तर अकार को उदात्त व शेष को अनुदात्त हो जायगा, जिससे 'पूर्वपदप्रकृतिस्वर' की अप्रवृत्ति हो जायेगी। इस प्रकार निष्फल होने से वह अनुबन्ध यह ज्ञापन करता है कि "समासान्तों में 'आद्युदात्तश्च' की प्रवृत्ति नहीं होती है।" यह नियम बन जाने से 'उपदशाः' में उदात्त-विधान के लिए 'च्' अनुबन्ध सार्थक होता है। इस नियम का फल है कि अन्य उदाहरण भी अभीष्ट स्वर से संयुक्त होते हैं। तद्यथा—'समृद्धा पूर् यस्य समृद्धपुरो राजा' इत्यादि उदाहरणों में समासान्त प्रत्यय 'अ' होने पर भी 'आद्यु-दात्तश्च' की प्रवृत्ति नहीं होती है। फलतः यहाँ पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है। एवंच—उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त सुस्थिर करने के लिए समासान्तों को समास का अवयव स्वीकार किया गया है।[४]

१—'एवंचालौकिकाविग्रहवाक्ये समाससंज्ञासमकालमेव समासान्ता इति सिद्धान्तः'—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, अव्ययीभाव, सू० ६७६

२—"अनुदात्तम्पदमेकवर्जम्"—पा० सू० ६।१।१५८

३—बहुव्रीहौप्रकृत्यापूर्वपदम् —पा० सू० ६।२।१, का महाभाष्य

४—"तत्सामर्थ्येन समासान्तविधौ आद्युदात्तश्च इत्यस्य असंबन्धज्ञापनात्"

—लघुशब्देन्दुशेखरः, अव्ययीभावसमासप्रकरण, समासान्ताः प्रतीक

'बहुकुमारीकः और उपशरदम्' इन दोनों रूपों की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि ये प्रत्यय समास के अवयव होते हैं। यह सिद्धान्त 'अन्तः' सूत्र के भाष्य से प्रमाणित होता है। वहाँ 'अन्तः' (पा० सू० ६।२।९२) सूत्र के अर्थ में दो विकल्प उठाये गये हैं—(१) समास के अन्तावयव को उदात्त होता है अथवा (२) उत्तरपद के अन्तावयव को। प्रथम विकल्प में दोष दिया गया है कि 'इदंप्रथमकाः' इत्यादि रूपों में समासावयव होने से 'कप्' को अन्तोदात्तस्वर की आपत्ति होने लगेगी तथा दूसरा विकल्प स्वीकार करने पर 'अनृचः' इत्यादि रूपों में उत्तरपदावयव न होने से चकारोत्तर अकार (टच्) को अन्तोदात्तस्वर की अप्राप्ति होगी। अतः वहाँ भाष्यकार ने कहा कि लक्ष्यानुसार उक्त सूत्र के दोनों ही अर्थ मान्य हैं। एवंच उक्त सूत्र में भाष्यकार के कथन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि समासान्त समास के अवयव होते हैं, न कि उत्तरपद के।

इसके विपरीत आचार्य कैयट ने 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२।६४) सूत्रस्थ भाष्य-प्रामाण्य से इन्हें समास के उत्तरपद का अवयव भी स्वीकार किया है[1] और 'द्वयोः पुरोः समाहारः इति द्विपुरी' इत्यादि उदाहरणों में 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः'[2] इस वार्तिक से स्त्रीत्व एवं ङीप् की सिद्धि को इसका फल बताया है। किन्तु कैयट के इस कथन से भट्ट नागेश सर्वथा असहमत हैं। उन्होंने 'द्विपुरी' इत्यादि उदाहरणों में लिंग की सिद्धि लोकाश्रित मानते हुए 'द्विनावम्, अर्धखारम्, पंचराजम्' इत्यादि उदाहरणों में उक्त वार्तिक का व्यभिचार प्रदर्शित किया है। किंच कैयटमत से उत्तरपदावयवत्व स्वतः सिद्ध होने के कारण उक्त वार्तिक में उत्तरपद का ग्रहण होगा।[3] अतएव उन्होंने समासान्तों के

१—"उत्तरपदावयवत्वम् इत्यपिभाष्यकारस्य मतम्"—भाष्यप्रदीप, सूत्र १।२।६४

२—वार्तिक १५५६

३—"अकारान्तोत्तरपद इत्यत्र उत्तरपदग्रहणस्य व्यर्थत्वापत्तिश्च"—लघुशब्देन्दुशेखरः, अव्ययीभावसमास, समासान्ताः प्रतीक

समासावयवत्व की सिद्धि में दृढता से सरूपसूत्रस्थ भाष्य की अन्यथा-योजना प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार 'ऋक्च ऋक्च ऋचौ, असारूप्याद् एकशेषो न प्राप्नोति' भाष्य की इस पंक्ति में जो हेतु प्रदर्शित किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि समासान्तों के समासावयव होने पर भी 'ऋक् सु ऋक् सु अ+औ' इस स्थिति में समासान्त का व्यवधान होने से उससे प्राग्भाग के अव्यवहित पर में विभक्ति नहीं है तथा समासान्त से विशिष्ट होने पर दोनों भागों में समानता नहीं है। फलतः यहाँ 'असारूप्यात्' हेतु सर्वथा संगत है। किंच सरूपसूत्र में विशिष्टरूपोपादान न होने से 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्' परिभाषा की वहाँ प्रवृत्ति नहीं होती है, अतः 'द्वन्द्वावयवों के अर्थवान् होने पर ही एक शेष होता है', इस कथन में प्रमाण न होने से वहाँ सार्थक या अनर्थक का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव भाष्यकार ने उक्त स्थल में 'आनर्थक्यात्' हेतु का उपस्थापन नहीं किया है। एवंच समासावयव पक्ष में सूत्र के भाष्य से कोई विरोध नहीं है। अतः नागेशानुसार सामासान्त-प्रत्यय समास-समुदाय के ही अवयव होते हैं, केवल उत्तरपद के नहीं।

नित्यानन्द पर्वतीय ने अपनी शेखरदीपिका टिप्पणी में यहाँ नागेश का प्रत्युत्तर देते हुए इसके उत्तरपदावयवत्व पक्ष को भी स्थापित किया है।[१] उन्होंने इसमें दो प्रमाण रखे हैं :

(१) 'उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः'[२] सिद्धान्त के अनुसार द्वन्द्व का अपवाद होने से एकशेष द्वन्द्वावयवों के अर्थवान् होने पर ही प्रवृत्त होता है। फलतः समासावयवत्व पक्ष मान लेने पर सरूपसूत्र के प्रदर्शित स्थल में भाष्यकार के द्वारा आनर्थक्य हेतु के अकथन की न्यूनता का परिहार नहीं हो सकता है।

(२) काक्षः, अन्तरीपम्, प्रतीपम् इत्यादि रूपों की सिद्धि के लिए समासान्तों का उत्तरपदावयवत्व परमापेक्षित है, अन्यथा 'कापथ्य-

---

१—'दिगर्थस्तु उत्तरपदावयवत्वमपि सरूपसूत्रस्थभाष्यसम्मतम्'—शेखर-दीपक, अव्ययीभावसमासप्रकरण, समासान्ताः प्रतीक

२—परिभाषन्दुशेखर, २ प्रकरण, परिभाषा ५२

क्षयोः' (पा० सू० ६।२।१०४) सूत्रघटक अक्ष से 'षच्' विशिष्ट उत्तरपदभूत काक्ष के अक्ष का ग्रहण नहीं होगा और उक्त सूत्र से 'कु' को 'का' आदेश तथा 'अन्तरीपम्' इत्यादि उदाहरणों में 'ई' आदेश नहीं हो सकेंगे।

वस्तुतः शरीर, हाथ एवं अंगुली के लौकिक दृष्टान्त से सिद्ध 'अवयवावयवः समुदायावयवो 'भवति' न्याय का आश्रयण करते हुए समासान्तों का उत्तरपद का अवयव मानने में कोई आपत्ति नहीं है। चूँकि उत्तरपद समास का ही अवयव होता है, फलतः उत्तरपद का अवयव स्वतः समासावयव सिद्ध हो जाता है। इस कल्पना से जहाँ 'अन्तः' एवं 'सरूप' सूत्र के भाष्य से विरोध नहीं पड़ता, वहीं द्विपुरी, काक्षः इत्यादि प्रयोग भी निष्पन्न हो जाते हैं।

ये समासान्त 'बहुजस्चर्मन्जस्+क' इस अलौकिक प्रक्रिया वाक्य में सुप् के पर में ही अवस्थित होते हैं। उससे पूर्व में विहित होने पर तो वाच्यार्थ विरोध होगा, क्योंकि समासार्थ सुप्रहित नहीं हुआ करता। अवधेय है, ऊपर प्रदर्शित अलौकिक स्थिति न तो सुबन्त है और नहीं प्रातिपदिक। फिर भी उसी स्थिति में समासान्त होते हैं। अतएव प्रदर्शित स्थिति में 'जस्' से पर में 'क' का व्यवधान हो जाने के कारण स्त्रीलिंगक टाप् करने पर 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' (पा० सू० ७।३।४४) सूत्र से मकारोत्तर अकार को इत्व होकर 'बहुचर्मिका' इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं।

यहाँ तक समासान्तप्रत्यय, उनका पाणिनीय स्वरूप और उनके अनुबन्ध-प्रयोजन पर प्रकाश डाला गया। तालिका के माध्यम से और उसके बिना भी इनकी सामान्य और विशेष प्रकृतियों और उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया। उक्त प्रतिपादन में यथायोग भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण भी प्रस्तुत हुआ है। इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व समासान्त पदार्थ के विवेचन में नवीन और प्राचीन वैयाकरणों के मत की सोदाहरण उपपत्ति की गयी है। इससे यह सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि इन्हें तद्धित मान कर भी महर्षि पाणिनि ने क्यों 'समासान्ताः' (पा० सू० ५।४।६८) सूत्र के अधिकार में रखा है।

एवञ्च रूपविज्ञान की अपेक्षा से इन प्रत्ययों की 'तद्धित और समासान्त' ये दो संज्ञायें होती हैं तथा अर्थविज्ञान की दृष्टि से इन्हें अत्यन्तस्वार्थिक प्रत्यय कह सकते हैं।

(५) स्त्री प्रत्यय

लिंग-लक्षण :—व्याकरणशास्त्र में गुण, वृद्धि, दीर्घ, गोत्र, समासान्त इत्यादि सार्थक योगरूढ संज्ञाओं की भाँति स्त्रीसंज्ञा भी सार्थक एवं पारिभाषिक है।[1] यद्यपि चेतन में—

'स्तनकेशवती स्त्री स्यात् लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥'[2]

इसे स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक का लक्षण कहा जा सकता है, तथापि यह सर्वथा अव्यभिचरित नहीं है। क्योंकि 'दाराः, मित्रम् इत्यादि बहुत से ऐसे शब्द हैं, जिनके वाच्यार्थ उक्त लक्षण से स्त्री आदि भिन्न रूप में लक्षित होने पर भी तद्वाची शब्द पुँल्लिग आदि में प्रयुक्त होते हैं। पर हाँ, चेतन प्राणियों के विषय में उक्त लक्षण के इस व्यभिचार को अपवाद कहा जा सकता है। अतएव शास्त्रों में ऐसे शब्दों को अपवाद मानते हुए इनके शास्त्रीय लिंग का निर्देश कर दिया जाता है।[3] एवंच चेतन प्राणी अर्थ के वाचक शब्दों के प्रयोग में लिंग विषयक भ्रान्ति प्रायः नहीं रहती है। यही स्थिति सभी भाषाओं में रहती है, अतः कम से कम दो लिंग तो अन्य भाषाओं में भी पाये जाते हैं। किन्तु संस्कृत के भाषाशास्त्रियों का चिन्तन सबसे भिन्न, नितान्त मौलिक एवं परम वैज्ञानिक है। भारतीय भाषाशास्त्री अचेतन अर्थमात्र को नपुंसकलिंग

१—'शास्त्रीयं कार्यं शास्त्रीये उक्त एव। शास्त्रीयमपि शब्दतो बुध्यते, तथानुभवात्'—लघुशब्देन्दुशेखर, स्त्रीप्रत्ययप्रकरण, स्त्रियाम् प्रतीक

२—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, स्त्रीप्रत्यप्रकरण, सू० ४५३ में महाभाष्य से उद्धृत

३—'पुंभूम्निदाराः स्यात्'—अमरकोष, काण्ड -२, मनुष्यवर्ग, पंक्ति १०८५

स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हो सकते, क्योंकि शब्दों की महिमा विचित्र है। कोई शब्द उसी अर्थ को पुँल्लिगरूप में कहता है तो दूसरा उसे स्त्रीलिंग में। फलतः संस्कृत में अचेतन-अर्थाभिधायी शब्द भी पुँल्लिग या स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं। इसके विपरीत चेतन अर्थ के वाचक 'ब्रह्मन्' इत्यादि शब्द भी नपुंसकलिंग में देखे जाते हैं। एवंच लिंग के लक्षण में शब्द के आधार को अस्थिर समझकर तथा चेतन प्राणियों में लिंग को अर्थनिष्ठ देखते हुए आचार्यों ने वैज्ञानिकता के आधार पर लिंगत्रय के भेद को परिभाषित किया है। आधारीभूत इस विज्ञान को 'प्रकृतिविज्ञान' कह सकते हैं। उसी का प्रपंचभूत दृश्यमान जगत् है। दार्शनिकों ने इस प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा है।[1] वे गुण हैं—सत्त्व, रजस् व तमस्। 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते'[2] इस सिद्धान्त के अनुसार जागतिक सभी अर्थों का त्रिगुणात्मक होना स्वाभाविक है। इस अर्थनिष्ठ गुणत्रय के आधार पर ही संस्कृत के भाषाशास्त्रियों ने लिंगत्रय की अवधारणा की है। तदनुसार उक्त तीनों गुणों के उत्कर्षापकर्ष और साम्य स्थिति को क्रमशः पुँल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसक कहा गया हैं।[3] जिस अर्थ में सत्त्वादि गुणत्रय का उत्कर्ष रहता है, उसे पुँल्लिग तथा तद्वाचक शब्द को भी पुँल्लिग कहते हैं। इसी प्रकार उक्त गुणों के अपकर्ष में वह अर्थ और उसका वाचक शब्द स्त्रीलिंग कहा जाता है। इसके विपरीत जिस अर्थ में इन गुणों का उत्कर्षापकर्ष न हो, अपितु केवल इनकी स्थिति अर्थात् साम्यावस्था हो तो वह अर्थ एवं उसका वाचक शब्द नपुंसकलिंग होता है।

लिङ्ग की अवस्थिति :—यहाँ यह अवधेय है, गुणत्रय की उक्त तीनों स्थितियाँ अर्थमात्र में सम्भव हैं। यह भी अनुभूत एवं श्रुत है कि एक ही अर्थ में इन गुणों का कभी उद्रेक, कभी अनुद्रेक तथा कदाचित्

१—'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'—सांख्यसूत्र १।६१

२—तुलनीय—'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'—वैशेषिकदर्शन २।१।२४

३—'संस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ स्वकृतान्ततः'—महाभाष्य, ४।१।३

सामान्य स्थिति रहती है। एवंच सभी अर्थों में तीनों लिंगों की स्थितियाँ संभव हैं। अतएव एक ही अर्थ को कभी 'अयं पदार्थः' इस प्रकार पुँल्लिग से, कभी 'इयं व्यक्तिः' इस प्रकार स्त्रीलिंग से तथा कभी उसे 'इदं द्रव्यम्' इस प्रकार नपुंसकलिंग से निर्दिष्ट करते हैं। एवंच उक्त तीनों लिंग अर्थमात्र में रहने वाले केवलान्वयी हैं।

यह बात दूसरी है कि उनके वाचक शब्द विशेष सदा नियतलिंग अथवा अनियतलिंग ही होते हैं। कोई शब्द एक ही अर्थ के पुँल्लिग रूप को सदा व्यक्त करता है तो दूसरा शब्द सदा उसके स्त्रीलिंग को ही व्यक्त करता है। इसी प्रकार तीसरा शब्द उसी एक अर्थं के तीनों लिगों की अभिव्यक्ति करता है तथा कोई शब्द उसके केवल नपुंसकत्व को। यथा—नक्षत्र अर्थ को 'पुष्यः' शब्द पुँल्लिग, 'तारका' शब्द स्त्रीलिग एवं 'नक्षत्रम्' शब्द नपुंसक लिंग रूप में निर्दिष्ट कर रहे हैं। एक ही 'घट' शब्द अपने अर्थ के तीनों लिंगों को निर्दिष्ट करता है। इसी प्रकार 'कुटी' एवं 'कुटीरः' ये शब्द किंचित् परिवर्तन से एक ही अर्थ के दो लिंगों को बतलाते हैं। इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार चेतन प्राणी में लिंग अर्थनिष्ठ होता है, तद्वत् अचेतन अर्थों में ही उक्त तीनों लिंग सदा रहते हैं। ऐसी स्थिति में विरोध की सम्भावना नहीं है, क्योंकि कालक्षण के भेद से परस्पर विरुद्ध तीनों लिंग-धर्मों का समावेश उपपन्न है।[1] किसी अर्थ के एक क्षण में कोई एक लिंग स्थित रहता है तो दूसरे क्षण में दूसरा लिंग। इसी प्रकार तृतीय क्षण में तीसरे लिंग की स्थिति हो सकती है। एवंच यद्यपि एक कालक्षण में तीनों लिंग नहीं रह सकते, तथापि अनेक-क्षणस्थायी अर्थ में तीनों लिंगों की परिवर्तित स्थिति को देखते हुए उस अर्थ को तथा उसके वाचक शब्द को युगपत् द्विलिंगक या त्रिलिंग कह दिया जाता है।[2] व्यवहारसमकालिक-पदार्थसत्ता ही व्यवहार

१.—"कश्चिदपि सत्वादिधर्मः क्वचिन्मुहूर्तमपि नावतिष्ठते, यावदनेनवर्धित-व्यमपायेन वा युज्यते"—महाभाष्य, ४।१।३

२—'न चैवं सति युगपत् द्वित्रिलिंगत्वानापत्तिरिति वाच्यम्, नहि व्यवहारे स्वसमकालिक पदार्थसत्ता प्रयोजिका—'सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, स्त्रीप्रत्ययप्रकरण, सूत्र संख्या ४५३

की प्रयोजिका हो, ऐसी बात नहीं है। अन्यथा भूत व भविष्यत् काल व्यवहार ही अनुपपन्न हो जायेगा। हम जिस समय काल-व्यवहार करते हैं उस समय उनकी बाह्य सत्ता सम्भव नहीं है। इस प्रकार के सारे व्यवहार पदार्थ की बौद्धिक सत्ता से सम्पन्न किये जाते हैं।

पदार्थमात्र में सत्त्वादि तीनों गुणों के रहने से तीनों लिंगों को पदार्थमात्र में स्थित माना जाता है, इस कथन से दो प्रश्न असमाहित रह जाते हैं: (१) जिस परमपुरुष रूप पदार्थ में गुणत्रय की स्थिति मान्य नहीं है वहाँ लिंग-व्यवहार कैसे होगा अथवा क्यों होता है? (२) ऐसी स्थिति में अर्थों के वाचक शब्दों में तीनों लिंग आरोपित क्यों नहीं होते तथा शब्दों के लिंगज्ञान के क्या लक्षण अथवा साधन हैं? इनमें से प्रथम प्रश्न के समाधान में यह कहा जा सकता है कि जिस पदार्थ को परमपुरुष अथवा परमचेतन शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है, यद्यपि वह गुणत्रय से अस्पृष्ट निर्धर्मक है तथापि शब्द से उल्लेख करने पर वह 'शब्दवाच्यत्व' धर्म से अवश्य आलिंगित हो जाता है, अतएव उस अर्थ को शब्दानभिधेय स्वीकार किया जाता है तथा वेदों ने 'नेतिनेति' इस व्यावर्तन पद्धति का आश्रय लिया है अथवा उस अर्थ में या तद्वाची शब्दों में गुणों का आरोप करके लिंगव्यवहार का उपपादन संभव है।[1]

दूसरे प्रश्न के समाधान में यह कल्पना की जा सकती है कि शब्द पदार्थ के किसी एक क्षण का संकेत करते हैं। जिस क्षण में वे अर्थ गुणों के प्रकर्ष से युक्त रहते हैं उस अर्थक्षण में संकेतित शब्द का व्यवहार पुँल्लिग में होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न क्षणों में संकेतित शब्दों में लिंग का भेद हो जाता है। इसके विपरीत जो शब्द अर्थ के तीनों क्षणों को संकेतित करता है उसका प्रयोग तीनों लिंगों में होता है।

लिङ्गज्ञान के साधन : जहाँ तक शब्दों के लिंगज्ञान का प्रश्न है, भाष्यकार ने कहा है : 'अवश्यं तावत् कश्चित् स्वकृतान्तः आस्थेयः' (महाभाष्य, पा० सू० ४।१।३)। ये कृतान्त लिंगानुशासन, वृद्धव्यवहार

१—'पुंस्त्वादेरप्यारोपेण पुरुष इत्यादिप्रतीतिरूपपद्यते'—लघुशब्देन्दुशेखरदीपक, स्त्रीप्रत्यय प्रकरण, 'स्त्रियाम्' सूत्र

और 'स्तनकेशवती स्त्री' इत्यादि लौकिक लक्षण रूप हैं। लौकिक लक्षण के अपवाद का ज्ञान लिंगानुशासन अथवा वृद्धव्यवहार से संभव है अर्थात् लौकिक लक्षण से लक्षित अर्थ के वाचक शब्दों में लक्षण के अनुसार सदा पुँल्लिग या स्त्रीलिंग का व्यवहार किया जाता है तथा उक्त लौकिक लिंगों के अभाव में अर्थात् अचेतन अर्थों के वाचक-शब्दों में लिंगानुशासन अथवा वृद्धव्यवहार के अनुसार शब्द में लिंग प्रयोग करना चाहिए। अतएव महर्षि पाणिनि ने 'स्त्री' इस सार्थक संज्ञा का प्रयोग किया है, ताकि संभव होने पर लौकिकलिंग का ही आश्रय लिया जाय। अतएव 'पशुनायजेत' इत्यादि' वैदिकवाक्यों में प्रयुक्त पशुशब्द से पुँल्लिग पशु ही गृहीत होता है, अन्यथा स्त्रीपशु में भी सत्त्वादि गुणों के उपचयरूप पुँल्लिग की स्थिति सम्भव होने से 'आङोनाऽस्त्रियाम्' (पा० सू० ७।३।१२०) सूत्र की प्रवृत्ति में विरोध नहीं होगा। फलतः स्त्रीपशु का आलभन भी वैगुण्यापादक नहीं होता, जब कि वहाँ स्त्रीपशु वर्जित है। एवंच अर्थ में सभी लिंग सम्भव होने पर भी तद्वाचक किसी एक शब्द से सभी लिंगों का अभिधान सम्भव नहीं है।

लिंग-द्योतन : अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि केवलान्वयी त्रिविधलिंग प्रातिपदिक के वाच्य हैं अथवा प्रत्यय के? वैयाकरणों ने जाति एवं व्यक्ति की भाँति इसे भी प्रातिपदिकार्थ अंगीकार किया है।[1] इस उक्ति में विनिगमना का निगमन सुस्पष्ट है। तथाहि—विभक्ति प्रत्ययों को लिंगार्थक मानने पर विभक्तियों के समान होने से रामः, रमा और ज्ञानम् में लिंग भेद के बोध की अनापत्ति हो जायेगी। यदि रमा शब्द के 'आ', गौरी के 'ई' और अलाबू के 'ऊ' को स्त्रीलिंग का बोधक माना जाय तो मातृ, दुहितृ, स्वसृ, प्रावृट्, विप्रुट् या रुक् इत्यादि शब्दों में लिंग का बोधक कौन होगा? इस प्रकार के अनेकों शब्द हैं जिनमें स्त्रीलिंगबोधक प्रत्यय का सर्वथा अभाव होने पर भी उनसे स्त्रीलिंगार्थ की प्रतीति होती है। किंच लिंग को प्रत्ययवाच्य मानने पर उस अर्थ में एक प्रत्यय के विधान के अनन्तर उसी अर्थ में

१—'जातिव्यक्तिलिंगसंख्याकारक इति पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः—लघुशब्देन्दुशेखर, कारकप्रकरण, प्रातिपदिकार्थ सूत्र

एक प्रत्यय के विधान के अनन्तर उसी प्रकृति से पुनः दूसरे प्रत्यय की प्राप्ति सम्भव नहीं होगी,[1] जब कि व्यवक्रोश, पुणिक्, देवयज्ञ इत्यादि प्रकृतियों से स्त्रीलिंग में अञ् तथा ष्यङ् प्रत्यय होने पर पुनः उसी अर्थ में 'ई' एवं 'आ' स्त्रीप्रत्यय व्यवहृत होते हैं। फलतः स्त्रीलिंगादि अर्थ को प्रत्यय का वाच्य नहीं माना जा सकता है। पर हाँ, कतिपय प्रत्ययों के विधान के पश्चात् लिंगविशेष के बोधनैयत्य को दृष्टिगत करते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि इन प्रत्ययों के रहने पर इस लिंग का बोध अवश्य होता है। इन्हीं के रहने पर इसका बोध होता है, ऐसा नियम सम्भव नहीं है। अतएव वैयाकरणों ने प्रत्ययों को लिंग का द्योतक माना है। आ, ई, ऊ या ति प्रत्यय जहाँ स्त्रीलिंग के द्योतक हैं वहीं विभक्ति प्रत्ययों में विसर्ग, अम्, आनि इत्यादि प्रत्ययरूपों को पुँल्लिग अथवा नपुंसकलिंग का द्योतक कहा जा सकता है। यहाँ यह अवधेय है, विभक्ति प्रत्ययों की उक्त द्योतकता से उनकी संख्या या कारक अर्थ की द्योतकता का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'एकाक्रिया द्वयर्थकरी प्रसिद्धा, आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः' इत्यादि लौकिक दृष्टान्त के अनुसार इन की युगपत् अनेक द्योतकतायें मान्य हैं। प्रकोष्ठ में स्थित प्रकाश प्रकोष्ठगत सभी वस्तुओं को एक साथ प्रकाशित करता ही है।

उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रकृत प्रकरण में प्रतिपाद्य स्त्रीप्रत्यय स्त्रीलिंग अर्थ के द्योतक हैं अर्थात् प्रकृति से जायमान स्त्रीलिंगबोध में ये सहायक होते हैं। इनकी सहायता से स्त्रीलिंग अर्थ के तीन रूपों की पृथक्तया सुस्पष्ट प्रतीति होती है। जातिवाची शब्दों से विहित होने पर जहाँ ये तज्जातीय स्त्री का बोध कराते हैं वहीं पुरुष के धर्मविशेष के बोधन में रूढ़शब्दों से विहित होने पर पुंयोगस्त्री अर्थ का बोधन करते हैं। एवमेव गुणवाची अथवा विशेषण शब्दों से विहित होकर ये प्रत्यय जाति या पुंयोगस्त्री की विशेषता को प्रगट करते हैं।

१—'उक्तार्थानामप्रयोगः'—लघुशब्देन्दुशेखर, कारकप्रकरण, प्रातिपदिकार्थ प्रतीक में उद्धृत

शब्दशास्त्रीय जाति-स्वरूप : पाणिनीय व्याकरण में अन्य संज्ञाओं की भाँति जाति व गुण संज्ञा भी पारिभाषिक हैं, जबकि हेमचन्द्र ने जाति की पारिभाषिकता को विधानान्तर से सिद्ध किया है[1] और लौकिक जाति से ही प्रत्यय-व्यवस्था उत्पन्न की है।[2] फलतः उनके शास्त्र का विस्तार अवश्यम्भावी है। पाणिनीय व्याकरण में जाति एवं गुण की प्रदत्त परिभाषा को स्पष्ट कर लेना प्रकृत प्रकरण में परमोपयोगी होगा। 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' (पा० सू० ४।१।६३) सूत्र की व्याख्या में महर्षि पतंजलि ने नैयायिकाभिमत जाति स्वरूप से वैयाकरणाभिमत स्वरूप के भेद को स्पष्ट करते हुए रूपीय प्रक्रिया की दृष्टि से उसके लक्षण का निर्देश किया है। इस प्रसंग में 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्'[3] नैयायिकों की यह जाति सर्वथा अमान्य नहीं है, अपितु शुक्लादि गुणों में ङीष् विधायक उक्त सूत्र की पक्षान्तर से अतिव्याप्ति तथा अपत्यार्थक प्रत्ययान्त शब्दों में अव्याप्ति ही नैयायिकोक्त जाति लक्षण के अस्वीकार में मूल कारण हैं। किंच कथित स्थलों में अव्याप्ति व अतिव्याप्ति के कारण ही व्याकरण-शास्त्र में जाति के किसी एक लक्षण का निर्वचन सम्भव नहीं है। फलतः शास्त्रप्रक्रिया के सम्यक् निर्वाह के लिए इसके तीन लक्षण माने गये हैं। प्रथम लक्षण[4] से घट, पट, तट इत्याहि नैयायिक लक्षण-गृहीत वे सभी शब्द संगृहीत हो जाते हैं, जिनके वाच्यार्थ आकार-विशेष असंख्यातरूप में विद्यमान होते हैं। सभी घटादि व्यक्तियों में 'अयं घटः, अयं घटः' इत्यादि समानाकारक प्रतीति होने से घट जाति की सत्ता सिद्ध होती है। इसी प्रकार समानाकारक व्यक्तियों में प्रतीयमान एक जाति को ही 'अनुगत संस्थान व्यंग्या' शब्द से अभिहित किया जाता है। यह जाति अनेक व्यक्तियों की समान आकृति से पहचानी जाती है। एवंच जिसकी पहचान आकृति से होती है उसे जाति कहते हैं, वैयाकरणों का यह प्रथम जाति लक्षण है।

१—'अणञेयेकण्नञ्स्नञ्टिताम्'—हैम० २।४।२०
२—'जातेरयान्तनित्यस्त्रीशूद्रात्—हैम० २।४।५४
३—तर्कसंग्रह, सामान्य लक्षण
४—'आकृतिग्रहणा जातिः'—सिद्धान्तकौमुदी, स्त्रीप्रत्यय, सूत्र ५१८ में उद्धृत

द्वितीय लक्षण : ऊपर जाति का प्रथम लक्षण निर्दिष्ट किया गया। केवल उसी लक्षण को स्वीकार करने पर ब्राह्मण, वृषल इत्यादि जातियाँ असंगृहीत रह जायेंगी, क्योंकि इस प्रकार की जाति वाली व्यक्तियों में अवयवसंनिवेश का भेद नहीं होता। ब्राह्मण, वृषल आदि मनुष्यों की आकृति समान होती है, अतः आकार से इनकी पहचान नहीं हो सकती है। इस प्रकार की जाति के वाचक शब्दों से भी स्त्री प्रत्ययों का विधान होता है, अतः इसका एक दूसरा लक्षण स्वीकार किया गया है : 'लिंगानाम् च न सर्वभाक्, सकृदाख्यात-निर्ग्राह्या'[1] इस लक्षण में दो बातें बतायी गयी हैं : (१) शब्द को नपुंसक-लिंग नहीं होना चाहिए और केवल एकलिंग भी नहीं होना चाहिए अर्थात् उसे पुँल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों में वर्तमान रहना चाहिए। (२) एक व्यक्ति में एक बार निर्देश कर देने पर तत्सम्बद्ध व्यक्त्यन्तर में भी उसका बोध होना चाहिए। जैसे किसी व्यक्ति में 'यह ब्राह्मण है' ऐसा निर्देश कर दिये जाने पर उसके पितृ-पितामहादि सम्बद्ध व्यक्त्यन्तर के रहने या न रहने पर भी 'वे भी ब्राह्मण हैं या थे, यह ज्ञान अबाधित होता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति में शूद्र जाति का निर्देश होता है, उसकी आगामी पीढ़ियों पुत्र-पौत्रादि में बिना कहे ही शूद्रत्व का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार की जातियों को 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' शब्द से कहा गया है अर्थात् एकबार बताने से जिसका ज्ञान होता है, वह भी जाति है। इसके वाचकशब्द भी जातिवाची कहे जाते हैं। स्पष्ट है, ये शब्द पुँल्लिग या स्त्रीलिंग में ही विद्यमान रहते हैं अर्थात् इनसे नपुंसकलिंग का अभिधान नहीं होता है। जाति के उक्त उदा-हरण में अवधेय है, ब्राह्मण आदि जाति व्यतीत पितृ-पितामहादि में ही अवगत होती है। अनागत पुत्रादि में उसके अभाव की भी स्थिति स्मृतियों में प्रातिपादित है। क्योंकि सम्भव है उस ब्राह्मण से ब्राह्मणेतर कन्या में पुत्र उत्पन्न हो, जो कि ब्राह्मण-भिन्न होगा। इसके विपरीत शूद्रजाति का ज्ञान सम्बद्ध व्यक्ति के पितृ-पिता-महादिकों में सुलभ नहीं है। अस्तु, इस प्रकार आकृतिसाम्य में भी परिकल्पित लौकिक जातियों के वाचक शब्द रूपीयदृष्टि से व्याकरण में जातिवाची माने गये हैं।

१—'आकृतिग्रहणा जातिः'—सिद्धान्तकौमुदी, स्त्री प्रत्यय, सूत्र ५१८ में उद्धृत

तृतीय लक्षण : जातिवाचक शब्दों की उक्त कोटि में एक तीसरे प्रकार के भी शब्द समाविष्ट हैं जिन्हें विशेषण अथवा तद्धितप्रत्ययान्त कहा जाता है। इनमें अपत्यार्थ के उपस्थापक तथा वैदिकशाखाध्येतृ-वाचक शब्द जातिवाची माने जाते हैं। फलतः अपत्य या शाखाध्येता के स्त्री होने पर तद्वाची शब्दों को भी जातिशब्द से गृहीत करने के लिए आचार्यों ने पृथक् लक्षण स्वीकार किया[1] है। इस लक्षण में उपात्त 'गोत्र' शब्द के अर्थ में दो सम्प्रदाय हैं। अर्वाचीन दीक्षित प्रभृति प्रक्रियाकारों ने इस शब्द से अपारिभाषिक अपत्यप्रत्ययान्त सभी शब्दों का ग्रहण किया है तथा कैयटादि प्राचीन आचार्यों ने पारिभाषिक अर्थात् पूर्वस्तबक में व्याख्यात चतुर्थादि अपत्य के वाचक शब्दों को ही इस पद से गृहीत किया है।[2] किन्तु प्राचीनों ने अवन्ती, द्रौणायनी इत्यादि अपत्यार्थक शब्दों में गोत्रत्व का आरोप करके जातिनिमित्तक स्त्रीप्रत्यय का विधान किया है। एवंच दोनों पक्षों के सामंजस्य से निष्कर्ष निकलता है कि 'युवापत्य' अर्थ में विहित प्रत्यय से युक्त शब्द जातिवाची नहीं हैं।

निष्कर्ष : समाहार की दृष्टि से भट्ट नागेश ने जाति के उक्त तीनों लक्षणों को दो ही रूपों में विभक्त किया है। इनके अनुसार 'ब्राह्मणत्व, शूद्रत्व, कुमारत्व, युवत्व, गोत्व एवं घटत्व' ये सभी जातियाँ समान-रूप से आकृतिग्राह्य अथवा उपदेशग्राह्य हैं। यथा, एक बार के उपदेश से व्यक्त्यन्तर में पशुत्व जाति का भान हो जाता है, तद्वत् ब्राह्मण-त्वादि जातियों का भी ग्रहण सुकर है। एवमेव कुमारत्व आदि जातियाँ तो द्रव्यकालपर्यन्त स्थायी न होने पर भी आकृतिविशेष से ही संवेद्य हैं। फलतः उक्त सभी जातियाँ 'आकृतिग्रहणा जातिः' लक्षण से गृहीत हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त अपत्य एवं गोत्रापत्या-र्थक शब्दों से जातिकार्य करने के लिए एक पृथक् लक्षण अपरिहार्य है।

१—'गोत्रं च चरणैः सह'—सिद्धान्तकौमुदी, स्त्रीप्रकरण, सूत्र ५१८ में उद्धृत

२—'अपत्यमात्रं गोत्रमत्रेति प्राचीनमतं खण्डयितुमाह'—लघुशब्देन्दुशेखरदीपक, स्त्रीप्रत्यय, गोत्रंचेति प्रतीक

एवंच दो लक्षणों के माध्यम से जातिवाची सभी शब्दों को लक्षित किया जा सकता है।[1]

वस्तुतस्तु जाति को उक्त दो भेदों में गृहीत कर लेने पर भी उसे आकृतिग्राह्य, उपदेशग्राह्य, गोत्रापत्य तथा चरणरूप में स्वीकार करना ही पड़ता है। एवंच सभी पक्षों में भाष्योक्त जाति के उक्त तीनों लक्षण सर्वथा समादरणीय ही सिद्ध होते हैं।

गुणवचन : जाति की परिभाषा के समान नैयायिकों की गुण की परिभाषा भी शाब्दिकसिद्धि में अमान्य है। जैसा कि 'आकडारादेका-संज्ञा' (पा० सू० १।४।१) सूत्र में महर्षि पतंजलि ने स्पष्ट किया है, तदनुसार कृदन्त, तद्धितान्त, सर्वनाम, जाति, संख्या एवं संज्ञा से भिन्न मृदु, पटु इत्यादि धर्मबोधक विशेषणीभूत शब्द गुणवाची कहे जाते हैं। ऐसे ही शब्दों को 'गुणवचन' कहा गया है। अवधारणीय तथ्य है, ये केवल गुण के वाचक न होकर तदन्वित गुणी के भी वाचक होते हैं। इसके विपरीत 'रूप' शब्द केवल गुणवाचक हैं, रूपवान् का बोधक नहीं है, अतः उसे गुणवचन नहीं कह सकते। इनके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए पाणिनीयपरम्परा में भाष्यकार की एक कारिका अत्यन्त प्रसिद्ध है, जो उक्तार्थ को भंग्यन्तर से प्रस्तुत करती है, किन्तु वह भट्ट नागेश से उपेक्षित है।[2]

पुंयोग ; स्त्रीप्रत्यय की कुछ ऐसी प्रकृतियाँ हैं, जिन्हें पुंयोग-वाचिका कहते हैं। पति के सम्बन्ध से स्त्रीविशेष में उनका प्रयोग होता है। ऐसी प्रकृतियों से विहित प्रत्यय स्त्री और पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध को प्रकट करते हैं। पुरुष के आजीवन की किसी एक विशेष-

---

१—'परेतु आकृतिग्रहणा इत्येव लक्षणम्,…गोत्रं च इत्यादि प्रागवदेव'—लघु-शब्देन्दुशेखर, स्त्रीप्रत्ययप्रकरण 'जातेरस्त्री' सूत्र

२—'सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः ॥ 'इति गुणलक्षणंत्वेकदेश्युक्तिः'
—लघुशब्देन्दुशेखर, स्त्रीप्रत्ययप्रकरण, 'वोतो' प्रतीक

क्रिया को लक्षित करके उस पुरुष में कुछ विशेष शब्द संकेतित होते हैं, जैसे—गोप, उपाध्याय, नापित, कृषक इत्यादि। स्पष्ट है, इस प्रकार के शब्द जिस पुरुष के लिए प्रयुक्त होते हैं, उसके दैनिक जीवन की क्रिया को अभिव्यक्त करते हैं। कालान्तर में विवाहोपरान्त इन्हीं शब्दों से उनकी पत्नियों को भी सम्बोधित किया जाने लगता है, क्योंकि वह स्त्री उस पुरुष की क्रिया की फलभोक्त्री होती है। यद्यपि वह स्वयं उस क्रिया को स्वतन्त्र होकर नहीं करती, तथापि येन केन प्रकारेण उसमें सहायिका और फलभोक्त्री अवश्य होती है। यदि वह स्वयं उस क्रिया में स्वतन्त्ररूप से प्रवृत्त है तथा उस प्रवृत्ति के कारण ही उसे गोप, उपाध्याय आदि उपाधि मिली है तब उस स्त्री के बोधक उस क्रियामूलक उपनाम से पुंयोग की प्रतीति नहीं होगी और वहाँ ङीप् नहीं होगा, अपितु उस उपनाम से 'टाप्' (आ) प्रत्यय होगा। यद्यपि पत्नी से भिन्न स्त्री भी पुरुषक्रिया की फलभोक्त्री हो सकती है, तथापि भाष्यप्रमाण्य[1] से पुंयोग में पत्नी का ही ग्रहण होता है। इसी अर्थ के द्योतक प्रत्यय को पुंयोगार्थक तथा प्रकृति को पुंयोग शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है। स्त्री के संज्ञार्थक नाम अथवा पुरुष संसर्गनिमित्तक उपनाम से भिन्न विशेषणीभूत 'प्रसूता' इत्यादि क्रियामूलक शब्दों से पुंयोग प्रत्यय नहीं होते हैं। एवंच पुरुष की उपाधि, जो उसके संसर्ग से उसकी पत्नी के बोधनार्थ भी प्रयुक्त होते हैं, को पुंयोग कहते हैं।

स्वाङ्गवचन : सम्प्रति प्रकृतिज्ञान में उपयोगी होने से स्वांगवाचक शब्दों पर भी किंचित् विचार आवश्यक हो जाता है। सामान्यतया स्व के अंग को स्वांग कहते हैं। किन्तु इस सामान्यार्थ का ग्रहण करने पर 'सुमुखाशाला' इत्यादि उदाहरणों में स्व अर्थात् शाला का मुख स्वांग होना चाहिए, जबकि यहाँ यह स्वांग नहीं माना जाता। इसके विपरीत 'सुकेशीरथ्या' इत्यादि उदाहरणों में केश को रथ्या (गली) का अंग माना गया है, जबकि रथ्या से केश का अंगां-

---

१—'अकुर्वती पापं भर्तृकृतान् वधबन्धादीन् यथा लभते एवं तच्छब्दमपि, इति भाष्यस्वारस्येन जायापत्यात्मकस्यैव पुंयोगस्य विवक्षितत्वात्' —सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, स्त्रीप्रत्यय, सू० ५०४

गिभाव सम्बन्ध नहीं है। एवंच स्वांग के बोधनार्थ अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोषों से रहित एक लक्षण की आवश्यकता होती है, जिसे भाष्यकार ने 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' (पा० सू० ४।१।५४) सूत्र के भाष्य में निम्नलिखित कारिका से परिभाषित किया है:

अद्रवंमूर्तिमत् स्वांगं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतस्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत् तत् तथायुतम्॥

इस कारिका में स्वांग की तीन परिभाषायें विहित हैं। (१) प्राणी में विद्यमान, रोगादि विकारों से अनुत्पन्न और द्रवभिन्न मूर्तपदार्थ स्वांग कहे जाते हैं। इस प्रथम लक्षण में चार विशेषण उपात्त हैं। इनमें प्रथम विशेषण के कारण सुमुखाशाला इत्यादि में प्रयुक्त मुख स्वांग नहीं कहा जाता, क्योंकि वह प्राणि भिन्न शाला में विद्यमान है। दूसरे विशेषण के कारण रोगादि विकारों से जायमान शोफ, शोथ इत्यादि स्वांग नहीं कहे जाते हैं। तीसरे विशेषण से स्वेद, लाला इत्यादि द्रवपदार्थ स्वांग से भिन्न हो जाते हैं। एवमेव चौथा विशेषण ज्ञान–अहंकार इत्यादि भावात्मक अर्थों को स्वांग से व्यावृत्त करता है। उक्त चारों व्यवच्छेदों से व्यवच्छिन्न पदार्थों के वाचक शब्द स्वांगवाची कहे जाते हैं।

(२) अप्राणी के लिए प्रयुक्त होने पर भी जिनकी स्थिति प्राणी में ही रहती है, वे अंगवाची शब्द भी स्वांगवचन कहलाते हैं। इससे सुकेशीरथ्या इत्यादि उदाहरणों में प्रयुक्त केश की स्वांगता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि यहाँ अंगवाची केश का प्रयोग रथ्या के लिए अवश्य हुआ है, किन्तु इसकी स्थिति रथ्या की सुन्दरी के शिर पर ही है, अतः यह अतस्था=अप्राणिस्थ होने पर भी प्राणिसंबद्ध है। फलतः स्वांगवचन होने से यहाँ ङीष् होता है। तीसरे लक्षण से उन शब्दों का संग्रह हो जाता है, जिनके वाच्यार्थ प्राणि-सदृश प्रतिमा इत्यादि के अवयव रूप में स्थित हैं। यथा—'सुस्तनी प्रतिमा' इत्यादि में समागत स्तन शब्द यद्यपि प्राणी के स्तन का बोधक नहीं है, पुनरपि तत्सदृश अर्थ में विद्यमान है। एवंच त्रिविध लक्षणों से परिभाषित अर्थ के वाच्य हैं। इस अर्थ की वाचिका प्रकृति को स्वांग-वचन से अभिहित करते हैं।

स्त्रीप्रत्यय : स्त्रीप्रत्ययों के सन्दर्भ में प्रकृति के विशेषस्वरूप के ज्ञानार्थ उपादेय कतिपय पारिभाषिक शब्दों पर यहाँ विचार प्रस्तुत हुआ। अब आगे स्त्रीप्रत्ययों के स्वरूप, अनुबन्धप्रयोजन एवं प्रकृति-विशेष का अध्ययन किया जायेगा। संख्यात्मक दृष्टि से ये प्रत्यय अत्यल्प हैं। महर्षि पाणिनि ने इन्हें ८ रूपों में विभक्त किया है—टाप्, डाप्, चाप्, ङीप्, ङीष्, ङीन्, ऊङ एवं ति। स्पष्ट है, अनुबन्धों से इनके स्वरूप अनेक हो गये हैं। अतः हेमचन्द्र ने 'आप्, ङी, ऊङ, एवं ति' इन चार रूपों को ही अंगीकार किया है।[1] आचार्य अनुभूतिस्वरूप के अनुसार इनका स्वरूप आप्, ऊप्, ईप् एवं ति है[2], जबकि शर्ववर्मा ने इन्हें आ एवं ई रूप में ही अंगीकार किया है।[3] इस प्रकार वैयाकरणों ने इन्हें आठ से लेकर दो भागों में विभक्त किया है।

गौण-स्त्रीप्रत्यय : उपर्युक्त प्रत्ययों के अतिरिक्त 'अञ्, ष्फ् (आयन) और ष्यङ' ये तीन ऐसे प्रत्यय हैं, जो अपनी प्रकृति के वाच्यार्थ स्त्रीत्व के द्योतन हेतु विहित होते हैं, परन्तु यह द्योतकता ङीप् और चाप् में पर्यवसित होती है अर्थात् इनके विधान के अनन्तर पुनः उक्त स्त्रीप्रत्यय विहित होते हैं। अतएव इन्हें गौण प्रत्यय कहा गया है। इन तीनों प्रत्ययों को स्वार्थिक तद्धित भी नहीं कह सकते, क्योंकि इनके विधान के अनन्तर भी शब्दरूप विभक्ति संयोग से परिनिष्ठित नहीं होते हैं, उन्हें ङीप्, ङीष् अथवा चाप् की नित्य आकांक्षा रहती है, जबकि पूर्व प्रोक्त स्वार्थिक प्रत्ययों के विधान के अनन्तर शब्दरूप विभक्ति संयोग से परिनिष्ठित होता है। वैसे, वैयाकरणों के द्वारा ये उत्तरकृदन्त, स्त्रीप्रत्यय व अपत्यप्रकरण के मध्य निरूपित हुए हैं,[4] किन्तु वहाँ इनके द्योत्यार्थ का अभाव देखते हुए इन्हें इसी प्रकरण में निरूपित किया जायेगा।

१—द्रष्टव्य—हैम० २।४।१ से २।४।७७

२—द्रष्टव्य—सार० स्त्रीप्रत्ययप्रक्रिया १६, सूत्र १ से २२

३—'स्त्रियामादा' 'नदाद्यन्चिवाह्व्यन्स्यन्तृसखिनान्तेभ्य ई'—का० २।४।४६।५०

४—क्रमशः द्रष्टव्य—सिद्धान्तकौमुदी, उत्तरकृदन्तप्रकरण सू० ३२१६, स्त्रीप्रत्ययप्रकरण, सू० ४७३, ४७६ व ४७७ तथा अपत्याधिकारप्रकरण, सू० ११६८, ११६६, १२००, १२०१

स्मरणीय है, इनके अन्य अर्थों के आधार पर इन्हें और इनकी प्रकृतियों को पूर्ववर्त्ती प्रकरणों में भी देखा गया है। रही बात इनके तद्धित्व की, वह स्त्रीप्रत्ययों में भी समान है। चूँकि स्त्रीप्रत्ययों में क् अथवा ञ् अनुबन्ध हैं ही नहीं' अतः यहाँ आदिवृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता है। प्रकृति के अन्तिमस्वर के लोप की स्थिति उभयत्र समान है। पर हाँ, पाणिनीय परम्परा में एकादेशस्वर की सिद्धि के लिए 'टाप्' स्त्रीप्रत्यय का संयोग होने पर सर्वणदीर्घ एकादेश हुआ करता है[1], जबकि तद्धितीय नियम से टिलोप होना चाहिए।

अनुबन्धफल :—इस प्रकार यह निश्चित है कि स्त्रीप्रत्ययों का विदित स्वरूप 'आ, ई, ऊ एवं ति' है, पुनः अनुबन्धासंजन से इनकी आठ रूपों में अवधारणा निष्प्रयोजन नहीं है। जैसा कि कहा गया है, महर्षि पाणिनि संस्कृत के उस विशालरूप को प्रस्तुत करते हैं, जो वैदिककाल में विद्यमान था। वहाँ उदात्तादि स्वरों के परिवर्तन से अर्थभेद हो जाया करता है। उसी की सूचना महर्षि ने अनुबन्धों के प्रयोग से प्रदान की है। टाप्, डाप् और चाप् प्रत्ययों में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। भेद केवल उदात्तादि स्वरों का है। जहाँ 'टाप्' अनुदात्त होता है वहाँ 'चाप्' आन्तोदात्त।[2] इसके विपरीत डाप् का ङ अनुबन्ध प्रकृति के अन्तिम भाग टिलोप की सूचना देता है। उक्त तीनों प्रत्ययों के संदर्भ में 'ट् एवं चाप् के 'प' अनुबन्ध का प्रयोजन थोड़ी जटिलता से अवगत होता है, क्योंकि दूसरे अनुबन्धों की भाँति इनका प्रयोजन सुस्पष्ट नहीं है। दूसरे वैयाकरणों की दृष्टि में ये अनुबन्ध निष्फल हो सकते हैं, किन्तु पाणिनीय परम्परा में इनकी महती उपयोगिता है। अन्यथा 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्य क्तं हल्' (पा० सू० ६।१।६८) सूत्र में गृहीत 'आप्' शब्द से केवल टाप् प्रत्ययान्त शब्द ही गृहीत होते, क्योंकि 'ट्' अनुबन्ध न होने पर इस प्रत्यय का स्वरूप 'आप्' होता और ऐसी स्थिति में 'तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्यग्रहणम्[3] परिभाषा से डाप् एवं चाप् प्रत्ययान्त शब्दों का उक्त

१—'एकदेश उदात्तेनोदात्तः'—पा० सू० ८।२।५ इत्यादि

२—प० सू० ३।१।४ एवं ६।१।१६३ और 'डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः—सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादि, सू०२१८८

३—परिभाषेन्दुशेखरः, परिभाषासंख्या ८८

सूत्र में ग्रहण नहीं होता। एवमेव चाप् प्रत्यय में 'प्' अनुबन्ध का भाव होने पर उक्त सूत्र में उसका आप्त्वेन ग्रहण असम्भव था। इसी तरह ङीप्, ङीष् एवं ङीन् प्रत्ययान्त शब्दों का उक्त सूत्र में समान रूप से ग्रहण के लिए ही इनमें 'ङ' अनुबन्ध का समान रूप से आसञ्जन किया गया है। इसके अतिरिक्त इनसे अनुदात्त सूचित करने के लिए 'प्', अन्तोदात्त के ज्ञान के लिए 'ष्' एवम् पद के आदिस्वर की उदात्तता को सूचित करने के लिए 'न्' का अनुबन्धन किया गया है।[1] इस प्रकार इन तीनों प्रत्ययों का स्वरूप समान है। ऊङ प्रत्यय में 'ङ' अनुबन्ध 'नोङधात्वोः' (पा॰ सू०-६-१-१७५) सूत्र में विशेषणीभूत है। उक्त सूत्र से ऊङ प्रत्ययान्त शब्दों में ही उदात्तस्वर के निषेध की प्रवृत्ति होती है। फलतः 'यवाग्वा' इत्यादि में उक्त सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है।

एवंच प्रयोजन को दृष्टिगत करते हुए महर्षि पाणिनि के द्वारा निरूपित स्त्रीप्रत्यय के आठ स्वरूप संख्या में अपेक्षाकृत अधिक होने पर भी व्यवहार में अत्यन्त प्रचलित हैं। इसके विपरीत हेमचन्द्र और अनुभूतिस्वरूप ने अपने प्रत्ययों में जिन अनुबन्धों का आसञ्जन किया है, भाषायी दृष्टि से उनका बहुत मूल्य नहीं है। अपने शास्त्रों की दृष्टि से उनका सफल होना, एक दूसरी बात है। यही कारण है कि संख्या में अल्प होने पर भी उनका सर्वत्र प्रचार नहीं हुआ।

तालिका के विषय :—इन प्रत्ययों के स्वरूप एवं अनुबन्धप्रयोजन प्रभृति विषयों के निरूपण के पश्चात् इनकी प्रकृतियों को एक तालिका में रखा जा रहा है। इससे जहाँ अध्ययन में सौकर्य होगा वहीं अनावश्यक विस्तार से बचा जा सकेगा तालिका में प्रकृति के अतिरिक्त इनके द्योत्य स्त्रीत्व की जाति, पुंयोग अथवा तद्भिन्न विशेषणरूप को भी सोदाहरण प्रस्तुत किया जायेगा। यद्यपि इन प्रत्ययों में सामान्यतया आ, ई ऊ एवं ति प्रत्यय क्रमशः उत्तरोत्तर बलवान् या पूर्व-पूर्व के बाधक हैं, तथापि प्रातिपदिक विशेष से

१—पा० सू० ३।१।४; ६।१।१६४ व परिभाषा संख्या ८८ तथा पा० सू० ६।१।१६७.

विहित होने पर उस प्रत्यय को विशेष या अपवाद समझना चाहिए तथा अकारान्तादि प्रकृति सामान्य से विहित प्रत्यय को उत्सर्ग या अपवाद्य एवंच एक ही प्रत्यय की सामान्य व विशेष दोनों स्थितियाँ संभव हैं। अतएव प्रकृतियों का उल्लेख इन्हीं दो रूपों में किया जायेगा।

यहाँ उन्हीं प्रकृतियों का निर्देश है, जिनसे प्रत्यय का विधान होता है, जिनसे प्रत्यय का निषेध होता है, उनका स्वरूप आगे 'निषिद्ध प्रकृतियाँ' शीर्षक में प्रस्तुत होगा। उनकी संख्या नगण्य है[1] और तालिका में 'भिन्न' शब्द से व्यावृत्त हुई हैं। प्रत्ययों के अर्थ के क्रम में विशेषण, जाति एवं पुंयोग शब्दों का उल्लेख हुआ है। जैसा कि पहले संकेतित है, विशेषण शब्द जब स्त्री अर्थ की विशेषता को प्रकट करते हैं तब उन शब्दों से विधीयमान स्त्रीप्रत्यय के अर्थ को विशेषण अथवा विशेषणस्त्री शब्द से संकेतित किया गया है। जाति-वाची शब्दों से तज्जातिविशिष्ट स्त्री के बोधक प्रत्ययों को जाति या जातिस्त्री शब्द से उल्लिखित किया गया है तथा वैवाहिक सम्बन्ध से युक्त स्त्री अर्थ की प्रतीति पुंयोग शब्द से करायी गयी है। इसके अतिरिक्त कुछ प्रकृतियों से प्रत्यय-संयोग होने पर व्यक्तिवाची संज्ञा शब्द निष्पन्न होते हैं, उनका उल्लेख कोष्ठक में संज्ञा शब्द से हुआ है। प्रत्ययों की वैकल्पिक विधि को 'वा' शब्द से तथा कतिपय आगम व आदेशों को कोष्ठक में दिखाया गया है।

तालिका के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, ऋकारान्त एवं नकारान्त प्रकृतियों से ये प्रत्यय विहित होते हैं। इनके अतिरिक्त स्वरान्त या व्यञ्जनान्त प्रकृतियाँ नहीं के बराबर हैं। अनडुह्, वाह् इत्यादि जो हैं भी, उनका गणों या सूत्रों में प्रतिपद उल्लेख हुआ है। टाप् के प्रसंग

१—'न षट्स्वस्रादिभ्यः'—पा० सू० ४।१।१०; 'अनित्यः षितां ङीष'। दंष्टा —सिद्धान्तकौमुदी, सू० ४६६; 'न क्रोडादिबह्वचः' सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च' 'नखमुखात्संज्ञायाम्'—पा० सू० ४।१।५६,५७ व ५८ ये ही निषेधविधियाँ हैं, जिनका उक्त तालिका में निर्देश नहीं है।

में अवधेय है, अकारान्त अथवा अजादि प्रकृतियों के वाच्य स्त्रीत्व को द्योतित करने के लिए ही इसकी विधि होती है। ऐसी स्थिति में 'पंचानाम् अजानां समाहारः पंचाजी' इत्यादि उदाहरणों में स्त्रीत्व अर्थ केवल 'अज' शब्द का वाच्य नहीं है, प्रत्युत 'पंचाज' समुदाय का वाच्य है। अतः वहाँ 'टाप्' की प्राप्ति नहीं होती है।

स्त्रीप्रत्यय-तालिका

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
1.	अकारान्त व अजादिगण[1]	जाति, पुंयोग, विशेषण	टाप्	अजा, खट्वा, बाला
2.	सम्, भस्त्र, अजिन, शण व पिण्डपूर्वक फल-शब्दान्त	विशेषण व संज्ञा	,,	संफला, भस्त्रफला, अजिनफला
3.	सत्, प्राक्, प्रत्यक् काण्ड, प्रान्तपूर्वक पुष्पशब्दान्त	,,	,,	सत्पुष्पा, प्राक्पुष्पा काण्डपुष्पा
4.	शूद्र व अमूल	जाति व संज्ञा	,,	शूद्रा, अमूला
5.	पद् शब्दान्त	विशेषण (ऋचा)	,,	एकपदा ऋक्
6.	मन्नन्त एवं अन्नन्त बहुव्रीहि	संज्ञा व विशेषण	डाप्	सीमा, दामा
7.	सूर्य (देवता)	पुंयोग	चाप्	सूर्या
8.	यङ व ष्यङ प्रत्ययान्त	जाति	,,	आम्बष्ठ्या, कारीष-गन्ध्या

१. क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४।१।४; वार्तिक २४६६, १४६६, २४००, २४०१, २५००; पा० सू० ४।१।६, १३; वार्तिक २४७१; पा० सू० ४।१।७४; वार्तिक २५०५; पा० सू० ४।१।७५, ५ से ८, २८, १५; परिभाषा ६८; वार्तिक २४२५; पा० सू० ४।१।१६, २० से ३०, ३६, से ३६; वार्तिक २४५३, २४५४, २४५५; पा० सू० ४।१।४४; वार्तिक २४६०; पा० सू० ४।१।६०

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
9. षकारोत्तर यञ् प्रत्ययान्त व आवट्य	जाति	चाप्	शार्कराक्ष्या, आवट्या
10. ऋकारान्त एवं नकारान्त	विशेषण	ङीप्	कर्त्री, दण्डिनी
11. उ व ऋ अनुबन्धक प्रातिपदिक या प्रत्ययान्त	,,	,,	भवती, पचन्ती, श्रीमती, खेलन्ती
12. प्राच्, प्रतीच्, उदीच् व अवाच्	,,	,,	प्राची, प्रतीची
13. हृशन्त भिन्न धातु से विहित वन् प्रत्ययान्त	,, (र)	,,	अतिधीवरी, इत्वरी, पारदृश्वरी
14. पद् शब्दान्त	,,	,, (वा०)	द्विपदी-द्विपाद्
15. उपधालोपी अन्नन्त बहुव्रीहि	,,	,, ,,	बहुराज्ञी-बहुराजा
16. अनुपसर्जन व अकारान्त टित् प्रत्ययान्त, टित् प्रातिपदिक या टित् धातु से निष्पन्न	,,	,,	कुरुचरी, नदी, स्तनन्धयी
17. ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ् व क्वरप्प्रत्ययान्त अकारान्त अनुपसर्जन	,,	,,	सौपर्णेयी, ऐन्द्री, औपगवी, कटिमात्री
18. तरुण, तलुन व नञ् स्नञ् ईकक्, ख्युन् तथा स्वभावार्थक ण् प्रत्यान्त	विशेषण	ङीप्	तरुणी, स्त्रैणी आढ्यङ्करणी
19. अपत्यार्थक यञ् प्रत्ययान्त	जाति	,,	गार्गी, वात्सी
20. प्रथम या द्वितीयवयोवाची अकारान्त	,,		कुमारी, वधूटी
21. अकारान्त समाहारद्विगु	संज्ञा	,,	पंचाजी, त्रिलोकी

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
22. ताद्धितार्थकद्विगु (प्रत्यय-लोप न होने पर)	विशेषण	ङीप्	पंचनावरूप्यी
23. बिस्त, आचित, कम्बल्य से भिन्न परिमाणान्तद्विगु (तद्धितलोप में भी)	,,	,,	द्व्याढकी चतुष्प्रस्थी
24. काण्डान्तद्विगु (तद्धित-लोप में भी)	,, (खेतभिन्न)	,,	द्विकाण्डी रज्जुः
25. प्रमाणार्थक पुरुषान्त द्विगु (,,)	,,	,, (वा)	द्विपुरुषी-द्विपुरुषा
26. संख्या या अव्ययपूर्वक ऊधस् बहुव्रीहि	,, (न्)	,,	द्व्यूध्नी
27. संख्यादि दामान्त या हायनान्त बहुव्रीहि	,, (वयो-वाची)	,,	द्विदाम्नी, त्रिहायणी
28. उपधालोपी अन्नन्त बहु-व्रीहि	व्यक्तिसंज्ञा	,,	सुराज्ञी नामनगरी
29. केवल, मामक, भागधेय, पाप, अपर, समान, आर्य-कृत, सुमंगल व भेषज	,, वैदिक	,,	केवली, मामकी, भागधेयी, पापी
30. पूतक्रतु, वृषाकपि, अग्नि, कुसित, कुसीद	पुंयोग (ऐ)	,,	पूतक्रतायी, अग्नायी
31. मनु शब्द (ऐ व औ आदेश)	,,	,, (वा)	मनायी-मनावी मनुः
32. असित, पलितभिन्न अनुदात्तान्त वर्णवाची तकारोपध अनुपसर्जन तथा पिशंग	विशेषण (त को न)	,, (,,)	एनी-एता, पिशङ्गी-पिशङ्गा
33. उकारान्त गुणवाची	,,	,, ,,	मृद्वी-मृदुः

प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
34. दिक्पूर्वक असंयोगोपध स्वांग	विशेषण	ङीप्	प्राङ्मुखी
35. अन्तरवत् व पतिवत्[1] (नी)	गर्भवती व सधवा	,,	अन्तरवत्नी, पतिवत्नी
36. पति व सपत्न्यादिगण	यज्ञ सहभागिनी	,, (नी)	पत्नी, सपत्नी
37. पतिशब्दान्त (वा)	स्वामिनी	,, (,,)	गृहपत्नी-गृहपतिः
38. ऊधसन्त बहुव्रीहि (अस् लोप)	विशेषण (नी)	ङीष्	कुण्डोध्नी
39. तकारोपधभिन्न वर्णवाची अनुदात्तांत	,,	,,	कल्माषी, सारंगी
40. षित्प्रत्ययान्त व गौरादिगण	,,	,,	नर्तकी, गौरी
41. अनडुह (आ वा)	जाति	,,	अनडुही-अनड्वाही
42. जानपद व कुण्ड	जीविका व पात्र	,,	जानपदी, कुण्डी
43. गोण व स्थल	बोराविशेष व अकृत्रिभूमि.	,,	गोणी, स्थली
44. भाज व नाग	पक्व साग व स्थूला हाथी	,,	भाजी, नागी
45. काल व नील	वर्ण व औषधि	,,	काली, नीली

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ४।१।३२ से, ३५, २५, ४०, ४१; वार्तिक ४३७८; पा० सू० ४।१।४२, ४३, ४५, ४८; वार्तिक २४६१; पा० सू० ४।१।४६; वार्तिक २४७२, २४७३, २४७४, २४७८; पा० सू० ४।१।५० से ५२, वार्तिक २४८४, २४७६, २४८०; पा० सू० ४।१।५३ से ५५; ''अंगगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' (सूत्र ५११); वार्तिक २४८६, २४६०

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
46.	कुश, कामुक, कबर	लौहशलाका मैथुनेच्छुक, जुड़ा	ङीष्	कुशी, कामुकी कबरी
47.	वर्णवाची शोण वा बह्वादिगण	विशेषण, संज्ञा	,, (वा)	शोणी–शोणा
48.	पालकान्तभिन्न पुंयोग	पुंयोग स्त्री	,,	गोपी
49.	इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, आचार्य	,,	,, (आनी)	इन्द्राणी, भवानी
50.	हिम व अरण्य	अधिक व विशाल	,, (,,)	हिमानी, अरण्यानी
51.	यव व यवन	दूषित व लिपि	,, (,,)	यवानी, यवनानी
52.	मातुल व उपाध्याय (आनी वा)	पुंयोग स्त्री	,,	मातुलानी–मातुली
53.	उपाध्याय (स्वयं कर्त्री)	जाति	,, (वा)	उपाध्यायी–उपाध्याया
54.	अर्य व क्षत्रिय (आनी वा)	जाति व विशेषण	,,	अर्याणी-अर्या
55.	करणकारकपूर्वक क्रीत	विशेषण	,, (वा)	वस्त्रक्रीति
56.	करणादि क्तप्रत्ययान्त अकारान्त	अल्पता	,,	अभ्रलिप्ती द्यौः
57.	जातिवाचिपूर्वक जातभिन्न क्तान्त	विशेषण	,,	ऊरुभिन्नी
58.	पाणिगृहीत	संज्ञा	,,	पाणिगृहीती
59.	स्वांगभिन्नपूर्वक क्तान्त बहुव्रीहि	विशेषण	,, (वा)	सुरापीती
60.	असंयोगोपध उपसर्जन स्वांग तदन्त अकारान्त	,,	,, (,,)	अतिकेशी–अतिकेशा
61.	विशेषणीभूत नासिका, उदर, ओष्ठ, जंघा, दन्त, कर्ण, शृंग, अंग, गात्र, कण्ठ व पुच्छ शब्दान्त	,,	,, (,,)	वामनासिकी–वामनासिका नीलपुच्छी–नीलपुच्छा

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
62.	कबर, मणि, विष, शर-पूर्वक पुच्छ	विशेषण	ङीष् (वा)	कबरपुच्छी
63.	विशेषणीभूत उपमान-पूर्वक पक्ष व पुच्छ	विशेषण	ङीष्[1]	उलूकपुच्छी
64.	वाहशब्दान्त तथा सखि, अशिशु	,,	,,	दित्यौही, सखी
65.	यकारोपध भिन्न जातिवाची	जाति-स्त्री	,,	तटी, कठी, वृषली
66.	हय, गवय, मुकय, मनुष्य व मत्स्य	,,	,,	मनुषी, मत्सी
67.	ओदनपाक, शंकुकर्ण, शालपर्ण, संखपुष्प, दासी-फल, दर्भमूल, गोवाल	ओषधि विशेष की संज्ञा	,,	ओदनपाकी दासीफली
78.	इकारान्त मनुष्यजाति-वाची	जाति-स्त्री	,,	दाक्षी, औदमेयी
79.	अञ् प्रत्ययान्त शार्गरवादि-गण	,,	ङीन्	शार्ङ्गरवी ब्राह्मणी
70.	नृ व नर शब्द (नार)	,,	,,	नारी
71.	यकारोपधभिन्न मनुष्य-जातिवाची उकारान्त	,,	ऊङ्	पुरुः, पाण्डूः
72.	रज्जु, हनु से भिन्न अप्राणि जातिवाची उकारान्त	,,	,,	आलाबूः, नेर्कन्धूः शङ्कूः
73.	बाहु शब्दान्त	व्यक्ति संज्ञा	,,	भद्रबाहूः

१—क्रमशः द्रष्टव्य—वार्तिक २४९१; पा० सू० ४।१।६१ से ६३; वार्तिक २४९५; पा० सू० ४।१।६४, ६५, ७३, ६६; वार्तिक २५०२; पा० सू० ४।१।६७, ६८; वार्तिक ५०३९; पा० सू० ४।१।६०, ७०; वार्तिक २५०३; पा० सू० ४।१।७२, ७७; ५।४।१४; ४।१।७८ से ८१, १७ से १९; वार्तिक २४३३

	प्रकृति	प्रत्ययार्थ	प्रत्यय	उदाहरण
74.	पंगु व श्वसुर (अ लोप)	संज्ञा	ऊङ	पंगूः, श्वश्रूः
75.	उपमानपूर्वक ऊरुशब्दान्त	विशेषण	,,	करभोरुः
76.	संहित, सफ, लक्षण, वाम, सहित, सहपूर्वक ऊरु	,,	,,	शफोरुः, सहोरुः
77.	कद्रु व कमण्डलु	संज्ञा	,,	कद्रूः, कमण्डलूः
78.	युवन् (न् लोप)	विशेषण	ति	युवतिः
79.	कर्मव्यतिहारार्थक णच्प्रत्ययान्त		अञ्	व्यावक्रोशी
80.	ऋषिभिन्न से गोत्रार्थक अण् व इञ् प्रत्ययान्त दीर्घोपध	,,	ष्यङ्	कौमुदगन्ध्या कारीषगन्ध्या
81.	कुलव्यपदेशक से गोत्रार्थक अण् व इञ् प्रत्ययान्त	,,	,,	पौणिक्या, भौणिक्या
82.	क्रौड्यादिगण	,,	,,	क्रौड्या, व्याड्या
83.	देवयज्ञ, शुचिवृक्ष, सत्यमुग्र, काण्डेविद्ध व कण्ठेविद्ध	,,	,, (वा)	दैवयज्ञ्या दैवयज्ञी
84.	तद्धित यञ् प्रत्ययान्त	,, (वा)	ष्फ (आयन)	गार्ग्यायणी-गार्गी
85.	गर्गादिगण में लोहित से कतपर्यन्त यञन्त	,,	,,	कात्यायनी लौहित्यायनी
86.	कौरव्य, माण्डूक व असुरि	,,	,,	कौरव्यायणी

टाप् और स्वरपरिवर्तन :—जाति तथा पुंयोग में ङीप् एवं विशेषण में टाप् सामान्तया विहित होते हैं । एवंच टाप् का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होता है। इसके संयोग से प्रकृति के स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता, फिर भी कुछ स्थलों में इससे पूर्ववर्ती स्वर इकार में परिवर्तित हो जाया करता है। यह स्थिति तब आती है जब प्रकृति के अन्त में प्रत्यय का 'क' वर्ण होता है। बहुव्रीहि में

विहित 'कप् या अकच्, कन्, क अथवा तद्धित और कृत् का 'अक' इन्हीं प्रत्ययों में 'क' की स्थिति होती है। प्रकृति से इन प्रत्ययों के संयोग के अनन्तर निष्पन्न रूप से स्त्रीत्व बोधनार्थ टाप् करने पर 'क' से पूर्ववर्ती 'अ' स्वर का विकास 'इ' के रूप में देखा जाता है। यथा— सर्विका, कारिका, बोधिका इत्यादि। इसी के 'मामिका, नरिका, दाक्षिणात्यिका, इहत्यिका' इत्यादि भी उदाहरण हैं। किन्तु उक्त ककार और टाप् के मध्य सुप् की भूतपूर्व स्थिति होने पर भी उक्त परिवर्तन नहीं होता है। यथा—बहवः परिव्राजकाः यस्यामिति 'बहुपरिव्राजक+आ' इस स्थिति में 'आ' और 'क' के मध्य यद्यपि सुप्विभक्ति दृष्ट नहीं है तथापि 'टाप्' विधान से पूर्व समास करते समय 'बहुजस् परिव्राजक+जस्' इस अलौकिक विग्रहवाक्य में ककार के अनन्तर उसकी स्थिति होने के कारण टाप् उससे पर में है। फलतः यहाँ उक्त परिवर्तन संभव न होने से 'बहुपरिव्राजका' रूप ही परि-निष्ठित कहा जाता है। यत् और तत् शब्दों से अकच् होने पर अथवा आशीर्वादार्थक 'अक' प्रत्ययान्त शब्दों से और व्यक्तिवाची संज्ञा के उत्तरपद का लोप हो जाने पर भी यह परिवर्तन नहीं होता है। किंच क्षिपका, ध्रुवका, कन्यका व चटका को भी इसका अपवाद समझना चाहिए।

उक्त स्वरपरिवर्तन से कतिपय शब्दों में अर्थपरिवर्तन भी देखा जाता है। यथा—तारका=तारे, तारिका=विशेषण या दासी तथा आजकल अभिनेत्री, वर्णका=वस्त्र, वर्णिका=प्रशंसिका, वर्तका-वर्तिका, अष्टका-अष्टिका इन उदाहरणों में अर्थ परिवर्तन स्पष्ट है।

प्रकृति के अन्त में विहित टाप् से पूर्व यकार अथवा ककार रहने पर तथा पुनः उस टाबन्त प्रकृति से 'क' प्रत्यय एवं टाप् करने पर 'क' से पूर्ववर्ती टाप् (आ), ई और ऊ स्वर अपने ह्रस्व रूप में परि-वर्तित हो जाते हैं।[1] ह्रस्व में परिवर्तित होने वाला यह टाप् कभी 'अ' तथा कदाचित् 'इ' में विकसित होता है। अतः यहाँ वैकल्पिक-

१—'केऽणः'—पा० सू० ७।४।१३

रूप भी व्यवहृत होते हैं। यथा—आर्यका-आर्यिका, चटकका-चटकिका इत्यादि। उक्त स्थिति में यकार अथवा ककार यदि धातु के अवयव हैं तब उनका इकार में नित्य परिवर्तन होता है। जैसे—सुनयिका, सुपाकिका इत्यादि। एवमेव भस्त्रा, एषा, अजा, ज्ञा, दा व स्वा शब्द स्वतन्त्र हों या तत्पुरुषसमास के अन्त में हों, क प्रत्यय एवं टाप् होने पर पूर्ववर्ती टाप् का विकास दोनों रूपों में द्रष्टव्य है। अतएव एषका-एषिका, निर्भस्त्रिका-निर्भस्त्रका, अजका-अजिका इत्यादि दोनों रूप व्यवहृत होते हैं। किन्तु यहाँ भी अन्तिम टाप् के पूर्व सुप् की स्थिति नहीं होनी चाहिए, अन्यथा अनेषका, परमैषका इत्यादि रूपों की भाँति इत्व नहीं होगा। जो आकारान्तशब्द नित्य स्त्रीलिंग होते हैं, उनसे 'क' प्रत्यय एवं टाप् करने पर पूर्ववर्ती टाप् को ह्रस्व विकल्प से होता है। यथा-गंगाका-गंगका-गंगिका इत्यादि तीनों रूप व्यवहृत होते हैं।

एवंच इस प्रत्यय के संयोग से विशेष प्रकृतियों में संभावित स्वर-परिवर्तन भाषायी दृष्टि से नियत एवं आवश्यक हैं। शब्द के अन्त में दीर्घस्वर होने पर पूर्ववर्ती स्वर का ह्रस्वीकरण स्वाभाविक है तथा नियत स्त्रीलिंग शब्दों में नैयत्य की सूचनाहेतु उक्त परिवर्तन का न होना भी उतना ही स्वाभाविक है।

निषिद्ध प्रकृतियाँ :—ऋकारान्त एवं नकारान्त शब्दों से विधीयमान 'ङीप्' स्वसृ आदि सात ऋकारान्त शब्दों से एवं संख्यावाची नकारान्त शब्दों से विहित नहीं है।[1] फलतः जहाँ तीनों लिंगों में संख्या शब्दों के रूप समान होते हैं वहाँ स्वस्रादि नित्य स्त्रीलिंग संज्ञा है। इसी प्रकार ङीष् प्रत्यय की भी कतिपय प्राप्तिबाधिका स्थितियाँ हैं। तथाहि—ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय के षित् होने पर भी 'दंष्ट्रा' शब्द में प्राप्त ङीष् संज्ञा होने से बाधित होता है। अतः यह बाधन प्रत्ययाश्रित नहीं है, प्रत्युत अर्थाश्रित है। इसके अतिरिक्त स्वांगवाची

१—स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च नानन्दा दुहिता तथा।
याता मातेतिसप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः॥

—सिद्धान्तकौमुदी, अजन्तस्त्रीलिंग, सूत्र सं० ३०८ में उद्धृत

शब्दों से पूर्व सह, नञ् या विद्यमान शब्द होने पर अथवा क्रोडादि-गण में पठित शब्दों से यह प्रत्यय नहीं जुड़ता है। यदि स्वांगवाची शब्द बहुस्वर हों और तालिका में विशेषतः उल्लिखित न हों तो उनसे भी ङीष् की प्राप्ति नहीं होती है, अतः अनासिका, सुजघना इत्यादि उदाहरणों में सामान्य टाप् की ही प्रवृत्ति होती है। 'शूर्प-णखा' इत्यादि व्यक्तिसंज्ञाओं में तो यादृच्छिकभाव होने से व्याकरण की व्यवस्था भी तदाश्रित ही होती है।

कमण्डलूः पशुसंज्ञा :—संज्ञा से महर्षि पाणिनि का तात्पर्य जाति और व्यक्तिवाची संज्ञा रहा है। उनके 'संज्ञायाम्' (पा० सू० ४।१।७२) में लक्ष्यभूत 'कद्रूः' और 'कमण्डलूः' शब्दों से क्रमशः व्यक्ति व जातिरूप संज्ञा ही विवक्षित होती है। कद्रू शब्द 'नागों की माता' अर्थ को प्रगट करता है तो कमण्डलू शब्द का अभिप्राय 'चतुष्पाद जातिविशिष्ट स्त्री' है। 'चतुष्पाद्भ्योढञ्' (पा० सू० ४।१।१३५) सूत्र की वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित ने कमण्डलू शब्द के अर्थ का संकेत किया है।[1] इसका उल्लेख कमण्लु शब्द के निरूपण-क्रम में 'वाचस्पत्यम्' में भी हुआ है।[2] किन्तु 'अर्थप्रकाशिका' में उक्त अर्थ-परम्परा पर दृष्टिपात नहीं हुआ है,[3] अतः राधारमण पाण्डेय के अनुसार कमण्डलू को 'लघु कमण्डलु' मानने में कोई आधार नहीं है। भाष्यकार ने भी 'कमण्डलुनाछात्रः' ही उदाहृत किया है।

उपसंहार : यहाँ तक प्रातिपदिक प्रत्यय नामक चतुर्थ स्तबक का निरूपण हुआ। इसमें पाँच प्रकरण पाँच पुष्पों के समान गुम्फित हैं। इनके अध्ययन से यह विदित हुआ कि ये प्रकरण परस्पर भिन्न होने

१—'कमण्डलुशब्दश्चतुष्पाज्जातिविशेषे'—सिद्धान्तकौमुदी, अपत्याधिकार, सूत्र सं० ११४२

२—'वाचस्पत्यम्'—बृहत् संस्कृताभिधानम्, भाग ३, पृ० १६८१ तथा द्रष्टव्य 'संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ', पृ० २९८

३—'कमण्डलुः-पात्र विशेष। कमण्डलूः—पात्र विशेष।' राधारमणपाण्डेय, अर्थप्रकाशिका, पृ० २२, कालम २, प्रकाशक मोतीलाल, वाराणसी, १९६६

पर भी एक समान आश्रय से जुड़े हैं और वह आश्रय है—प्रातिपदिक प्रकृति अर्थात् इस प्रकरण के सभी प्रत्यय प्रातिपदिक प्रकृति से ही विहित होते हैं। इसके प्रारम्भ में विभक्ति प्रत्ययों का विवेचन हुआ है। उनकी प्रकृति अव्यय और सर्वनाम शब्द हैं। तदनन्तर स्वार्थिक और अत्यन्तस्वार्थिक प्रत्ययों का अध्ययन हुआ है। इन दोनों ही प्रत्ययों में स्वरूपगत, प्रकृतिगत अथवा ध्वनिपरिवर्तन की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। वहाँ अन्तर केवल प्रत्ययार्थ का है, जिसे यथा-स्थान सोदाहरण स्पष्ट करने का प्रयास हुआ है। इनके पश्चात् समासान्त प्रत्ययों का प्ररूपण हुआ है, उसमें प्रत्येक समास के अन्त में होने वाले प्रत्ययों की अलग-अलग तालिकाएँ प्रस्तुत हुई हैं। इसके अतिरिक्त समासान्तसंज्ञा और उससे सम्बद्ध विषयों को भी स्पष्ट किया गया है। स्तवक के अन्त में स्त्रीप्रत्ययों का अध्ययन हुआ है। प्रयोग में इनकी महत्ता को देखते हुए इनका विवेचन कुछ विस्तार के साथ हुआ है। अवधेय है कि संस्कृत व्याकरण के अनुसार तृतीय स्तवक और चतुर्थस्तबक के प्रत्ययों की तद्धित संज्ञा है, किन्तु स्त्रीप्रत्ययों की यह संज्ञा नहीं होती है। उनमें भी 'ति' प्रत्यय को तद्धित कहते हैं। इससे स्पष्ट है, दोनों स्तवकों के प्रत्ययों में स्वरूप-गत, प्रकृतिगत और ध्वनिपरिवर्तन की दृष्टि से एक समानता है। अब अगले स्तबक में इनसे सर्वथा भिन्न 'धातु प्रत्ययों' का पर्यालोचन प्रस्तुत होगा।

———

पंचम स्तबक : धातु प्रत्यय

तिङ् से व्यतिरेक :—धातु प्रकृति से अव्यवहितोत्तर विधीयमान अथवा संयुज्यमान प्रत्यय प्रकृत प्रकरण में धातुप्रत्यय शब्द से अभिहित किये गये हैं। इनकी प्रमुख रूपीय विशेषता यही है कि इनके पूर्व धातु के अतिरिक्त अन्य कोई शाब्दिक इकाई नहीं रहती। यद्यपि तिङ् प्रत्ययों के पूर्व भी धातु के अतिरिक्त कोई शाब्दिक इकाई नहीं रहती है और उपसर्गों का पूर्वसर्ग भी उभयत्र समान स्वैच्छिक अथवा नियत है, तथापि इस स्तबक के प्रत्ययों की प्रकृति धातु के पूर्व जहाँ उपसर्गों के अतिरिक्त कारकार्थ अथवा तदितरार्थ उपपद भी रहते हैं, वहीं ये तिङ् की भाँति आदेशरूप भी नहीं होते हैं। तिङ् की एक दूसरी अर्थात्मक विशेषता है, जिससे वे विभक्ति प्रत्ययों में परिगणित किये गये हैं। उनके संयोग से निष्पन्न रूप परिनिष्ठित वाक्यप्रयोगार्ह तिङन्तपद कहे जाते हैं, जबकि इनके संयोग से निष्पन्न होनेवाले रूप कृदन्त शब्द कहलाते हैं तथा वाक्य प्रयोगार्हताहेतु पुनः इन्हें सुप् प्रत्ययों से संस्कारित करना पड़ता है। धातु से सीधे निष्पन्न होने के कारण ये धातुज रूप पद अथवा शब्द की लघुतम इकाई हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से अपने में परिपूर्ण और स्वतंत्र होते हैं। ये अधिकतर जाति, व्यक्ति अथवा भाववाची संज्ञा के विशेषण, कुछ संज्ञा, कतिपय क्रियाविशेषण अव्यय एवं कुछ असत्त्वभूत क्रिया की प्रतीति कराते हैं।

प्रत्यय-संख्या :—इस प्रकरण में प्रतिपाद्य, अनुबन्धविनिर्मुक्त प्रत्ययस्वरूपों की कुल संख्या ५४ है। इन्हीं को महर्षि पाणिनि ने इक्कीस अनुबन्धों के संयोग से ११५ रूपों में विस्तृत किया है। उनके

अनुसार इस प्रत्ययसंघ का नाम 'कृत' है।[1] इसके अतिरिक्त इन्हीं के 'कृत्य' इत्यादि[2] अवान्तर उपसमूह अर्थविज्ञान को परिलक्षित करके परिकल्पित हैं। आगे चलकर प्रक्रियाकारों ने इन्हीं में विध्यर्थक प्रत्ययों का कृत्य, कारकद्योतक प्रत्ययों का पूर्वकृदन्त एवं भाववाचि-संज्ञा शब्दों के निष्पादक प्रत्ययों का उत्तरकृदन्त प्रकरणों में अध्ययन प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त ३०० से अधिक अथवा अपरिमित-संख्याक-प्रत्ययवर्ग को उणादि कहा जाता है,[3] जो धातु से विहित होने के कारण रूपविज्ञान एवं अर्थविज्ञान की दृष्टि से इन धातु-प्रत्ययों से पर्याप्त साम्य रखते हैं। यही कारण है कि उपर्युक्त कृत् प्रत्ययों की संख्या में अपेक्षाबुध्या न्यूनाधिक सहज संभाव्य है। फलतः जहाँ हेमचन्द्र इनके एक सौ एक का समूह स्वीकार किये हैं, वहीं अनुभूति-स्वरूप और शर्ववर्मा ने उक्त समूह को चौरानबे की संख्या में विभक्त किया है तथा अवशिष्ट प्रत्ययों को उणादि प्रत्ययवर्ग में समाविष्ट माना गया है।

स्मरणीय है, यहाँ धातु प्रत्ययों के प्रसंग में कातन्त्र और सारस्वत के साथ हैमशब्दानुशासन का किंचिदंशों में व्याप्य-व्यापकता है। हेमचन्द्र ने इन प्रत्ययों की उक्त संख्या से पाणिनि के सभी लक्ष्यों को संगृहीत किया है, जबकि शर्ववर्मा और अनुभूतिस्वरूप ने कतिपय पाणिनीय लक्ष्यों को छोड़ दिया है। यह बात दूसरी है, उन्होंने 'लोकात् सिद्धम्'[4] इस शाश्वत भाषायी सिद्धान्त की ओर इंगित करके विराम लिया है। यद्यपि कातन्त्र व्याकरण में इस सिद्धान्त

१—'कृदतिङ्'—पा० सू० ३।१।९३

२—'तयोरेवकृत्यक्तखलर्थाः'—पा० सू० ३।४।७०

३—द्रष्टव्य—वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, उणादिप्रकरण :

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद् विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥
उणादयोऽपरिमिता येषु संख्या न गम्यते।
प्रयोगमनुसृत्याद्वा प्रयोक्तव्यास्ततस्ततः ॥

—सारस्वतव्याकरण, प्रकरण ३३, कारिका १-२

४—"लोकाच्छेषस्य सिद्धिः, यथा मातरादेः"—सारस्वतव्याकरण ३५।९।१९

का कहीं संकेत नहीं मिलता है, पुनरपि 'शक्तिग्रहं व्याकरणोद्यमानः' के द्वारा वृद्धव्यवहार को ही शक्तिग्राहक शिरोमणि से मण्डित करने की परिपाटी परितः प्रथित व प्रवाहाविच्छिन्न[1] रही है।

वैयाकरणों से मान्य, कृत् प्रत्ययों की जो संख्या ऊपर निर्दिष्ट है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल प्रत्ययसम-संख्याक सूत्रवाक्यों से ही इनकी प्रकृति और प्रत्ययार्थ का प्रकथन हुआ है, प्रत्युत ये प्रत्यय एक ही अर्थप्रकरण में अनेक सूत्रों से व्याख्यात हुए हैं और विभिन्न अर्थप्रकरणों में भी इनकी आवृत्ति हुई है। उन सभी आवृत्तियों को एक मानते हुए अर्थात् स्वरूप की दृष्टि से यहाँ इनकी संख्या का उल्लेख हुआ है। अवधेय है कि सभी आचार्य इस प्रत्यय-समूह को कृत् नाम ही देते हैं[2] तथा अवान्तर समूहों के भी वही नाम हैं, जो पाणिनीय परम्परा में प्रचलित हैं। महर्षि पाणिनि ने जिन अनुबन्धों का अनुबन्धन किया है, तदतिरिक्त अनुबन्धों का सहारा अन्य वैयाकरणों ने भी नहीं लिया है। उन अनुबन्धों के प्रक्रियात्मक प्रयोजन भी पाणिनीय ही हैं। यहाँ तुलनीय हैं विशेषतः कातन्त्र और पाणिनीय प्रत्ययय। किंच दोनों में सूत्रगत साम्यानुपूर्वी के अनेकशः दृष्टान्त हैं।[3] इसके अतिरिक्त आचार्य चन्द्रगोमी और धर्मकीर्ति ने भी क्रमशः नवीन सूत्रवाक्यों से और पाणिनीय सूत्रों से महर्षि पाणिनि के ही सानुबन्ध प्रत्ययों की विशद व सरल व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं।

अनुबन्ध-प्रयोजन :—महर्षि पाणिनि के प्रत्ययविज्ञान की सर्वोपरि महत्ता का श्रेयस् उनके अनुबन्ध विज्ञान को जाता है। इसके कारण

१—द्रष्टव्य—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड, कारिका ८१

२—'कृदतिङ'—पा० सू० ३।१।९३; 'कृत्'—कातन्त्र० ४।२।७, पृष्ठ १४, बालशिक्षा, प्राच्यविद्यालय, जोधपुर प्रका०, १९६८; 'आतुमोऽत्यादिकृत्—हैम० ५।१।१; 'कृत, कर्तरि च'—सारस्वत, कृदन्तप्रकरण

३—'कर्मण्यण्', 'हस्तेर्दृतिनाथयोः पशौ', अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते', 'निष्ठा'—कातन्त्र ४।३।१, २६, ६७, ९३ इत्यादि अनेक सूत्र अष्टाध्यायी के ३।२।१, २५, ७५ इत्यादि सूत्रों से तुलनीय

भाषा का विशालतम रूप प्रस्तुत होता है तथा आचार्य की अनुबन्धक-बुद्धि की सूक्ष्मता व गहनता भी अभिव्यक्त होती है। इन अनुबन्धों के द्वारा जहाँ हम अल्पायास से उदात्तादि स्वरों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वहीं प्रकृतिगत ध्वनिपरिवर्तन की भी सूचना प्राप्त हो जाती है। एवंच प्रकृति के केवल ध्वनिपरिवर्तनों को संकेतित करने के लिए सभी वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त अनुबन्धों के कार्यक्षेत्र को यदि महर्षि पाणिनि ने विस्तृत कर दिया तो यह उनका महत्त्व ही है, जो निःसन्देह अतुलनीय और शब्दाविशेषणीय है।

जैसा कि पीछे संकेतित है, प्रकृत प्रकरण के व्याख्येय प्रत्ययों में कुल इक्कीस अनुबन्ध हैं। पाणिनि के अतिरिक्त अन्य वैयाकरणों ने भी न्यूनाधिक रूप में इन्हीं का उपयोग किया है। इनके निम्नलिखित प्रयोजनों में प्रक्रियामूलक प्रयोजन भी सर्वत्र समान हैं। नीचे क्रमानुसार इनके प्रयोजनों को प्रस्तुत किया जा रहा है :

(१) इ—यह प्रत्यय के मध्य और अन्त्य में उच्चारण सौकर्य के लिए संयुक्त किया गया है। यथा—'क्वनिप्, वनिप्, मनिन्, इत्यादि प्रत्ययों में इसकी स्थिति न हो तो इनका उच्चारण असम्भव तो नहीं, पर कठिन अवश्य होगा। फलतः मध्यवर्ती होने पर यह शुद्ध उच्चारणार्थक है। इसके अतिरिक्त 'णिनि' इत्यादि प्रत्ययों के अन्त में स्थित होने पर भी जहाँ यह शुद्ध उच्चारणार्थक है वहीं 'न्' की इत्संज्ञा एवं लोप का निवारक भी है,[१] अन्यथा उपदेश के अन्त्य के स्थित होने से उसका लोप दुर्वार होता।

(२) उ :—यह अनुबन्ध भी प्रत्यय के मध्य और अन्त्य में पाया जाता है। 'क्वसुन्, असुन्' इत्यादि प्रत्ययों के मध्य में स्थित होने पर जहाँ यह उच्चारण में सौविध्यापादन करता है वहीं रूपीय परिवर्तन को भी इंगित करता है। इसी प्रकार 'क्तवतु, क्वसु 'इत्यादि प्रत्ययों के अन्त में स्थित होकर यह केवल रूपीय परिवर्तन अर्थात् सर्वनाम-

१—'नकारादिकारः उच्चारणार्थः'—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, पूर्वकृदन्त सूत्र सं० २८९६; ग्राहीति प्रतीक तथा स्मरणीय 'हलन्त्यम्' एवं 'तस्य लोपः'—पा०सू० १।३।३, ९

स्थान विभक्तियों में नुम् (न) आगम एवं स्त्र्यर्थ में ङीप् विधान की सूचना देता है।[1] एवंच इसके भी उच्चारणसौविध्य व ध्वनिपरिवर्तन दो प्रयोजन हैं।

(३) ऋ :—यह अनुबन्ध केवल शतृ व अतृन् प्रत्ययों के अन्त्य व मध्य में स्थित होकर निष्पन्न रूप के स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय के विधान की सूचना देता है[2] तथा मध्य में स्थित होकर उच्चारण में सहायक होता है।

(४) क् :—यह अनुबन्ध 'क, कञ्, क्वसुन्, क्त, क्तवतु इत्यादि प्रत्ययों के आदि में एवं 'टक्, इक्, सक्' इत्यादि प्रत्ययों के अन्त्य में अनुषक्त किया गया है। मध्य में इसकी स्थिति नहीं होती। इससे प्रत्यय को कित् कहते हैं तथा प्रकृति में गुण एवं वृद्धि के निषेध की सूचना मिलनी है,[3] साथ ही यदि प्रकृतिभूत निर्धारित धातु में 'य् व् र् ल्' हों तो वे अपने सम्प्रसारणभाव क्रमशः इ, उ, ऋ, लृ रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।[4] एवंच इससे धातु की तदवस्था या उसके ह्रस्वरूप की ओर संकेत मिलता है। फलतः कित् प्रत्यय होने पर आकारान्त धातुओं के आकारलोप[5] की भी सूचना प्राप्त हो जाती है। इस स्तबक के सन्दर्भ में अवधेय हैं कि आकारान्त वे सभी धातुएँ हैं, जो धातुपाठ में आ, ए, ऐ, ओ एवं औ स्वरान्तरूप में पठित[6] हैं। इस ध्वनिपरिवर्तन के अतिरिक्त इस अनुबन्ध से युक्त प्रत्यय का प्रकृति से संयोग होने पर निष्पन्न रूप का अन्त्यस्वर उदात्त देखा जाता है।[7] एवंच यह अनुबन्ध रूपविज्ञान एवं अर्थविज्ञान दोनों में सहायक है।

१—'उगिदचांसर्वनामस्थानेऽधातोः'—पा० सू० ७।१।७० तथा 'उगितश्च'—पा० सू० ४।१।६

२—वही

३—'क्ङिति च'—पा०सू०—१।१।५

४—'ग्रहिज्या०' 'वचि स्वपि०'—पा० सू० ६।१।१६, १५ इत्यादि सूत्र द्रष्टव्य हैं।

५—'आतो लोप इटि च'—पा० सू० ६।४।६४

६—'आदेच उपदेशेऽशिति'—पा० सू० ६।१।४५

७—'कितः'—पा० सू० ६।१।६५

(५) ख् :—यह अनुबन्ध 'खश, खच्, खल्' इत्यादि प्रत्ययों के आदि में प्रयुक्त हुआ है। इससे युक्त खित् प्रत्यय केवल धातु से विहित नहीं होते, अपितु धातु के पूर्व उपपद रूप में अव्यय, उपसर्ग अथवा द्वितीयान्तपद में कोई या सभी अवश्य रहते हैं। अवधेय है कि प्रत्यय-विधान के अनन्तर उपपद का प्रत्ययान्त कृदन्तरूप के साथ उपपद-समास होने पर पूर्वपद उपपद की विभक्ति का लोप हो जाया करता है। फलतः 'कुम्भकार, ग्रन्थकार' इत्यादि रूप निष्पन्न हुआ करते हैं। किन्तु यह अनुबन्ध समास होने पर भी उपपद की द्वितीयाविभक्ति के लोपाभाव की सूचना देता है। उपपद यदि अव्यय या उपसर्ग है तो ऐसी स्थिति में उसमें कोई विभक्ति नहीं रहती, फलतः वहाँ लोप का प्रश्न नहीं उठता, प्रत्युत उपपद के अन्त में 'म्' आगमन अथवा अन्तिम हल ध्वनि का अनुनासिकीकरण अवश्य देखा जाता है।[१] 'जैसे—जनमेजयः, ललाटन्तपः, अरुन्दमः द्विषन्तपः, इत्यादि। अनुनासिक के प्रभाव से पूर्वस्वर ह्रस्व हो जाता है।[२] यह अनुनासिकता अव्ययों में नहीं होती है।

(६) ग् : (७) ङ् :—इन दोनों अनुबन्धों का रूपीय प्रयोजन वही है जो 'क्' अनुबन्ध के निरूपण में कथित है। भेद केवल प्रकृति के सम्प्रसारणविधान में है। इनमें 'ग्' अनुबन्ध जहाँ प्रकृति के सम्प्रसारणाभाव को प्रकट करता है वहीं 'ङ' अनुबन्ध केवल √वच् √स्वप् और √यजादि के ही सम्प्रसारणाभाव को सूचित करता है।[३] इनसे भिन्न यण्वान् धातुओं में इसके संयोग से सम्प्रसारण होता ही है। इसके अतिरिक्त उनका उदात्तादि स्वरात्मक फल नहीं है।

(८) घ् :—इस अनुबन्ध से धातु प्रकृति में गुणीभाव की सूचना के अतिरिक्त अन्तिम वर्ण के च् या ज् होने पर क्रमशः उसके 'क्'

१—'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्'—पा० सू० ६।३।६६ एवं इसी सन्दर्भ में पा० सू० ६।३।६७ से ७० तक के सूत्र अवधारणीय हैं।

२—'खित्यनव्ययस्य'—पा० सू० ६।३।६५

३—'वचिस्वपियजादीनां किति'—पा० सू० ६।१।१५, १६

और 'ग' रूप में परिवर्तन की भी सूचना मिलती है।[1] कहीं यह ध्वनिपरिवर्तन अर्थविशेष कि अपेक्षा करता है।[2]

(९) च् :—इसका प्रधान प्रयोजन प्रत्यय अथवा प्रत्ययान्तरूप के अन्तिम वर्ण में उदात्तस्वर की सूचना देना[3] है। प्रक्रियात्मक प्रयोजन के अन्तर्गत यह अवधेय है कि इसके विधान से धातु में गुणीभाव भी नियत है। एवंच इसका प्रयोजन भाषा एवं व्याकरण उभयगत है।

(१०) ञ् :—इस अनुबन्ध से अनुबन्धित प्रत्यय के संयोग से प्रकृतिभूत धातु स्वरूपतः विस्तारभाव को प्राप्त कर लेती है अर्थात् यदि उसके अन्त में दीर्घ या ह्रस्व इ, उ, ऋ एवं ऌ वर्ण होंगे तो वे आय्, आव्, आर् एवं आल् रूप में परिवर्तित हो जायेंगे[4] तथा यदि उपधा में ह्रस्वस्वर होंगे तब वे क्रमशः ए, ओ, अर्, एवं अल् रूप में परिवर्तित हो जायेंगे।[5] उपधा के 'अ' का विकास 'आ' में होता है। एवमेव यदि धातु 'आकारान्त' है तब उस 'आ' का विकास 'आय्' के रूप में हो जाता है।[6] धातुगत ध्वनिपरिवर्तन के अतिरिक्त इससे परिनिष्ठित रूप में उदात्तादि स्वरपरिवर्तन की भी सूचना मिलती है। वह रूप आद्युदात्त हुआ करता[7] है। एवंच इसके भी रूपमूलक व अर्थमूलक दो प्रयोजन हैं।

(११) ट् : यह अनुबन्ध अपने प्रत्यय एवं धातु के संयोग से निष्पन्न शब्द से स्त्रीलिंग अर्थ को प्रकट करने के लिए ङीप् (ई)

१—'चजोः कुघिण्यतोः'—पा० सू० ७।३।५२

२—'भोज्यं भक्ष्ये'—पा० सू०७।३।६९

३—'चितः'—पा० सू० ६।१।१६३

४—'अचो ञ्णिति'—पा० सू० ७।२।११५

५—'पुगन्तलघूपधस्य च' 'अत उपधायाः'—पा० सू० ७।२।११६; ७।३।८६

६—'आतो युक्चिण्कृतोः'—पा० सू० ७।३।३३

७—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'—पा० सू० ६।१।१९७

प्रत्यय के विधान की साधुता को प्रकट करता[1] है अर्थात् वह शब्द स्त्रीलिंग में ईकारान्त व अनुदात्तान्त हुआ करता है। एवंच इसका उभयथा प्रयोजन है।

(१२) **ड्** : यह प्रकृति के अन्तिम स्वर एवं तदुत्तर कोई व्यंजन हो तो उसके भी लोप की सूचना देता है[2] अर्थात् प्रक्रिया के निष्पादन में यह अतीवोपयोगी है। इसका संयोग प्रायः प्रत्यय के आदि में ही रहता है।

(१३) **ण्** : इस अनुबन्ध से प्रत्यय की णित् संज्ञा होती है। प्रयोजन इसका वही है, जो 'ञ्' में प्रतिपादित है। उससे भेद केवल इतना ही है कि यह मात्र प्रकृतिगत परिवर्तन को द्योतित करता है जबकि 'ञ' अनुबन्ध आद्युदात्त की भी सूचना देता है अर्थात् उदात्तादिस्वर के विधान में इसकी उपयोगिता नहीं है।

(१४) **त्** : इसका उदात्तादि स्वर और प्रक्रिया दोनों में ही प्रयोजन है। इससे अनुबद्ध प्रत्यय जहाँ स्वरित होता है[3] वहीं प्रकृति भी गुणीभाव में विकसित हो जाती है। प्रकृति की उपधा में ह्रस्व तथा अन्त में ह्रस्व या दीर्घ इ, उ, ऋ एवं ऌ स्वर क्रमशः ए, ओ, अर् एवं अल् रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

(१५) **न्** : इसका प्रधान प्रयोजन निष्पन्नरूप के आदि में उदात्त-स्वर की सूचना देना है।[4] इसके अनुबन्धन से प्रकृतिगत परिवर्तन तो 'त्' अनुबन्ध के समान ही होते हैं, जिसे धातुस्वर का गुणीभाव कहा जाता है।

(१६) **प्** : यह अनुबन्ध प्रत्यय के अन्त में अनुषक्त होकर उसकी अनुदात्तता एवं प्रकृति के गुणीभाव को प्रकट करता है।[5]

१—पा० सू० ४।१।१५
२—'डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः'—भाष्यकार इष्टि—सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादिप्रकरण, सूत्र २१८८ में उद्धृत
३—'तित्स्वरितम्'—पा० सू० ६।१।१८५
४—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'—पा० सू० ६।१।१९७
५—'अनुदात्तौ सुप्पितौ'—पा० सू० ३।१।४

(१७) र् : इसका प्रयोग अनीयर् इत्यादि प्रत्ययों के अन्त में हुआ है। प्रत्यय में इसका अनुबन्धन न होने पर भी प्रकृति में गुणीभाव हो जाता, किन्तु निष्पन्न शब्द के अन्तिम से पूर्ववर्ति अक्षर की अनुदात्तता द्योतित नहीं होती। एवंच इससे अनुदात्त की सूचना उपलब्ध होती है।[1]

(१८) ल् : यह अनुबन्ध प्रत्यय से पूर्व स्वर या अक्षर की उदात्तता को प्रकट करता[2] है। प्रकृति का गुणीभाव तो स्वतः सिद्ध है अर्थात् इससे गुण का निषेध व्यक्त नहीं होता।

(१९) व् या वि : यह 'क्विप्, विच्, विट्' इत्यादि प्रत्ययों में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि इससे युक्त प्रत्यय शून्यात्मक होता है, उसके सर्वांश का लोप हो जाता है, तथापि इस 'व्' में अनुबन्धत्व की अपेक्षा प्रत्ययत्वधर्म की स्थिति समझनी चाहिए। अतएव एतन्निमित्तक यकार एवं वकार के लोपादिकार्य होते[3] हैं। इस प्रयोजन को पहिले धातुत्वाधायिप्रत्ययों के प्रसंग में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

(२०) श् : इसके अनुबन्धन से 'शतृ, शानच्, चानश्' इत्यादि प्रत्यय शित् एवं सार्वधातुकसंज्ञक कहे जाते हैं[4] तथा इससे भिन्न अनुबन्धवाले और निरनुबन्धक सभी कृत्प्रत्यय आर्धधातुक संज्ञावाले होते हैं। यहाँ स्मरणीय है, आर्धधातुकसंज्ञक प्रत्ययों के संयोग से धातु के 'सेट्' होने पर और प्रत्यय के यकार-भिन्न व्यंजनादि होने पर सामान्यतया जहाँ प्रत्यय से पूर्व 'इट्' (इ) स्वर का आगम हुआ करता है वहीं शित् सार्वधातुक प्रत्यय से पूर्व धातुगणीय विकरण और धातुस्थानक आदेश हुआ करते हैं। वस्तुतः शब्द प्रयोग का विषय महान् होने से धातुस्थानक 'पिब्, जिघ्र' आदि आदेश 'पट्, दत्, आदि नामिक आदेश की भाँति स्वतन्त्रधातु कहे जा सकते हैं। अतएव इनके जहाँ तिङन्तीय रूप प्राप्त होते हैं वहीं कृदन्तीय रूप भी व्यवहृत होते हैं।

१—'उपोत्तमं रिति'—पा० सू० ६।१।१८५

२—'लिति'—पा० सू० ६।१।१९३

३—पा० सू० ६।१।६६ व ७।२।८

४—पा० सू० ३।४।११, १४; ७।२।३५ इत्यादि

(२१) ष् :—यह अनुबन्ध 'ष्ट्रन्, ष्वुन' प्रभृति प्रत्ययों के आदि में ही संयुक्त हुआ है। यहाँ इसका मुख्य प्रयोजन निष्पन्नरूप से स्त्री अर्थ प्रकट करने के लिए ङीप् के विधान की सूचना देना है। फलतः स्त्रीलिंग में वे शब्दरूप ईकारान्त होते हैं। यहाँ यह अवधेय तथ्य है, जिन प्रत्ययरूपों में उदात्तादि स्वरविशेषसूचक अनुबन्ध संयुक्त नहीं रहते हैं अथवा प्रत्यय की निरनुबन्ध स्थिति होती है, वह प्रत्यय उदात्त हुआ करता है। फलतः उससे घटित समुदाय के शेष सभी अक्षर अनुदात्त (निघात) हुआ करते हैं।[1]

यहाँ तक इस स्तवक के प्रत्ययों में प्रयुक्त हुए पाणिनीयानुबन्धों के महत्त्व एवं प्रक्रियामूलक और उदात्तादिमूलक फल का निरूपण किया गया। ये अनुबन्ध प्रत्यय के आदि या अन्त में ही जुड़े होते हैं। मध्यवर्ती तो केवल इ, उ और ऋ स्वरानुबन्ध ही होते हैं; क्योंकि इन्हीं से उच्चारण में सुविधा होती है।

सामान्य अर्थ :—प्रकृत स्तबक में व्याख्येय अनुबन्धावृत प्रत्यय (वर्ण) स्फोट सार्थक होते हैं। अर्थ के आधार पर इनके अनेक उपवर्ग हैं। सामान्यतया ये अपने प्रकृत्यर्थ के आश्रय अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। जैसा कि प्रकरण से ही स्पष्ट है, इनकी प्रकृतियाँ धातुरूप हैं। फलतः प्रकृत्यर्थ क्रिया होता है। यह क्रिया अमूर्त होने से अवश्य द्रव्याश्रित रहती है। ये प्रत्यय क्रिया के आश्रयभूत उसी द्रव्य के बोधक होते हैं। यह बात दूसरी है कि सम्बन्धभेद से आश्रय में भेद हो जाया करता है। तथाहि—जो आश्रय क्रिया से कर्तृत्वेन सम्बध होगा उससे फलाश्रयत्वेन सम्बद्ध आश्रय भिन्न होगा। इसी तरह कोई आश्रय क्रिया का साधन होगा तो कोई उसका उद्देश्य। एवमेव क्रिया से अवधिता एवं अधिकरण सम्बन्ध वाले भी आश्रय होते हैं। इस प्रकार क्रिया से अनेकविध सम्बन्ध होने के कारण आश्रयों में परस्पर भेद होने पर भी उनमें 'आश्रयत्व' धर्म एक रहता है, जिसके आधार पर प्रत्यय को आश्रयवाचक कहा गया है। कतिपय प्रत्यय आश्रय से भिन्न 'भाव' अर्थ को ही प्रकट करते हैं। यद्यपि वह भाव प्रकृत्यर्थ

१—अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'—पा० सू० ६।१।१५८; ३।१।३

क्रिया से सर्वथा भिन्न नहीं होता,[1] तथापि उस भाव की द्रव्यवत् प्रतीति होती है।[2] अतएव उसमें लिंग एवं वचन का भी संयोग होता है। पाकः, कृतिः, गमनम् इत्यादि भाववाची संज्ञायें क्रियारूप होती हुई भी मूर्तिमती इकाई-सी प्रतीत होती हैं। अतएव इनका द्रव्य के रूप में 'अयमस्य पाकः, कृतिरियमस्याः, गमनं च मदीयम्' इत्यादि व्यवहार होता है, जिससे इनमें कर्मवाच्यता का भ्रम होने लगता है।

एवंच ये प्रत्यय मुख्यतः आश्रय और भाव अर्थ को प्रगट करते हैं। इनका प्रकृत्यर्थ से सम्बन्ध होने पर भी प्रधानता इन्हीं के अर्थ की रहती है। अतएव 'पाचकः' इत्यादि कृदन्तों का शाब्दबोध 'पाकानुकूल व्यापाराश्रय', पक्वः' का शाब्दबोध 'पाकानुकूल व्यापारजन्य विक्लित्तिरूप फलाश्रय' 'स्नानीयं चूर्णम्' का शाब्दबोध 'स्नानानुकूल व्यापारसाधनोभूताश्रयाभिन्नचूर्ण' इत्यादि रूप में अनुभव सिद्ध है। इन्हीं अर्थों को हम संज्ञा एवं विशेषण शब्दों से भी जानते हैं। अर्थविशेष में रूढ़ हो जाने पर विशेषण ही जाति अथवा व्यक्तिरूप संज्ञा में परिणत हो जाते हैं। फलतः 'विभीषण, जनमेजय, दुःशासन' इत्यादि शब्द जहाँ व्यक्तिवाची संज्ञा के बोधक होते हैं, वहीं 'लवण, स्तम्बेरम, सरसिज' इत्यादि शब्द जातिवाची संज्ञा में रूढ़ होते हैं। रूढ़ि के अभाव में इन प्रत्ययों से निष्पन्न सभी रूप संज्ञा के विशेषण ही होते हैं, परन्तु भावार्थक प्रत्ययों से भाववाचि संज्ञा ही निष्पन्न होती है।

साध्यक्रिया के द्योतक :—ऊपर यह चर्चा हुई है कि कृत् प्रत्ययों का अर्थ मुख्यतः आश्रय और भाव है। इनमें आश्रय के अतिरिक्त भाव भी लिंग और संख्या के साथ प्रतीत होता है, अतः इसे 'सिद्धभाव कहते हैं। इस प्रकार इन प्रत्ययों का संयोग होने पर यद्यपि धातु से

१—'भावो भावना क्रिया'—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, उत्तरकृदन्त, सू० ३१३४, भावे' प्रतीक तथा इस ग्रन्थ की पूर्व पीठिका

२—'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते'—महाभाष्य, उद्धृत वहीं; द्रष्टव्य-
'साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना।
सत्त्वभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः ॥'
—महाभाष्य, अध्याय-३, पाद-३, आह्निक १

क्रिया का बोध होता है, तथापि वह क्रिया साकांक्ष होती है। उसे तिङन्तपद बोध्य क्रियान्तर की अपेक्षा होती है और उसी से वाक्य की परिसमाप्ति देखी जाती है। इसके विपरीत कृत् प्रत्ययों में कुछ प्रत्यय समूह ऐसे हैं, जिनके संयोग से निष्पन्न सुबन्तपद ऐसी क्रिया के वाचक होते हैं, जिसे तिङन्तपदवाच्य क्रिया की अपेक्षा नहीं होती है। उन कृदन्त पदों से निराकांक्ष वाक्यबोध होता हैं। यद्यपि ऐसे वाक्यों में भी तिङन्त क्रिया की निराकांक्ष ऊहा की जा सकती है, तथापि वह 'द्रविडप्रणायाम' सिद्ध होगी, क्योंकि निशकांक्ष होने से वह निष्फल है। एवंच इन प्रत्ययों से भाव की साध्यता का संकेत अधिक मिलता है, अतः इन्हें 'साध्यक्रिया के द्योतक' कह सकते हैं। जैसे 'क्त, क्तवतु, क्वसु एवं कानच्' इन चार प्रत्ययों के उपवर्ग से जो भाव व्यक्त होता है, वह असत्त्वभूतक्रिया के समान प्रतीत होता है। अतएव 'अहंग्रामंगतः, अस्माभिः विद्यालयो दृष्टः, तैस्तत्र खेलितम्' इत्यादि वाक्यों में क्त प्रत्ययान्त क्रियारूप से वाक्य की परिसमाप्ति देखी जाती है।[1] इसके साथ ही साध्यावस्थापन्न क्रिया के काल, पुरुष एवं वचन की भी प्रतीति होती है। यद्यपि गतः या गतम् रूप से साक्षात् पुरुष की प्रतीति संभव नहीं, तथापि वाक्य में नान्तरीयक होने से अध्याहृत अथवा उपात्त पद के सन्निधान से इसकी प्रतीति सर्वथा निर्बाध है। किंच इस प्रकार के क्रियारूप कई दृष्टियों से जहाँ अत्यन्त सरल होते हैं, वहीं ये साहित्य या व्यवहार में बहुधा प्रयुक्त होते हैं। पारम्परिक वैयाकरणों के अनुसार उक्त क्रियारूपों से उपहित वाक्यों में 'अस्ति' क्रिया का अध्याहार[2] करके कृदन्त क्रिया की साध्यता का समाधान सिद्धान्तस्थापन में भले ही सहायक हो किन्तु उस पक्ष का व्यावहारिक रूप अलीक व निष्फल लगता है। 'अहं ग्रामं गतः' इत्यादि से पुरुष, काल एवं संख्या की प्रतीति हो जाने के अनन्तर कौन-सा अपूर्वार्थ अवशिष्ट है, जिसे अध्याहृत 'आसम्' इत्यादि क्रियारूप प्रकट करेगा ? ऐसी स्थिति में इसकी

१—'क्रियान्तराकांक्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वम् साध्यत्वम्'—वैया० भू० सार, धात्वर्थनिर्णय १

२—'अस्तिक्रियायाः सर्वत्र सत्वात्'—ला० श० शे०, कारक

अध्याहृत सत्ता का आग्रह सिद्धान्तनिर्वाह नहीं तो क्या व्यवहारकथन होगा ? एवमेव 'सा गतवती, अहं गतवान्, फलं च गतवत्' इत्यादि क्रियारूपों में क्तवतु प्रत्यय से भी भूतकालिक असत्त्वभूतक्रिया की प्रतीति होती है। इनके अतिरिक्त परस्मैपदी धातुओं से क्वसु एवं आत्मनेपदी धातुओं से कानच् प्रत्यय भी परोक्षक्रिया की अभिव्यक्ति करते हैं। इन क्रियारूपों का अधिकतर प्रयोग 'योऽनूचानः, स नो महान्' इत्यादि वैदिक वाक्यों में अथवा साहित्यिक वाक्यों में हुआ है। इन दोनों को वैयाकरणों ने भी लिट्स्थानी माना है।[1] किन्तु इतने से उनके मतानुसार यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि ये साध्यरूप क्रिया के प्रत्यायक हैं, क्योंकि लट्स्थानिक होते हुए भी शतृ और शानच् साध्यभूतक्रिया के प्रत्यायक नहीं होते, अपितु वाक्य की परिसमाप्ति के लिए 'स गच्छन्' इत्यादि प्रयोगों में क्रियान्तर की आकांक्षा बनी ही रहती है।

एवंच ऊपर के व्यावहारिक अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि क्त, क्तवतु, क्वसु एवं कानच् इन चार प्रत्ययों का उपवर्ग असत्त्वभूता साध्यरूपा वाक्यपरिसमापनी भूतकालिक क्रिया अर्थ के बोधक हैं।

कृत्य व साध्यक्रिया : उक्त उपवर्ग के अतिरिक्त 'तव्य, तव्यत्, अनीयर्, केलिमर्, यत्, ण्यत्, क्यप् एवं तृच्' प्रत्ययों का एक उपवर्ग है, जिसे 'कृत्य' नाम दिया गया है।[2] ये भी कदाचित् साध्यक्रिया के प्रत्यायक होते हैं। कदाचित् का तात्पर्य यह है कि इनसे वर्तमानेतर काल की प्रतीति नहीं होती है। इनके संयोग से निष्पन्न क्रियारूप विधिलिङ के स्थानापन्न होते हैं, अतः ये प्रत्यय विधि, आदेश, अनुज्ञा, प्राप्तकाल, अर्हता, शक्तत्व, आवश्यक और आधमर्ण्य अर्थों को प्रगट करने में स्वतन्त्र होते हैं। उक्त समस्त अर्थ यहाँ धात्वर्थ क्रिया से सम्बन्धित होते हैं अर्थात् क्रिया की विधि या उसके आदेशादि की प्रतीति कराने के लिए धातु से इनका प्रयोग किया

१—'लिटः कानज्वा' 'क्वसुश्च'—पा० सू० ३।२।१०, १०७

२—'कृत्याः'—पा० सू० ३।१।९५

जाता है और इनसे निष्पन्न क्रियारूपों का वाक्यों में प्रयोग करने पर वाक्य की परिसमाप्ति देखी जाती है, जैसे 'त्वयागन्तव्यम्' 'धर्मोऽनुकरणीयः' 'पुष्पमिदं देयम्' 'कल्ये च लभ्यम्' इत्यादि। एवंच इन्हें भी असत्त्वभूतक्रिया का वाचक माना जा सकता है, किन्तु वर्तमान से भिन्न काल की प्रतीति कराने के लिए, यथा—'त्वयाकल्ये पुस्तकं देयमासीत्, परमद्यावधि न दत्तम्' इत्यादि वाक्यों में काल के प्रतिपत्त्यर्थ क्रियान्तर का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में कृत्यप्रत्ययान्त रूप विशेषण बन जाते हैं। अतएव ऊपर कदाचित् शब्द का प्रयोग किया गया है।

वैयाकरणों में कृत्यप्रत्ययों की संख्या के विषय में कुछ अन्तर है। ऊपर पाणिनीय परम्परा के अनुसार जहाँ इनकी संख्या आठ बतायी गयी है वहीं कातन्त्र और सारस्वतव्याकरण में इनकी संख्या व इनके स्वरूप समान निर्दिष्ट हैं।[1] हेमचन्द्र ने इनके अतिरिक्त 'केलिम' प्रत्यय की भी निरूपणा इन्हीं के साथ की है, परन्तु अपने 'तेकृत्याः' सूत्र की व्याख्या में उन्होंने पाँच प्रत्ययों को ही कृत्यसंज्ञक कहा है।

क्रियाविशेषण भाव के वाचक : ऊपर जिस असत्त्वभूत साध्य-क्रिया की चर्चा की गयी है, उस क्रिया के विशेषण के रूप में कतिपय अप्रधान भाववाची शब्द निष्पन्न होते हैं। इनके निष्पादक प्रत्यय दो प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार में 'तुमुन्' तथा द्वितीय प्रकार में 'णमुल्, क्त्वा और ल्यप्' हैं। ये जिस धातु से विहित होते हैं, तद्धातुवाच्य क्रिया की क्रमशः परकालिकता एवं पूर्वकालिकता को व्यक्त करते हैं और इसके साथ प्रधानक्रिया से गौण-क्रिया के हेतुहेतुमद्भावरूप सम्बन्ध को भी प्रकाशित करते हैं। यहाँ हेतु का तात्पर्य कारण नहीं है। तुमुन् के सन्दर्भ में उद्देश्य या फल को, तथा—क्त्वा-ल्यप्-णमुल् व खमुञ् के सन्दर्भ में पूर्ववर्तिता को ही हेतु समझना चाहिए। वह पूर्ववर्तिता

१—'कृत्या पंच समाख्याता ध्यण्क्यपौ भावकर्मणोः।
तव्यानीयौ स्वराद्यश्च शब्दशास्त्रविचक्षणैः॥'
—सारस्वत ३५।७।३०; द्रष्टव्य-कातन्त्र, 'तेकृत्याः' ४।२।४६

कहीं तो अव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन अवस्थानलक्षण कारण हो सकती है तथा कुत्रचित् मात्र प्रागवस्थानरूप। यथा—'स पठितुम् याति' इत्यादि वाक्यों में अप्रधान पठनक्रिया की जहाँ परकालिकता व्यक्त हो रही है, वहीं स स्मारंस्मारं वदति, पठित्वा खेलति इत्यादि उदाहरणों में उसकी प्रधानक्रिया से पूर्वकालिकता प्रगट हो रही है। इन प्रत्ययों की एक दूसरी विशेषता यह है कि इनसे निष्पन्न रूप अव्यय होते हैं। अतः उनसे लिंग अथवा संख्या की प्रतीति नहीं होती है। एवंच उक्त चारों प्रत्ययों को क्रियाविशेषण अव्ययरूप का निष्पादक कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त खमुञ् प्रत्यय भी अव्ययरूप को निष्पन्न करता है, जो क्रिया की पूर्वकालिकता के साथ-साथ कर्ता के आक्रोशभाव का सूचक होता है। फलतः इसकी प्रकृति धातु से पूर्व कर्मकारकरूप में आक्रोशकारणीभूत अर्थ के वाचक शब्द का रहना आवश्यक होता है। यथा—'चौरंकारमाक्रोशति, मूर्खंकारमपवदति' इत्यादि।

सिद्धभाव के वाचक :—ऊपर जिस सत्त्वभाव की चर्चा की गयी है, उस अर्थ में विहित हाने वाले प्रत्ययों का सानुबन्ध पाणिनाय स्वरूप है—१-क, २-अच्, ३-अप्, ४-खल्, ५-घञ्, ६-ण, ७-इनुण्, ८-नङ, ९-नन्, १०-ल्युट्, ११-कि, १२-अथुच् एवं १३-क्त्रि, (त्रिम)। इन प्रत्ययों से निष्पन्न भाववाची शब्द पुँल्लिग में व्यवहृत होते हैं। इसके विपरीत केवल ल्युडन्त शब्दरूप में नपुंसकलिंग का प्रयोग किया जाता है और त्रिम प्रत्ययान्त शब्द विशेष्यनिघ्न होता है। इनके अतिरिक्त १२ प्रत्यय और हैं, जो स्त्रीलिंग भाव को प्रगट करते हैं, अतः उन्हें स्त्र्यधिकारी प्रत्यय भी कहा जा सकता है। इनका पाणिनीय स्वरूप है—१-श, २-अङ, ३-अ, ४-क्तिन्. ५-क्विप्, ६-युच्, ७-इञ्, ८-इक्, ९-इण्, १०-ण्वुच्, ११-ण्वुल् एवं १२-अनि। इनकी विशेषता है कि इनके संयोग से निष्पन्न धातुजरूप जहाँ नित्य स्त्रोलिग में व्यवहृत होते हैं वहीं क्विप् से भिन्न अपवादप्रत्यय सामान्य क्तिन् के नित्य बाधक होते हैं। इन स्त्र्यधिकारी प्रत्ययों के अतिरिक्त सभी कृदन्तोय प्रत्यय विरूप-अपवाद होने पर विकल्प से तथा सरूप-अपवाद होने पर नित्य अपने सामान्य प्रत्ययों को बाधित

करते हैं।[1] यथा धातुमात्र से विहित होने वाले तव्यत् अथवा अनीयर् और केवल अजन्त धातु से विहित होने वाले यत् अथवा ण्यत् में परस्पर सामान्य-विशेषभाव स्पष्ट है। चूँकि यत् इत्यादि विरूप अपवाद हैं, अतः अजन्त √चि, √नि, √जि इत्यादि धातुओं से निष्पन्न 'चेयम्, जेयम्' के साथ-साथ 'चेतव्यम्, चयनीयम्' इत्यादि दोनों प्रकार के रूपों का व्यवहार होता है। यहाँ यह अवधेय है, अपवादप्रत्यय के सरूप होने पर सामान्य का निषेध नित्य हो जाता है, अतएव 'कुम्भकारः ग्रन्थकारः मालभारः' इत्यादि रूपों में विहित सामान्य अण् प्रत्यय का 'धनदः, गोदः' इत्यादि रूपों में सरूप अपवाद क प्रत्यय से नित्य बोध होता है, अन्यथा 'गोदायः' इत्यादि असाधु-रूपों की भी साधुता होने लगेगी। प्रत्ययों के उक्त सामान्य-विशेष-भाव को हेमचन्द्रादि सभी वैयाकरणों ने समानरूप से अपनाया है।[2] अन्यथा व्याकरण का प्रधान उद्देश्य 'लघु उपाय से भाषा का परि-ज्ञान' निष्फल होगा।

उपवर्गान्तर :—यहाँ प्रत्ययों के जिन उपवर्गों की चर्चा की गयी है, उनसे भिन्न प्रचुर संख्या वाले प्रत्यय साधन या कारक अर्थ में विहित होने से द्रव्य के विशेषण होते हैं। इनमें १-णच्, २-क्ति, ३-तिच्, ४-श्तिप् एवं ५-इक् प्रत्ययों से निष्पन्न रूप नित्य स्त्रीलिंग होते हैं। अतः विशेषण होने पर भी विशेष्यनिघ्न नहीं हुआ करते। फलतः इस उपवर्ग को 'स्त्रीविशेषणार्थक' कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त ३१ प्रत्यय ऐसे हैं, जो विशेषणार्थक होने के साथ-साथ विशेष्य के प्राकृतिक शील और स्वभाव को प्रगट करते हैं, अतः उन्हें 'तच्छील' या 'शीलार्थक' नाम से अभिहित कर सकते हैं।

ऊपर उपवर्गों में प्रत्ययों के जो स्वरूप निर्दिष्ट हैं, वे महर्षि पाणिनि प्रोक्त हैं। अन्य आचार्यों ने भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ इन्हीं स्वरूपों का कथन किया है और यह स्वाभाविक भी है। विद्या अनादि होती है, अतः परिपाटी से प्राप्त स्वरूप का सर्वथा परि-

---

१—'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्'—पा० सू० ३।१।९४

२—'असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तः'—हैम० ५।१।१६

त्याग सम्भव नहीं होता है। यदि इन सभी कृत्प्रत्ययस्वरूपों से अनुबन्ध को हटाकर देखें तो इनकी संख्या केवल ५४ रह जायेगी। अनुबन्धों के माध्यम से प्रकृतिगत ध्वनिपरिवर्तन के अतिरिक्त प्रत्यय-वाच्य अर्थों के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है। इसे हम इनके विशेष अध्ययन में देखेंगे।

प्रकृति : इन सभी प्रत्ययों की प्रकृति, जैसा कि कहा जा चुका है, प्रतिपदोक्त या लाक्षणिक धातुएँ हैं। भ्वादि प्रभृति दसों गणों एवं सूत्रों में पठित धातुएँ प्रतिपदोक्त कहलाती हैं, जो प्रायः एकाक्षर व सानुबन्धरूप में उपलब्ध होती हैं। किन्तु णिच्, सन्, यङ-यङलुगन्त, यगन्त अथवा नामधातुयें लाक्षणिक कही जाती हैं। इन दोनों ही प्रकार के धातुओं से कृत् प्रत्यय विहित होते हैं। अतः इस प्रकरण में धातुमात्र प्रकृतिरूप में गृहीत हैं। यहाँ यह स्मरणीय है, कृत् के साथ-साथ प्रेरणार्थक णिच् आदि प्रत्यय भी अपने-अपने अर्थ को प्राधान्येन प्रगट करते हैं। यह बात दूसरी है कि ये अर्थ कृदर्थ के प्रति विशेषण हुआ करते हैं। यथा, पक्ता एवं पाचयिता इत्यादि भिन्नार्थक रूपों के साथ-साथ शुद्ध एवं लाक्षणिक दोनों स्थितियों में पाचकः इत्यादि रूप भी व्यहृत होते हैं। इसी प्रकार पापचकः, पापाचकः, पिपक्षकः इत्यादि रूप भी प्रयुक्तचर हैं। इनमें क्रमशः प्रत्ययार्थ प्रधान हैं।

इडागम का विधान : धातुज रूपों को निष्पन्न करने की दृष्टि से धातुप्रकृति के विषय में एक सामान्य बात सदा स्मर्तव्य है कि प्रत्यय-संयोग से धातु में अनुबन्ध-सूचित आदेशरूप ध्वनिपरिवर्तन के अतिरिक्त विकरण अथवा इट् 'इ' आगमरूप ध्वनिविकास भी देखा जाता है। यहाँ अनुबन्धसूचित प्रकृतिगत-ध्वनिपरिवर्तन को अनुबन्धों के प्रयोजननिरूपण में निरूपित किया गया है तथा वहीं पर विकरण के आगम का भी निर्देश किया गया है। अत सम्प्रति इडागम के विषय में आचार्यों से मान्य व्यवस्था को प्रस्तुत करना उपादेय होगा। यह आगम प्रकृति और प्रत्यय दोनों पर आधारित है तथा इसका स्थान प्रकृति से पर एवं प्रत्यय से पूर्व नियत है। प्रत्यय का प्रथम अक्षर यदि स्वर अथवा य है, तब यह आगम नहीं होता है।[1]

१—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः'—पा० सू० ७।२।३५

अतः इसके विधान में प्रत्यय के आदिवर्ण को उक्त अक्षरों से भिन्न एवं आर्धधातुकसंज्ञक होना चाहिए। स्मरणीय है, श् अनुबन्ध से भिन्न कृत्प्रत्यय आर्धधातुकसंज्ञक होते हैं। कृत् के प्रसंग में इडागम करते समय यह भी अवधेय है कि कृत्प्रत्यय के आदिवर्ण को उक्त अक्षरों के अतिरिक्त अन्तःस्थ, अनुनासिक, वर्ग-तृतीय और वर्ग-चतुर्थ वर्णों से भी भिन्न होना चाहिए। तभी यह आगम संभव होगा।[1] अर्थात् जिस कृत् का आदि-वर्ण वर्गों का प्रथम, द्वितीय अथवा ऊष्म होगा, उसी आर्धधातुक कृत् के पूर्व यह आगम होता है, यह एक सामान्य नियम है। अतः प्रत्ययविशेष में इसके कुछ अपवाद निश्चित हैं, जिन्हें आगे विशेष विवेचन में स्पष्ट किया जायेगा, किन्तु इससे पूर्व इसकी प्रकृति आश्रयता को स्पष्ट करना उपादेय होगा।

अवधेय है कि कृत् प्रत्यय का संयोग होने पर प्रकृतिमात्र से इडागम नहीं होता, प्रत्युत कतिपय एक स्वरवाले (एकाच्) धातुओं से इसका निषेध हो जाता है।[2] एक से अधिक स्वरवाले गण में पठित स्वाभाविक अथवा लाक्षणिक सभी धातुओं से यह आगम अवश्य विहित होता है, अतः उन्हें 'सेट्' नाम से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त धातुगणीय एक स्वरवाले धातु भी सेट् होते हैं। जिनमें यह आगम नहीं होता है, उन्हें अनिट् धातु कहते हैं। यहाँ यह अवधेय है, अनिट् धातु एकाच् ही होते हैं। गण में पठित सभी धातुओं में अनुबन्ध अनुषक्त रहते हैं। उन अनुबन्धों को पृथक् करने से जो स्वरूप अवशिष्ट रहता है, उसे एकाच् होना चाहिए। वह स्वरूप या तो व्यञ्जनान्त होगा अथवा स्वरान्त। स्वरान्त स्वरूप में ऊकारान्त, दीर्घ ॠकारान्त, यु, रु, क्ष्णु, शीङ, स्नु, नु, क्षु. श्वि, डीङ, श्रि, वृङ वृञ् इन धातुओं से भिन्न स्वरान्त स्वरूपवाले धातुओं में इडागम नहीं होता है।[3] व्यञ्जनान्त एकाच् धातुओं में १०३ धातु

१—'नेड् वशिकृति'—पा० सू० ७।२।८

२—'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्'—पा० सू० ७।२।१०

३—'ऊदॄदन्तैर्यौतिरुक्ष्णुशीङ्स्नुनुक्षुश्विडीङ्श्रिभिः ।
वृङ् वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः ॥

—सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादि, सू० २२५८

ऐसे हैं, जिनमें यह आगम नहीं होता है ।[1] तथाहि-ककारान्त में शक्लृ, चकारान्त में पच्-मुच्,-रिच्-वच्-विच्-सिच्', छकारान्त में प्रच्छ्, जकारान्त धातुओं में त्यज-निजिर्-भज्-भन्ज-भुज्-भ्रस्ज्-मस्ज्-यज्-युज्-रुज्-रन्ज्-विजिर्-स्वन्ज्-सन्ज्-सृज्, दकारान्त में अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद्-नुद्-दिवादिपद्, स्विद्, एवं विद्-भिद्-रुधादि विद्-शद्-सद्-स्कन्द्-हद्, धकारान्त धातुओं में क्रुध्-क्षुध्-बुध-बन्ध्-युध्-रुध्-राध्-व्यध्-शुध्-साध् एवं दिवादि सिध्, नकारान्तों में हन् एवं दिवादि मन्, पकारान्तों में आप्-छुप्-क्षिप्-तप्-तिप्-लिप्-लुप-वप्-शप्-स्वप्-सृप् एवं दिवादि तृप् व दृप्, भकारान्तों में यभ्-रभ् और लभ्, मकारान्तों मे गम्-नम्-यम् व रम्, शकारान्तों में कृश्-दंश्-दृश्-मृश्-रिश्-रुश-लिश्-विश् एवं स्पृश्, षकारान्तों में कृष्-त्विष्-द्विष्-दुष्-पिष-विष्-शिष्-शुष् एवं दिवादि पुष् व श्लिष्, सकारान्तों में घस् और वस्, हकारान्तों में दह्-दुह्-दिह्-नह्-मिह्-रुह्-लिह एवं वह् धातु अनिट् हैं। इन १०३ धातुओं को आचार्यों ने कारिकाबद्ध भी किया है।[2]

ऊपर जो सेट् और अनिट् की व्यवस्था प्रतिपादित की गयी, वह सामान्य है। इसके अतिरिक्त कतिपय विशेष धातु एवं प्रत्यय हैं,

---

१—द्रष्टव्य-लघुसिद्धान्तकौमुदी, भ्वादिप्रकरण

२—'शक्लृपच्मुच्रिच्वच्विच् सिच्प्रच्छत्यज्णिजिर्भजः ।
भंजभुज्भ्रस्ज्मस्जियज्युज्रुज् रंज्विजिर्स्वंजिसंज्सृजः ॥
अद्क्षुद्खिद्छिद्तुदिनुदः पद्यभिद्विद्यतिर्विनद् ।
शद्सदी स्विद्यतिः स्कन्दि हदी क्रुध् क्षुधिबुध्यति ॥
बन्धिर्युधिरुधी राधिर् व्यध्शुधः साधिसिध्यति ।
मन्यहन्नाप्क्षिप्छुपितप् तिपस्तृप्यति दृप्यती ॥
लिप्लुप्वप्शप्स्वप्सृपियभ् रम्लभ्गम्नम्यमो रमिः ।
क्रुशिर्दंशिदिशीदृश्मृश् रिश्रुश्लिश्विशस्पृशः कृषिः ॥
त्विष्तुष्द्विष्दुष् पुष्यपिष्विष्शिष्शुष्श्लिष्यतयो घसिः ।
वसतिर्दह्दिहि दुहो नह्मिह्रुह्लिह्वहिस्तथा ॥
अनुदात्ता हलन्तेषु धातवो द्व्यधिकं शतम्—सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादि, सू० २२५८

जिनमें इट् की विधि होती है। ये विधियाँ नित्य, विकल्प और निषेधरूपों में हैं। सामान्य नियम से सभी प्रत्ययों के संयोग में प्राप्ति होने पर अथवा न होने पर भी नित्य और विकल्प विधियाँ प्रवृत्त हुआ करतो हैं, किन्तु निषेधविधि सर्वथा प्राप्ति में ही प्रवृत्त होती है। आगे क्रमशः इट् का तोनों विधियों को प्रदर्शित किया जा रहा है:

(१) स्नु, क्रम्, गम्, स्तु, सु और धूञ् से परस्मैपद प्रत्यय पर में रहने पर इडागम[1] होता है। यथा—अस्नावीत्, अक्रमीत्, गमिष्यति, अस्तावीत् इत्यादि।

(२) स्वृ, षू, षूङ धूञ्, ऊकारानुबन्धक, रध्, नश्, तृप्, दृप्, द्रुह्, मुह्, ष्णुह, ष्णिह्, एवं निष्कुष् धातुओं से इसकी विकल्प विधि होती है।[2] यथा—सेद्धा-सेधिता, रद्धा-रन्धिता, निष्कोषिता-निष्कोष्टा इत्यिादि।

(३) इष्, सह्, लुभ्, रुष् एवं रिष् धातु से तकारादि आर्धधातुक प्रत्यय रहने पर यह विकल्प से देखा जाता है।[3] यथा—रोषिता-रोष्टा, सहिता-सोढा इत्यादि।

(४) कृत्, चृत्, छृद, तृद् एवं नृद् धातुओं से सिच् भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय होने पर यह विकल्प से होता है।[4] यथा—नर्तिष्यति-नर्त्स्यति इत्यादि।

(५) अद्, ऋ एवं व्येञ् धातु से पर में थल् होने पर यह आगम जहाँ नित्य होता है वहीं सृज् एवं दृश् धातु से विकल्प रूप में।[5] यथा—आदिथ, आरिथ, विव्ययिथ, दद्रष्ठ-ददर्शिथ, सस्रष्ठ-ससर्जिथ इत्यादि।

१—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ७।२।३६, ५८, ७२

२—पा० सू० ७।२।४४, ४५

३—पा० सू० ७।२।४८

४—पा० सू० ७।२।५७

५—पा० सू० ७।२।६६, ६५

(६) ऋकारान्त एवं हन् धातु से पर में जहाँ स्य होने पर इट् होता है वहीं अज् धातु से केवल सिच् होने पर यह होता है। यम्, रम्, नम्, और आकारान्त धातुओं से पर में सिच् होने पर तो इट् के साथ-साथ सक् (स) आगम भी होता है।[1] यथा-भरिष्यति, हनिष्यति, आञ्जीत्, अधासीत् अग्लासीत् इत्यादि।

(७) वृङ, वृञ्, ॠकारान्त तथा संयोगादि ऋकारान्त धातुओं से पर में आत्मनेपदीय लिङ और सिच् होने पर यह आगम विकल्प से विहित होता है।[2] यथा—वरिषिष्ट-वरीषिष्ट-वृषीष्ट, स्तरिषीष्ट-स्तृषीष्ट, अस्तरिष्ट-अस्तृत इत्यादि।

(८) स्मि, पूङ, ऋ, अंजू, अश्, कॄ, गॄ, दृङ, धृङ एवं प्रच्छ् धातुओं से पर में सन् होने पर ही यह आगम होता है। इसके अतिरिक्त वृङ वृञ्, ॠकारान्त, इवन्त, ऋध्, भ्रस्ज्, दम्भ्, श्रि, स्वृ, यु, ऊर्णु, भर, ज्ञपि और सन् धातुओं से पर सन् प्रत्यय होने पर यह आगम विकल्प से देखा जाता है।[3] यथा–सिस्मयिषते, पिपृच्छिषति, तितरिषति-तितीर्षति, विवरिषति वुवूर्षति इत्यादि।

(९) रुद्, स्वप्, श्वस्, अन् एवं जक्ष् धातुओं से पर विहित प्-अनुबन्धक सार्वधातुक प्रत्यय के पूव में यदि स्वर एवं ऊष्मा से भिन्न वर्ण हो तब यह आगम होता है।[4] यथा—रोदिति, स्वपिति-स्वपितः इत्यादि।

(१०) ईश्, ईड् एवं जन् धातुओं से तो सार्वधातुक 'से' और 'ध्वे' प्रत्यय पर में रहने पर भी यह आगम देखा जाता है।[5] यथा–ईशिषे, ईडिध्वे इत्यादि।

१—पा० सू० ७।२।७०, ७१,७३

२—पा० सू० ७।२।३८, ३९, ४०, ४३, ४२

३—पा० सू० ७।२।७४, ७५, ४१, ४९

४—पा० सू० ७।२।७६

५—पा० सू० ७।२।७७, ७८

(११) सार्वधातुक प्रत्यय पर में रहने पर जिन पाँच धातुओं से इट् की विधि निर्दिष्ट की गयी है, वहाँ प्रत्यय में एक वर्ण रहने पर वह इट् दीर्घ हो जाता है। यथा—अरोदीत्,-अरोदत्, अस्वपीत्-अस्वपत् इत्यादि। इसके अतिरिक्त लृट् लकार से भिन्न प्रत्यय पर में रहने पर ग्रह धातु से विधीयमान इट् नित्य तथा लिङ् और परस्मैपदीय सिच् से भिन्न सामान्य प्रत्यय पर में रहने पर वृङ, वृञ् व ॠकारान्त धातुओं से विधीयमान इट् विकल्प से दीर्घ होता है।[1] यथा—ग्रहीता, ग्रहीष्यति, गृहीतः, वरिता-वरीता, जरिता-जरीता इत्यादि।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रत्यय के आदि में स्वर और ऊष्मा से भिन्न वर्ण होने पर ही सेट् धातुओं से इट् होता है। किन्तु इसके कतिपय अपवाद हैं। यथा—परस्मैपदी सकारादि प्रत्यय पर में होने पर जहाँ वृतु, वृधु, शृधु एवं स्यन्दु धातुओं से इट् नहीं होता है, वहीं कृलृप् धातु से पर में परस्मैपदी सकारादि अथवा तास् पर में रहने पर भी यह आगम नहीं होता है।[2] फलतः परस्मैपदी में वर्त्स्यति, कल्प्स्यति, कल्प्तासि इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। सन् प्रत्यय पर में रहने पर ग्रह् एवं गुह् धातुओं से भी इट्[3] नहीं होता है। अतः वहाँ जिघृक्षति एवं जुघुक्षति इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। कृत् के प्रसंग में यह तो उक्त ही है कि इनका आदि वर्ण वर्ग का प्रथम द्वितीय एवं उष्मा वर्ण होने पर ही सेट् धातुओं से इट् होता है किन्तु परोक्षभूत में विधीयमान क्वसु प्रत्यय परे रहने पर प्रत्यय के आदि में कथित वर्ण के न होने पर भी एकाच् आकारान्त एवं घस् धातुओं से इडागम जहाँ नित्य होता है वहीं गम्, हन्, विद्, विश्, दृश्, धातुओं से वह विकल्प से विहित होता है।[4] फलतः इन धातुओं से

१—पा० सू० ७।२।३७, ३८

२—पा० सू० ७।२।५९,६०

३—पा० सू० ७।२।१२

४—पा० सू० ७।२।६७, ६८

'आदिवान्, आरिवान्, दधिवान्, जग्मिवान्-जगन्वान्' इत्यादि क्वसु प्रत्ययान्त रूप निष्पन्न होते हैं। कृत् प्रत्ययों में ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क एवं स प्रत्यय पर में रहने पर भी सेट् धातुओं से इट् नहीं होता[1] है। इन दसों प्रत्ययों में ति और त्र को छोड़ कर शेष सभी औणादिक हैं। अतः यहाँ 'त' से 'क्त का ग्रहण नहीं होता है। इनके उदाहरण हैं—तन्तिः, सक्तुः, शस्त्रम्, हस्तः, कुष्ठम्, कुक्षिः, इक्षुः, अक्षरम्, शल्कः एवं वत्सः इत्यादि। एवमेव प्रत्यय में ग् अथवा क् अनुबन्ध लगा हो तो श्रि एवं एकाच् ऊकारान्त और ऋकारान्त धातुओं से यह आगम नहीं देखा जाता,[2] किन्तु इसका एवं सामान्य नियम का 'क्रादि' नियम बाधक है।

यह क्रादि नियम केवल लिट् लकार के लिए है। उसका स्वरूप इस प्रकार है[3]—जो स्वरान्त अथवा अकार से युक्त धातु है। यह अनिट् होने पर भी मध्यमपुरुष एकवचन थल् पर में रहने पर इट् विकल्प से संयुक्त होता है। यदि वह स्वरान्त धातु ऋकारान्त है तब थल् पर में रहने पर भी यह आगम नहीं होता है। इसके अतिरिक्त कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु एवं श्रु धातुओं से भिन्न सभी अनिट् धातुओं से लिट् लकार में इट् होता है। यथा—'विवयिथ-विवेथ, ममर्थ, चकर्थ' इत्यादि।

क्त्वा और इट् : कतिपय अनिट् धातुओं से भी क्त्वा पर में रहने पर इडागम होता है।[4] तद्यथा-वस्, क्षुध, पूजार्थक अंच्, अलोभार्थक लुभ्, जॄ एवं व्रश्च् धातुओं से यह आगम जहाँ नित्य देखा जाता है, यहीं क्लिश्, पूङ एवं उ-अनुबन्ध से युक्त धातुओं में यह विकल्प से देखा जाता है। फलतः उषित्वा, अञ्चित्वा, लुभित्वा

१—पा० सू० ७।२।९

२—'श्र्युकः किति'—पा० सू० ७।२।११

३—'अयमत्र संग्रहः—अजन्तोऽकारवान्वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्।
ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्' ॥
—सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादि, सू० २२९६

४—द्रष्टव्य—पा० सू० ७।२।५० से ५६ तक।

व्रश्चित्वा, पूत्वा-पवित्वा, क्लिष्ट्वा-क्लिशित्वा शमित्वा-शान्त्वा, देवित्वा—द्यूत्वा इत्यादि रूप व्यवहृत होते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रत्यय के होने पर सभी सेट् धातुओं से इट् अवश्य होता है।

निष्ठा और इट् :—निष्ठासंज्ञक क्त और क्तवतु प्रत्यय होने पर सभी सेट् धातुओं से इट् विहित होता है, किन्तु जिस धातु से इट् की वैकल्पिक विधि होती है, उससे, आ एवं ई अनुबन्ध से युक्त धातु से और श्वि धातु से यह आगम नहीं होता है।[1] फलतः वहाँ समक्नः, उदक्तम्, वृक्णः, प्रफुल्तः, उन्नः, उत्तः, शूनः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इस विधि व निषेध के कतिपय अपवादस्थल भी हैं, जिन्हें नीचे निर्दिष्ट किया जा रहा है :

(१) निष्कुष्, वस् और क्षुध् धातुओं से निष्ठा में जहाँ नित्य इट् होता है, वहीं क्लिश्, पूङ, रुष्, अम्, त्वर, संघुष्, आस्वन्, दम्, शम्, पृ, दंस्, स्पश्, छद्, एवं ज्ञप् धातुओं से यह विकल्प से होता है,[2] अतः इनसे निष्कुषितः, उषितः, क्षुधितः, क्लिषित-क्लिष्टः, पवितः—पूतः, रुषितः—रुष्टः, अमितः-अन्तः, दमितः—दान्तः, पूरितः—पूर्णः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं।

(२) क्रिया के आरम्भ अर्थ में आ अनुबन्धक धातुओं से विहित निष्ठा में भी यह आगम विकल्प से पाया जाता है।[3] यथा—प्रस्वेदितः प्रस्विन्नः, प्रमेदितः—प्रमिन्नः, प्रक्ष्वेदितः—प्रक्ष्विण्णः इत्यादि।

इसके अतिरिक्त कतिपय धातुओं से निष्ठा में इस आगम के होने पर अर्थ परिवर्तित हो जाता है। इसे नीचे सूची के माध्यम से प्रदर्शित किया जा रहा है[4] :

१—'यस्य विभाषा' 'आदितश्च' 'श्वीदितो निष्ठायाम्'—पा० सू० ७।२।१५, १६, १४

२—पा० सू० ७।२।४७, ५२, ५०, ५१, २८, २७

३—पा० सू० ७।२।१७

४—क्रमशः द्रष्टव्य—पा० सू० ७।२।५३, ५४, २९, १८ से २६, ३० एवं तुलनीय 'शृतं पाके'—पा० सू० ६।१।२७

धातु	अर्थ	उदाहरण	प्रत्युदाहरण
1. अन्च्	पूजा	अञ्चितः, अञ्चित-वान्	अक्तः
2. लुभ्	लुभावना	लुभितः लुभितवान्	लुब्धः
3. हृष्	लोम, विस्मित एवं प्रतिघात	हृष्टम्-हृषितम्	हृष्टम्
4. क्षुभ्	मन्थन दण्ड	क्षुब्धः	क्षुभितः
5. स्वन्	मनस्	स्वान्तम्	स्वनितम्
6. ध्वन्	तमस्	ध्वान्तम्	ध्वनितम्
7. लग्	सम्बद्ध	लग्नम्	लगितम्
8. म्लेच्छ्	अविस्पष्ट	म्लिष्टम्	म्लेच्छितम्
9. रेभ्	स्वरविशेष	विरिब्धः	रेभितम्
10. फण्	अनायास साध्य कषायविशेष या छेना	फाण्टम्	फणितम्
11. बाह्	अधिक	बाढम्	बाहितम्
12. धृष् व विशस्	अविनीत	धृष्टः, विशस्तः	धर्षितः, विशसितः
13. दृह् व दृंह्	स्थूल व बली	दृढः	दृहितः, दृंहितः
14. बृह् व बृंह्	समर्थ	परिबृढः	परिबृहितः परि-बृंहितः
15. कष्	कृच्छ्र व गहन	कष्टम्	कषितम्
16. घुष्	बँटी हुई	घुष्टारज्जुः	घुषितम्वाक्यम्
17. सम्, नि व वि पूर्वक अर्द्	पीडित व आहत	समर्णः, न्यर्णः, व्यर्णः	अर्दितम्
18. अभि अर्द्	आसन्न	अभ्यर्णः	अभ्यर्दितम्
19. वर्ति	अधीत	वृत्तम् छन्दः	वर्तितारज्जुः
20. श्रा, श्रपि	पक्व, दूध व हविष्	श्रृतम्	श्राणम्, श्रपितम्
21. चायृ	भयभीत व न्यून	अपचितः	अपचायितः

धातुओं के सेट् और अनिट् व्यवस्था को स्पष्ट करने के लिए उसके सभी नियमों को यहाँ निरूपित किया गया है। कृत् के साथ-साथ तिङ के भी संयोग से इस आगम के निषेध और विधान को यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है। यहाँ देखा गया कि इससे रूप में जहाँ सरलीकरण होता है, वहाँ अर्थ पर भी प्रभाव पड़ता है। यह सत्य है कि यह प्रभाव सार्वत्रिक नहीं है तथा इसका विधान भी सरल नहीं है।

प्रत्यय-क्रम : यहाँ तक कृत् प्रत्ययों के विवेचन क्रम में कतिपय सामान्य बातों पर प्रकाश डाला गया, जिनमें प्रत्ययागत अनुबन्ध व उनके प्रयोजन, प्रत्ययों का अर्थमूलक वर्गीकरण व उनके स्वरूप, परस्पर बाध्यबाधकभाव, प्रकृतिविवेचन, ध्वनि परिवर्तन और ध्वनि-विकास ये मुख्य बिन्दु रहे हैं। इन सामान्य बातों की जानकारी हो जाने पर इनसे धातुज रूपों का निष्पादन सरल हो जाता है, अतः उनका पहले उल्लेख कर दिया गया है। अब हम आगे एक-एक प्रत्ययों के विषय में उनके अर्थ, प्रकृति व रूप के विषय में अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। इस अध्ययन में प्रत्ययों का वर्णानुसार क्रम दिया जायेगा, अतः अनुबन्ध के संयोग से भिन्न-भिन्न स्वरूप में स्थित होने पर भी उन सभी प्रत्ययों को एक माना जायेगा, जिनका अनुबन्ध रहित स्वरूप समानानुपूर्वीक है। इससे महर्षि पाणिनि द्वारा कल्पित स्वरूप का सर्वथा परित्याग नहीं किया जायेगा, प्रत्युत यथास्थान उसे भी प्रदर्शित किया जायेगा।

१—० **(शून्य प्रत्यय)** : कारक या द्रव्य के वाचक कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनमें केवल कुछ परिवर्तनों के साथ अथवा अपरिवर्तित रूप में केवल धातु ही विद्यमान रहते हैं, अर्थात् उन शब्दों में प्रत्यय-प्रविभाग सम्भव नहीं होता। इस प्रकार के शब्दों में भी भाषाशास्त्रियों ने अर्थमूलक प्रत्यय की संकलपना की है। वस्तुतः वहाँ प्रत्यय की स्थिति रहती ही नहीं हैं। अतः इस अभाव को सूचित करने के लिए भाषाशास्त्रियों ने प्रत्यय को शून्यरूप माना है और उसे शून्य प्रत्यय कहा है। यह सर्वविदित है कि धातु का अर्थ क्रिया होता है। किन्तु वही धातु जब क्रिया से सर्वथा विपरीत आश्रयीभूत कारक का

प्रत्यायक हो जाय, तब वहाँ अवश्य ही धातु से भिन्न प्रत्यय की भी संकल्पना करनी पड़ती है। भले ही वहाँ वाचकताशक्ति दृष्टस्वरूप धातु में हो निहित रहे। यह अवधारणीय तथ्य है कि वह धातुस्वरूप गणपठितस्वरूप से सर्वथा भिन्न होता है। अतएव कहीं उसका द्वित्व-रूप दृष्ट होता है तो कुत्रचित् सोपपदस्वरूप उपलब्ध होता है और ह्रस्वान्त धातुओं के अन्त में तो 'त्' आगम हो जाता है। एवंच धीः, जूः, मूः, आदि रूपों को छोड़कर इस प्रकार के शब्द प्रायः व्यंजनान्त ही मिलते हैं। धातुगत प्रोक्त परिवर्तनों एवं उदात्तादि स्वर को दृष्टिगत करते हुए महर्षि पाणिनि ने प्रत्यय की इस शून्यात्मक स्थिति को क्विप्, क्विन्, ण्वि, विच् एवं विट् रूपों से प्रतिपादित किया है।

इस प्रत्यय से निष्पन्न शब्दरूप अर्थात् शून्य प्रत्यय से युक्त धातु प्रायः स्ववाच्य क्रिया के आश्रयीभूत कर्तृकारक के वाचक होते हैं। सम्पदादि गण में जो सोपसर्ग धातु या शब्द परिगणित हैं, केवल वे ही भाव और कर्तृभिन्न कारक के बोधक होते हैं।[1] तद्-भिन्न सभी शून्यप्रत्ययान्तरूप कर्तृकारक को ही प्रगट करते हैं। उनमें विशेषता यह है कि जहाँ कुछ रूपों से वर्तमान क्रिया के कर्त्ता की प्रतीति हाती है, वहीं कतिपय रूप भूतकालिक क्रिया के कर्तृकारक के वाचक हैं और अन्य रूप शीलादि से विशिष्ट कर्ता के प्रत्यायक होते हैं। यहाँ विशेष और सामान्य उभयविध उन शब्दरूपों की चर्चा करेंगे, जो व्यावहारिक रूप में उपलब्ध होते हैं।

उपसर्ग या सुबन्त उपपद रहने पर √सद्, √सू, √द्विष्, √द्रुह्, √दुह्, √युज्, √विद्, √भिद्, √छिद्, √जि, √नी, √राज्; उदक शब्द से भिन्न उपपद होने पर √स्पृश्, √ऋतु, उपपद होने पर √यज्, √धृष्, √सृज्, √दिश्, √उत्ष्णिह्; सोपसर्गक √अंच्, √युज्, √क्रुंच; सुबन्त उपपद रहते √भज्, √रुष्, √रिष्, अन्न शब्द से भिन्न क्रव्य अथवा सुबन्त उपपद रहते, यह प्रत्यय इनकी वर्तमान क्रिया के कर्ता का वाचक[2] है। इनसे यहाँ द्युसत्, उपनिषत्, अण्डसूः, प्रसूः, मित्रद्विट्;

१—वार्तिक २२३३
२—पा० सू० ३।२।६१, ५८, ५६, ६२, ७५, ६८, ६६

प्रद्विट्, मित्रध्रुक्, प्रध्रुक्, ध्रुक्, गोधुक् प्रधुक्, धुक् अश्वयुक्, प्रयुक्, वेदवित्, निवित्, काष्ठभित्, विभित्, वृक्षच्छित्, विच्छित्, शत्रुजित्, सेनानीः, अग्रणीः, ग्रामणीः, विराट्, धर्मराट्, घृतस्पृक्, ऋत्विक्, दध्रृक्, स्रक्, दिक्, उष्णिक्, प्रत्यङ्, प्रत्यक्, युक्, युङ्, क्रुङ्, अशभाक्, प्रभाक्, रोट्, रेट्, आमात्, क्रव्यात् इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। ये सभी रूप एकवचन प्रथमान्त हैं तथा प्रायः विशेषण और कुछ संज्ञावाची हैं। उपपद पूर्व में रहने पर √स्था तथा त्यदादि १२ शब्दों में से किसी के उपपद होने पर √दृश् भी कर्तृ कारक के वाचक होते हैं।[1] यथा—संस्थाः, तादृक्, अन्यादृक् इत्यादि। इसके अतिरिक्त उक्तधातुओं से क्रमशः क (अ) एवं कन् (अ) प्रत्यय भी इसी अर्थ में विहित होते हैं। ऊपर निर्दिष्ट धातुओं के अतिरिक्त √ध्वंश=पर्णध्वत्, √स्रंस्=उखास्रत्, √भ्रंश्=वाहभ्रट् इत्यादि रूपों में धात्वंश ही उक्तार्थ का अभिधान करता है। अतः यह सामान्य नियम अवधारणीय है कि सुबन्त या उपसर्ग उपपद होने पर केवल धातु भी स्ववाच्याश्रयीभूत कर्ता का अभिधायक हो जाता है।[2] ऐसी स्थिति में ह्रस्वान्त धातुओं से तकारागम तथा अनुनासिक लोप आदि 'कित्' कार्य होकर परिनिष्ठित रूप निष्पन्न होते हैं।

सम्प्रति ऐसे धातुओं का निर्देश किया जा रहा है जो स्ववाच्य वर्तमान क्रिया के शील, धर्म व साधुकारिता से विशिष्ट कर्ता को प्रकट करते हैं। तथाहि—√भ्राज्, √भास्, √धुर्व्, √द्युत् √ऊर्ज, √पृ, √जु, √ग्रावस्तु, √वच्, √प्रच्छ, √आयतस्तु, √कटप्रु, √श्रि एवं √ध्यै से यह प्रत्यय निरुपपद या निर्दिष्ट उपपद होने पर विहित होता है।[3] यहाँ प्रत्ययांश तो रहता नहीं किन्तु उसका प्रभाव अर्थात् धातु में सम्प्रसारणादि कित्कार्य एवं तच्छीलादि विशिष्ट कर्तृ बोध अवश्य होता है। इससे यहाँ भाः, विभ्राट्, धूः, विद्युत्, ऊर्क्, पूः, जूः, ग्रावस्तुत्, वाक्, प्राट्, आयतस्तूः, कटप्रूः, श्रीः, एवं धीः ये परिनिष्ठित रूप निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार √द्युत्, √गम्, √हु तथा √दृ स्वयं द्वित्व होकर उक्तार्थ का बोधन

१—पा० सू० ३।२।७७ व ६० २—पा० सू० ३।२।७६

३—पा० सू० ३।२।१७७; वार्तिक २१४७, २१४८, २१५१

करते हैं।[1] यथा—दिद्युत्, जगत्। जुहूः एवं ददृत्। इसके अतिरिक्त इसी अर्थ में अन्य धातुओं से भी इस शून्यात्मक प्रत्यय के योग से छिद् एवं भिद् इत्यादि शब्दरूप व्यवहृत होते हैं। एतदर्थ महर्षि पाणिनि को अव्यवस्थित नियम की परिकल्पना करनी पड़ी है—"अन्येभ्योऽपि दृश्यते" (पा० सू० ३।२।२७८) इति।

अब उन धातुओं का उल्लेख किया जा रहा है, जो उपपद पूर्व में रहने पर अपनी भूतकालिक क्रिया के कर्तृकारक के बोधक होते हैं। तद्यथा—ब्रह्म, भ्रूण एवं वृत्र उपपद होने पर √हन् तथा सु, कर्म, पाप, मन्त्र, पुण्य, शास्त्र, भाष्य आदि सुबन्त उपपद होने पर √कृ व सोम उपपद होने पर √सु और अग्नि शब्द होने पर √चि इस शून्य प्रत्यय की महिमा से भूतक्रिया के कर्त्ता के वाचक हैं।[2] इनसे यहाँ ब्रह्महा, भ्रूणहा, वृत्रहा, सुकृत्, कर्मकृत्, सोमसुत्, अग्निचित् इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त कर्मकारक उपपद होने पर √चि अपनी भूतकालिक क्रिया के कर्मकारक विशेष का वाचक है तो उपसर्ग या उपपद पूर्व में रहने पर √भू मध्यस्थ साक्षी एवं व्यक्तिवाची संज्ञा अर्थ में भी प्रयुक्त होता[3] है। यथा—श्येनचित् (श्येन की आकृति का इष्टिकानिर्मित हवनकुण्ड), प्रतिभूः (साक्षी), मित्रभूः इत्यादि।

उपरि उदाहृत या उदाहार्य इन सभी रूपों में इस प्रत्यय की सत्ता भौतिक न होकर मात्र बौद्धिक है। किन्तु इस कथन का यह आशय नहीं कि यह सत्ता निष्फल एवं निराधार परिकल्पित होने से सर्वथा अलीक खपुष्प है, प्रत्युत प्रकृतिगत ध्वनिपरिवर्तन तथा प्रासंगिक अर्थोपस्थिति ही इस सत्ता की सिद्धि में निर्दुष्ट हेतु हैं। एवंच इन अर्थों की बोधकताशक्ति शब्द की लघु से लघुतम इकाई धातु में केन्द्रीभूत है। फलतः रूपीय दृष्टिकोण से ये शब्द अपेक्षाकृत लघुतम तथा आर्थिक दृष्टि से गुरुतम हैं।

१—वार्तिक २१४६

२—पा० सू० ३।२।८७, ८९ से ९१

३—पा० सू० ३।२।९२ व १७९

(२) **अ-प्रत्यय** : महर्षि पाणिनि ने इसे १-क, २-कप्, ३-कन्,४-श, ५-अङ, ६-अ, ७-टक्, ८-ट, ६-अच्, १०-अप्, ११-ड, १२-खच्, १३-खश्, १४-खल्, १५-घ, १६-घञ्, १७-ण, १८-अण् और १६-णच् रूपों में प्रतिपादित किया है। स्पष्ट है, इन रूपों में अर्थमूलक भेद के साथ इनमें संयुक्त अनुबन्ध प्रकृतिगत स्वरपरिवर्तन के भी सूचक हैं। इतर वैयाकरणों ने भी इस प्रत्यय को प्रायः इन्हीं रूपों में निरूपित किया है। इनकी तुलनात्मक सूची को हम परिशिष्ट में प्रस्तुत करेंगे। यहाँ इस प्रत्यय के विविध अर्थों और प्रकृतिसंयोग से रूपनिष्पत्ति को इसके निर्दिष्ट १६ रूपों के माध्यम से ही विवेचित किया जायेगा।

(i) **क** : जैसा कि पीछे निर्दिष्ट है, इसमें क् अनुबन्ध है। फलतः इसके संयोग से प्रकृति अपने पूर्वरूप अथवा ह्रस्वरूप में ही रहती है। यह मुख्यतः कर्तृ तथा कतिपय प्रकृतियों से भाव और करणादि अर्थों को भी प्रकट करता है। तद्यथा—जिन धातुओं की उपधा में इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ एवं ऌ वर्ण होते हैं, उनसे तथा निरुपपद √ज्ञा, √प्री एवं √कॄ धातुओं से संयुक्त होने पर यह कर्त्ता अर्थ को व्यक्त करता है।[१] फलतः 'बुधः, कृषः, क्रुधः, क्षिपः, गुदः, घुटः' इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इसके संयोग से आकारान्त धातु के आ का लोप हो जाया करता है। अतः √ज्ञा से 'ज्ञः' रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार ईकारान्त धातुओं में ई को इय् आदेश और ॠकारान्त धातुओं के ॠ को इर् आदेश भी होते हैं अतः √प्री और √कॄ से प्रियः एवं किरः रूप निष्पन्न होंगे। उपसर्ग पूर्व रहने पर आकारान्त धातुओं से विहित होने पर यह कर्त्ता अर्थ को प्रकट करता है।[२] यहाँ सभी प्रत्ययों के सन्दर्भ में स्मरणीय है कि धातु पाठ में पठित जिन धातुओं के अन्त में आ-ए-ओ-ऐ और औ स्वर हैं, वे सभी धातुएँ आकारान्त हैं, अतः यहाँ सुग्लः, अनुद्रः, सन्धः इत्यादि इसके उदाहरण होंगे। गेह कर्त्ता होने पर √ग्रह से इसका संयोग होने पर 'गृहम्' संज्ञाशब्द निष्पन्न होता है।[३] यदि कर्मकारक उपपद रहे, तब अनुपसर्गक

१—पा० सू० ३।१।१३५

२—पा० सू० ५।१।१३६

३—पा० सू० ३।१।१४४

आकारान्त धातु से भी यह कर्ता अर्थ को प्रकट करता है।[1] यथा—गोदः, धनदः, कम्बलदः, धमधः इत्यादि रूप सम्पन्न होते हैं। सुबन्त-मात्र उपपद रहने पर भी आकारान्त धातुओं से यह कर्त्ता अर्थ में पाया जाता है।[2] यथा—द्विपः, पुष्पघ्रः इत्यादि। √स्था से पूर्व में सुबन्त अथवा उपसर्ग रहने पर कर्त्ता अर्थ में जैसे—शंस्थः प्रस्थः, ग्रामस्थः इत्यादि।[3] √दा रूपवाले धातु एवं √ज्ञा से उपपद और धातु के मध्य 'प्र' का व्यवधान होने पर भी कर्तृ अर्थ का बोधक होता है।[4] यथा—सर्वप्रदः, सर्वप्रज्ञः इत्यादि। √चक्षिङ (ख्य) से पूर्व सम् का व्यवधान होने पर भी यह कर्तृ अर्थ का वाचक होता है।[5] यथा—गोसंख्यः। क्रमशः तुन्द एवं शोक उपपद रहने पर √परिमृज् और √अपनुद् से यह आलसी और सुखद अर्थ को प्रगट करता है।[6] यथा—तुन्दपरिमृजः शोकापनुदः। तोंद सहलाने वाले को तो 'तुन्दपरिमार्जः' कहेंगे। इसके अतिरिक्त मूलविभुजादि गण में पठित शब्दों में भी यह कर्ता में पाया जाता है।[7] इस गण में वे सभी शब्द समाहित कर लिए जाते हैं, जिनकी प्रकृति इनसे मिलती है। मूलविभुजः, प्रलम्बघ्नः, शत्रुघ्नः, कृतघ्नः इत्यादि इसी के उदाहरण कहे जायेंगे। स्तम्ब उप-पद होने पर √हन् से यह करण अर्थ को व्यक्त करता है।[8] यथा—स्तम्बघ्नः। सुबन्त उपपद रहने पर √स्था से जहाँ यह केवल भाव अर्थ को व्यक्त करता है, वहीं निरुपपद या सोपसर्गक √स्था, √स्ना, √पा, √व्यध्, √हन्, और √युध् से भाव के अतिरिक्त कर्तृ आदि अर्थों को भी प्रगट करता है।[9] आखूत्थः, प्रस्थः, विघ्नः, अनुस्नः

१—पा० सू० ३।२।३
२—पा० सू० ३।२।४
३—पा० सू० ३।२।७७
४—पा० सू० ३।२।६
५—पा० सू० ३।२।७
६—पा० सू० ३।२।५
७—वार्तिक १९८९
८—पा० सू० ३।३।८३
९—पा० सू० ३।२।४; वार्तिक २२४

इत्यादि इसके उदाहरण हैं। √क्रु, √क्लिद् √क्रम् व √क्नस् धातुओं से तो इसके भावादि में होने पर धातु को द्वित्व हो जाया करता है।[१] फलतः चक्रम्, चिक्लिदः, चंक्रमः एवं चक्नसः रूप निष्पन्न होते हैं।

(ii) कप् : इसमें क् एव प् दो अनुबन्ध हैं। यह प्रत्यय सुबन्त उपपद होने पर केवल दुह् धातु से कर्तृकारक का बोधक होता है।[२] कामदुघा इत्यादि इसके उदाहरण स्त्रीलिंग में ही व्यवहृत होते हैं।

(iii) कञ् :–इसमें क् एवं ञ् दो अनुबन्ध हैं। अन्तिम अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर का सूचक है। यह केवल त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम् अदस्, युष्मद्, अस्मद्, भवत्, किम् समान (स) एवं अन्य उपपद होने पर √दृश् से कर्तृ अर्थ का बोधक होता है।[३] यथा—त्यादृशः, यादृशः, सदृशः, अन्यादृशः, मादृशः, एवं त्वादृशः इत्यादि उदाहरण हैं। यहाँ स्पष्ट है, त्यद् आदि का 'द्' लुप्त हो गया है, फलतः पूर्ववर्ती स्वर दीर्घरूप में विकसित हो गया है।

(iv) श : इसमें श् अनुबन्ध है। इससे विकरण के आगम और तन्निमित्तक धातु के आदेश की सूचना मिलती है। यह पुँल्लिग में केवल कर्तृकारक और स्त्रीलिंग होने पर मुख्यतः भाव अर्थ को व्यक्त करता है। तथाहि—उपपद या उपसर्ग से रहित पा, √घ्रा, √ध्मा, √धेट्, √दृश्, √लिम्प्, √विन्द्, √धारि, √पारि √वेदि, √उदेजि, √चेति, √साति, √ साहि, √दा एवं √धा से यह कर्ता अर्थ में पाया जाता है।[४] इसके संयोग से √पा इत्यादि में अ विकरण का आगम एवं पिबादि आदेश होकर पिबः, जिघ्रः, धमः, धयः, पश्यः, लिम्पः, विन्दः धारयः, पारयः, वेदयः, उदेजयः चेतयः,

१—वार्तिक ३४२९

२—पा० सू० ३।२।७०

३—पा० सू० ३।२।६०; वार्तिक २०२६

४—पा० सू० ३।१।१३७ से १३९

सातयः, साहयः, ददः, एवं दधः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। नि पूर्वक √लिम्प् एवं गो, अर इत्यादि उपपद रहने पर √विन्द् से विहित होकर यह कर्तृ संज्ञाशब्द को निष्पन्न करता है।[1] यथा— निलिम्पाः, गोविन्दः, अरविन्दम् इत्यादि। इसके अतिरिक्त यह प्रत्यय √कृ से भाव एवं क्वचित् कारक तथा परिप्रश्न व आख्यान-गम्य होने पर भी दृष्टिगत होता है। जैसा कि कहा गया है, भाव में विहित होने पर धातु से यक् (य) का आगम और निष्पन्न रूप स्त्रीलिंग होता है। अतः यहाँ √कृ से क्रिया रूप निष्पन्न होगा। √इष् से भाव में होने पर यक् नहीं देखा जाता, अतः इससे इच्छा रूप बनता है। √जागृ से यह विकल्प से होता है, फलतः इसके अभाव में अ प्रत्यय होने से जागर्या एवं जागरा रूप निष्पन्न होते हैं। एवमेव परिचर्या, परिसर्या, मृगया, अटाट्या रूप भी इसी प्रत्यय के संयोग से निपातित हुए हैं।[2]

(v) अङ् : इसमें ङ अनुबन्ध प्रकृति के अपरिवर्तन का सूचक है। यह मुख्यतः भाव को एवं क्वचित् कारक अर्थ को भी प्रकट करता है। इससे निष्पन्न रूप स्त्रीलिंग में व्यवहृत होते हैं। तथाहि—ष् अनुबन्ध वाले धातुओं से एवं भिदादि गणीय धातुओं से भी यह भाव आदि अर्थों में दृष्टिगत होता है।[3] यथा—जरा, त्रपा, क्षमा, मृजा, भिदा, छिदा इत्यादि भावार्थक हैं तो गुहा, आरा, हारा, तारा, धारा इत्यादि कारकवाची हैं। श्रत्, अन्तर् एवं उपसर्ग पूर्व में रहने पर आकारान्त धातुओं से भी यह उक्तार्थ में विहित होता है।[4] जैसे— श्रद्धा, अन्तर्धा, व्यवधा, सुधा, प्रपा इत्यादि उदाहारण हैं। इसके अतिरिक्त √चिन्त्, √पूज्, √कथ्, √कुम्ब् √चर्च् एवं √तुल् से भी यह भावादि अर्थ को व्यक्त करता है,[5] इससे स्त्रीलिंग में चिन्ता, पूजा, कथा, कुम्बा, चर्चा एवं तुला रूप निष्पन्न होंगे।

१—वार्तिक १९९८, १९९१

२—पा० सू० ३।३।१००, ११०; वार्तिक २२१६, २२१५

३—पा० सू० ३।३।१०४

४—पा० सू० ३।३।१०६

५—पा० सू० ३।३।१०५

(vi) अ : यह प्रत्यय निरनुबन्धक है, अतः इसके संयोग से प्रकृति के अन्तिम स्वर एवं उपधाभूत लघुस्वर में गुणीभाव होता है। यह प्रत्यय जहाँ उदात्त होता है, वहीं इससे निष्पन्न रूप स्त्रीलिंग में व्यवहृत होते हैं। यह मुख्यतः भाव तथा क्वचित् कारक का वाचक होता है।[1] √जागृ से भाव में यह और श प्रत्यय जहाँ विकल्प से होते हैं, फलतः जागरा एवं जागर्या दोनों रूप भावार्थक हैं, वहीं सन्नन्त धातुओं से एवं गुरुमान् हलन्त धातुओं से भावादि अर्थों में यह प्रत्यय नित्य विहित होता है। यथा—चिकीर्षा, जिगमिषा, मुमूर्षा, पिपठिषा, ईहा, ऊहा, ईशा, आशा, ईषा इत्यादि इसके उदाहरण हैं। यहाँ यह अवधेय है कि गुरुमान् हलन्त धातु को निष्ठा में सेट् होना चाहिए, तभी उससे यह प्रत्यय संभव होगा, अन्यथा उससे सामान्य क्तिन् प्रत्यय ही होगा।

(vii) टक् : इसमें ट् एवं क् दो अनुबन्ध हैं। क् अनुबन्ध धातु के अपरिवर्तन अथवा आ लोप इत्यादि न्यूनीकरण का सूचक है तो ट् अनुबन्ध निष्पन्न रूप के स्त्रीलिंग में ईकारान्त होने की सूचना देता है। यह प्रत्यय कर्तृ कारक को ही प्रकट करता है।[2] तथाहि—कर्मकारक उपपद होने पर अनुपसर्गक √गा तथा सुरा और शोधु उपपद होने पर √पा से, यथा—सामगः, पदगः, गीतिगः, सुरापी, शीधुपी इत्यादि। √हन् से पूर्व जाया या पति शब्द होने पर लक्षणवाले कर्त्ता अथवा मनुष्यभिन्न कर्त्ता में यह विहित होता है तो हस्ति, कपाट एवं कवाट उपपद होने पर यह कर्त्ता की शक्ति को द्योतित करता है। जैसे—'जायाघ्नो नरः, पतिघ्नी पाणिरेखा, हस्तिघ्नः, कपाटघ्नः पुरुषः' ये रूप निष्पन्न होते हैं। इसी प्रत्यय के संयोग से शिल्पि अर्थ में पाणिघः और ताडघः तथा राजानं हन्तीति राजहाः रूप निपातित होते हैं।

(viii) ट : इस प्रत्यय में ट् अनुबन्ध है, जिससे निष्पन्न रूप के स्त्रीलिंग में ईकारान्त होने की सूचना मिलती है। यह केवल कर्तृ—

१—पा० सू० ३।३।१०२, १०३; वार्तिक २२१६, २२८०, २२०८

२—द्रष्टव्य—पा० सू० ३।२।८, ५२ से ५५; वार्तिक १६६०, २०२२

कारक का बोधक होता है।[1] तथाहि—अधिकरण कारक एवं भिक्षा, सेना और आदाय उपपद होने पर √चर् से तथा पुरस्, अग्रतः, अग्रे, अग्र व पूर्व उपपद होने पर √सृ से एवं दिवा, विभा, निशा, प्रभा, भास्, काय, अन्त, अनन्त, आदि, नान्दी, लिपि, लिबि, बलि, भक्ति, कर्तृ, चित्र, क्षेत्र, संख्यावाची शब्द, जंघा, बाहु, अहस्, धनुष्, अरुष्, एवं कर्म शब्द उपपद होने पर √कृ से यह प्रत्यय कर्त्रर्थ में विहित होता है। √कृ से ही उपपद पूर्व में होने पर यह प्रत्यय कर्त्ता के हेतु, ताच्छील्य और अनुकूलता अर्थों को भी द्योतित करता है। एवच इससे कुरुचरी, वनचरः, वनेचरः, भिक्षाचरः, सेनाचरः, आदायचरः, पुरस्सरः, अग्रेसरः, अग्रसरः, पूर्वसरः, दिवाकरः, विभाकरः, निशाकरः, अहस्करः, धनुष्करः, अरुष्करः, कर्मकरः, यशस्करी, श्राद्धकरः, वचनकरः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं।

(ix) **अच्** : इसमें च् अनुबन्ध है। इसके संयोग से प्रकृति के अन्तिम इ, उ, ऋ एवं लृ स्वर तथा उपधावर्ती लघुस्वर को गुणीभाव हो जाता है। यह मुख्यतः कर्तृ कारक का बोधक है। तथाहि—पचादि गणीय धातुओं से कर्त्ता अर्थ में, यथा—पचः, नदः, चोरः, देवः, जारभरा, स्वपचा इत्यादि। यङ्लुगन्त धातुओं से यथा—चेक्रियः, नेन्यः, लोलुवः, पोपुवः, मरीमृजः इत्यादि रूपों में गुणीभाव का निषेध हो जाता है, अतः यहाँ इकारान्त से इयङ् और उकारान्त से उवङ् आदेश होते हैं। चराचरः, चलाचलः, पतापतः, वदावदः, घनाघनः, पाटूपटः ये उदाहरण भी इसी प्रत्यय के हैं। इनमे धातु को द्वित्व, अभ्यास में आ स्वर एवं उ स्वर का आगम हुआ है, किन्तु यह प्रक्रिया वैकल्पिक है, अतः चरः, चलः, पतः, वदः, हनः, घनः, ये रूप भी व्यवहृत होते हैं। रात्रिचरः एवं रात्रिचरः उदाहरण भी इसी के माने गये हैं। वस्तुतः पचादिगण आकृतिगण है, अतः समान आकृतिवाले शब्दो की निष्पत्ति इसी से समझनी चाहिए।[2] √ज्वल्, √चल्, √जल्, √टल्, √ट्वल्, √स्थल्, √हल्, √नल्, √पल्, √बल्, √पुल्, √कुल् √शल्, √हुल्, √पत्, √क्वथ्, √पश्, √मथ्, √वम्, √भ्रम्,

---

१—द्रष्टव्य—पा० सू० ३।२।१६ से ३।२।२२ तक

२—पा० सू० ३।१।१३४

√क्षर्, √सह, √रम्, √सद्, √शद्, √क्रुश, √बुध्, √रुह् एवं √कस् से यह प्रत्यय विकल्प से होता है।[१] इसके अभाव में ण् प्रत्यय होने से धातु के अन्तिम और उपधा में वृद्धिभाव हो जाता है। एवंच इन धातुओं से दो-दो रूप कर्तृ अर्थ में ही निष्पन्न होते हैं। यथा—ज्वलः-ज्वालः, चलः-चालः, पोलः, कोलः इत्यादि। √दु गतौ से पूर्व में उपसर्ग रहने अथवा न रहने पर भी तथा—टुदुउपतापे और √णीञ् प्रापणे से पूर्व में रहने उपसर्ग पर, √भू एवं √भावि से भी यह प्रत्यय कर्त्ता अर्थ को व्यक्त करता है।[२] यथा—दवः, प्रदवः, प्रणयः, भवः, भावाः इत्यादि। केवल —ग्रह् से ज्योतिष अर्थ में तथा अनुद्यमसूचक या वयोवोधक कर्मकारक उपपद होने पर √हृ से और शक्ति, लांगल, अंकुश, तोमर, यष्टि, घट, घटी, धनुष् एवं सूत्र उपपद होने पर √ग्रह से यह प्रत्यय कर्ता अर्थ को प्रगट करता है।[३] यथा—अंशहरः, कवचहरः, लगुडहरः, ग्रहः, शक्तिग्रहः, यष्टिग्रहः, सूत्रग्रहः इत्यादि उदाहरण हैं। √आहृ से कर्मकारक उपपद होने पर कर्त्ता के शील को तथा—अर्ह् से केवल कर्त्ता अर्थ को अभिव्यक्त करता है।[४] यथा—पुष्पाहरः, पूजार्हा ब्राह्मणी इत्यादि। √रम् व √जप् से पूर्व क्रमशः स्तम्बे और कर्ण शब्द होने पर यह हस्ति और चुगलखोर अर्थों का बोधक होता है।[५] यथा स्तम्बेरमः, कर्णेजपः। अधिकरण कारक तथा पार्श्व, पृष्ठ, उदर एवं कर्त्रर्थक उत्तान, अवमूर्ध आदि उपपद होने पर √शीङ् से कर्त्ता[६] अर्थ में, यथा—खशयः, गिरिशयः, पार्श्वशयः, उदरशयः, उत्तानशयः, अवमूर्धशयः इत्यादि। किम्, यत्, तत् एवं बहु उपपद होने पर √कृ से कर्ता में तथा शम् उपपद होने पर कतिपय धातुओं से संज्ञा में अथवा उपपद में विद्यमान कर्मकारक को शेषत्वविवक्षा में भी धातुओं से यह कर्ता अर्थ में विहित होता

१—पा० सू० ३।१।१४०

२—पा० सू० ३।१।१४२, १४३

३—पा० सू० ३।१।१४३, ३।२।६, १०; वार्तिक १६६२, १६६३

४—पा० सू० ३।२।११ व १२

५—पा० सू० ३।२।१३

६—पा० सू० ३।२।१५; वार्तिक १६६६, १६६८

है।[1] यथा—किंकरा, बहुकरः, शंकरः, शंभवः, शंवदः, क्षेमकर इत्यादि। इसके अतिरिक्त इकारान्त धातुओं से यह भाव और कर्तृ भिन्न कारक को प्रगट करता[2] है। यथा—चयः, जयः, नयः, इत्यादि। भयम्, वर्षम् इत्यादि शब्दों में यह प्रत्यय भाव अर्थ में निपातित हुआ है, फलतः इनसे नपुंसक भाव में क्त या ल्युट् के साथ ये रूप प्रयुक्त नहीं होते हैं।[3]

(x) अप् : इसमें प् अनुबन्ध प्रत्यय के अनुदात्त होने का सूचक है। इसके संयोग से धातु में गुणीभाव होता है। यह मुख्यतः भाव अर्थ को तथा कर्तृ भिन्न करणादि कारकों का भी बोधक है। कतिपय धातुओं से यह और घञ् प्रत्यय विकल्प से हुआ करते हैं। यह प्रत्यय जहाँ धातु के ह्रस्वरूप का सूचक है वहीं घञ् प्रत्यय वृद्धरूप का। तथाहि—आङ उपसर्गक √रु व √प्लु से भाव में, अव् उपसर्गक √ग्रह से अववर्षण में, प्र उपसर्गक √ग्रह से तराजु की रस्सी पकड़ने में और रश्मि अर्थ में, इसी उपसर्ग के रहने पर √वृ से वस्त्र अर्थ में, परि उपसर्ग रहने पर √भू से अनादर में, अनुपसर्गक √स्वन् √हस् एवं √यम् से भावादि में, √यम् से पूर्व में सम्, उप, नि, एवं वि उपसर्ग रहने पर भी उसी अर्थ में, नि उपसर्ग पूर्व में रहने पर √गद्, √नद् √पठ् व √स्वन् से भी उन्हीं अर्थों में, नि या प्र उपसर्ग रहने पर √क्वण् से भाव और वीणा आदि कर्तृ भिन्न कारक अर्थों में तथा—हन् से भाव में यह प्रत्यय और घञ् प्रत्यय दोनों विकल्प से होते हैं।[4] फलतः उक्त अर्थों में दो-दो रूप व्यवहृत होते हैं। यथा—आरवः-आरावः, अवग्रहः-अवग्राहः, प्रग्रहः-प्रग्राहः, प्रवरः-प्रवारः, परिभवः-परिभावः, स्वनः-स्वानः, हसः-हासः, यमः-यामः, नियमः-नियामः, निगदः-निगादः, निक्वणः-

१—वार्तिक २००२; पा० सू० ३।२।१४ व ४४

२—पा० सू० ३।३।५६

३—'भयादीनामुपसंख्यानं नपुंसकेक्तादिनिवृत्यर्थम्'—वार्तिक २१९७-९८; 'आदिना ल्युडादिसंग्रहः'—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, उत्तरकृदन्त, सू० सं० ३२३१

४—पा० सू० ३।३।५० से ५५ व ६२ से ६५; ७६

निक्वाणः, हनः-घा-तः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। √हन् से स्तम्ब उपपद होने पर 'क' के साथ करण अर्थ में एवं √अद् से पूर्व में नि उपसर्ग होने पर ण के साथ भाव अर्थ में यह प्रत्यय विकल्पित देखा जाता है।[१] यथा—स्तम्बघनः-स्तम्बहनः, निघसः-निघासः। ऋकारान्त, उकारान्त एव ऊकारान्त धातुओं से यह प्रत्यय सामान्य रूप में विहित होकर भाव एवं कर्तृ कारक अर्थ को प्रगट करता है।[२] यथा—करः, शरः, पवः, लवः इत्यादि।

सम्प्रति उन विशेष धातुओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनसे यह घञ् आदि सरूप प्रत्ययों को बाध कर नित्य विहित होता है। तथाहि—√ग्रह, √वृ, √दृ, √निश्चि, √गम्, √वश, √रण, √व्यध, √जप, √आह्वा से भाव एवं कर्तृ भिन्न कारक अर्थ में इसके संयोग से ग्रहः, वरः, दरः, निश्चयः, गमः, वशः, रणः, व्यधः, जपः, आहवः रूप निष्पन्न होते हैं।[३] सोपसर्गक √अद् से उक्तार्थ में इसके विधान से धातु को घस् आदेश होकर प्रघसः, विघसः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं।[४] यह प्रत्यय सोपपद √पण् से परिमाणरूप भाव एवं सोपपद निरुपसर्गक √मद् से शुद्ध भाव तथा प्र या सम् पूर्व में रहने पर √मद् से हर्ष भाव को प्रकट करता है।[५] यथा—मूलकपणः, गोपणः, धनमदः, राज्यमदः, प्रमदः, सम्मदः इत्यादि। अभि, नि, उप एवं वि उपसर्ग पूर्व में रहने पर √ह्वेञ् से जहाँ भाव और कर्तृ भिन्न कारक में यह प्रत्यय होता है, वहीं केवल इस धातु से भाव में।[६] यथा—निहवः, अभिहवः, उपहवः, विहवः, हवः। उदाहरण से स्पष्ट है, यहाँ इसके संयोग से धातु में सम्प्रसारण एवं गुणादेश अथवा व्यंजन में स्वरादेश हुआ है।

१—पा० सू० ३।३।८३ व ६०

२—पा० सू० ३।३।५७

३—पा० सू० ३।३।५८; वार्तिक २२०३; पा० सू० ३।३।६१, ७३

४—पा० सू० ३।३।५९

५—पा० सू० ३।३।६६, ६७ व ६८

६—पा० सू० ३।३।७२ व ७५

कुछ विशेष अर्थों में इस प्रत्यय के विधान को आगे देखें। तथाहि—सम् एवं उत् पूर्वक √अज् से पशु समूह में, √ग्रह् या √ग्लह् से जूआ इत्यादि शर्त लगायी जाने वाली क्रीडा के देय द्रव्य[1] में, √उपसृ से प्रथम गर्भाधान में, √आह्वा से पानी पीने का मात्र नांद आदि निपान में भी यह प्रत्यय दृष्टिगत होता है! एवंच यहाँ समजः ग्लहः, उपसरः एवं आहावः रूप निष्पन्न होते हैं।[2] अन्तिम रूप में निपातन से आ स्वरागम होता है। यह प्रत्यय सोपपद या निरुपपद हन् से कठिन अर्थ को, इसी धातु से अन्तर शब्द पूर्व में रहने पर देश-विशेष के अभिधान को, प्र उपसर्ग पूर्व में रहने पर प्रधान द्वार के सामने की दालान को, उत् पूर्व में रहने पर बढ़ई के लकड़ी आदि छीलने के ठीहे को, अप पूर्व में रहने पर शरीर के अंग हाथ-पैर को, अयस् उपपद होने पर घन या हथौड़ा को, वि उपपद होने पर मुड़री को एवं द्रु उपपद होने पर कुल्हाड़ी अर्थ को प्रगट करता है।[3] यहाँ घनः, अभ्रघनः, अन्तर्घना, अन्तर्घणः, प्रघणः, उद्घनः, अपघनः, अयोघनः, विघनः एवं द्रुघनः-द्रुघणः रूप निष्पन्न होते हैं। स्पष्ट है, इन रूपों में धातु के ह को घ भाव हुआ है। इसी प्रकार परि पूर्व में रहने पर √हन् से लोहे की गदा को, सम् पूर्व में रहने से गण को, उद् पूर्व में रहने पर प्रशंसित, नि पूर्व में रहने पर समुचित बढ़े एवं फले हुए वृक्ष को यह प्रत्यय बोधित करता है।[4] इन अर्थों में इसके संयोग से धातु के ह को घ आदेश के साथ-साथ 'न' का लोप भी हो जाता है। एवंच यहाँ 'परिघः-पलिघः, संघः, उद्घः, निघाः वृक्षाः' रूप निष्पन्न होते हैं। इसी के संयोग से 'उपघ्नः' रूप निपातित होता है, जिसका अर्थ होता है, आश्रय।[5]

१—'यत् पणरूपेणग्राह्यं तत्र ग्लहः इति'—सिद्धान्तकौमुदी, उत्तर-कृदन्त, सू० सं० ३२४७; इस प्रसंग में, 'व्यात्युक्षीमभिसरणग्लहमदीव्यन्'—शिशुपालवधम् द्रष्टव्य है। एवंच इसका राधारमण पाण्डेय द्वारा किया गया अर्थ चिन्त्य है। अवलोकनीय—अर्थ प्रकाशिका, पृष्ठ सं० १८५, पहला कालम

२—पा० सू० ३।३।६९।७०।७१ व ७४

३—पा० सू० ३।३।७७ से ८२

४—पा० सू० ३।३।८४, ८६, ८७

५—पा० सू० ३।३।८५

(xi)—ड :— इसमें ड् अनुबंध है, जिससे धातु के अन्तिम स्वर और उससे परवर्ती व्यंजन के लोप की सूचना मिलती है। यह प्रायः कर्तृकारक को प्रकट करता है। तथाहि—उपसर्ग अथवा उपपद पूर्व में रहने पर आकारान्त सम्प्रसारणी धातुओं से कर्त्ता अर्थ में,[१] यथा—"ब्रह्मज्यः, आह्वः, प्रह्वः" इत्यादि रूपों में यह प्रत्यय हुआ है। अन्त, अत्यन्त, अध्व, दूर, पार, सर्व, अनन्त, सर्वत्र, पन्न, उरस्, विहायस् एवं इनसे भिन्न उपपद रहने पर भी √गम् से यह प्रत्यय कर्तृकारक का बोधक होता है।[२] यथा—अन्तगः, अत्यन्तगः, अध्वगः, दूरगः, पारगः, सर्वगः, पन्नगः, उरगः, ग्रामगः, विहगः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। यहाँ उरस् के स् का लोप हुआ है तो विहायस् को विह आदेश। विह और भुज पूर्व में रहने पर इसके संयोग से उपपद में अनुनासिक का आगम भी होता है तथा विकल्प से खच् प्रत्यय होने से विहंगः-विहङ्गमः, भुजंगः-भुजंगमः रूप भी निष्पन्न होते हैं। इस धातु से पूर्व में सु एवं दुर् होने पर यह प्रत्यय अधिकरण अर्थ को व्यक्त करता है।[३] यथा—सुगः एवं दुर्गः। कर्मकारक उपपद होने पर √हन् से आशीर्वाद दिये जाने वाले कर्त्ता को तथा क्लेश और तमस् उपपद होने पर अप उपसर्गक इस धातु से केवल कर्त्ता का यह बोधक होता है।[४] यथा—शत्रुहः, अरिहः, क्लेशापह, तमोपहः इत्यादि। सुबन्त, उपसर्ग या सप्तम्यन्तपद उपपद होने पर √जन् से जहाँ यह भूतकालिक कर्त्ता को प्रकट करता है, वहीं पंचम्यन्तपद उपपद होने पर केवल कर्त्ता को।[५] यथा—सरसिजम्-सरोजम्, संस्कारजः इत्यादि। यहाँ पंचम्यन्त पद को जातिवाची नहीं होना चाहिए। प्र उपसर्ग रहने पर संज्ञा शब्द 'प्रजाः' निष्पन्न होता है।[६] अनु उपसर्ग पूर्व में रहने पर भी इसी धातु से यह भूतकालिक कर्त्ता को प्रकट करता है।[७]

१—वार्तिक १६८४

२—पा० सू० ३।२।४८; वार्तिक २०१४, २०१५, २०११, २११८

३—वार्तिक २०१६

४—पा० सू० ३।२।४६, ५०

५—पा० सू० ३।२।६७, ६८

६—पा० सू० ३।२।६६

७—पा० सू० ३।२।१००, १०१

यथा—अनुजः, अनुजा, पुमनुजा इत्यादि। √आखन् से यह रूढ़ करण 'फावड़ा' को व्यक्त करता है, जिससे आखः रूप निष्पन्न होता है।[1]

(xii) **खच्** : इसमें ख् एवं च् अनुबन्ध हैं। च् से प्रत्यय के उदात्त होने की सूचना मिलती है तो ख् से पूर्व उपपद के अन्त में अनुनासिक के आगम की। तथाहि—√वद् से पूर्व प्रिय एवं वश होने पर, √तापि से पूर्व द्विष एवं पर, √गम् से पूर्व पद होने पर, √दारि से पूर्व भग एवं पुर होने पर, √सह् से पूर्व सर्व होने पर, √कष् से पूर्व सर्व, कूल, अभ्र व करीष होने पर, √कृ से पूर्व मेघ, ऋति, भय व अभय होने पर यह प्रत्यय कर्तृ कारक का बोधक होता है।[2] इसके संयोग से यहाँ 'प्रियंवदः, वशंवदः, सुतंगमः, मितंगमः, द्विषंतपः, परन्तपः, पुरन्दरः, भगन्दरः, सर्वसहः, सर्वंकषः, कूलंकषा, अभ्रंकषः, करीषंकषा, मेघंकरः, ऋतिंकरः भयंकरः, अभयंकरः' रूप निष्पन्न होते हैं। √यम् से पूर्व वाच् होने पर इससे निष्पन्न वाचंयमः रूप मौनव्रती अर्थ को व्यक्त करता है।[3] √भू से पूर्व आशित शब्द रहने पर यह करण और भाव का बोधक होता है।[4] यथा—आशितम्भवः ओदनः। √कृ से पूर्व क्षेम, प्रिय एवं मद्र पद होने पर यह कर्त्ता में विकल्प से होता है।[5] इसके अभाव में सामान्य अण् प्रत्यय होने से क्षेमंकरः-क्षेमकारः, प्रियंकरः-प्रियकारः, मद्रंकरः-मद्रकारः रूप निष्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त √भृ, √तृ, √वृ, √जि, √धारि, √सह्, √गम्, √तप् एवं √दम् से पूर्व में उपपद होने पर रूढ़ संज्ञा में भी यह प्रत्यय देखा जाता है।[6] यथा—'विश्वंभरः, विश्वंभरा, रथन्तरम्, पतिंवरा, शत्रुंजयः, युगन्धरः, पर्वतः, शत्रुंसहः, शत्रुन्तपः, अरिन्दमः, सुतंगमः' इत्यादि।

१—वार्तिक २२३८

२—पा० सू० ३।२।३८, ३९; वार्तिक २०१०, २०१३; पा० सू० ३।२।४१, ४२, ४३,

३—पा० सू० ३।२।४०

४—पा० सू० ३।२।४५

५—पा० सू० ३।२।४४

६—पा० सू० ३।२।४६ व ४७

(xiii) **खश्** : इसमें ख् एवं श् अनुबन्ध हैं। ख अनुबन्ध जहाँ धातु से पूर्व उपपद में अनुनासिक आगम की सूचना देता है, वहीं श् अनुबन्ध विकरण कार्य की। यह प्रत्यय केवल कर्तृकारक का बोधक है।[1] तथाहि—कर्मकारक उपपद होने पर √एजि से; वात, शुनी, तिल व शर्ध उपपद होने पर क्रमशः √अज्, √धेट्, √तुद् एवं √हा से; स्तन एवं नासिका उपपद होने पर क्रमशः √धेट् एवं √ध्मा से; नाडी, मुष्ठी, घटी, खारी, एवं खरी उपपद होने पर √धेट् एव √ध्मा से यह प्रत्यय कर्तृकारक में विहित होकर 'जनमेजयः, वातमजाः मृगाः, शुनिन्धयः, तिलन्तुदः, शर्धंजहाः, स्तनन्धयी, नासिकन्धमः, नाडिन्धमः, नाडिन्धयः, मुष्ठिन्धमः, मुष्ठिन्धयः, घटिन्धमः, घटिन्धयः' इत्यादि रूप सम्पन्न करता है। यहाँ अवधेय है, इसके संयोग से उपपद में अनुनासिकागम के साथ अन्तिम दीर्घस्वर ह्रस्व हो जाता है। उद् उपसर्गक √रुज् एवं √वह् से कूल उपपद होने पर; √लिह् से वह एवं अभ्र उपपद होने पर; √पच् से परिणाम विशेष में मित या नख उपपद होने पर; √तुद् से विधु एवं अरु उपपद होने पर तथा √दृश एवं √तप् से क्रमशः असूर्य एवं ललाट उपपद होने पर भी यह प्रत्यय कर्तृकारक मे विहित होता है। एवच इससे 'कूलमुद्रुजः, मूलमुद्वहः, वहंलिहः, अभ्रंलिहः, प्रस्थंपचा, विधुन्तुदः, अरुन्तुदः, असूर्यपश्या एवं ललाटंतपः' इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। सुबन्त उपपद होने पर √मन् से अपने को मानने अर्थ में यह प्रत्यय विकल्प से होता है। इसके अभाव में यहाँ णिनि (इन्) होकर पण्डितंमन्यः-पण्डितमानी इत्यादि दोनों प्रकार के रूप व्यवहृत होते हैं। इसके अतिरिक्त उग्रम्पश्यः, इरम्मदः एवं पाणिन्धमः रूप भी इसी प्रत्यय से निपातित होते हैं।

(xiv) **खल्** : इसमें प्रत्यय से पूर्व वर्ण के उदात्त की सूचना देने के लिए ल् अनुबन्ध एवं उपपद के अनुनासिकान्त होने की सूचना के लिए ख् अनुबन्ध का संयोग किया गया है। यह प्रत्यय अकर्मक धातुओं से भाव और सकर्मक धातुओं से कर्म का बोधक होता है। इसके साथ ही इससे क्रिया के सायास अथवा अनायासरूप से सम्पन्न

१—पा० सू० ३।२।२८ से ३।२।३७ व ८३ तथा वार्तिक २००५

होने को भी सूचना प्राप्त होती है। इन अर्थों में यह प्रत्यय सामान्य विहित है, अतः अपवाद रहित धातुओं से 'ईषद्, सु एवं दुष्' उपपद होने पर यह दृष्टिगत होता है।[1] यथा-ईषत्करः, सुकरः, दुष्करः, ईषन्निमयः, दुष्प्रमयः, सुविलयः, निमयः, मयः, लयः, ईषत्प्रलम्भः, उपालम्भः, ईषल्लभः इत्यादि इसी के उदाहरण हैं। यहाँ अवधेय है कि उपर्युक्त उदाहरणों में उपपद के अन्त को अनुनासिक आगम नहीं हुआ है। क्योंकि, जैसा कि पूर्व अनुबन्धफल में कथित है, अव्यय-भिन्न स्वरान्त उपपद में ही यह आगम होता है। √भू अथवा √कृ से अव्यवहित पूर्व में कर्तृ या कर्म कारक होने पर तथा इससे पूर्व कृच्छ्राकृच्छ्र द्योतक ईषद्, दुष् या सु रहने पर भी यह प्रत्यय भाव या कर्म का बोधक होता है। यथा—'अनाढ्येन आढ्येन दुःखेन भूयते' इस विग्रह में दुराढ्यंभवम्, ईषदाढ्यंभवम्, स्वाढ्यंभवम् यहाँ उपपद कर्तृकारक है। इसी प्रकार 'अनाढ्यः आढ्यः दुःखेन क्रियते' इस विग्रह में ईषदाढ्यंकरः, दुराढ्यंकरः, स्वाढ्यंकरः यहाँ पर उपपद कर्मकारक है। इस प्रकार इन दोनों धातुओं से अन्य उपपदों के संयोग से अन्य उदाहरण भी सम्भव हैं, किन्तु अवधारणीय है, यहाँ उपपद को अभूतद्भाव अर्थ में विद्यमान होना आवश्यक है।[2]

(xv) घ :—इसमें घ् अनुबंध है। यह प्रत्यय मुख्यतः करण एवं अधिकरण अर्थ का बोधक है।[3] सामान्यतया यह प्रत्यय पुँल्लिग करण या अधिकरणार्थक संज्ञा में प्रयुक्त होता। यथा—दन्तच्छदः, प्रच्छदः आकरः इत्यादि। √भंज्, √पद् एवं √खल् से कर्मादि रूढ़संज्ञा में इसके संयोग से भगः, पदम्, खलः रूप निष्पन्न होते हैं। √खन् से भी यह प्रत्यय रूढ़करण फावड़े का बोधक है। यथा—आखनः। इसी के संयोग से रूढ़संज्ञा में गोचरः, संचरः, वहः स्कन्धः, व्रजः, व्यजः तालवृन्तम्, आपणः, निगमः कषः एवं निकषः रूप भी निपातित होते हैं।

१—'ईषद्दुः सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्'—पा० सू० ३।३।१२६

२—'कर्तृकर्मणोश्च भूकृञोः'—पा० सू० ३।३।१२७

३—द्रष्टव्य–पा० सू० ३।३।११८; ११९; वार्तिक २५

(xvi) घञ् :—इसमें धातु के वृद्धिभाव का एवं आद्युदात्त स्वर का सूचक ञ् अनुबंध है तथा घ् अनुबंध धातु के कुत्व का सूचक है। यह प्रत्यय सामान्य रूप में धातुमात्र से सिद्ध भाव को प्रकट करने के लिए संयुक्त होता है।[१] यथा—पाकः, त्यागः इत्यादि। इसके अतिरिक्त जिन विशेष धातुओं से यह विशेष अर्थ को प्रकट करता है; उन्हें आगे निर्दिष्ट किया जा रहा है। तथाहि— √पद्, √रुज्, √विश् एवं √स्पृश् से कर्तृत्व विवक्षा में यथा[२]—पादः, रोगः, वेशः एवं स्पर्शः। √सृ से यह व्याधि, मत्स्य, बल एवं स्थिर कर्त्ता का बोधक होता है।[३] यहाँ अर्थ का भेद उपसर्गाश्रित है। जैसे-अतिसारः, विसारः, सारः इत्यादि। धातु से कर्तृभिन्न रूढ़ कारक में भी यह विहित होता है।[४] यथा—रागः, रंगः इत्यादि। यहाँ स्मरणीय है, भाव या करण में √रंज् के अनुनासिक का लोप होता है, अतः 'रज्यति अस्मिन् इति रंगः' में अनुनासिक श्रूयमाण है। परिच्छिन्न राशि अर्थ में भी धातु से इसका प्रयोग होता है।[५] यथा—एकः तण्डुलनिचायः, दौ शुर्पनिष्पावौ इत्यादि। ण्यन्त √दृ एवं √भृ से कर्त्ता अर्थ में इसके संयोग से णि का लोप होकर द्वाराः एवं जारः रूप निष्पन्न होते हैं।[६] अधिपूर्वक √इङ् से अपादान में; √शृ से वायु, रंग व आवरण में, उपसर्गपूर्वक √रु से कर्तृभिन्न कारक में तथा इसी अर्थ में सम् उपसर्गक √यु, , √द्रु, से; इसी अर्थ में उपसर्ग रहित √श्रि √नी एवं √भू से; वि उपसर्गक √क्षु एवं √श्रु से; अव और उद् उपसर्गक √नी से; प्र उपसर्गक √द्रु √स्तु √स्रु से; √निष्पू एवं √अभिलू से भी कर्तृभिन्न कारक में इस प्रत्यय का विधान होता है।[७] फलतः यहाँ 'उपाध्यायः, उपाध्यायी,

---

१—'भावे'—पा० सू० ३।३।१८

२—पा० सू० ३।३।१६

३—पा० सू० ३।३।१७; वार्तिक २१७४

४—पा० सू० ३।३।१६

५—पा० सू० ३।३।२०

६—वार्तिक २१८२

७—पा० सू० ३।३।२१; वार्तिक २१८४, २१८५; पा० सू० ३।३।२२ से २८

उपाध्यायाः, शारः, नीशारः, संरावः, संयावः, संद्रावः, संदावः श्रायः, नायः, भावः, विक्षावः, विश्रावः, अवनायः, उन्नायः, प्रद्रावः, प्रस्तावः, प्रस्रावः, निष्पावः एवं अभिलावः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। उत् एवं नि उपसर्ग से परे √गॄ से कर्तृभिन्न कारक और भाव में तथा अन्न को भूसे से अलग करने में √कृ से यह प्रत्यय[1] देखा जाता है। यथा—उद्गारः, निगारः, उत्कारः, निकारः। उक्त स्थिति के अभाव में अप् के संयोग से 'गरः, भिक्षोत्करः, निकरः' इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। सम् उपसर्गक √स्तु से अधिकरण यज्ञ में, प्र उपसर्गक √स्तॄ से यज्ञ भिन्न अधिकरण व भाव में; वि उपसर्ग होने पर इसी धातु से शब्दभिन्न प्रथन में; उद् उपसर्ग रहने पर √ग्रह् से कर्तृभिन्न कारक एवं भाव में; इसी धातु से सम् उपसर्ग होने पर मुष्टिका अर्थ में भी यह प्रत्यय विहित होता है।[2] यथा—"संस्तावः, प्रस्तारः, विस्तारः, उद्ग्राहः एवं मल्लस्यसंग्राहः रूप निष्पन्न होते हैं। उक्त स्थिति के अभाव में अप् के संयोग से क्रमशः प्रस्तरः, तृणविस्तरः, ग्रन्थविस्तरः, ग्रहः, संग्रहः रूप निष्पन्न होते हैं। वैदिक छन्द अर्थ में षत्व होकर विष्टारः रूप निष्पन्न होता है।[3] परि से परे √नी से भावादि व सतरंज की चाल विशेष में; नि से परे √इण् से औचित्य अर्थ में; परि से पर होने पर √इण् से क्रम में; वि एवं उप से परे √शीङ् से भी पारी में तथा प्र उपसर्गक √चि से पूछकर पुष्प आदि चुनने में भी इस प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है।[4] फलतः इसमें 'परिणायः, न्यायः तवपर्यायः, तवविशायः, उपशायः, पुष्पप्रचायः' रूप निष्पन्न होते हैं। उक्त उपसर्गों या अर्थों के अभाव में अप् के संयोग से 'परिणयः, न्ययः, कालस्य पर्ययः, विशयः, संशयः, उपशयः, प्रचयः पुष्पप्रचयः चौर्येण' इत्यादि रूप निपष्न्न होते हैं। यह प्रत्यय नि, आङ् अथवा केवल √चि, और यङ्लुक् √निकेचि से भावादि और निवास, अग्निविशेष,

---

१—पा॰ सू॰ ३।३।२९ व ३०

२—पा॰ सू॰ ३।३।३१ से ३६

३—पा॰ सू॰ ३।३।३४

४—पा॰ सू॰ ३।३।३७ से ४०

शरीर व सूअर से भिन्न समूह अर्थ का; अव और नि से परे √ग्रह् से आक्रोशयुक्त भाव का; प्र से पर होने पर इसी से लिप्सायुक्त भाव का एवं परि से पर होने पर यज्ञ की परिधि का बोधक होता है।[१] यथा—निकायः, आकायः, कायः, गोमयनिकायः, निकेचायः, भिक्षुनिकायः, अवग्राहः, निग्राहः, पात्रप्रग्राहः, उत्तरः परिग्राहः। इसके अतिरिक्त चयः, सूकरनिचयः, समुच्चयः, अवग्रहः, निग्रहः, परिग्रहः इत्यादि रूप इसके प्रत्युदाहरण हैं। नि से परे √वृ से यह प्रत्यय धान्य विशेष का एवं उत् से परे √श्रि, √यु, √पू एवं √द्रु से भाव का वाचक होता है।[२] यथा—'नीवाराः, उच्छ्रायः, उद्यावः, उत्पावः, उद्रावः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। धान्यार्थ न होने पर निवरा कन्या, प्रवरा इत्यादि इसके प्रत्युदाहरण हैं। अलिन्द अर्थ में भी अप् प्रत्ययान्त प्रघणः के समान इसके संयोग से प्रघाणः रूप प्रयुक्त होता है।[३] हलन्त धातुओं से; अव से परे √तृ एवं √स्तॄ से; उत् से परे √अंच् से; आङ् से परे √नी एवं खन् से यह प्रत्यय रूढ़ संज्ञाशब्द को निष्पन्न करता है।[४] यथा—'रामः, अपामार्गः, विमार्गः, घृतोदंकम्, आनायः एवं आखानः' इत्यादि। जलपात्र में उदंचन एवं भावादि में आनयः इत्यादि रूप प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त इसी प्रत्यय के संयोग से अध्यायः, न्यायः, उद्यावः, संहारः, अवहारः, आधारः एवं आवायः शब्द भी रूढ़ संज्ञा में निपतित होते हैं।[५] स्मरणीय है, अप् के साथ इस प्रत्यय की विकल्प विधियों को अप् के निरूपण में ही निर्दिष्ट कर दिया गया है।

(xvii) ण :—इसमें ण् अनुबंध धातु के वृद्धिभाव का सूचक है तथा आकारान्त धातुओं से युक् (य्) आगम की भी सूचना देता है। अच् प्रत्यय के प्रसंग में ज्वलादि धातुओं से इसके वैकल्पिक विधान

१—पा० सू० ३।३।४१, ४२, ४५, से ४७

२—पा० सू० ३।३।४८ व ४९

३—पा० सू० ३।३।७९

४—पा० सू० ३।३।१२१, २०, १२३ से १२५

५—पा० सू० ३।३।१२२, वार्तिक २२३६

को निरूपित किया गया है। यह प्रत्यय मुख्यतः कर्त्ता अर्थ में ही होता है।[1] भाव अथवा कर्तृभिन्न कारक को यह केवल नि उपसर्गक √अद से व्यक्त करता है।[2] अतः वहाँ 'न्यादः' एवं इसके अभाव में अप् के संयोग से 'निघसः' रूप निष्पन्न होते हैं। √दा एवं √धा से भी यह कर्त्ता में विकल्प से होता है। अभाव पक्ष में वहाँ श होने से दायः-ददः, धायः-दधः रूप बनते हैं। जलचर कर्त्ता में √ग्रह से तथा कर्मकारक उपपद होने पर √शील्, √कामि, √भक्षि, √आचारि, √ईक्ष एवं √क्षम् से कर्त्ता अर्थ में इसका विधान होने से ग्राहः, मांसशीला, धनकामा, मांसभक्षा, कल्याणाचारा, सुखप्रतीक्षा, बहुक्षमा इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। उपसर्गपूर्वक √तन्, श्या, √व्यध्, √आस्रु, √सस्रु, √अतीण्, √अवसा, √अवहृ, √लिह्, √श्लिष्, √श्वस् से एवं उपसर्ग रहित √दु उपतापे और √नी से भी यह प्रत्यय कर्त्ता अर्थ को व्यक्त करता है। इसके संयोग से यहाँ अवतानः, वितानः, सन्तानः, प्रतानः, अवश्यायः, प्रतिश्यायः, व्याधः, आस्रावः, संस्रावः, अत्यायः, अवसायः, अवहारः, लेहः, श्लेषः, श्वासः, दावः एवं नायः रूप सम्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त आकारान्त धातुओं से भी यह दायः, धायः इत्यादि रूपों में विहित होकर कर्तृकारक का बोधक होता है।

(xviii) **अण्** : कर्तृकारक में विधीयमान यह प्रत्यय केवल धातु से विहित नहीं होता, प्रत्युत धातु के पूर्व कर्मकारक उपपद अवश्य होता है।[3] शब्द, श्लोक, कलह वैर, चाटु, सूत्र, मंत्र एवं पद उपपद रहने पर √कृ से कर्तृकारक के ताच्छील्य का भी द्योतन करता है।[4] यथा—'शब्दकारः, श्लोककारः, कलहकारः' इत्यादि। इसी अर्थ में इसको विकल्प विधि का खच् के प्रसंग में निरूपण किया गया है। उदाहरणों से स्पष्ट है, इसके संयोग से धातु के अन्तिम और उपधावर्ती स्वर का वृद्धीकरण हो जाता है। कर्म उपपद रहने पर धातुमात्र से विहित होने वाला

१—पा० सू० ३।१।१३६ से १४३; वार्तिक १९७०, १९८० व २९१३
२—पा० सू० ३।३।६०
३—'कर्मण्यण्'—पा० सू० ३।२।१
४—पा० सू० ३।२।२३

यह एक सामान्य प्रत्यय है, अतः सरूप अपवाद प्रत्ययों को छोड़कर यह उक्त स्थिति में सर्वत्र विहित होता है। यथा—कुम्भकारः, रथ-कारः, मालाकारः, गोसंदायः इत्यादि। सम्प्रति उन विशेष धातुओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनसे कर्तृकारक के बोधनार्थ इसी का प्रयोग किया जाता है। तथाहि—कर्मकारक उपपद होने पर √ह्वेञ्, √वेञ्, √माङ्. एवं √मेङ से तथा वर्ण, पद, दारु एवं चारु उपपद होने पर √संहन् से इसका विशेष विधान होता हैं:[१] अतः यहाँ स्वर्गह्वायः, तन्तुवायः, धान्यमायः, पदसंघाटः-पदसंघातः, वर्णसंघाटः-वर्णसंघातः, चार्वाघाटः-चार्वाघातः एवं दार्वाघाटः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त कर्मकारक उपपद होने पर तुमुन् के स्थान पर भी क्रियार्थक क्रिया की स्थिति में इसका विधान देखा जाता है।[२] यथा—काण्डलावो व्रजति, गोदायः गच्छति इत्यादि उदाहरणों का 'काण्डंलातुम् व्रजति, गाम् दातुम् गच्छति' यह अर्थ हैं। इस अर्थ में तुमुन् का प्रयोग न करना चाहें तब यह प्रत्यय तुमुन्प्रकृतिभूत धातु से उसी अर्थ में युक्त होकर भविष्यत्कालिक कर्त्ता को प्रकट करेगा। इस अर्थ में यह सर्वथा विशेष होने से ण्वुल्, क आदि प्रत्ययों का बाधक होता है।

(xix)-**णच्** : यह प्रत्यय कर्मव्यतिहार अर्थात् परस्पर एक दूसरे की क्रिया करने में धातुमात्र से भाव अर्थ को प्रकट करता है। यह भाव नित्य स्त्रीलिंग होता है, फलतः धातु से इसके संयोग के अनंतर पुनः स्वार्थ में तद्धितीय अञ् होने से निष्पन्न रूप ईकारान्त स्त्रीलिंग होता है। कर्मव्यतिहार की सुस्पष्ट प्रतीति के लिए धातु से पूर्व 'व्यव' उपसर्ग का प्रयोग किया जाता है। एवंच इसके संयोग से व्यावक्रोशी, व्यावहासी, व्यावचोरी, व्यात्युक्षी इत्यादि ईकारान्त स्त्रीलिंग रूप निष्पन्न होते हैं और ये रूप परस्पर निन्दा, परस्पर हँसी, परस्पर चोरी एवं परस्पर पानी उछालना अर्थों के बोधक हैं। इसके स्त्र्यधिकारी न होने से क्तिन् का बाध नहीं होता है, अतः व्यावक्रुष्टिः इत्यादि रूप भी इसी अर्थ में निष्पन्न होते हैं। व्यतीक्षा,

१—पा० सू० ३।२।२; वार्तिक २०२१, २०२० व २०२६

२—पा० सू० ३।३।१२

व्यतीहा इत्यादि रूपों में इसी अर्थ में अ प्रत्यय भी देखा जाता है।[1] वासुदेवदीक्षित ने इन रूपों का 'परस्पर निन्दक' इत्यादि जो अर्थ किया है, वह सर्वथा चिन्त्य है।[2]

एवंच यहाँ तक 'अ' प्रत्यय के ही विस्तार का अध्ययन किया गया। इन सभी अर्थों का एवं प्रकृतिगत परिवर्तनों का किसी एक रूप से अध्ययन संभव न होता, फलतः इसे विभिन्न अनुबन्धों में विभक्त करके निरूपित किया गया। इससे इन सरूप प्रत्ययों के परस्पर बाध्यबाधकभाव का परिज्ञान भी सुलभ हो जाता है।

(३) अक : आचार्य हेमचन्द्र को छोड़कर अधिकृत सभी वैयाकरणों ने इसका स्वरूप 'वु' माना है तथा इसे 'अक' आदेश किया है।[3] इसमें मूलकारण लघुता है। प्रकृतिगत परिवर्तनविशेष को दृष्टिगत करते हुए इसी 'वु' स्वरूप में अनुबंधों का योग करके महर्षि पाणिनि ने इसे १-ण्वुल्, २-ण्वुच् ३-वुञ्, ४-ष्वुन् एवं ५-वुन् रूपों में विभक्त किया है। किंच इन रूपों को प्रायः सभी आचार्यों ने अंगीकार किया है। किन्तु इन्हें यहाँ अनुबंधादि उपाधि रहित 'अक' रूप में विवेचित किया जा रहा है।

धातुगण में पठित स्वाभाविक और यङन्त एवं यङ्लुगन्त आदि लाक्षणिक सभी धातुओं से यह प्रत्यय कर्तृकारक में विहित होता

१—'क्वचिदकार एव इष्यते, नतु णच्। व्यतीक्षा, व्यतीहा'—सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी, उत्तरकृदन्त, सू० सं० ३२१७

२—'परस्परंनिन्दक इत्यर्थः। व्यावहासीति परस्परं हासक इत्यर्थः' —सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, उत्तरकृदन्त, सू० सं०, ३२१७; तुलनीय—इसी स्थल की तत्त्वबोधिनी टीका एवं 'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्'—पा० सू० ३।३।४३

३—'णकतृचौ' 'आशिष्यकन'—हैम, ५।१।४८, ७० इत्यादि। इसके विपरीत 'वुण् तृचौ'—का० ४।२।४७; 'युवोरनाकौ'—सार०, कृदन्त, प्र० सू० ५; तुलनीय—पा० सू० ७।१।१

है।[१] इसके संयोग से धातु के अन्तिम स्वर में वृद्धि, उपधा में गुण और उपधावर्ती अ का दीर्घीकरण हो जाता है। यथा–कारकः, धारकः, हारकः, कोटकः, पाठकः इत्यादि। हन् के न् को त् होकर घातकः एवं आकारान्त धातुओं में 'य्' आगम होकर दायकः, धायकः इत्यादि रूप बनते हैं। मान्त उदात्त धातुओं में उपधा का दीर्घीभाव नहीं होता। अतः वहाँ शमकः, दमकः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। पीछे इडागम के निरूपण-क्रम में सभी अनुदात्त धातुओं का संकलन किया गया है, उनसे भिन्न मान्त धातु उदात्त हैं।√रध्, √रभ् √जभ् एवं √लभ् धातुओं में नुमागम होकर रन्धकः, जम्भकः, लम्भकः, एवं रम्भकः रूप निष्पन्न होते हैं। यङन्त धातुओं से विहित होने पर य का लोप एवं उपधावृद्धि का अभाव होता है। यथा—√पापच्य=पापचकः, √वाव्रज्य=वाव्रजकः √नरीनृत्य=नरीनृतकः इत्यादि। यङ्-लुगन्त से तो उक्त वृद्धि होती है, अतः वहाँ √पापच्=पापाचकः, √नरीनृत्=नरीनर्तकः इत्यादि। √नृत्, √खन् एवं √रंज् से यह शिल्पी अर्थ का बोधक होता है[२] तथा इनसे नर्तकः, खनकः एवं रजकः रूप निष्पन्न होते हैं। √रंज् में जहाँ अनुनासिक लोप हुआ है वहीं ये तीनों रूप स्त्रीलिंग में ईकारान्त होते हैं। इनके अतिरिक्त इस प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न सभी रूप स्त्रीलिंग में आकारान्त होते हैं तथा इस प्रत्यय का अ इ में परिवर्तित हो जाता है, अतः वहाँ कारिका, धायिका, रम्भिका, प्रविका एवं पापचिका इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं।

√पृ, √सृ एवं √लू से इसका संयोग होने पर प्रवकः, सरकः एवं लवकः रूप बनते हैं। इनमें प्रत्यय कर्ता की साधुकारिता को भी प्रकट करता है।[३] क्रिया यदि आशीर्वाद विषयिणी हो तब भी उस क्रिया के वाचक धातुमात्र से इसका विधान होकर जीवकः, ननन्दकः इत्यादि प्रयोग निष्पन्न होते हैं।[४] इन प्रयोगों को प्रयोक्ता जिसे आशीर्वाद देता है, उसके लिए प्रयोग करता है। यथा-'त्वम् जीवकः'

१—'ण्वुल् तृचौ'—पा० सू० ३।१।३३

२—पा० सू० ३।१।१४५

३—पा० सू० ३।१।१४६

४—पा० सू० ३।१।१५०

अर्थात् जीवतात् । इस साधुकारिता या समभिहार[1] अर्थ के द्योतित होने पर धातु में गुणीभाव के अतिरिक्त अन्य परिवर्तन नहीं होते। यह तच्छीलादि कर्त्ता में भी √निन्द्, √हिंस्, √क्लिश्, √खाद्, √विनाशि, √परिक्षिप्, √परिरट्, √ परिवादि, √व्याभाष् एवं √असूय् से विहित होता है तथा √देवि एवं √क्रुश् से उपसर्ग पूर्व में रहने पर उक्तार्थ को प्रकट करता है।[2] इस अर्थ में यहाँ निन्दकः, हिंसकः, क्लेशकः, खादकः, आदेवकः, आक्रोशकः इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। क्रियार्थक क्रिया उपपद होने पर उत्तरकालिक प्रयोजनीभूत-क्रियावाचक धातु से युक्त होकर भविष्यत्कालिक क्रिया के कर्त्ता को व्यक्त करता है।[3] यथा—'गुरुं दर्शकोयाति, मोदकं भोजकोगच्छति' इत्यादि से 'द्रष्टुम् याति' इत्यादि अर्थ की प्रतीति होती है। यह क्वचित् कर्म में भी दृष्टिगत होता है।[4] यथा—'पादाभ्याम्ह्रियते इति पादहारकः' इत्यादि। उद्दालकपुष्पभंजिका, अभ्यूषखादिका इत्यादि रूढ़ संज्ञाओं में तथा रोगवाची संज्ञा यथा—प्रवाहिका, विचर्चिका, प्रच्छर्दिका इत्यादि में भी इसका प्रयोग हुआ है।[5] आसिका, शायिका इत्यादि रूपों में जहाँ यह भाव का बोधक है वहीं 'त्वम् कांकारिकामकार्षीः' इत्यादि में क्रियाविषयक प्रश्न व आख्यान को व्यक्त कर रहा है।[6] एवमेव यदि क्रिया का क्रम अथवा अर्ह, ऋण या उत्पत्ति निर्दिष्ट करना अभिप्रेत हो तब यह प्रत्यय धातु से स्त्रीलिंग भाव अर्थ को प्रगट करता है।[7] यथा—'भवतः आसिका शायिका अग्रगामिका'

१—'समभिहारग्रहणेन साधुकारित्वं लक्ष्यते'—सिद्धान्तकौमुदी, सू० २६११'; 'भूयः सहचारात् यो हि यां क्रियां पुनः पुनरनुभवति स तत्र प्रायेण कौशलं लभते, तेन सकृदपि यः सुष्ठु करोति तत्र वुन्। बहुशोऽपि दुष्टं करोति तत्र नेति भावः'—सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी, वहीं

२—पा० सू० ३।२।१४६, १४७

३—पा० सू० ३।३।१०

४—सिद्धान्तकौमुदी, सू० २८६५

५—पा० सू० ५।३।१०८

६—पा० सू० ३।३।१११ ; वार्तिक २२२५

७—पा० सू० ३।३।१११

इत्यादि वाक्यों से 'पहले आप का बैठना फिर सोना तदनन्तर आगे बढ़ना हुआ' इस अर्थ की प्रतीति में भाव के साथ-साथ उसका क्रम भी बोधित होता है। इसी प्रकार अन्य अर्थों के क्रमशः 'भवानिक्षुभक्षिकामर्हति, इक्षुभक्षिकांमेधारयसि, इक्षुभक्षिका उदपादि' इत्यादि उदाहरण हैं।

(४) **अत्** : आचार्यों ने इसे शतृ और अतृन् के रूप में व्याख्यात किया है। यह मुख्यतः वर्तमानकालिक एवं भविष्यत्कालिक क्रिया के कर्त्ता अर्थ का बोधक है। यह केवल √जृ से संयुक्त होने पर जरन्, जरन्तौ इत्यादि रूपों में भूतकालिक क्रिया के कर्त्ता का प्रत्यायक[1] होता है। हिन्दी में इसके अर्थ को 'हुआ', 'हुई' और 'हुए' शब्दों से व्यक्त किया जाता है। जैसे—पढ़ता हुआ = पठन्, पढ़ती हुई = पठन्ती, पढ़ते हुए = पठन्तः इत्यादि रूपों में इसी प्रत्यय के संयोग से ये भाव अनूदित किये जाते हैं। इसकी प्रकृति सभी परस्मैपदी धातु हैं। जब यह वर्तमानकालिक क्रिया के कर्ता का बोधक होगा, तब उन धातुओं में तत्तद्गणीय विकरण व धात्वादेश विहित होंगे तथा इसके भविष्यत्कालिक क्रिया के कर्त्ता का बोधक होने पर उन सभी धातुओं से भविष्यत्काल सूचक 'स्य' विकरण और सेट् धातुओं से इडागम भी होगा। एवंच इससे निष्पन्न रूप विशेषण होने के कारण तीनों लिंगों और आठों विभक्तियों में प्रयुक्त किये जाते हैं। विभक्तियों में प्रयोग करते समय यह स्मरणीय है, पुंल्लिग सर्वनामस्थानविभक्तियों में इसके त् के पूर्व नुम् (न्) का आगम होता है, किन्तु यह आगम नपुंसकलिंग में नहीं होता। स्त्रीलिंग में ये शब्द ईकारान्त प्रयुक्त होते हैं। स्मरणीय है, वहाँ शप् एवं श्यन् विकरण होने पर त् से पूर्व जहाँ नित्य नुम् होता है, वहीं इनसे भिन्न अवर्णान्त अंग से परे 'त्' होने पर स्त्रीलिंग या नपुंसक ई में यह नुमागम विकल्प से देखा जाता है। इसके विपरीत अभ्यस्तसंज्ञक (द्वित्व वाले) एवं जक्षत्, जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत्, दीध्यत् एवं वेव्यत् रूपों में कहीं भी नुमागम नहीं होता, किन्तु केवल नपुंसक इ विभक्ति में विकल्प से नुम् होता है। एवंच इसके संयोग से पचत्, गच्छत्, धावत्,

---

१—पा० सू० ३।२।१२४, ३।३।१४ व ३।२।१०४

हसत्, दीव्यत्, बिभ्रत्, स्वपत्, तुदत्, क्रीणत्, चोरयत् इत्यादि प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं, जिनके पुँल्लिग में पचन्, पचन्तौ, पचता; स्त्रीलिंग में प्रोक्त नियम से नुमागम होकर पचन्ती, पचन्त्यौ इत्यादि गौरीवत् और नपुंसकलिंग में नियमानुसार नुमागम होने से पचत् पचती-पचन्ती, पचन्ति, पचता इत्यादि परिनिष्ठत रूप व्यवहृत होते हैं।

इस प्रत्यय के अर्थ के विषय में कतिपय और बातें स्मरणीय हैं। तथाहि—आचार्यों के मतानुसार प्रथमान्त का विशेषण होने पर इस प्रत्यय का प्रयोग क्वाचित्क है,[1] किन्तु आजकल साधनमात्र के विशेषण के रूप में इसका प्रयोग धड़ल्ले से किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त यह प्रत्यय √अर्ह से कर्त्ता की प्रशंसा, √सुञ् से कर्त्ता की याज्ञिक यजमानरूपता, √द्विष् से शत्रुरूप कर्त्ता तथा धातुमात्र से माङ् (मा) उपपद होने पर कर्ता के प्रति आक्रोश को व्यक्त करता[2] है। इन अर्थों में रूपगत विशेष परिवर्तन नहीं होते हैं। यथा—अर्हन् सुन्वन्तः, द्विषन्, माजीवन् इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। पर हाँ, केवल √विद् से विहित होने पर यह स्वयं विकल्प से 'वस्' रूप में परिवर्तित हो जाता है। अतः वहाँ विद्वस्=विद्वान्-विदन्-विदुषी इत्यादि रूप बनते हैं। क्रिया यदि क्रियान्तर के प्रतिलक्षण या हेतु हो तब उस क्रिया के वाचक परस्मैपदी धातुओं से विहित होकर यह प्रत्यय कर्तृकारक के साथ-साथ उसके कारकत्व अर्थात् क्रिया में विद्यमान लक्षण और हेतुत्व धर्मों का भी द्योतन करता[3] है। यथा—अर्जयन् वसति, हसन् जल्पति, हरिं पश्यन् मुच्यते इत्यादि। आत्मनेपद होने पर भी √अधीङ् एवं √धारि से इस प्रत्यय का विधान होता है। वहाँ यह प्रत्यय तद्धात्वर्थक्रिया की अनायास साध्यता को प्रगट[4] करता है, अतः 'व्याकरणमधीयन्' अथवा

१—'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे'—पा० सू० ३-२-१२४; तेन प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित्'—सिद्धान्तकौमुदी, पूर्वकृदन्त, सू० सं० ३१०१ व ३१०७

२—पा० सू० ३।२।१३३, १३२, १३१; वार्तिक २१०६

३—पा० सू० ३।३।१४

४—पा० सू० ३।२।१३०

जगद्धार-यन्' इत्यादि रूपों से अध्ययन अथवा धारण क्रिया में कष्टाभाव की प्रतीति भी होती है अवधारणीय है, यह क्रिया वर्तमान कालिक ही होती है अर्थात् इन धातुओं से भविष्यत्कालिक क्रिया का एवं विध कर्त्ता विवक्षित होने पर इस प्रत्यय का विधान नहीं होता है।

५—अथु : इस प्रत्यय का उ उदात्त है, जिसे सूचित करने के लिए इसे च् अनुबन्ध के साथ अथुच् रूप में पढ़ा जाता है। यह प्रत्यय टु अनुबन्ध से युक्त धातुगणीय धातुओं से धात्वर्थ भाव में ही विहित होता है।[1] इसके विधान से धातु में गुणीभाव होकर वेपथुः, स्फुर्जथुः, श्वयथुः, वमथुः, याचथुः, मज्जथुः, भ्राजथुः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं, जो नित्य पुँल्लिग होते हैं।

६—अन : वैयाकरणों ने इसके स्थानीभूत यु को प्रत्यय का स्वरूप स्वीकार किया है तथा इसे आदेश कहा[2] है। पर हाँ, आचार्य हेमचन्द्र ने इसे 'अन' रूप में ही निर्दिष्ट किया है। उन्होंने इसमें यथावश्यक अनुबन्धों की अनुयोजना करके इसे कहीं 'टनण्' तो कुत्रचित् 'खनट्' एवमेव 'अन' इत्यादि रूपों में उपदिष्ट[3] किया है। महर्षि पाणिनि ने उपर्युक्त 'यु' रूप में ल्-ट्-च्-ख्-न्-ण् अनुबन्धों के अनुषंग से अर्थमूलक एवं रूपमूलक दृष्टिकोण रखते हुए इसे 'ल्युट्-युच्-ख्युन्-ल्यु-ण्युट्' इन पाँच रूपों में निरूपित किया है। यहाँ इन सभी रूपों को पृथक्-पृथक् व्याख्यात न कर इन्हें 'अन' रूप से ही प्रस्तुत किया जायगा तथा यथास्थान प्रकृतिविशेष से प्रतिभासमान अर्थविशेष व परिवर्तनविशेष को भी अभिहित किया जायगा। स्मरणीय है, धातु में रेफ या षकार रहने पर इसके नकार का मूर्धन्यीकरण हो जाता है, किन्तु जैसा कि विभक्तिप्रत्ययों में कथित है,

१—'ट्वितोऽथुच्'—पा० सू० ३।३।८९

२—'नन्द्यौदेर्युः' 'ण्युट् च'—का० ४-२-४९,६३ इत्यादि एवं द्रष्टव्य सारस्वत, कृदन्त, सूत्र ५; तुलनीय—पा० सू० ७।१।२

३—'टनण्' 'कृगः खनट् करणे' 'नन्द्यादिभ्योऽनः'—हैम० ५।१।६७, १२९ व ५२ इत्यादि

चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, ल-श एवं स के व्यवधान में यह णत्व नहीं होता है।[1] इसके अतिरिक्त उपसर्गस्थ निमित्त होने पर भी मूर्धन्यीभाव होता है, जिसका विवेचन आगे 'अनीय' प्रत्यय के प्रसंग में किया जायगा।

यह प्रत्यय समग्र धातुओं से भाव अर्थ में विहित होता है।[2] इसके संयोग से धातु में गुणीभाव हो जाता है, यथा—हसनम्, गमनम्, करणम्, कषणम्, चयनम्, भवनम्, वेदनम्, बोधनम् इत्यादि। कतिपय विशिष्ट धातुओं को छोड़कर, जिन्हें आगे निरूपित किया जा रहा है, शेष समग्र धातुओं से जब यह प्रत्यय भाव अर्थ को अभिव्यक्त करेगा, तब उनमें नित्य नपुंसकलिंग होगा तथा उक्त विशिष्ट धातुओं में स्त्रीलिंग भी होता है। जिस वस्तु के संस्पर्श अर्थात् खाने, पीने, पहनने या अनुलेपन से कर्त्ता को शरीरसुख की प्राप्ति होती है, उस द्रव्य के वाचक कर्मीभूत शब्द उपपद रहने पर भी यह प्रत्यय सभी धातुओं से विहित होता है। इससे निष्पन्न रूप का उपपद के साथ नित्य समास होता है और वह समस्तरूप कथित सुख का प्रत्यायक होता है।[3] यथा—पयः पानम्सुखम्, पूरिकाभोजनसुखम्, चन्दनानुलेनम् सुखम् इत्यादि। सम्प्रति उन विशेष धातुओं का निर्देश किया जा रहा है, जिनसे यह प्रत्यय भाव एवं कर्तृभिन्न कारक में विहित होने पर निष्पन्न रूप स्त्रीलिंग होते हैं। तथाहि—√आस्, √श्रृंथ्, √घट्ट्, √विद्, √वन्द्, अनिच्छार्थक √इष् एवं णि प्रत्ययान्त धातुओं से विहित होने पर यह भावादि में स्त्रीलिंग द्योतक भी होता हैं।[4] यथा—आसना, श्रन्थना, घट्टना, वन्दना, वेदना, अन्वेषणा, कारणा, हारणा इत्यादि। परिपूर्वक √इष् से स्त्रीलिंग भावादि में इसके और क्तिन् के वैकल्पिक होने से पर्येषणा, एवं

१—'चुटुतुलशर व्यवाये न' वार्तिक, उद्धृत—ल० श० शेखर, अजन्तपुंल्लिग, 'अयोगवाहानामिति' प्रतीक

२—पा० सू० ३।३।११५

३—पा० सू० ३।३।११६

४—पा० सू० ३।३।१०७; वार्तिक २२२३ से २२२४

परीष्टिः दोनों रूप व्यवहृत होते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त परिगणित धातुओं से भावार्थक सामान्य क्तिन् नहीं होता है। उक्त सभी प्रकृतियों से पूर्व में उपसर्ग रहने पर भी यह प्रत्यय विहित होकर उक्तार्थ की प्रतीति करता है। जैसे—अनुगमनम्, अनुधावनम्, विहसनम् इत्यादि। आकारान्त धातुओं से ईषद्, दुष् या सु उपपद होने पर यह भाव अथवा कर्म में विहित होता है तथा निष्पन्न रूप उपपद की महिमा से क्रिया के सौकर्य या काठिन्य के भी द्योतक होते हैं।[1] यथा—ईषत्वानः, सुपानः, दुर्दानः इत्यादि रूप कर्मार्थक होने पर विशेष्यानुसारी अन्यथा नित्य नपुंसक होते हैं।

यहाँ तक इस प्रत्यय के भाव अर्थ की विवेचना की गयी। इसके अतिरिक्त यह प्रत्यय घञ्, अप्, अच् एवं स्न्यधिकारी प्रत्ययों का बाध करके धातुमात्र के करण और अधिकरण में भी विहित होता है। इन अर्थों में धातु से पूर्व उपपद या उपसर्ग भी रहा करते हैं तथा निष्पन्न रूप व्यक्ति या जातिवाची संज्ञा और विशेषण भी हुआ करता है।[2] यथा—इध्मप्रव्रश्चनः कुठारः, गोदोहनी स्थाली, दुःशासनः, सुयोधनः, दुर्योधनः, सुदर्शनः इत्यादि। √कृ से आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध एवं प्रिय उपपद होने पर जब यह प्रत्यय करण में विहित होता है, तब उपपद अनुनासिकान्त हो जाया करते हैं और उनसे अभूततद्भाव की भी प्रतीति होती है।[3] यथा—आढ्यङ्करणम्, सुभगङ्करणम् इत्यादि।

यह प्रत्यय नन्द्यादिगणीय शब्दों में भी विहित हुआ है, जिनसे कर्तृकारक की प्रतीति होती है।[4] यथा—विभीषणः, लवणः, मधुसूदनः, नन्दनः इत्यादि शब्द संज्ञा एवं विशेषण उभयरूप हैं। इसके अतिरिक्त अकर्मकचलनार्थक, शब्दार्थक, व्यंजनादि अनुदात्त अनुबन्धवाले, मण्डनार्थक एवं क्रोधार्थ धातुओं से तथा √जु, √चङ्क्रम्य, √दन्द्रम्य,

---

१—पा० सू० ३।१२८

२—पा० सू० ३।३।११७, वार्तिक २२४३

३—पा० सू० ३।२।५६

४—पा० सू० ३।१।१३४

सृ, √गृध्, √ज्वल्, √शुच्, √लष्, √पत् एवं √पद् से विहित होने पर यह प्रत्यय वर्तमानकालिक क्रिया के कर्ता की प्रतीति करता है।[1] इससे यहाँ चलनः, चोपनः, शब्दनः, रवणः, वर्तनः, वर्धनः, जवनः, चङ्क्रमणः, दन्द्रमणः, क्रोधनः, रोषणः, मण्डनः, भूषणः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इनसे कर्ता के प्राकृतिक स्वभाव, धर्म एवं साधुकारिता की भी प्रतीति होती है। किन्तु यह प्रत्यय यकारान्त एवं √सूद्, √दीप् और √दीक्ष से उक्त कर्ता का बोधक नहीं होता है।[2] फलतः इन धातुओं से उक्त कर्ता में तृन् होकर क्नूयिता, सूदिता इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। एवमेव यह प्रत्यय √गै से शिल्पी गायक तथा √हा से धान और वर्ष अर्थ का वाचक होता हैं। इससे यहाँ गायनः और हायनः रूप निष्पन्न होते हैं। अन्तर्हणनम्, अन्तरणम्, लवणः इत्यादि रूपों में ण का प्रयोग निपातित समझना चाहिए। एवंच धातुमात्र से विहित होने वाला यह प्रत्यय भाव एवं द्रव्य दोनों का बोधक होता है।

७—**अनि** :—जब आक्रोशपूर्ण भाव को व्यक्त करना होता है, तब धातु से पूर्व नञ् (अ) उपपद का प्रयोग करके उस धातु से इस प्रत्यय का संयोग किया जाता है। इससे निष्पन्न रूप नित्य स्त्रीलिंग होते हैं।[3] यथा—अजीवनिः ते शठभूयात् अप्रयाणिः अमहनिः इत्यादि। यह प्रत्यय इस स्थिति में अन्य स्त्र्यधिकारी प्रत्ययों का बाधक है।

८—**अनीय** :—इस प्रत्यय का ई स्वर उदात्त होता है, जिसे सूचित करने के लिए महर्षि पाणिनि ने र् का अनुबन्धन किया है, जबकि अन्य वैयाकरण इसे निरनुबन्धक रूप में ही पढ़े हैं।[4] यह प्रत्यय सकर्मक धातु के कर्म व अकर्मक के भाव का अभिधायक है। इसके अतिरिक्त इससे लिङर्थ और लोडर्थ प्रेरणादि विध्यर्थ एवं अर्ह अर्थ की

१—पा० सू० ३।२।१४८ से १५३

२—पा० सू० ३।१।१४७, १४८

३—पा० सू० ३।३।११२

४—'तव्यानीयौ'—सार०, कृत्यप्रक्रिया १; 'तव्यानीयौ'—हैमः ५।१।२७; 'तव्यानीयौ'—का० ४।२।६

भी प्रतीति होती है।[1] √प्रवच् एवं √उपस्था से यह कर्तृकारक एवं कर्मकारक दोनों का वाचक होता है।[2] इसकी प्रकृति समग्र धातु है। उनमें इसके विधान से गुणीभाव हो जाया करता है। फलतः गमनीयम्, हसनीयम्, वेदनीयम्, बोधनीयम्, करणीयम् इत्यादि रूप अतिसरल होने से बहुव्यवहृत हैं। इनके प्रयोग की चर्चा प्रारम्भ में की जा चुकी है। विशेषण होने पर ये शब्दरूप तीनों लिंगों में प्रयुक्त होते हैं, अन्यथा भाव में केवल नपुंसकलिंग में रहते हैं।

यहाँ दो बातें अवधारणीय हैं। पहली, प्रत्ययान्त लाक्षणिक धातुओं से भी वे कृत् विहित होते हैं, जिनकी प्रकृति समग्र धातु है। यहाँ णि प्रत्ययान्त धातुओं से जब इस प्रत्यय का अथवा अन्य स्वरादि कृत् का विधान होता है तथा यदि धातु और कृत् के मध्य इडागम न हुआ हो, तब धातु विहित णि का लोप हो जाता है अर्थात् वह प्रकृतिरूपीय दृष्टि से अपने स्वाभाविक पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाती है, फलतः वहाँ प्रभावनीयम्, प्रभापनीयम् गमनीयम्, प्रेषणीयम्, पाठनीयम् इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। दूसरी बात यह है, धातु से पूर्व उपसर्ग में यदि रेफ या षकार हो, तब उस धातु से पर में विद्यमान कृत् के नकार को ण हो जाता है, किन्तु वह कृत् यदि णि प्रत्ययान्त धातु से विहित हुआ हो, तब णत्व विकल्प से होगा। अतः यहाँ प्रयाणीयम्, प्रयायणीयम्-प्रयापनीयम् इत्यादि रूप बनते हैं। एवमेव व्यंजनादि अकारभिन्न स्वरोपध धातुओं से भी यह णत्व वैकल्पिक है। यथा—प्रकोपणीयम्-प्रकोपनीयम् इत्यादि। किन्तु णि प्रत्ययान्त √भा, √भू, √पू, √कमि, √गमि, √प्यायी एवं √वेप् से यह णत्व नहीं होता है। अतः वहाँ प्रकामनीयम्, प्रगमनीयम्, प्रवेपनीयम् इत्यादि रूप बनते हैं। इस णत्व प्रकरण में 'दुर्' को उपसर्ग नहीं समझना चाहिए, प्रत्युत 'अन्तर्' उपसर्गरूपता को प्राप्त कर लेता है। अतः दुर्यानम् में जहाँ णत्व नहीं होता है, वहीं अन्तर्याणम् में उसकी विधि

१—पा० सू० ३।१।९६ 'तयोरेवकृत्यक्तखलर्थाः' 'अर्हे कृत्यतृचश्च' 'कृत्याश्च'—पा० सू० ३।४।७०, ३।३।१६९ व १७१

२—पा० सू० ३।४।६८

सम्पन्न होती है। सानुस्वार धातुओं में यह विशेषता है कि उनमें णत्व तभी होगा जब वे अकार से भिन्न स्वरादि और व्यंजनान्त हों। फलतः प्रेङ्खणीयम् प्रोम्भणम् इत्यादि रूपों में णत्व देखा जाता है। किन्तु प्रमङ्गनीयम्, प्रेन्वनम् इत्यादि में वह नहीं देखा जाता है। यह सदा स्मरणीय है, कहीं भी णत्व तभी होगा, जबकि निमित्त-निमित्ति के मध्य यदि व्यवधान हो तो चवर्ग, टवर्ग तवर्ग, ल; श और स से भिन्न वर्ण का हो, अन्यथा णत्व नहीं होगा।

(६) अम् : आचार्यों ने इस प्रत्यय का निरूपण बड़े विस्तार से किया है, क्योंकि इससे निष्पन्न शब्द मुहावरेदार लाक्षणिक होने से जहाँ बड़े प्रभावी होते हैं, वहीं भाषा में सौन्दर्याधान के कारण अत्यन्त प्रचलित हैं। इन रूपों की विशेषता यह है कि ये सदा अमन्त अर्थात् क्रियाविशेषण अव्यय होते हैं। इनके संयोग से धातु के स्वर में वृद्धिभाव तथा आकारान्त धातु में यक् (य) आगम हो जाता है। इनके पूर्व में उपपद होने पर उनके साथ कहीं नित्य समास होता है और कहीं वैकल्पिक, जिसे हम नीचे निर्दिष्ट करेंगे। यह प्रत्यय वाक्यगत दो क्रियाओं का कर्त्ता एक होने पर पूर्वकालिकक्रिया से प्रायः विहित होता है। इस स्थिति में इसके जो अपवाद हैं, उन्हें, भी स्पष्ट किया जायेगा तथा इसकी वैकल्पिक स्थिति में क्त्वा के प्रयोग को भी स्पष्ट किया जायेगा। तथाहि—समानकर्तृक धातुओं में पूर्वकालिक क्रियावाची धातु से भाव के पौनःपुन्य (बारम्बारता) के द्योतनार्थ इसका एवं क्त्वा प्रत्यय का विकल्प से व्यवहार किया जाता है।[1] अतः 'स्मारंस्मारं नमति शिवम्' के विकल्प में स्मृत्वा का प्रयोग भी सम्भव है। यहाँ अवधार्य है, यद्यपि यह प्रत्यय अपने प्रकृत्यर्थ भाव की पूर्वकालिकता एवं बारम्बारता को प्रकट कर रहा है, तथापि 'द्विबद्धंसुबद्धं भवतीतिन्यायेन' उक्त बारम्बारता की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए परिनिष्ठित रूप का द्विः प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार पायं पायम् भोजं भोजम्, गामं गामम्-गमं गमम्, लम्भं लम्भम्-लाभं लाभम्, प्रलम्भं प्रलम्भम्, जागरंजागरम्

१—पा० सू० ३।४।२२

इत्यादि। रूप निष्पन्न होते हैं। अवधेय है, इसके संयोग से अमन्तमित् √गम्, √नम्, √शम् इत्यादि धातुओं में उपधा वृद्धि जहाँ विकल्प से होती है, वहीं √लभ् में विकल्प से अनुस्वारागम होने के कारण उक्त वृद्धि विकल्पित हो जाती है। पर हाँ, उपसर्ग पूर्व में रहने पर अनुस्वारागम नित्य होने से इसमें वृद्धि का सर्वथा अभाव देखा जाता है। यदि वाक्यनिष्ठ पूर्वोत्तरकालिक क्रियायें परस्पर अनाकांक्षरूप में निर्दिष्ट हों, यथा—यदयं भुङ्क्ते, ततः पठति इत्यादि, तब यह प्रत्यय और क्त्वा भी विहित नहीं होते हैं। पूर्वकालिक क्रियावाची धातु से पूर्व यदि अग्रे, प्रथमम् या पूर्वम् उपपद रहे, तब भी क्त्वा और यह प्रत्यय विकल्प से होते हैं।[1] यथा—अग्रेभुक्त्वा-अग्रेभोजम् इत्यादि। इसके अभाव में लकार विधि होती है, किन्तु यदि यहीं पर बारम्बारता विवक्षित हो तब लकार विधि नहीं होगी। स्वादु या इसके पर्यायवाची शब्द उपपद होने पर कृ धातु से यह और क्त्वा जहाँ विकल्प से प्रयुक्त होते हैं, वहीं कर्मकारक उपपद होने पर वाक्य से आक्रोश के द्योतनार्थ इस प्रत्यय का नित्य प्रयोग किया जाता है।[2] यहाँ उपपद के अन्त में अनुस्वारागम होने से स्वादुङ्कारम् स्वादुङ्कृत्वा, संपन्नंकरम्-सम्पन्नंकृत्वा, लवणंकारम्-लवणंकृत्वा, चौरंकारमाक्रोशिति इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। अन्तिम उदाहरण का 'चोर कह कर फटकारता है' अर्थ होने से आक्रोशाभिव्यक्ति सुस्पष्ट है।

सम्प्रति ऐसी प्रकृतियों का निर्देश किया जा रहा है, जिनमें उपपद समास और इस प्रत्यय का विधान नित्य पाया जाता है।[3] तथाहि—अन्यथा, एवं, कथम्, इत्थम् उपपद होने पर √कृ से, यथा—अन्यथाकरम् एवं कारम् इत्यादि। इसमें यद्यपि 'कारम्' निरर्थक है, पुनरपि मुखसुखार्थ इसका प्रयोग किया जाता है। जब प्रयोग विवक्षित होगा, तब समास व यह प्रत्यय नित्य विहित होंगे। इसी प्रकार उत्तरात्मक वाक्य से असूया के प्रतिपत्त्यर्थ भी 'यथा-तथा' उपपद होने पर √कृ

१—पा० सू० ३।४।२४

२—पा० सू० ३।४।२६, २५

३—पा० सू० ३।४।२७ से ३३

से इसका प्रयोग होता है। जैसे—'यथाकारमहंभोक्ष्ये, किन्तवानेन' इत्यादि। एवमेव पूर्वकाल में √दृश् एवं √विद् से कर्मकारक उपपद होने पर यह प्रत्यय विहित होकर कर्म के साकल्य को भी प्रकट करता है। यथा—'कन्यादर्शम्' इत्यादि से 'सभी कन्याओं को देखकर' इत्यादि अर्थ प्रतीत होता है। √विन्द् एवं √जीव् से यावत् उपपद होने पर यह भाव के पूर्वकाल को व्यक्त करता है, किन्तु साकल्य को नहीं। यथा—'यावद्वेदम् भुङक्ते, यावज्जीवमधीते' इत्यादि। कर्मीभूत वस्त्र पर्याय उपपद होने पर √क्नोप् से, चर्म एवं उदर उपपद होने पर √पूरी से तथा इसी धातु से वर्षा के परिमाण को व्यक्त करने के लिए परिमाणवाची कर्म के उपपद रहने पर भो यह प्रत्यय विहित होता है तथा इस अर्थ में √पूरी के ऊ का विकल्प से लोप भी होता है। अतः यहाँ 'चेलक्नोपम्, वस्त्रक्नोपम् वृष्टोदेवः, चर्मपूरं स्तृणाति, उदरपूरं भुक्ते, गोष्पदपूरं-गोष्पदप्रम्, मूषिकाविलप्रम्-मूषिकाविलपूरम् वृष्टोदेवः' इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं, जिनका अर्थ हिन्दी में 'भर' से किया जा सकता है।

सम्प्रति जो धातु निर्दिष्ट किये जा रहे हैं, उनसे विहित होने पर यह प्रत्यय उनके भाव की पूर्वकालिकता को प्रकट नहीं करते, अपितु उपपद के अर्थ में विशेष का आपादन करते हैं। इस स्थिति में यह प्रत्यय जिस धातु से विहित होता है, पुनः उसी धातु का अनुप्रयोग करके वाक्यपरिसमाप्ति की जाती है।[1] तथाहि—निमूल और समूल उपपद होने √कष् से; शुष्क, चूर्ण, रक्ष व करणकारक स्नेहन द्रव्य उपपद होने पर √पिष् से; समूल, अकृत् व जीव उपपद होने पर √हन् √कृ व √ग्रह से तथा √हन् से पूर्व करणकारक रहने पर भी; णि प्रत्ययान्त √वर्ति एवं √ग्रहि से पूर्व करणकारक हस्तपर्याय उपपद होने पर; धन के पर्याय एवं धनविशेषवाची शब्द उपपद होने पर √पुष् से; अधिकरण उपपद होने पर √बन्ध् से; कर्तृभूत जीव एवं पुरुष उपपद होने पर क्रमशः √नश् एवं √वह से; कर्तृभूत ऊर्ध्व उपपद होने पर √शुष् एवं √पूर से तथा उपमानभूत कर्म एवं

१—पा० सू० ३।४।३४ से ४५

कर्तृकारक उपपद होने पर धातुमात्र से यह प्रत्यय विहित होकर उपपद में विशेषापादन के साथ-साथ स्वप्रकृत्यर्थ भाव को अभिव्यक्त करता है। यथा—'निमूलकाषं कषति, शुष्कपेषं पिनष्टि, उदपेषं पिनष्टि, समूलघातं हन्ति, पादघातं हन्ति, हस्तवर्तं वर्तयति, धनपोषं पुष्णाति, गोपोषं पुष्णाति, चक्रबन्धं बध्नाति, जीवनाशं नश्यति, ऊर्ध्वशोषं शुष्यति, घृतनिधायं निहितं जलम्' इत्यादि इसके उदाहरण हैं। उक्त उदाहरणों में इस प्रत्यय की प्रकृति मूलभूत धातु और अनुप्रयुज्यमान धातु का अर्थ एक ही है, तथापि निमूलादि विशेषणों से सम्बन्ध होने के कारण परस्पर विशेष्यविशेषण भेद स्वाभाविक है। जहाँ 'निमूलकाष' विशेष भाव है, वहीं केवल 'कषण' सामान्य भाव है। एवंच यथा वृक्षः और आम्रवृक्षः में सामान्यविशेषभाव होने से 'वृक्ष' विशेष्य होता है और 'आम्रवृक्ष' उसका विशेषण, तद्वत् प्रकृत में भी विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध समझना चाहिए। अतः यहाँ 'जिस कषण से कष्यमाण निमूल हो जाय, वैसा कषण करता है' इत्यादि रूप में अर्थ समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त क्रौंचबन्धं बध्नाति, मयूरिकाबन्धम्, अट्टालिकाबन्धम् इत्यादि बन्ध (ग्रंथि) विशेष की संज्ञा में भी यह प्रत्यय दृष्टिगत होता है।[1]

अब सोपपद जिन धातुओं का निर्देश किया जा रहा है; उनके भी वाच्य भाव एवं उसकी पूर्वकालिकता को प्रकट करने के लिए उस धातु से इस प्रत्यय का विधान होता है। यहाँ स्मरणीय है, उक्त पूर्वकालिकता वाक्यगत प्रधान क्रिया-काल-सापेक्ष है। इन प्रधान और गौण क्रियाओं में समानकर्तृकता भी पूर्ववत् होनी चाहिये। उपरि प्रघट्टक में इस प्रत्यय से निष्पन्न भाव रूप के साथ उपपद का नित्य समास होता है, किन्तु यहाँ पर यह समास विकल्प से विहित होता है। फलतः इस प्रत्यय से निष्पन्न धातुज रूपों का उपपद से समस्त और व्यस्त उभयरूप में व्यवहार किया जाता है। तथाहि—तृतीयान्त उपपद होने पर √दंश् से पूर्वकालिक भाव में इसका विधान होने पर मूलकोपदंशम्-मूलकेन उपदंशम् वा भुङ्क्ते

१—पा० सू० ३।४।४२

इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं।[1] इनका अर्थ 'मूलकेन मूलकमुपदश्य भुङ्क्ते' इस रूप में समझना चाहिए। यहाँ दश्यमानमूलक भुजि क्रिया के प्रति करण होने से उसमें तृतीया हुई है। यद्यपि उसका उपदशन के साथ शाब्दिक सम्बन्ध नहीं है, तथापि उसके प्रति कर्म होने से आर्थिक सम्बन्ध अवश्य है। एवंच मूलक का उपदशन से भिन्न पद के साथ सापेक्ष भाव होने पर भी यहाँ वैकल्पिक समास देखा जाता है। इसी प्रकार तृतीयान्त उपपद रहने पर समानकर्तृक √हन् भिन्न हिंसार्थक धातु से भी यह पूर्वकालिक भाव का वाचक होता है।[2] यहाँ अनुप्रयुज्यमान धातु से समान-कर्तृकता के साथ-साथ समान-कर्मकता भी अपेक्षित है। यथा—'दण्डोपघातंगाः कालयति' इत्यादि उदाहरणवाक्यों का 'दण्डे मारकर उससे गायों को घेरता है, यह अर्थ होने से इसमें उपहन्ता और कालयिता जहाँ एक हैं वहीं उनका कर्मीभूत गौ भी एक ही है। दण्ड तो प्रधान और गौण दोनों ही क्रियाओं में साधनीभूत है। उप पूर्वक √पीड √रुध् एवं √कष् से भी सप्तम्यन्त या तृतीयान्त उपपद होने पर यह प्रत्यय पूर्वकालिक भाव को अभिव्यक्त करता है।[3] यथा—व्रजोपरोधम् व्रजेनोपरोधम् वा गाः स्थापयति इत्यादि। यहाँ भी दोनों क्रियाओं को समानकर्तृक और समानकर्मक होना आवश्यक है। द्वितीयान्त नाम शब्द उपपद होने पर √आदिश् एवं √आग्रह से भी यह उक्त अर्थ में विहित होता है।[4] यथा—नामादेशमाचष्टे इत्यादि। कालवाची द्वितीयान्त उपपद होने पर प्रधान क्रिया के व्यवधान के बोधक √अत्यस् एवं √तृष् से संयुक्त होकर यह प्रत्यय उक्तार्थ को प्रगट करता है।[5] यथा—द्विदिनमत्यासम्-द्विदिनात्यास वा गाः पाययति इत्यादि उदाहरणों से 'दो दिनों के व्यवधान से गायों को पिलाता है' इस प्रकार अर्थ को प्रतीति होती है। द्वितीयान्त उपपद होने पर समानकर्तृक √विश्, √पत्, √पद् एवं √स्कन्द् से विहित होने पर यह प्रत्यय पूर्वकालिक और स्वप्रकृत्यर्थ भाव के साथ-साथ उपपद का

१—पा० सू० ३।४।४७
२—पा० सू० ३।४।४८
३—पा० सू० ३।४।४९
४—पा० सू० ३।४।५८
५—पा० सू० ३।४।५७

उस भाव के साथ साकल्य सम्बन्ध रूप व्याप्ति अथवा उस भाव की बारम्बारता को भी प्रकट करता है।[1] यथा—गेहानुप्रवेशमास्ते इत्यादि उदाहरणों में गेह की अनुप्रवेश से व्यप्ति अथवा अनुप्रवेश की बारम्बारता होने पर भी गेह अथवा अनुप्रवेश पद में द्वित्व नहीं होता, क्योंकि यह अर्थ समासगम्य होता है। एवंच यहाँ समासाभाव की स्थिति में गेह की व्याप्ति (वीप्सा) में 'गेहंगेहमनुप्रवेशम्' तथा अनुप्रवेश के पौन:पुन्य में 'गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशम्' इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार समानकर्तृक सभी धातुओं से इस प्रत्यय के पूर्वकालिक भाव में विहित होने पर जब तृतीयान्त और सप्तम्यन्त उपपद होगा तब अव्यावधानिक संयोग की तथा उक्त उपपद के प्रमाणवाची होने पर कर्म के प्रमाण (माप) की, उपपद के अपादान या कर्मकारक होने पर त्वरा की एवं द्वितीयान्त उपपद ध्रुवस्वांगवाची होने पर उसके सर्वविध विबाधा की प्रतीति होती है।[2] यथा—'केशग्राहंयुध्यन्ते, द्व्यंगुलोत्कर्षं खण्डिकां छिनत्ति, शय्योत्थायं धावति, यष्टिग्राहं युध्यन्ते, उर:प्रतिपेषं युध्यन्ते' इत्यादि इनके क्रमश: उदाहरण हैं। द्वितीयान्त स्वांग के अध्रुव होने पर भी यह प्रत्यय सभी धातुओं के पूर्वकालिक भाव को प्रकट करता है।[3] जैसे—भ्रूविक्षेपं-कथयति। इत्यादि यहाँ जिस अंग के विना जीवन समाप्त हो जाय, उसे ध्रुव तथा तद्भिन्न को अध्रुव कहा गया है।[4] इन सभी उदाहरणों में उपपदसमास विकल्प से होता है, किन्तु यह प्रत्यय नित्य होता है।

अधुना √कृ एवं √भू के उपपदों का निर्देश किया जा रहा है, जिनसे पूर्वकालिक भाव को प्रकट करने के लिए इसका और क्त्वा प्रत्यय का भी प्रयोग किया जाता है। अवधेय है, यहाँ उपपद के साथ धातुजरूप का समास विकल्प से होता है।[5] एवंच यहाँ एक ही प्रकृति

१—पा० सू० ३।४।५६ २—पा० सू० ३।४।५० से ५३, ५५

३—पा० सू० ३।४।४५

४—'येनाङ्गेन विना न जीवनं तद्ध्रुवम्'—सिद्धान्तकौमुदी, उत्तरकृदन्त, सू० ३३७६

५—पा० सू० ३।४।५६ से ३।४।६४ तक

से एक ही अर्थ में चार-चार रूप निष्पन्न होते हैं। तथाहि—अवांछित कथन में विद्यमान अव्यय उपपद होने पर तथा कार्यनिष्पत्ति में विद्यमान तिर्यच् उपपद होने पर √कृ के पूर्वकालिक भाव को क्त्वा और यह प्रत्यय विकल्प से व्यक्त करते हैं। यथा—उच्चैःकारम्-उच्चैः कारम्, उच्चैःकृत्य-उच्चैः कृत्वा वा अप्रियमाचष्टे, तिर्यक्कारम् इत्यादि। तस्, ना एवं धा प्रत्ययान्त स्वांगवाची अथवा स्वांग में विद्यमान शब्द उपपद होने पर ये दोनों प्रत्यय √कृ और √भू के पूर्वकालिक भाव को बोधित करते हैं। तूष्णीम् और अन्वच् उपपद होने पर ये केवल √भू के उक्त भाव को प्रकट करते हैं। यथा—मुखतःकारम्, मुखतःकृत्य, मुखतोभावम्, मुखतोभूय, नानाकृत्य, नानाभावम्, नानाभूय, नानाकरम्, एकधाकारम्, एकधाकृत्य, एकधाभावम्, एकधाभूय, तूष्णींभावम्, तूष्णींभूय, अन्वग्भावम्, अन्वग्भूय इत्यादि समास पक्ष के उदाहरण हैं। असमास में ल्यप् एवं समासस्वर न होने से प्रत्येक के दो-दो रूप और हो जायेंगे।

एवंच यह प्रत्यय जहाँ वाक्य सापेक्ष है, वहीं अर्थगौरव से परिपूर्ण है। महर्षि पाणिनि ने इसे णमुल् और खमुञ् इन दो रूपों में निरूपित किया है। इनमें खमुञ् की केवल एक ही विधि है[1] अर्थात् यह मात्र आक्रोशाभिव्यंजक है।

(१०) अर : यह प्रत्यय केवल √आखन् से खननसाधनीभूत सव्यापार रूढ़ संज्ञा अर्थ में प्रयुक्त होता है। इससे निष्पन्न आखरः रूप फावड़े का बोधक होता है। प्रत्यय संयोग से धातु के टि भाग 'अन्' का लोप होता है, अतः आचार्यों ने इसमें ड् का अनुबन्धन करके इसे डर रूप में निर्दिष्ट किया है।[2] वस्तुतः इस प्रत्यय का स्वरूप उणादि प्रत्ययों के समान अत्यन्त व्याप्य है।

१—'कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ्'—पा० सू० ३।४।२५

२—वार्तिक २२३८

(११) आक : यह प्रत्यय कर्तृकारक का बोधक है। इससे केवल कर्ता की प्रतीति न होकर अपनी क्रिया के प्रति उसके शील, धर्म व साधुकारिता धर्मों का भी द्योतन होता है। इसकी प्रकृति √जल्प्, √भिक्ष्, √कुट्ट्, √लुण्ट् एवं √वृङ् है। इनमे विहित होने पर जल्पाकः, भिक्षाकः, कुट्टाकः, लुण्टाकः, एवं वराकः पुँल्लिग विशेषणरूप निष्पन्न होते हैं। ये रूप स्त्रीलिंग में ईकारान्त गौरीवत् तथा नपुंसक में फलवत् परिनिष्ठित होते हैं। इनसे 'जल्पन क्रिया के स्वभाव वाला' इत्यादि रूप में अर्थप्रतीति होती है। स्पष्ट है, यहाँ 'जल्पन' धातुवाच्य एवं 'स्वभाववाला' प्रत्ययवाच्य है। आचार्यों ने इसमें न् अनुबन्ध से निष्पन्न रूप के आदिस्वर में उदात्त की एवं ष् अनुबन्ध से स्त्रीलिंग में ईकारान्त होने की सूचना दी है। एवंच इसका पाणिनीय स्वरूप है—षाकन्[१]।

(१२) आन : वैयाकरणों ने इसे शानच्, चानश्, शानन् एवं कानच् इन चार रूपों में निरूपित किया है।[२] कानच् से भिन्न सभी रूपों में श् अनुबन्ध से इनके प्रकृतिभूत धातु में तत्तद्गणीय विकरण एवं धात्वादेश होने की सूचना मिलती है। विकरण होने पर तदनुसार धातु में गुणादेश अथवा अन्य परिवर्तन भी स्वाभाविक हैं। यहाँ विशेष बात यह है, विकरण या सार्वधातुककार्य होने के अनन्तर यदि अंग अकारान्त रहता है तो उस स्थिति में इस प्रत्यय के पूर्व 'म्' आगम अर्थात् प्रत्यय का स्वरूप 'मान' हो जाया करता है।

अर्थमूलक दृष्टिकोण से इसका पूर्वोक्त 'अत्' प्रत्यय से बहुत भेद नहीं है। जहाँ अत् प्रत्यय वर्तमान व भविष्यकालिक क्रिया के कर्ता का वाचक है, वहीं यह तथोक्त कर्ता के अतिरिक्त विवक्षानुसार कर्मकारक एवं भाव का भी वाचक होता है। एवंच इन दोनों के अर्थों में व्याप्यव्यापकभाव स्पष्ट है। यह प्रत्यय अत् के समान सम्बोधन, लक्षण अथवा हेतु अर्थ को भी प्रगट करता है। इन दोनों में

१—पा० सू० ३।२।१५५

२—पा० सू० ३।२।१२४ से १२६, ३।३।१४, वार्तिक २१०६; पा० सू० ३।२।१२९, १२८ एवं १०६

दूसरा प्रधान भेद प्रकृतिगत है। वह जहाँ परस्मैपदी धातुओं से प्रयुक्त होता है, वहीं इसका व्यवहार आत्मनेपदी धातुओं से होता है। चूँकि कर्मवाच्य और भाववाच्य में धातु आत्मनेपदी ही होता है, अतः उनसे अत् के विधान का प्रश्न ही नहीं उठता।

इन अर्थों के अतिरिक्त धातु से पूर्व माङ (मा) उपपद होने पर कर्ता के प्रति आक्रोश, कर्तृकारक के स्वक्रियाकारिस्वभाव, अवस्था एवं शक्ति की प्रतीति कराने के लिए भी इस प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। माङ उपपद होने पर इसका प्रयोग लुङ लकार का बाधक है। वैदिक संस्कृत में यह प्रत्यय भूतकालिक क्रिया के कर्त्ता की अभिव्यक्ति में भी प्रयुक्त हुआ है। किन्तु कविजन उन 'अनूचानः' इत्यादि वैदिक रूपों का अपने काव्यों में नाद के सौन्दर्याधनार्थ बहुल प्रयोग करते हैं। एवंच यह प्रत्यय तीनों कालों की क्रियाओं के कर्त्ता, कर्म और भाव के बोधनार्थ प्रयुक्त होता है।

इसकी प्रकृति में जायमान परिवर्तन की चर्चा ऊपर कर चुके हैं। यहाँ केवल यह स्मरणीय है, भूतकाल में इसका विधान होने पर जहाँ धातु को द्वित्व होता है, वहीं √आस् से विहित होने पर यह ईन रूप में परिवर्तित होकर आसीनः, स्त्रीलिंग में आसीना रूपों की सृष्टि करता है। इससे निष्पन्न धातुजरूपों के कतिपय उदाहरण यथा—एधमानः, वर्धमानः, मोदमानः, दुहानः, दधानः, जायमानः, व्याप्रियमाणः, तन्वानः-तनुवानः, प्रीणानः, चोरयमाणः इत्यादि। उपर्युक्त उदाहरण वर्तमानकालिक क्रिया के कर्ता के हैं। भविष्यकालिक क्रिया होने पर 'स्य' विकरण एवं सेट् धातुओं में स्य से पूर्व इडागम होकर क्रिया के कर्ता, कर्म एवं भाव अर्थों में समानरूप निष्पन्न होंगे। यथा—वर्धिष्यमाणः, ईरिष्यमाणः, दास्यमानः, शक्ष्यमाणः, अवशिष्यमाणः, मरिष्यमाणः, करिष्यमाणः इत्यादि। अकर्मक धातुओं से भाववाच्य में तथा सकर्मक धातुओं से कर्मवाच्य में वर्तमान कालिक क्रिया होने पर धातु व प्रत्यय के मध्य यक् (य) का आगम होने से पाठ्यमानः, गम्यमानः, सुप्यमानः, हास्यमानः, पाठ्यमानः, हास्यमानः इत्यादि रूप स्वाभाविक एवं णिच् आदि प्रत्ययान्त धातुओं से निष्पन्न होते हैं। णत्व का निमित्त रहने पर एधिष्यमाणः,

प्रकोप्यमाणः इत्यादि रूपों में समान्य व कृत् निमित्तक णत्व भी होता है। ये सभी रूप स्त्रीलिंग में आकारान्त विशेषण होते हैं। एवंच यह प्रत्यय जहाँ कालत्रयावर्तिक्रिया के कर्त्ता, कर्म एवं भाव का प्रत्यायक है, वहीं ध्वनिसौन्दर्य को दृष्टि से अत्यन्तप्रसिद्ध है।

१३—आरु : यह प्रत्यय उणादि कोटि का अत्यल्प लक्ष्यसंस्कारक है। यह केवल √शृ एवं √विन्द् से विहित होकर इनके वर्तमान-कालिक कर्त्ता और उसके स्वभाव, धर्म व साधुकारिता का बोधक होता है।[1] इसके संयोग से धातु में गुणादेश होकर शरारुः एवं वन्दारुः रूप निष्पन्न होते हैं। ये दोनों ही उकारान्त विशेषण हैं, अतः पुँल्लिग और स्त्रीलिंग में समान होते हैं। भाषाशास्त्रियों ने इसे निरनुबन्धक उक्त रूप में ही निरूपित किया है।

१४—आलु : इस प्रत्यय का उकार उदात्त है, जिसे आचार्यों ने च् अनुबन्ध से सूचित किया है। पूर्वप्रत्यय की भाँति यह भी उणादि के समान अत्यन्त व्याप्य है। किंच इन दोनों को तद्धित प्रत्ययों के अन्तर्गत भी माना जा सकता है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से 'र्' ध्वनि प्रायः लकार ध्वनि में परिवर्तित हो जाया करती है। एवंच आरु एवं आलु में रूपीय दृष्टि से भेद नहीं है। इसका प्रयोग केवल √स्पृहि, √गृहि, √पति, √दय्, √निद्रा, √तन्द्रा, √श्रद्धा से हुआ करता है। इनसे इसका प्रयोग होने पर यह इन धातुओं के वाच्य वर्तमान क्रिया के कर्त्ता एवं उसके स्वभाव, धर्म एवं साधु-कारिता का वाचक होता है।[2] इसके संयोग से धातु में गुणीभाव होकर 'स्पृहयालुः, गृहयालुः, पतयालुः, दयालुः, निद्रालुः, तन्द्रालुः एवं श्रद्धालुः शब्द पुँल्लिग एवं स्त्रीलिंग में समानरूप से व्यवहृत होते हैं। ये सभी निष्पन्न रूप कर्तृकारक के विशेषण होने से विशेष्य-निघ्न हैं।

१५—इ : वैयाकरणों ने इस प्रत्यय का 'कि, इञ्, इण्, इक्, इन् एवं किन्' इन रूपों में छः भेद किया है। इन आचार्यों ने अपने सूत्रों

१—पा० सू० ३।२।१७३ २—पा० सू० ३।२।१५८

या व्याख्याओं में धातुस्वरूप अथवा उसके अर्थ का निर्देश करने के लिए जहाँ इस प्रत्यय का प्रयोग किया है, वहीं वाक्य के प्रश्नविषयक अथवा आख्यानविषयक होने पर भी इसका प्रयोग हुआ है।[१] इन अर्थों में इससे निष्पन्न रूप नित्य स्त्रीलिंग होते हैं। इसके संयोग से वपादि एवं स्वरवर्णादि धातुओं के अर्थनिर्देश में तथा परिप्रश्न और आख्यान में भी जहाँ धातुस्वर का वृद्धिकरण हो जाता है, वहीं धात्वर्थनिर्देश में कृष्यादि धातुओं से संयोग होने पर अथवा धातु के स्वरूपनिर्देश में प्रयुक्त होने पर धातु में कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता है। अतः यहाँ 'वापिः, वासिः, आजिः, आतिः, कृषिः, गिरिः, पचिः, गमिः, त्वम् कांकारिमकार्षीः' इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। असरूप अपवाद प्रत्यय सामान्य के बाधक नहीं होते, अतः यहाँ कारिः, क्रिया, कार्य, कृत्यम् ये सभी शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त यह प्रत्यय √दान्, √दाण्, √दो, √देङ्, √धाञ् एवं √धेट् से संयुक्त होने पर भाव आदि अधिकरण कारक का वाचक होता है। यहाँ धातु से पूर्व उपसर्ग व अन्तर शब्द रहने पर जहाँ भाव की प्रतीति होती है, वहीं सुबन्त कर्म उपपद होने पर अधिकरण संज्ञाशब्द एवं विशेषण की।[२] इसके संयोग से घु[३]संज्ञक इन छहों धातुओं में आकार का लोप होकर इनसे प्रधिः, उपधिः, विधिः, जलधिः, उदधिः, आदि पुँल्लिग संज्ञाशब्द निष्पन्न होते हैं। यह प्रत्यय विशेषण व संज्ञारूप में कर्तृ कारक का भी बोधक है। तथाहि—यह प्रत्यय √कृ से पूर्व स्तम्ब एवं शकृत् उपपद होने पर क्रमशः धान एवं बछड़ाविशेष की संज्ञा में तथा √हृ से पूर्व दृति एवं नाथ उपपद होने पर पशु की संज्ञा में प्रयुक्त होता है।[४] इन अर्थों में इससे निष्पन्न रूप पुँल्लिग होता है। यथा—स्तम्बकरिः, शकृत्करिः, दृतिहरिः, नाथहरिः ये रूप निष्पन्न होते हैं। इनमें अन्तिम दो रूप पशु के विशेषण में प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त फलेग्रहिः, आत्मम्भरिः 'कुक्षिम्भरिः तथा चान्द्रमत से उदरंभरिः शब्द

१—वार्तिक २२२६, २२३१, २२३२, २२३० एवं पा० सू० ३।३।११०

२—पा० सू० ३।३।९२ व ९३ ३—'दाधा घ्वदाप्—पा० सू० १।१।२०

४—पा० सू० ३।२।२५ व २६

भी विशेषण रूप में निपातित होते हैं[1] स्पष्ट है, यहाँ इसके संयोग से धातुस्वर का गुणीभाव हो जाता है। यह प्रत्यय √धाञ्, √कृ, √सृ, √गम् √नम् एवं √जन् से संयुक्त होने पर इनका वाच्य वर्तमानक्रिया के कर्ता और उसके शील, धर्म व साधुकारिता का वाचक होता है।[2] इसके संयोग से निष्पन्न दधिः, चक्रिः, सस्रिः, जग्मिः, नेमिः एवं जज्ञिः रूपों में सर्वत्र धातु को द्वित्व हुआ है। इसके अतिरिक्त इनमें अभ्यासकार्य, आकारलोप, यणादेश एवं उपधालोपादि कार्य भी हुए हैं। इसी प्रत्यय के संयोग से उक्त अर्थ में ही 'सासहिः, वावहिः, पापतिः एवं चाचलिः' ये रूप भी निपातित माने गये हैं। शीलादिविशिष्ट कर्तृकारक के वाचक ये परिनिष्ठित रूप आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त दोनों स्वरों में व्यवहृत हुए हैं। इसे सूचित करने के लिए वार्तिककार ने 'न्' अनुबन्ध से इस प्रत्यय के किन् और कि ये दो भेद किये हैं।

१६—१७ : **इक एवं इकबक** : ये दोनों प्रत्यय आङ् पूर्वक √खन् से करणकारक में विहित होते हैं। आखन् से इक जुड़ने पर आखनिकः एवं इकबक के संयोग से आखनिकबकः ये दो रूप निष्पन्न होते हैं।[3] ये दोनों ही परिनिष्ठित रूप रूढ़ संज्ञा फावड़ा अर्थ के वाचक हैं। इसी अर्थ में पीछे 'अ' के संयोग से आखः एवं अर के संयोग से आखरः रूप भी निर्दिष्ट हुए हैं। ये चारों शब्द समानार्थ होने पर भी अपनी कुछ विशेषता लिए हुए हैं, जो 'बक' आदि ध्वनियों से व्यक्त हुए हैं। एवंच ये प्रत्यय भी संज्ञा शब्दों के संस्कारक उणादि कोटि में परिगणनीय हैं।

१८—**इत्र** : आगे वर्णक्रम में त्र प्रत्यय का निरूपण प्रस्तुत होगा। उसी स्वभाव का यह प्रत्यय उसी का सेट् रूप है। यह व्यवस्था दी गयी है, त्र आदि प्रत्ययों से पूर्व इडागम नहीं होता है,[4] किन्तु इसका अपवाद √ऋ, √लू, √धू, √सू, √खन्, √सह्, √चर् एवं √पू में देखा जाता है। अतः उस त्र के ही साथ इ का

१—पा० सू० ३।२।२७ एवं इसकी सिद्धान्तकौमुदी व्याख्या
२—वार्तिक २१४४ ३—वार्तिक २२३८ ४—पा० सू० ७।२।६

संयोग करके इत्र प्रत्यय की पृथक् संकलपना की गयी है। इसके संयोग से उक्त धातुओं में गुणीभाव होकर अरित्रम्, लवित्रम्, धवित्रम्, सवित्रम्, खनित्रम्, सहित्रम्, चरित्रम् एवं पवित्रम् रूप निष्पन्न होते हैं। ये सभी शब्द अपनी-अपनी क्रिया के करणरूप आश्रय के वाचक होते हुए अर्थविशेष में रूढ़संज्ञा के प्रत्यायक हैं।

१६—**इन्** : यह प्रत्यय प्रधानरूप से कर्तृकारक का वाचक है। महर्षि पाणिनि ने प्रकृतिगत परिवर्तन के दृष्टिकोण से इसे 'इनि-णिनि-इनुण्-घिनुण्' इन चार रूपों मेंचार अनुबन्धों के साथ सूत्रित किया है।[१] इसके संयोग से धातु के स्वर में प्रायः वृद्धीभाव हो जाता है। जब यह अपनी प्रकृतिभूत धातुवाच्य वर्तमानक्रिया के कारक और उसके शील आदि अर्थ का वाचक होता है, उस समय धातु के अन्तिम व्यंजन चवर्ग को कुत्व हो जाता है। उक्त कारक के अतिरिक्त यह प्रत्यय भाव अर्थ में भी देखा गया है। किन्तु इसका वाच्य भाव निर्विशेषण न होकर अभिविधि से विशेषित होता है।[२] धातु मात्र से इस अर्थ में इस प्रत्यय का विधान होने पर धातु के स्वर का वृद्धीकरण, इस प्रत्यय के अन्त में अकारागम तथा धातु के पूर्वपद के आदिस्वर का वृद्धीकरण करके वाक्यप्रयोगार्ह 'सांराविणम्, प्राहासिनम्' सांगमिनम्' इत्यादि परिनिष्ठितरूप निष्पन्न होते हैं।

अब कर्तृकारक में इसके प्रकृतिविशेषों एवं अर्थविशेषों का अवलोकन किया जाय। तथाहि—जहाँ यह ग्रह्यादि धातुओं से उपपद के बिना भी विहित होता है, वहीं √हन् से पूर्व कुमार और शीर्ष उपपद होने पर हो विहित होता है।[३] यथा—'ग्राही, उत्साही, उद्वासी, स्थायी, कुमारघाती, शीर्षघाती' इत्यादि। ब्रह्म उपपद रहते √वद् से तथा साधु उपपद रहते सभी धातुओं से इसका उक्तार्थ में ही विधान होता है।[४] यथा—'ब्रह्मवादी, साधुदायी, साधुपायी, साधुकारी' इत्यादि। इसी प्रकार धातु से पूर्व उपमानवाची शब्द रहने पर अथवा सुबन्तमात्र उपपद रहने पर यदि कर्ता का व्रत या क्रिया की बार-

---

१—पा० सू० ३।२।१८४, १८५ व १८६
२—पा० सू० ३।३।४४
३—पा० सू० ३।१।१३४, ३।२।५१
४—वार्तिक २०३८, २०३६

म्बारता प्रकट होती हो तो धातुमात्र से कर्तृकारक में इसका प्रयोग पाया जाता है।[1] यथा—'उष्ट्र इव क्रोशतीति उष्ट्रक्रोशी, काकरावी, गजगामिनी, स्थण्डिलेशायी, मौनभोजी, क्षीरपायी, हट्टाटी' इत्यादि। √मन् (दिवादि) से तो स्वयं को एकमात्र उपपदार्थ से युक्त समझने वाले कर्त्ता का भी यह विकल्प से वाचक होता है।[2] यथा—'पण्डितमानी पण्डितंमन्यः' इत्यादि रूपों में स्वकर्मक मनन की प्रतीति होने पर इसके अभाव में अ (खश्) प्रत्यय व्यवहृत होता है। इसके विधान से धातु के पूर्व उपपद की स्थिति होने अथवा न होने पर भी प्रसंगानुसार विवक्षाधीन क्रियानिष्ठ आवश्यकता एवं कर्तृवृत्ति अधर्मणता भावों की भी[3] प्रतीति होती हैं। यथा—अवश्यंकारी, शतंदायी, सहस्रंप्रत्यावर्ती इत्यादि। उक्त सभी प्रकृतियों से इसका विधान होने पर वृद्धीभाव एवं आकारान्त प्रकृति से 'य्' आगम होकर इन्नन्त विशेषण शब्द तीनों लिंगों में निष्पन्न होते हैं।

एवमेव जातिवाची से भिन्न शब्द या उपसर्ग उपपद रहने पर यह समग्र धातुओं से विहित होकर वर्तमान क्रिया के शील आदि से विशिष्ट कर्त्ता अर्थ को द्योतित करता है, किन्तु √णि, √दृ, √क्षि, √विश्रि, √प्रजु, √प्रसू, √परिभू, √अभ्यम्, √अव्यथ्, √वम् एवं √इण् से निर्दिष्ट उपसर्ग रहने पर अथवा उपसर्ग के बिना भी यह उक्तार्थ का वाचक होता है।[4] इन परिगणित धातुओं में तथा निम्नलिखित धातुओं में भी इसके संयोग से धातुस्वर का गुणीभाव, उपधा के आकार को दीर्घ तथा कुत्वविधान होता है। तथाहि—दिवादिगणीय√शम्, √तम्, √दम्, √श्रम्, √भ्रम्, √क्षम्, √क्लम् एवं √मद् तथा √संपृच्, √अनुरुध्, √आयम्, √आअस्, √परिसृ, √संसृज्, √परिदेव, √संज्वर, √परिक्षिप्, √परिरट्, √परिवद्, √परिदह, √परिमुह्, √आक्रीड्, √विविच्, √अतिचर, √अपचर्, √आमुष्, √अभ्याहन्, √दुष्, √द्विष्, द्रुह, √युज्, √त्यज्, √रज् एवं √भज् से भी यह प्रत्यय उक्त तच्छीलादि विशिष्ट अर्थ में विहित होता है। एवमेव वि उपसर्गक √क्रष्, √लस्,

---

१—पा० सू० ३।२।७९ से ८१ २—पा० सू० ३।२।८२ व ८३
३—पा० सू० ३।३।१७० ४—पा० सू० ३।२।७८, १५६, १५७

√कत्थ् एवं √स्रम्भ् से; अप् एवं वि पूर्वक √लष तथा प्र पूर्वक √लप्, √सृ, √द्रु, √मथ्, √वट् और √वस् से भी यह उक्तार्थ में ही विहित होता है।[1] इसके संयोग से धातु में प्रोक्तपरिवर्तन होकर उष्णभोजी, शीतभोजी, शीघ्रगामी, जयी, दरी, विश्रयी, अत्ययी, प्रजवी, परिभवी, शमी, दमी, संपर्की, संसर्गी, अनुरोधी, द्रोही, दोषी, विलासी, विकत्थी, अपलाषी, प्रलापी, प्रमाथी इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। ये सभी उदाहरण इन्नन्त प्रातिपदिक हैं, जो यहाँ पुँल्लिग में प्रदर्शित हैं।

इसके अतिरिक्त यह प्रत्यय कर्मकारक उपपद होने पर √हन् एवं √विक्री तथा करणकारक उपपद होने पर √यज् से भूतकालिक क्रिया के कर्त्ता अर्थ को प्रगट करता है।[2] यथा—'पितृव्यं हतवान्' इत्यादि अर्थों में पितृव्यघाती, सोमविक्रयी, सोमयाजी इत्यादि रूपों में हन् को कुत्वतत्व एवं उपधादीर्घ, क्री में गुण और यज् में उपधा-दीर्घ हुआ है। स्मरणीय है इसके सभी उदाहरणों से स्त्रीलिंग में ई प्रत्यय होकर जयिनी, परिभविनी इत्यादि परिनिष्ठितरूप प्रयुक्त होते हैं। एवंच यह प्रत्यय कर्तृकारक में जहाँ इन्नन्त होता है, वहीं अभि-विधिभाव में अकारान्त हो जाता है।

२०—इफ : उणादि कोटि का अत्यल्पक्षेत्रीय यह प्रत्यय केवल 'र्' वर्ण का निर्देश करने के लिए विकल्प से प्रयुक्त होता है। इसके संयोग से र इफ=रेफ: रूप निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है, र् वर्ण।[3] अभाव पक्ष में यहाँ कार प्रत्यय होने से रकार: रूप भी व्यवहृत होता है।

२१—इष्णु : महर्षि पाणिनि ने इसे इष्णुच् एवं खिष्णुच् रूपों में प्रतिपादित किया है। यह प्रकृतिभूतधात्वर्थक्रिया के केवल कर्तृकारक का वाचक है। इसके संयोग से निष्पन्न परिनिष्ठितरूप विशेषण होने से पुँल्लिग और स्त्रीलिग में एकसमान उकारान्तरूप में व्यवहृत होते हैं। यह प्रत्यय √भू से पूर्व आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध

१—पा० सू० ३।२।१४१ से १४५ २—पा० सू० ३।२।४६, ९३ व ८५
३—वार्तिक २२२८

एवं प्रिय उपपद होने पर कर्त्ता और उसकी अभूततद्भाव स्थिति को प्रगट करता है। किन्तु केवल √भू व √भ्राज से विहित होने पर क्रिया के शीलादिविशिष्ट कर्त्ता का वाचक होता है।[१] यथा—आढ्यंभविष्णुः, सुभगंभविष्णुः इत्यादि अभूततद्भाव में जहाँ उपपद के अन्त में अनुस्वार देखा जाता है, वहीं तच्छीलादि में यह आगम नहीं होता है, अतः वहाँ भविष्णुः, भ्राजिष्णुः इत्यादि रूप प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार तच्छीलादि कर्त्रर्थ में यह प्रत्यय √अलंकृ, √निराकृ, √प्रजन्, √उत्पच्, √उत्पत्, √उन्मद्, √अपत्रप्, √रुच्, √वृत्, √वृध्, √सह् और √चर् से भी विहित होकर अलंकरिष्णुः, प्रजनिष्णुः, रोचिष्णुः, वर्धिष्णुः, सहिष्णुः इत्यादि रूपों का निष्पादक होता है।[२]

२२—**ईय** : यह प्रत्यय वार्तिककार से ऊहित अत्यन्त स्वार्थिक तद्धित की प्रकृति का है। यद्यपि इसका उसी प्रकरण में परिगणन उचित था, तथापि दीक्षित परम्परा के अनुसार इसे यहाँ रखा गया। यह केवल मत्वर्थ शब्द से स्वार्थ में विहित होकर 'मत्वर्थीयः' रूप को निष्पन्न करता है।[३] इस रूप से अर्थबोधन में प्रत्यय की लेशमात्र उपयोगिता नहीं है, क्योंकि 'मत्वर्थ सम्बन्धो' अर्थ को बहुव्रीहि की महिमा से मत्वर्थ शब्द ही प्रकट कर देता है।

२३—**उ** : वह प्रत्यय सन् प्रत्ययान्त धातुओं और √आशंस् व √भिक्ष् से संयुक्त होकर तच्छीलादिविशिष्ट कर्तृकारक का वाचक होता है,[४] जिससे चिकीर्षुः, पिपठिषुः, मुमूर्षुः, आशंसुः, भिक्षुः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इसी के संयोग से विन्दु और इच्छुः रूप भी निपातित माने गये हैं।[५] वि, प्र अथवा सम् उपसर्ग होने पर √भू से इसका विधान होने पर जहाँ केवल कर्त्ता की प्रतीति होती है, वहीं धातु के अन्तिम स्वर का लोप भी होता है।[६] अतः यहाँ विभुः, प्रभुः एवं संभुः रूप निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मितद्रुः, शतद्रुः, और

१—पा० सू० ३।२।५७, १३८
२—पा० सू० ३।२।१३६
३—वार्तिक २२२६ सू० ३२८५
४—पा० सू० ३।२।१६८
५—पा० सू० ३।२।१६९
६—पा० सू० ३।२।१८०

शंभुः इत्यादि रूप भी इसी के संयोग से टिलोप होने पर निष्पन्न होते हैं।[1] वस्तुतस्तु—'प्रभुः, शतद्रुः इत्यादि शब्दों में √भू इत्यादि धातु ही ध्वनिपरिवर्तन से अर्थान्तर की प्रतिपत्ति में कारण हैं। यहाँ प्रत्यय की स्थिति तो शून्यात्मक-सी है। एवंच यह प्रत्यय कर्तृकारक का बोधक है तथा आचार्यों ने इसे उ एवं डु रूपों में निरूपित किया है।

(२४) उक : यह प्रत्यय √लष्, √पत्, √पद्, √स्था, √भू, √वृष्, √हन्, √कम्, √गम् और √शॄ से विहित होने पर इन धातुओं के वाच्य वर्तमानक्रिया के तच्छीलादि विशिष्ट कर्तृकारक का वाचक होता है।[2] इसके संयोग से धातु के स्वर में वृद्धि एवं यथा—प्राप्त ध्वनिपरिवर्तन से लाषुकः, पातुकः, स्थायुकः, भावुकः, वर्षुकः, घातुकः, कामुकः, गामुकः, शारुकः और पादुकः रूप व्यवहृत होते हैं। आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध और प्रिय उपपद होने पर यह प्रत्यय √भू से विहित होकर जहाँ कार्तृ-कारक व उसकी अभूतद्भाव स्थिति को प्रकट करता है, वहीं उपपद के अन्त में अनुस्वारागम भी होता है, फलतः यहाँ आढ्यं-भावुकः, सुभगंभावुकः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं।[3] भाषाशास्त्रियों ने इसके 'उकञ् और खुकञ्' ये दो रूप निरूपित किये हैं।

(२५) उर : यह प्रत्यय क्रिया के शील, धर्म एवं साधुकारिता से सम्पन्न कर्तृकारक का वाचक है। इसको कुल छः प्रकृतियाँ हैं[4], जिनमें √विद्, √भिद् एवं √छिद् से विहित होने पर विदुरः, भिदुरः और छिदुरः रूप निष्पन्न होते हैं तथा √अञ्ज् √भास् एवं √मिद् से संयुक्त होने पर भंगुरः, भासुरः और मेदुरः रूप परिनिष्ठित होते हैं। एवंच प्रथम तीन धातुओं में अपरिवर्तन तथा अन्तिम तीन धातुओं में गुणादेश व कुत्वरूप परिवर्तन को सूचित करने के लिए वैयाकरणों ने इस प्रत्यय के कुरच् और घुरच् ये दो रूप निर्दिष्ट किये हैं। यहाँ विदुरः इत्यादि शब्दों से 'ज्ञानक्रिया के स्वभाववाला' इस प्रकार से अर्थप्रतीति होती है।

१—वार्तिक २१५२
२—पा० सू० ३।२।१५४
३—पा० सू० ३।२।५७
४—पा० सू० ३।२।१६२, १६१

(२६) **ऊ** : अग्रेगूः, अग्रेभ्रूः इत्यादि शब्दों में गमादि धातुओं से यह प्रत्यय कर्त्ता के बोधक रूप में दृष्टिगत होता है।[1] यहाँ इसके संयोग से अगे उपपद होने पर √गम् एवं √भ्रम् के अम् का लोप दृष्ट है। उक्त दोनों शब्द ऊकारान्त विशेषण हैं और पुँल्लिग व स्त्रीलिंग में समानरूप से प्रयुक्त होते हैं। वस्तुतः यह प्रत्यय वार्तिककार कात्यायन से निरूपित है और वासुदेव दीक्षित ने इसे आदेश कहा है।[2]

(२७) **ऊक** : यह प्रत्यय √जागृ और यङन्त√यज् √जप् व √देश् से विहित होकर क्रिया के तच्छीलादि से विशिष्ट कर्तृकारक का बोधक होता है।[3] यहाँ इसके संयोग से निष्पन्न जागरूकः यायजूकः, जञ्जपूकः एवं दन्दशूकः ये चारों रूप विशेषण होने से पुँल्लिग व स्त्रीलिंग में व्यवहृत होते हैं।

(२८) **एलिम** : इस प्रत्यय का इकार उदात्त है, जिसे सूचित करने के लिए वार्तिककार 'र' का अनुबन्ध किये हैं इसके अतिरिक्त उन्होंने इसके संयोग से धातुस्वर में गुण और वृद्धि के अभाव, आकारलोप आदि परिवर्तन को सूचित करने के लिए 'क्' अनुबन्ध के साथ इसका 'केलिमर्' स्वरूप निर्धारित किया है।[4] यह प्रत्यय सकर्मक धातु से कर्म एवं अकर्मक से भाव अर्थ के साथ-साथ क्रिया की प्रैषा, विधि आदि लिङर्थ एवं लोडर्थ का भी वाचक है। इसके संयोग से पचेलिमाः, भिदेलिमाः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। जैसा कि कहा गया है, यह कृत्यसंज्ञक प्रत्यय है।

(२९) **कार** : आचार्यों से निरनुबन्धकरूप में पठित यह प्रत्यय वर्ण अर्थ का बोधक है। इसकी प्रकृति सभी वर्ण हैं। यथा—अकारः अर्थात् अवर्ण। इसी प्रकार ककारः, चकारः, टकारः इत्यादि रूप व्यवहृत होते हैं। जैसा कि इफ प्रत्यय में उक्त है, र से रकारः एवं

१—वा० ४०७३, ४०७४

२—'गमादीनामुपधाया ऊभावश्चेति वक्तव्यमित्यर्थः'—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, पूर्वकृदन्त सूत्र २९८६

३—पा० सू० ३।२।१६५, १६६

४—वार्तिक १९१९

रेफः दोनों रूप निष्पन्न होते हैं। वस्तुतः इस प्रत्यय की प्रकृति धातु न होने से यह तद्धित कोटि का प्रत्यय है। इसकी संकल्पना वार्तिककार कात्यायन ने की है।[1]

(३०) त : यह प्रत्यय सामान्यरूप से समग्र अकर्मक धातुओं से तद्वाच्य भूतकालिक भाव और सकर्मक धातुओं के वाच्य भूतकालिक क्रिया के कर्म का वाचक है।[2] जो क्रिया दीर्घकालव्यापिनी है, उस क्रिया के वाचक धातु से विहित होने पर यह प्रत्यय कर्त्ता, कर्म एवं भाव तीनों अर्थों का वाचक होता है और उस क्रिया के आरम्भ को भी ध्वनित करता है।[3] यह प्रत्यय √शिलष् √शीङ्, √आस्, √वस्, √जन्, √रुह्, एवं √जॄ तथा गत्यर्थक और अकर्मक धातुओं से तद्वाच्य भूतकालिकक्रिया के कर्तृकारक अर्थ का भी बोधक होता है।[4] इसी प्रकार बैठना, सोना, उठना आदि स्थैर्यरूपा क्रिया, गति एवं भक्षण क्रिया के भूतकालिक होने पर उनके वाचक धातुओं से यह प्रत्यय अधिकरण का भी अभिधान करता है।[5]

उक्त प्रकृतियों से इसके भूतकालिक विधान को निर्दिष्ट किया गया। सम्प्रति उन धातुओं का निर्देश किया जा रहा है जिनकी वाच्यक्रिया वर्तमान कालीन होने पर यह प्रत्यय उस क्रिया के कारक का प्रत्यायक होता है। तथाहि—मति, बुद्धि और पूजार्थक तथा ञ् अनुबन्धवाले धातुओं से इसका विधान वर्तमान भाव और कर्म में दृष्टिगत होता है।[6] एवमेव शीलितः, रक्षितः, क्षान्तः, आक्रुष्टः, जुष्टः, रुष्टः, रुषितः, हृष्टः, तुष्टः, आक्रान्तः संयतः, उद्यतः अमृतः इन शब्दों में भी यह प्रत्यय वर्तमान क्रिया के कारक में ही प्रयुक्त हुआ है।[7] कष्ट शब्द से यह प्रत्यय भविष्यत्क्रिया को प्रकट करता[8]

१—वार्तिक २२२७, २२२८

२—पा० सू० ३।२।१०२

३—वार्तिक २०५१

४—पा० सू० ३।४।७२

५—पा० सू० ३।४।७६

६—पा० सू० ३।२।१८८, १८७

७—सिद्धान्तकौमुदी सू० ३०८९

८—'कष्टशब्दो भविष्यति'—सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, पूर्वकृदन्त सू० ३०८९

है। इसके अतिरिक्त अकर्मक एवं अविवक्षितकर्मक धातुओं से यह प्रत्यय क्रिया के काल सामान्य को द्योतित करता है।[1]

ऊपर इस प्रत्यय के सामान्य अर्थ और प्रकृतिविशेष से विहित होने पर प्रतीयमान विशिष्ट अर्थों को विवेचित किया गया। सम्प्रति इससे निष्पन्न रूपों का अध्ययन किया जयेगा। सभी भाषाशास्त्रियों ने इसमें 'क्' का अनुबन्धन किया[2] है, जिससे इसका स्वरूप 'क्त' माना गया है। इस अनुबन्ध से प्रकृति के स्वर में गुण एवं वृद्धि के निषेध के साथ-साथ उसके ह्रस्वीभाव की भी सूचना प्राप्त होती है। इस ह्रस्वीभाव के विविधरूप हैं, यथा—सम्प्रसारण, आकार को इत्व, ॠ को ईर् इत्यादि, जिसे आगे उदाहरणों से स्पष्ट किया जायेगा। इसके अतिरिक्त इस प्रत्यय के पूर्व और धातु के अन्त में इडागम होता है। यथा—पठितम्, खेलितम्, धारितम् इत्यादि। इसका योग होने पर जिन धातुओं से इडागम नहीं होता है अथवा यह आगम विकल्प से होता है, उन्हें इडागम प्रकरण में निर्दिष्ट किया गया है। इस आगम के हो जाने से प्रत्यय में 'क्' अनुबन्ध होने पर भी प्रकृतिभूत √पूङ, √शीङ, √स्विद्, √मिद्, √क्ष्विद् एवं √धृष् के स्वर का गुणीभाव होता है, यथा—पवितः-पूतः, शयितः, स्वेदितः, मेदितः, क्ष्वेदितः, धर्षितः इति। किन्तु इन धातुओं के यङ्लुगन्त होने पर उक्त गुण नहीं होता। यथा—शेश्यितः इत्यादि। भाव एवं क्रिया के प्रारम्भ काल में इसका विधान होने पर √मृष् के स्वर में गुण हो जाता है। यथा—मर्षितः इत्यादि। किन्तु इसका तितिक्षा से भिन्न अर्थ होने पर गुणीभाव नहीं देखा जाता, फलतः वहाँ 'अपमृषितं वाक्यम्' (अस्पष्ट वाक्य है) इत्यादि रूप व्यवहृत होते हैं। यदि धातु की उपधा में उकार हो तथा प्रत्यय उक्तार्थ में विहित हो, तब इट् होने पर भी गुण विकल्प से होता है। यथा—द्युतितम्-

---

१—पा० सू० ३।३।११४

२—'क्तक्तवतु निष्ठा'—पा० सू० १।१।२६; 'ञ्यनुबन्धमतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः क्तः'—का० ४।४।६६; 'क्तक्तवतु'—सार०, उत्तरार्ध, कृदन्त सूत्र ८४; हैम० ५।१।६ इत्यादि

द्योतितम्, मुदितम्-मोदितम् इत्यादि। वार्तिककार[1] के अनुसार उपधा में उकार होने पर भी धातु को भ्वादिगणीय होना चाहिए। अतएव गुधितम् इत्यादि रूपों में दिवादिगणीय √गुध् से इडागम होने पर भी विकल्प से गुण नहीं होता। जैसाकि पीछे कहा गया है, धातु के अन्त में णि प्रत्यय होने पर तदनन्तर त प्रत्यय के विधान से इट् हुआ हो तो उस स्थिति में णि का लोप हो जाता है, किन्तु तन्निमित्तक वृद्धि का अभाव नहीं होता। अतएव भावितः, पाठितः, कारितः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इडागम के सन्दर्भ में यह स्मरणीय है, पतितः धावितः एवं दरिद्रितः इन रूपों में नियमतः निषेध होने पर भी इ स्वरागम होता है। √वन्, √यम्, √रम, √नम्, √गम्, √हन्, √मन्, √तन्, √क्षण्, √क्षिण्, √ऋण्, √तृण, √घृण्, √वनु, √मनु इनसे इस प्रत्यय के होने पर अथवा क् या ङ अनुबन्ध से युक्त तथा यण् और अनुनासिक से भिन्न किसी भी व्यंजनादि प्रत्यय के विहित होने पर 'इ' स्वरागम तो नहीं ही होता, इनके अनुनासिक का भी लोप हो जाता है। अतः यहाँ 'वतः' संयतः, रतः, नतः, मतः, गतः, हतः सन्ततम्' इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। √प्याय् से इस प्रत्यय के होने पर यदि स्वांग मुख आदि अथवा अन्धु या ऊधस् विशेष्य हों तो धातु को नित्य ही 'पी' भाव होता है, अन्यथा यह विकल्प से होता है, किन्तु आङ से भिन्न उपसर्ग पूर्व में रहने पर यह भाव नहीं होता। इन सभी स्थितियों में प्रत्यय को न आदेश होकर पीनंमुखम्, प्यानः-पीनः स्वेदः, प्रप्यानः, आपीनमूधः इत्यादि प्रयोग साधु होते हैं। √ह्लाद् को इसके संयोग से ह्रस्वादेश होता है, अतः यहाँ प्रह्लन्नः इत्यादि रूप बनते हैं। √दोऽवखण्डने, √सो, √मा, √स्था में इसके संयोग से जहाँ आकार इकार में परिवर्तित होता है, वहीं √गा, √पा, √हा, √धेट् का आकार ईकार में परिणत होता है। यथा—दितः, सितः, मितः, स्थितः, गीतम्, पीतम् और धीतम् इत्यादि। √शो एवं √छो को जहाँ विकल्प से इकारादेश होता है, वहीं √डुधाञ् धारणपोषणयोः को ही आदेश होता है। अतः यहाँ शितः-शातः, छितः-छातः, विहितम्, अभिहितम् इत्यादि रूप प्रयुक्त होते हैं। व्रत के विषय में

१—'शब्विकरणेभ्य एवेष्यते'—वार्तिक ६२६

√शो का प्रयोग करने पर इत्वादेश नित्य देखा जाता है। यथा—संशितं व्रतम्, संशितः ब्राह्मण इत्यादि। घुसंज्ञक दारूपवाली धातुओं से इसका विधान होने पर धातु को 'दत्' आदेश होकर दत्तः इत्यादि रूप बनते हैं। अवर्णान्त उपसर्ग पूर्व में होने पर तो प्रत्तः, अवत्तः, उपात्तम् इत्यादि रूप में यह धातु केवल 'त्' रूप में दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त इसी धातु से उपसर्ग समानाकारक अवादि शब्द पूर्व में रहने पर अवदत्तम्, विदत्तम्, प्रदत्तम्, सुदत्तम्, अनुदत्तम् एवं निदत्तम् रूप भी निष्पन्न होते हैं। स्मरणीय है, इस धातु के पूर्व में उकारान्त या इकारान्त उपसर्ग रहने पर उसे दीर्घ भी हो जाया करता है। यथा—नीत्तम्, सूत्तम् इत्यादि। यह प्रत्यय होने से जहाँ √अद् को जग्ध् आदेश होता है, वहीं √जन्, √सन् एवं √खन् का नकार आकार में परिवर्तित हो जाता है। अतः यहाँ जग्धः, जातम्, सातम्, खातम् ये रूप निष्पन्न होते हैं। कर्तृकारक में √क्षि से इसका विधान होने पर धातु स्वर को दीर्घ होता है, किन्तु आक्रोश या दैन्य की अभिव्यक्ति होने पर उक्त दीर्घीभाव नहीं होता। धातु में दीर्घादेश होने पर प्रत्यय को भी नकारादेश हो जाता है। फलतः क्षीणः, क्षितः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। जैसा कि प्रत्यय के स्वरूप से स्पष्ट है, प्रत्यय में क् अनुबन्ध होने से सम्प्रसारणी √वच्, √स्वप्, √यजादि एवं ग्रह्यादि धातुओं में सम्प्रसारण हो जाता है। अतः यहाँ उक्तम्, सूक्तम्, इष्टम् अभीष्टम्, गृहीतम् इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। √श्वि में तो यह सम्प्रसारण दीर्घ होता है, फलतः वहाँ शूनः, उच्छूनः इत्यादि रूप बनते हैं। इसी प्रकार इसके संयोग से दकारादि हकारान्त धातुओं में नित्य तथा √द्रुह √मुह्, √ष्णुह् एवं √ष्णिह् में विकल्प से ह् को घ एवं प्रत्यय को ध आदेश होते हैं। इससे भिन्न हकारान्त धातुओं में तो 'ह्' एवं प्रत्यय स्वरूप त दोनों मिलकर ढ रूप में परिवर्तित हो जाते हैं तथा ऐसी स्थिति में पूर्वस्वर दीर्घ में परिणत हो जाता है, यथा—दुग्धः संदिग्धः, मुग्धः-मूढः, द्रुग्धः-द्रूढः, गूढः, ऊढः, व्यूढः इत्यादि। इसके अतिरिक्त अर्थविशेष को प्रकट करने के लिए कहीं-कहीं प्रकृति में मूर्धन्यीभाव हो जाता है। तथाहि—नि स्नातः=निष्णातः से जहाँ कौशल अर्थ की प्रतीति होती है वहीं प्रतिष्णातम् से शुद्धता अर्थ व्यक्त होता है। इसी प्रकार वि,

कु, शमि, परि से पर में स्थल होने पर भी विष्ठलम् कुष्ठलम्, शमिष्ठलम्, परिष्ठलम् रूपों में यह आदेश देखा जाता है। गोत्रार्थक होने पर कपिष्ठलः में भी षत्व हुआ है, अन्यथा कपिस्थलम्ः, हरिस्थलम् इत्यादि रूप व्यवहृत होते हैं। एवंच इस प्रत्यय के संयोग से प्रकृति में जायमान आगम व आदेश रूप विशेष परिवर्तनों का निर्देश किया गया। सम्प्रति प्रत्यय के परिवर्तन का विवेचन किया जा जा रहा है।

इस प्रत्यय के प्रकृतिभूत धातु के अन्त में यदि रेफ अथवा दकार हो तथा उससे अव्यवहित पर में यह प्रत्यय हो तो उस स्थिति में प्रत्यय को नकारादेश और धातु के दकार को भी नकारादेश होते हैं। यहाँ दो बातें अवधानीय हैं। पहली यह कि प्रत्यय से पूर्व इ स्वरागम होने पर उक्त आदेश नहीं देखा जाता, क्योंकि उस स्थिति में अव्यवहित परत्व नहीं रह जाता। दूसरी यह कि इस प्रत्यय के संयोग से धातुगत ॠकार ईर् में परिवर्तित हो जाता है। फलतः प्रत्यय में रेफ परता मिल जाती है और इसके कारण णत्व भी देखा जाता है। यथा—√शॄ=शीर्णः, √कॄ=कीर्णः, √जॄ=जीर्णः इत्यादि। यदि यह ॠकार पवर्ग या वकार से पर में होगा तब उस स्थिति में यह ऊर में परिवर्तित होता है, यथा— √पॄ=पूर्णः, √भॄ=भूर्णः, √मॄ=मूर्णः इत्यादि। इसी प्रकार पूर्वोक्त नियम से छिन्नः, भिन्नः इत्यादि रूप भी इसी से निष्पन्न होते हैं। संयोग आदि और अन्तस्थवर्ण से युक्त अनिट् आकारान्त धातुओं से विहित होने पर भी प्रत्यय को यह आदेश होता है। यथा— √द्रा=द्राणः, √ग्लै=ग्लानः, √स्त्यै=स्त्यानः, √म्लै=म्लानः इत्यादि। किन्तु √ध्यै=ध्यातः, √ख्या=ख्यातः, √मद्=मत्तः इन रूपों में पूर्व नियम का अपवाद देखा जाता है। √पॄ से पूर्णः—पूर्तः जहाँ ये दोनों रूप देख जाते हैं, वहीं √मूर्छा से रेफ के बाद के वर्णों का लोप होकर मूर्तः रूप निष्पन्न होता है। लूञादि २१ धातुओं से तथा √दुगतौ एवं √गु से भी इस प्रत्यय को नकारादेश होता है। यथा—लूनः, दूनः, गूनः इत्यादि। पूञ् से इस आदेश के होने पर जहाँ विनष्ट अर्थ की प्रतीति होती है वहीं कर्मकर्तृक ग्रास विशेष्य होने पर, √षिञ् से सिनोग्रासः प्रयोग

निष्पन्न होता है, अन्यथा 'सितापाशेन सूकरी और सितोग्रासो देवदत्तेन' इत्यादि प्रयोग साधु होते हैं। √ज्या से सम्प्रसारण होने पर दीर्घ होकर जीनः रूप प्रयुक्त होता है। जिन धातुओ में ओकार अनुबंध देखा जाता है, उनसे तथा दिवादिगणीय √सू, √दू, √दी, √डी, √धो, √मी, √री, √ली तथा √व्री से भी यह प्रत्यय 'न' रूप में प्रयुक्त होता है। यथा— √भुजो=भुग्नः, √टुओश्वि = शूनः, √ओहाक्=हीनः, सूनः, दूनः, दीनः, डीनः, उड्डीनः इत्यादि। तरल वस्तु के काठिन्य (जमाव) को व्यक्त करने के लिए √श्यैङ से सम्प्रसारण आदि परिवर्तन के द्वारा जहाँ शीनं घृतम इत्यादि प्रयोग सम्पन्न होते हैं, वहीं स्पर्श अर्थ की प्रतीति में 'शीतं जलम्' व्यवहार सम्पन्न होता है, अन्यथा पूर्व नियम से संश्यानो वृश्चिकः (शीत से सिकुड़ा हुआ) रूप निष्पन्न होता है। उक्त धातु से उक्त काठिन्य में ही प्रति उपसर्ग पूर्व में रहने पर जहाँ सम्प्रसारण आदि नित्य देखे जाते हैं, वहीं अभि और अव पूर्व में होने पर ये विकल्प से होते हैं तथा इतर उपसर्गों के रहने पर होते ही नहीं हैं। फलतः इससे प्रतिशीनम्, अभिशीनम्-अभिश्यानं घृतम्, अवश्यानः-अवशीनः वृश्चिकः, समवश्यानः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। अपादान भिन्न की प्रतीति होने पर जहाँ √अञ्चु से समक्नः रूप निष्पन्न होते हैं, वहीं √व्रश्च् से षत्व आदि का निषेध कर वृक्णः रूप व्यवहृत होता है। इसी प्रकार खेल में हार-जीत की भावना न होने पर जहाँ √दिव् से द्यूनः रूप प्रयुक्त होता है, वहीं उक्त भावना के होने पर द्यूतम् रूप का प्रयोग किया जाता है। वात से भिन्न कर्ता होने पर निर् पूर्वक √वा से जहाँ निर्वाणः प्रयोग होता है, वहीं वात कर्त्ता होने पर निर्वातः रूप का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार √नुद्, √विद्, √उन्द्, √त्रा, √घ्रा व √व्री से इस प्रत्यय के दोनों रूप देखे जाते हैं। यथा—नुन्नः-नुत्तः, विन्नः-वित्तः, उन्नः-उत्तः, त्राणः-त्रातः इत्यादि। √विद् ज्ञाने से विदितः तथा √विद्लृलाभे से भोग्य, सम्पत्ति व परिचित अर्थ में वित्तं धनम्, वित्तः पुरुषः रूप व्यवहृत होते हैं। इसी प्रकार टुकड़ा (खण्ड) अर्थ में √भिद् से भित्तम् तथा करण में √ऋ से ऋणम् रूप निष्पन्न होते हैं, अन्यथा यहाँ भिन्नम् एवं ऋतम् रूप व्यवहृत होते हैं। एवमेव √स्फायी वृद्धौ

से स्फीतः तथा प्रति एवं नि पूर्वक √स्तम्भ् से प्रतिस्तब्धः और निस्तब्धः रूप प्रयुक्त होते हैं। एवमेव परिस्कन्दः-परिष्कन्दः रूपों में विकल्प से मूर्धन्यभाव देखा जाता है।

यहाँ तक प्रत्यय के 'न' रूप का विवेचन किया गया। इसके अतिरिक्त यह प्रत्यय √शुष् से क रूप में, √पच् से व रूप में √क्षै से म रूप में और √प्रस्त्यै से सम्प्रसारण ईकार होने पर विकल्प से म रूप में दृष्ट होता है। अतः यहाँ शुष्कः, पक्वः; क्षामः, प्रस्तीमः-प्रस्तीतः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार फुल्लः, प्रफुल्लः, उत्फुल्लः, क्षीबः, कृशः एवं उल्लाघः रूपों में यह प्रत्यय 'ल' या स्वर के रूप में परिणत हुआ है। √चर् एवं √फल् के अकार को उकार होकर यहाँ चूर्णः तथा फुल्तः, प्रफुल्तः इत्यादि रूप प्रयुक्त होते हैं। क्षीर अथवा हविष् विशेष्य होने पर √श्रा और √श्रप् से शृतम् रूप निष्पन्न होता है, अन्यथा श्राणम् और श्रपितम् रूप बनते हैं।

यह प्रत्यय अतीव प्रथित एवं व्यवहृत है, अतः अर्थ विशेष के प्रतिपादन की दृष्टि से इससे निष्पन्न रूपों में वैविध्य का होना भाषा वैज्ञानिक अपरिहार्य अनिवार्यता है। अतएव व्याकरणग्रन्थों में उपलब्ध इसके सभी परिवर्तनों को यहाँ संकलित किया गया। अवधानीय है, इससे निष्पन्न सभी रूप विशेषण होते हैं, जो पुंल्लिग में अकारान्त, स्त्रीलिंग में आकारान्त तथा नपुंसकलिंग में ज्ञान शब्द की भाँति व्यवहृत होते हैं। यहाँ इसके संयोग से प्रकृति अथवा प्रत्ययगत जो भी आगम या आदेशरूप परिवर्तन निर्दिष्ट किये गये हैं, वे सभी परिवर्तन 'तवत्' प्रत्यय के संयोग में अवश्य देखे जाते हैं। अतएव दोनों को 'निष्ठा' शब्द से व्यपदिष्ट किया जाता है। इसे नीचे स्पष्ट किया जा रहा है।

(३१) तवत् : भाषाशास्त्रियों ने इसमें क् एवं उ का अनुबन्धन करके इसका प्रायः क्तवतु रूप निर्दिष्ट किया है।[1] यह प्रत्यय सम्पूर्ण

१— 'क्तक्तवतू निष्ठा'—पा० सू० १।१।२६; 'क्त क्तवन्तु निष्ठा'—का० ४।१।८४; 'क्तक्तवतू'—हैम० ५।१।१७४; 'क्तक्तवतू'—सार०, कृदन्त ८४

धातुओं से तद्धातुवाच्य भूतकालिकक्रिया के कर्त्ता अर्थ का वाचक है। यद्यपि इसके संयोग से निष्पन्न रूप विशेषण होते हैं, जो पुँल्लिग सर्वनामस्थानविभक्तियों में 'न्' के साथ वान्, वन्तौ इत्यादि रूप से व्यवहृत होते हैं, स्त्रीलिंग में ईकारान्त वती (वाली) रूप से तथा नपुंसकलिंग में वत्-वती-वन्ति रूप से प्रयुक्त होते हैं, तथापि इसी धातुज रूप से वाक्य की परिसमाप्ति देखी जाती है, जिसे इस स्तबक के सामान्य अध्ययन में प्रस्तुत किया गया है। धातु से इसका संयोग होने पर इसके आद्य 'त' एवं इसके प्रकृतिभूत धातु में वे सभी परिवर्तन देखे जाते हैं, जो पूर्वोक्त 'त' प्रत्यय के संदर्भ में सामान्य अथवा विशेषरूप से निर्दिष्ट किये गये हैं। अतएव आचार्यों ने इन दोनों प्रत्ययों की एकसंज्ञा का विधान किया है। इसके कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं। यथा—स्नातवान्, कृतवान्, क्षीणवान्, श्रितवान्, भूतवान्, शीर्णवान् ग्लानवान्, भुग्नवान्, प्रहीणवान्, वृक्णवान्, पक्ववान्, फुल्लवान्, त्राणवान्, ख्यातवान्, ख्यापितवान्, स्फीतवान्, प्रमेदितवान्, मुदितवान्-मोदितवान्, शूनवान्, गूढवान्, ततवान्, पूरितवान्, पीनवान्, शितवान्, शातवान्, निहितवान्, दत्तवान् गीतवान्, जातवान् इत्यादि।

(३२) **तव्य** : यह प्रत्यय अकर्मक धातुओं से भाव और सकर्मक से कर्मकारक का बोधक है।[1] भाव में इससे निष्पन्न धातुज रूप जहाँ नित्यनपुंसक एकबवन में व्यवहृत होते हैं, वहीं कर्मकारक का बोधक होने पर इससे निष्पन्न धातुजरूप विशेषण होने से तीनों लिंगों में प्रयुक्त होते हैं। यथा-धर्मश्चेतव्यः, धीर्ध्यातव्या, ज्ञानमर्जितव्यम्, एधितव्यम् इत्यादि। इन रूपों से भाव अथवा कर्म के अतिरिक्त क्रिया की प्रैषा आदि (चाहिये) लोडर्थ और लिङर्थ या अर्ह की भी प्रतीति होती है। अतएव पीछे अनीय प्रत्यय में कथित है कि इस प्रत्यय से निष्पन्न धातुज रूप लोट् या लिङ लकार के स्थानापन्न होते हुए क्रियान्तराकांक्षारहित वाक्यार्थ के बोधक हैं। उदाहृत रूप स्वरित एवं आद्युदात्त दोनों ही रूपों में उपलब्ध होते हैं, जिसे सूचित करने के लिए महर्षि पाणिनि ने इसके त् अनुबन्ध से युक्त और नियुक्त दो

१—पा० सू० ३।१।९६

रूप निर्दिष्ट किये हैं, जबकि अन्य आचार्यों ने इसे निरनुबन्धकरूप में ही प्रस्तुत किया है,[1] क्योंकि स्वरनिरूपण उनका प्रयोजन नहीं रहा है। इसके अतिरिक्त वास्तव्यः (निवासी) रूप की सिद्धि के लिए वार्तिककार ने √ वस् से कर्तृ कारक में भी इसका विधान किया है।[2] इस प्रत्यय से धातुजरूप निष्पादन की प्रक्रिया अत्यन्त सरल है, क्योंकि, क् या ङ अनुबन्ध न होने से सम्प्रसारण, लोप इत्यादि की प्रवृत्ति नहीं होती है, अपितु धातुस्वर में गुण तथा सेट् धातुओं में इ स्वरागम तथा इस आगम के न होने पर धातु से विहित णि का लोप, इन्हीं प्रमुख परिवर्तनों से इसकी रूप निष्पत्ति देखी जाती है। यथा—जेतव्यम्, भवितव्यम्, भावयितव्यम्, पठितव्यम्, पाठयितव्यः, दातव्यम्, दापयितव्यम् इत्यादि त्रिलिंगक विशेषणपद निष्पन्न होते हैं।

(३३) ति : वैयाकरणों ने इस प्रत्यय के क्तिन्, क्तिच् और श्तिप् ये तीन रूप प्रतिपादित किये हैं। इनमें से अन्तिम रूप धातु स्वरूप के निर्देश के लिए धातुमात्र से संयुक्त किया जा सकता है।[3] इसके संयोग से धातु में गणीय सार्वधातुक विकरण का आगम एवं गुणीभाव रूप परिवर्तन होकर पचतिः, पठतिः, एधतिः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इनका प्रयोग वैयाकरणों ने अपने सूत्रों एवं व्याख्याओं में किया है। ये रूप पाक इत्यादि क्रिया के बोधक नहीं हैं, प्रत्युत पच् आदि धातुओं के बोधक हैं।

इस प्रत्यय का दूसरा रूप भी धातुमात्र से विहित होता है। यह रूप यद्यपि भाव का भी बोधक है, तथापि इससे आशीर्वादविषयक संज्ञा की प्रतीति होती है। यथा—भूतिः, मतिः, शान्तिः इत्यादि। महर्षि पाणिनि ने अपने 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्'[4] सूत्र में इसे संज्ञावाची

१—'तव्यत्तव्यानीयरः'—पा० सू० ३।१।९६; 'तव्यानीयौ'—का० ४।२।६; 'तव्यानीयौ'—हैम० ५।१। २७; 'तव्यानीयौ'—सार०, कृत्य १

२—'वसेस्तव्यात्कर्तरि णिच्च'—वार्तिक १९२०

३—वार्तिक २२२६

४—पा० सू० ३।३।१७४

कहा है। फलतः इससे निष्पन्न धातुजरूप आशीर्वाद से विशिष्ट जाति, व्यक्ति या भाववाची संज्ञा के बोधक[1] होते हैं। अतएव सामान्य भवनमात्र को भूतिः नहीं कहा जा सकता, अपितु यह ऐश्वर्यापरपर्याय भावविशेष का ही बोधक है। यहाँ बालमनोरमाकार[2] ने भट्टोजिदीक्षित के द्वारा प्रदर्शित 'भवतात्' को भूतिः का विवरण कहा है। ऐसी स्थिति में इससे यह भी प्रकट होता है कि 'भवतात् के स्थानापन्न भूतिः से 'सुखं ते भूतिः' इत्यादि वाक्य प्रयुक्त किये जा सकते हैं। जबकि क्तिच् से निष्पन्न इस प्रकार के वाक्य दृष्ट या श्रुत नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि लोट् या आशीर्लिङ से विवरण देने पर इसका आशीर्वाचकत्व भले ही प्रकट होता हो, किन्तु संज्ञात्व की सिद्धि सम्भव नहीं है। अर्थप्रकाशिकाकार ने तो उसे विवरण ही नहीं माना है।[3] इस प्रत्यय के संयोग से उसी प्रकार के रूप निष्पन्न होते हैं, जैसे कि भावार्थ क्तिन् से। किन्तु √वन् से एवं त प्रत्यय के निरूपण में निर्दिष्ट तनोत्यादि धातुओं से विहित होने पर धातु के अनुनासिक का लोप नहीं होता, अतः वहाँ यन्तिः, रन्तिः, वन्तिः, तन्तिः, इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। √सन् से विहित होने पर अनुनासिक लोप एवं आ स्वरागम के विकल्प से 'सातिः सतिः सन्तिः' ये तीन रूप एक ही अर्थ के वाचक होते हैं।

इस प्रत्यय का प्रमुख व तीसरा अन्तिम रूप क्तिन् है। यह एक सामान्य प्रत्यय है, जो धातुमात्र से स्त्रीलिंग भाव को प्रगट करता है।[4] यद्यपि भाव में कोई लिंग नहीं होता, तथापि शब्दरूप की दृष्टि से इससे निष्पन्न धातुजरूप सदा स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं, अतः उन रूपों की अपेक्षा से यहाँ भाव को स्त्रीलिंग कहा गया है। इसी

१—'तिक्कृतौ नाम्नि'—हैम० ५।१।७१

२—'भवताद् भूतिः'—सिद्धान्तकौमुदी, उत्तरकृदन्त, सू० सं०३३१३, 'भूतिरित्यस्य विवरणमिदम्, कर्तरि क्तिच्'—सिद्धान्तकौमुदी, बाल मनोरमा, वहीं

३—'भवतात् भूतिः ३।३।१७४; ऐश्वर्यं हो'—अर्थप्रकाशिका १८६, कालम

४—'स्त्रियाँ क्तिन्—पा० सू० ३।३।९४

स्त्रीलिंग भाव में इसके बाधक कतिपय विशेष प्रत्यय भी होते हैं, जिनका निर्देश इस स्तबक के प्रारम्भ में प्रत्ययों के उपवर्ग क्रम में एवं तत्तत् प्रत्ययविशेषों में निरूपति किया गया है। कतिपय धातुओं से यह सामान्य प्रत्यय अपने विशेष प्रत्यय का भी बाधक होता है, जिसे नीचे स्पष्ट किया जा रहा है। तथाहि √स्था, √गा, √पा, व √पच् से अङ (अ) को बाध कर यह प्रत्यय स्त्रीभाव का अभिधायक होता है।[१] √कृ से यह आख्यान हो अथवा परिप्रश्न, सभी स्थितियों में स्त्रीभाव को विकल्प से प्रगट करता है।[२] इसके अभाव में क्यप् [य] एवं श [अ] दोनों ही होते हैं। अतः यहाँ कृतिः, कृत्यम् एवं क्रिया तीनों रूप समान अर्थ में निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सम्पदादि धातुओं से यह और क्विप् प्रत्यय स्त्रीभाव में विहित होते हैं।[३] फलतः वहाँ सम्पत्तिः और सम्पत् दोनों रूप निष्पन्न होते हैं। परि उपसर्गक अनिच्छार्थक √इष् से भी यह युच् (अन) के साथ विहित होता है।[४] अतः इससे भी परीष्टिः-पर्येषणा दोनों रूप व्यवहृत होते हैं। एवमेव इसी के संयोग से ऊतिः, यूतिः, जूतिः, सातिः, हेतिः एवं कीर्तिः रूप भी सम्पन्न किये जाते हैं।[५] इसके अतिरिक्त यह प्रत्यय √अर्द से जहाँ वेदनारूप भाव को अभिव्यक्त करता है, वहीं √श्रु, √यज्, √इष्, व √स्तु से विहित होकर करणकारक संज्ञा का बोधक होता है।[६] यथा—श्रुतिः, इष्टिः, स्तुतिः इत्यादि। इसके संयोग से धातुस्वर में गुणाभाव, सम्प्रसारण √दो, √सो, √मा एवं √स्था में आकार को नित्य इकारादेश, √छो व √शो में विकल्प से इकारादेश, 'दा रूप' धातुओं को दत् आदेश एवं ऋकारान्त धातुओं में ऋकार को ईर् आदेश होते हैं। यथा—कृतिः, बुद्धिः, चितिः, इष्टिः, उक्तिः, दितिः, स्थितिः, दत्तिः इत्यादि। √धा को जहाँ हि आदेश होता है, वहीं √धेट्, √गा, √पा एवं √हा में ईकारादेश होकर धीतिः, हितिः, गीतिः, पीतिः एवं हीतिः रूप निष्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त सेट्धातुओं में इ स्वरागम भी होता है। यथा—

१—पा० सू० ३।३।६५
२—पा० सू० ३।३।१००, ११०
३—वार्तिक २२३३
४—वार्तिक २२२४
५—पा० सू० ३।३।६७
६—पा० सू० ३।३।१०८; वार्तिक २२११

गृहीतिः, पठितिः, धर्षितिः, मर्षितिः इत्यादि। यहाँ स्मरणीय है, इ स्वरागम होने पर उन धातुओं में नित्य या विकल्प से गुण देखा जाता है, जिन्हें त प्रत्यय में निरूपित किया गया है। लूञ् आदि रा धातुओं से तथा ईर् में परिवर्तित होने वाले ॠकारान्त धातुओं से विहित होने पर प्रत्यय का रूप 'नि' हो जाता है। यथा—कीर्णिः, गीर्णिः, लूनिः, धूनिः, पूनिः इत्यादि। √ह्लाद् से विहित होने पर प्रत्यय में उक्त परिवर्तन के अतिरिक्त धातु को ह्रस्व होकर प्रह्लन्निः, रूप निष्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त √चर् एवं √फल् के अकार को क्रमशः ऊकार एवं उकार आदेश तथा √चाय् को चि भाव होने से यहाँ चूर्णिः, फुल्तिः व अपचितिः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। एवंच यह प्रत्यय प्रक्रिया की दृष्टि से जहाँ प्रायः त प्रत्यय के समान है, वहीं उससे अर्थ में व्याप्त होता हुआ नित्य स्त्रीलिंग में व्यवहृत होता है।

३४—**तुम्** : यह प्रत्यय 'अव्ययकृतोभावे'[1] इस नियम के अनुसार भविष्यत्कालिक भाव का वाचक है। क्रियार्थकक्रिया उपपद होने पर प्रयोजनीभूत क्रिया के वाचक धातुमात्र से इसका विधान होता है।[2] यथा—कृष्णं द्रष्टुं याति (कृष्ण को देखने के लिए जाता है) इत्यादि उदाहरणों से कृष्णकर्मक प्रयोजनोभूत दर्शनोद्देश्यक यान क्रिया की प्रतीति होती है। यहाँ यह प्रत्यय प्रयोजनीभूतक्रिया की जहाँ भविष्यत्कालिकता को व्यक्त करता है, वहीं दर्शन और यान के प्रयोज्य-प्रयोजकभाव को भी प्रगट करता है। इसी को हिन्दी में 'के लिए' के द्वारा व्यक्त किया जाता है। एवंच वाक्य निष्पादक यह प्रत्यय अतीव उपयोगी एवं बहु व्यवहृत है। इससे निष्पन्न धातुजरूप सदा समान अव्यय होते हैं। इसके संयोग से धातुस्वर में गुणीभाव, सेट् धातुओं में इ स्वरागम एवं षकार या शकार से पूर्ववर्ती अकार को र भाव आदि परिवर्तन हुआ करते हैं। यथा—चेतुम्, जेतुम्, कर्तुम्, हर्तुम्, भर्तुम्, पठितुम्, हसितुम्, नधितुम्, गर्तितुम्, क्रष्टतुम प्रष्टुम् इत्यादि। इ स्वरागम होने पर र् भाव नहीं देखा जाता। यथा—धर्षितुम्, कर्शितुम्

१—उद्धृत-सिद्धान्तकौमुदीतत्त्वबोधिनी, उत्तरकृदन्त, सू० ३१७५

२—'तुमन्यवुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्'—पा० सू० ३।३।१०

इत्यादि। इसके अतिरिक्त क्रियार्थकक्रिया उपपद न होने पर भी इच्छार्थक क्रिया यदि उपपद में है, तब भी समानकर्तृक धातु से यह प्रत्यय विहित होता[1] है। यथा–भोक्तुमिच्छति, वष्टि, वाञ्छति वा। उपपद में √शक्, √धृष्, √ज्ञा, √ग्ला, √घट्, √रभ्, √लभ्, √क्रम्, √सह, √अर्ह् तथा अस्त्यर्थक धातु के होने पर अथवा कर्तृ-सामर्थ्यवाची उपपद होने पर भी समानकर्तृक धातु से यह प्रत्यय होता है।[2] यथा—भोक्तुं शक्नोति, पठितुं क्रमते इत्यादि। यहाँ उदाहरणों से स्पष्ट है, इनसे प्रयोज्यप्रयोजकभाव अथवा भविष्यत्काल की प्रतीति नहीं होती है, पुनरपि यह प्रत्यय यहाँ व्यवहृत होता है। इसी प्रकार कालवाची शब्दों के उपपद होने पर यह प्रत्यय स्वप्रकृति भूतधातुवाच्यक्रिया की प्रैषा व संभावना आदि लिङर्थ या लोडर्थ का भी प्रत्यायक होता[3] है। यथा—कालः भोक्तुम् इत्यादि से 'भोजन का समय हो गया है, अर्थात् भोजन करो' इत्यादि अर्थों की प्रतीति होती है। इसी प्रकार पर्याप्तो भोक्तुम् पटुः पठितुम् इत्यादि उदाहरणों से भोजन आदि में समर्थ है, इत्यादि रूप से कर्त्ता के सामर्थ्य की अवगति प्रत्ययमहिमा से उद्भासित है। एवंच यह प्रत्यय कथित सभी अर्थों का वाचक होता हुआ भी प्रक्रिया की दृष्टि से भिन्न नहीं है। इससे निष्पन्न रूप का आदि स्वर उदात्त होता है, जिसे सूचित करने के लिए महर्षि पाणिनि ने इसमें 'न्' का अनुबन्धन करके तुमुन् रूप में प्रतिपादित किया है।

यहाँ एक तथ्य ध्यातव्य है, बहुव्रीहिसमास में काम अथवा मानस् शब्द से पूर्ववर्ती इस प्रत्यय के 'म्' का लोप हो जाया करता है। यथा—'भोक्तुं कामो यस्य, श्रोतुं मनो यस्य इति भोक्तकामः श्रोतुमनाः' इत्यादि रूपों में 'म्' लोप सुस्पष्ट है। यद्यपि इसमें महर्षि पाणिनि का कोई अनुशासन नहीं है, तथापि भाषाशास्त्रियों में यह कारिका सुप्रचलित है—

"लुम्पेदवश्ययः कृत्ये तुं काममनसोरपि।
समो वा हिततयोर्मांसस्य पचि ल्युड् (युड्) घञोः॥"

१—पा० सू० ३।३।१५८ २—पा० सू० ३।४।६५, ६६
३—पा० सू० ३।३।१६७

उक्त कारिका में ल्युट् और युट् दोनों पाठ प्रचलित हैं। पाणिनीयों में प्रत्यय से पूर्व उदात्त (लित्) स्वर बोधनार्थ ल्युट् पाठ प्रचलित है तो सारस्वतप्रक्रिया में युट् की प्रसिद्धि है।[1] किंच इसके चतुर्थपाद की व्याख्या भी दो प्रकार से की जाती है। प्रथम प्रकार में ल्युडन्त अथवा घञन्त शब्दों से पूर्व 'मांस' के अकार का वैकल्पिक लोप होकर 'मांस्पाकः-मांसपाकः' इत्यादि रूप साधु हैं तो द्वितीय प्रकार में अनुस्वार एवं अकार दोनों का वैकल्पिक लोप इष्ट है। तथाच इस प्रकार में 'मास्पाकः-मांसपाकः' इत्यादि रूप व्यवहृत हैं।[2]

(३५) तृ : इस प्रत्यय से निष्पन्न रूप आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त दोनों ही रूपों में उपलब्ध होते हैं। आद्युदात्त होने पर कर्मकारक में जहाँ द्वितीया विभक्ति होती है, वहीं अन्तोदात्त रूप से संबद्ध कर्म में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है।[3] इन्हीं दोनों भेदों को सूचित करने के लिए महर्षि पाणिनि ने इसके दो रूप निर्दिष्ट किये हैं[4]—तृन् और तृच्। यह प्रत्यय धातुमात्र से विहित होता है तथा स्वप्रकृतिभूतधातुवाच्य क्रिया के कर्तृकारक का बोधक होता है। विवक्षानुसार कर्ता के शील, धर्म एवं साधुकारिता का भी बोधक होता है।[5] जब यह प्रत्यय कर्तृकारक की योग्यता को व्यक्त करता है तब लिङ् लकार या कृत्प्रत्ययों का स्थानापन्न हो जाता है। अतः इस अर्थ में विकल्प से लिङ् और कृत्य के साथ इसका भी प्रयोग देखा जाता है।

१—उद्धृत–सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, पृ० ७८, मोतीलाल प्रकाशन १६७० तथा सारस्वत व्याकरण, उत्तरार्द्ध, पृ० २६८, चौखम्बा प्रकाशन १६७०

२—'केचितु मांसशब्दस्य मकारस्य तथान्त्यस्याकारस्य लोपमिच्छन्ति'—सार०, चद्रकीर्ति, पृ० २६६, चौखम्बा प्रकाशन, १६७१

३—पा० सू० २।३।६६ व ६५ ४—पा० सू० ३।१।१३३ व ३।२।१३५

५—पा० सू० ३।३।१६६

इसके संयोग से धातुस्वर का गुणीभाव तथा सेट् धातुओं से इ स्वरागम भी होता है। यथा—चेता, कर्त्ता, बोद्धा, गन्ता, पठिता, शयिता, वदिता, रेषिता, रोदिता, मोषिता इत्यादि। दकारादि भिन्न हकारान्त धातुओं से इ स्वरागम के अभाव में हकार एवं प्रत्यय का व्यंजन त् दोनों मिलकर ढकार में परिवर्तित हो जाते हैं और पूर्वस्वर का गुणीभाव भी होता है। यथा—वोढा, लेढा, सहिता-सोढा, गोहिता-गोढा इत्यादि। दकारादि होने पर धातु का ह् ग में तथा प्रत्यय का व्यंजन सघोसमहाप्राण ध् में परिवर्तित होता है। यथा—दोग्धा, द्रोग्धा-द्रोढा-द्रोहिता इत्यादि। कुटादि धातुओं एवं √विज् में गुण नहीं होता, अतः उनसे कुटिता, पुटिता, विजिता इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार इसके संयोग से √दरिद्रा के आ का लोप होता है तथा √मस्ज एवं √नश् में इट् न होने पर अनुस्वारागम भी होता है। यथा—दरिद्रिता, मङ्क्ता, नंष्टा-नशित। √क्रम् से प्र या उप उपसर्ग पूर्व में रहने पर नित्य तथा उपसर्ग न रहने पर विकल्प से इट् होता है, अतः प्रक्रन्ता, उपक्रन्ता, क्रन्ता-क्रमिता, संक्रमिता इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। एवमेव ण्यन्त, सन्नन्त इत्यादि लाक्षणिक धातुओं से भी यह प्रत्यय विहित होकर संजिगमिषिता, विवृत्सिता, कारमिता इत्यादि रूपों का निष्पादक होता है।

(३७) त्र : इस प्रत्यय से निष्पन्न शब्दरूप आद्युदात्त एवं स्त्रीलिंग में ईकारान्त होते हैं। अतः आचार्यों ने इसे ष्ट्रन् रूप में प्रतिपादित किया है। इसके संयोग से धातुस्वर का गुणी भाव होता है, किन्तु इडागम नहीं होता। जिन धातुओं से इडागम होता है, उनसे यह परिवर्तित इत्र रूप में विहित होता है, जिसकी चर्चा प्रथक् प्रत्यय के रूप में पूर्वकथित है। यहाँ इस प्रत्यय का अनिट् रूप √धेट् एवं √धाञ् से कर्मकारक संज्ञा में √दाप्, √नी, √शस् √यु, √युज्, √स्तु, √तुद्, √सि्, √सिच्, √मिह्, √पत्, √दश् एवं नह् से करणकारक संज्ञा में तथा √पूङ या √पुञ् से हल एवं सूकर के मुख अर्थ में विहित होता[1] है। इसके संयोग से यहाँ धात्री,

---

१—पा० सू० ३।२।१८१ से १८३

दात्रम्, नेत्रम्, शस्त्रम्, योत्रम्, योक्त्रम्, स्तोत्रम्, तोत्रम्, सेत्रम्, सेक्त्रम्, मेढ्रम्, पत्रम्, दंष्ट्रा, नद्ध्री एवं पोत्रम् ये रूप निष्पन्न होते हैं। ये सभी शब्द जातिवाची संज्ञा के बोधक हैं।

(३७) त्रि (त्रिम): यह प्रत्यय डु अनुबन्धवाले धातुओं से यद्यपि भाव अर्थ में विहित होता है[1], तथापि यह सदा त्रिम रूप में भाव से भावित अर्थात् उस भाव से सम्पन्न अर्थ का बोधक होता है। स्मरणीय है, इसका त्रि रूप में स्वतन्त्र प्रयोग दृष्ट नहो है।[2] इसके संयोग से जहाँ धातु में गुणीभाव नहीं होता वहीं सम्प्रसारण आदि कित्संज्ञक कार्य देखे जाते हैं। यथा—कृत्रिमम्, क्रीत्रिमम्, उप्त्रिमम् दात्रिमम्, धात्रिमम्, पवित्रमम्, भृत्रिमम्, मित्रिमम् एवं लप्त्रिमम् ये रूप निष्पन्न होते हैं। ये सभी विशेषण होते हैं तथा स्त्रीलिंग में आकारान्त प्रयुक्त होते हैं।

(३८) त्वा: भाषाशास्त्रियों ने इस प्रत्यय को क्त्वा रूप में व्याख्यात किया है। इसका कित् करण प्रकृतिभूतधातु में ध्वनि-परिवर्तन को सूचित करता है। इस परिवर्तन को त प्रत्यय के निरूपण में प्रतिपादित किया गया है। तद्यथा—अनिट् धातुओं में गुणभाव यथा—स्नात्वा, पीत्वा, कृत्वा इत्यादि। उ-ऊ-ॠ-ॠ वर्णान्त व श्रि धातुओं में इडागम निषेध, यथा-स्वृत्वा-सूत्वा-धुत्वा इत्यादि। अनिट् अनुनासिकान्त, ६ तनोत्यादि व √वन् धातुओं में अनुनासिक लोप एवं ॠकारान्त में 'इ' को 'ई' आदेश, यथा—गत्वा, नत्वा, हत्वा, तत्वा, जरीत्वा, जरित्वा, इत्याति। इ स्वरागम होने पर गुणीभाव होता है। यथा—शायित्वा, कर्तित्वा इत्यादि। किन्तु √मृड्, √मृद्, √गुध्, √कुष्, √क्लिष्, √वस् में इडागम होने पर भी गुणाभाव व संप्रसारण रूप कित्कार्य होते हैं। यथा—मृडित्वा, मृदित्वा, कुषित्वा, गुधित्वा क्लिषित्वा, क्लिष्ट्वा, उषित्वा इत्यादि। √रुद्, √विद्, √मुष्, √ग्रह्, √स्वप्, √प्रच्छ् में इडागम होने पर भी कित् कार्य होकर रुदित्वा, मुषित्वा, गृहित्वा, विदित्वा, पृष्ट्वा रूप निष्पन्न होते हैं। यद्यपि अनुनासिक लोप भी कित्कार्य है, तथापि यह √स्कन्द एवं √स्यन्द् में नहीं होता

१—पा० सू० ३।३।८८

२ 'क्त्रेर्मम्नित्यम्'—पा० सू० ४।४।२०

है, किन्तु थकारफकारान्त नोपध धातुओं में यह विकल्प से देखा जाता है। यथा-स्कन्त्वा, स्यन्त्वा-स्यन्दित्वा, श्रथित्वा-श्रन्थित्वा, गुफित्वा-गुम्फित्वा इत्यादि। √तृष् √मृष् √वन्च् √लुन्च् व √ऋत् में भी नलोप और गुणाभाव रूप कित् कार्य विकल्प से देखे जाते हैं। यथा-तृषित्वा-तर्षित्वा, मृषित्वा-मर्षित्वा, वचित्वा-वञ्चित्वा, ऋतित्वा-अर्तित्वा इत्यादि। य और व से भिन्न व्यंजनान्तहलादि इकार-उकारोपध धातुओं में इट् होने पर विकल्प से गुणीभाव होता है। यथा—द्युतित्वा-द्योतित्वा, लिखित्वा—लेखित्वा, लुभित्वा-लोभित्वा इत्यादि। √अन्च् से गति एवं √लुभ् से विमोहन में इट् न होने से अक्त्वा व लुब्ध्वा रूप निष्पन्न होते हैं। उकारानुबन्धक अनुनासिकान्त धातुओं में इट् के अभावपक्ष में उपधा को दीर्घ होता है, किन्तु √क्रम् में यह विकल्प से देखा जाता है। यथा—शान्त्वा-शमित्वा, दान्त्वा दमित्वा, क्रान्त्वा-क्रन्त्वा-क्रमित्वा इत्यादि। धातु के अन्तिम 'व' और 'छ' को इट् न होने पर ऊ व श भाव होते हैं। यथा-पृष्ट्वा, द्यूत्वा-देवित्वा इत्यादि। जकारान्त एवं नश् में इट् न होने पर विकल्प से अनुनासिक लोप होता है। यथा-भक्त्वा-भङ्क्त्वा, रक्त्वा-रङ्क्त्वा, नष्ट्वा नंष्ट्वा-नशित्वा, अक्त्वा-अङ्क्त्वा-अञ्जित्वा इत्यादि। √जन् √सन् एवं √खन् में अनुनासिक को जहाँ आकार होता है, वहीं √दो, √सो, √मेङ्, √माङ्, √स्था एवं √ओहाक् त्यागे में नित्य तथा √शो व √छो में विकल्प से इकार और √धेट् √गा एवं √पा में ईकार आदेश होते हैं। यथा-दित्वा, सित्वा, मित्वा, स्थित्वा, हित्वा, शित्वा-शात्वा, छित्वा-छात्वा, धीत्वा, गीत्वा, पीत्वा इति। एवमेव √धा को हि, घुसंज्ञक दा रूप को दत् एवं √अद् को जग्ध आदेश भी होते हैं। यथा—हित्वा, दत्त्वा व जग्ध्वा।

इसप्रकार इस प्रत्यय के संयोग से धातु, प्रत्यय और अर्थ के विशेषपरिवर्तनों को निर्दिष्ट किया गया। दृष्टान्तों से स्पष्ट है, इसकी प्रकृति गौण या प्रधान सभी धातुयें हैं। ण्यन्त एवं सन्नन्त आदि गौण लाक्षणिक धातुओं से भी यह प्रत्यय विहित होता है। उस स्थिति में धातु के अनेक स्वर होने से इडागम होकर कारयित्वा, पाठयित्वा, जिगमिषित्वा इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं।

ल्यप् :—उदाहृत या अनुदाहृत सभी क्त्वाप्रत्ययान्त रूपों के पूर्व में नञ् से भिन्न उपसर्ग आदि अव्यय या अनव्यय का समास होने पर यह प्रत्यय ल्यप् (य) रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा उस स्थिति में पूर्वनिर्दिष्ट प्रकृतिगत परिवर्तन नहीं होते हैं। किन्तु पूर्व में अनिर्दिष्ट कतिपय परिवर्तन देखे जाते हैं, जो इस प्रकार हैं। तथाहि—य से पूर्व ह्रस्वस्वर होने पर त् का आगम होता है, यथा—प्रकृत्य, अधीत्य, प्रेत्य इत्यादि। स्मरणीय है, इस आदेश के होने पर जहाँ इ स्वरागम नहीं होता, वहीं अनुनासिकान्त अनिट् धातुओं में विकल्प से और √वन् एवं तनोत्यादि ६ धातुओं में नित्य अनुनासिक लोप देखा जाता है। यथा—प्रपठ्य, विहस्य, आगत्य-आगम्य, प्रणत्य-प्रणम्य, प्रहत्य, प्रमत्य, प्रवत्य, वितत्य इत्यादि। √अद् को जग्ध् आदेश होता है, किन्तु अन्य धातुओं में कित् कार्य नहीं होते। यथा-प्रजग्ध्य, प्रदाय, विधाय, प्रखन्य, प्रस्थाय, प्रक्रम्य, आपृच्छ्य, प्रदीव्य इत्यादि। प्रधाय, प्रमाय, प्रणाय, प्रपाय, प्रहाय, प्रसाय में जहाँ इत्व नहीं होता है, वहीं √मेञ्, √मि, √दीङ् में आत्व होकर प्रमाय, निमाय व उपदाय रूप निष्पन्न होते हैं। किन्तु √लीङ् में यह आत्व विकल्प से देखा जाता है, यथा—विलाय विलीय। ण्यन्त धातुओं में णि का लोप होकर उनसे उत्तार्य, विचार्य, अनुकार्य, सम्प्रधार्य इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं, किन्तु णि से पूर्वस्वर यदि ह्रस्व लघु हो, तब णि को अय् आदेश होता है। यथा—विगणय्य, प्रणमय्य, प्रबेभिदय्य इत्यादि। इसके अतिरिक्त √आपि के णि को यह आदेश जहाँ विकल्प से होता है, वहीं √क्षि में दीर्घभाव और √वेञ्, √ज्या एवं √व्येञ् में सम्प्रसारण नहीं होते। अतः यहाँ प्रापय्य-प्राप्य, प्रक्षीय, प्रवाय, प्रज्याय, उपव्याय रूप निष्पन्न होते हैं, किन्तु √परिव्या में विकल्प से सम्प्रसारण 'ई' देखा जाता है। यथा—परिवीय परिव्याय इति।

इस प्रत्यय से निष्पन्न सभी रूप अव्यय होते हैं तथा 'अव्ययकृतो भावे' इस सिद्धान्त के अनुसार इन सभी रूपों में यह प्रत्यय भाव अर्थ का अभिधायक होता है। इसके अतिरिक्त यह अपने भाव की पूर्वकालिकता को भी व्यक्त करता है। अतः दो भाव विवक्षित होने पर तथा उन दोनों का एक कर्ता रहने पर यह प्रत्यय पूर्वकालिक-क्रिया-

वाचक धातु से ही विहित होता है और उस क्रिया को एवं उसकी पूर्वकालिकता को प्रकट करता है।[1] उक्त क्रिया की बारम्बारता को प्रकट करने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है।[2] उस स्थिति में इससे निष्पन्न रूप का द्वित्व हो जाया करता है। यथा—स्मृत्वा स्मृत्वा इत्यादि। इस पौनःपुन्य अर्थ को अम् प्रत्यय में निरूपित किया गया है और वहीं पर उपपदविशेष के सन्निधान में धातुविशेष से जायमान इसके वैकल्पिक विधानों को भी प्रतिपादित किया गया है।[3] उक्त अर्थ के विपरीत अलम् और खलु उपपद होने पर भाव के प्रतिषेध में एवं √माङ से विहित होकर विनिमय अर्थों को भी प्रगट करता है।[4] यथा-अलंदत्वा, अपमित्य याचते अपमाय वा (विनिमय के लिए माँगता है) इत्यादि। इसी प्रकार 'अप्राप्य नदीं पर्वतः' (नदी से पूर्व पर्वत है) इत्यादि उदाहरणों में यह परावर-योग को प्रगट कर रहा है।[5] स्पष्ट है, इस प्रकार के उदाहरण सापेक्ष होते हैं। एवंच यह प्रत्यय वाक्यसापेक्ष होने से नितान्त महत्वपूर्ण, प्रक्रिया की दृष्टि ने अत्यन्त सरल एवं इसका अर्थप्रकटन अनन्यसाध्य है।

(३६) थक :—यह प्रत्यय √गै से विहित होकर कर्तृकारक गायक कलाकार का वाचक है।[6] इसके संयोग से यहाँ गाथकः यह आद्युदात्त शब्द निष्पन्न होता है। इसी से स्त्रीलिंग में गाथिका रूप प्रयुक्त होगा। इसके अतिरिक्त इसी अर्थ में गायनः एवं गायनी रूप भी पूर्व में व्याख्यात हैं।

(४०) न : यह प्रत्यय √यज् √याच्, √यत्, √विच्छ्, √रक्ष् एवं स्वप् से विहित होकर भाव एवं कर्तृभिन्नकारक का बोधक

---

१. "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" पा० सू० ३।४।२१
२. पा० सू० ३।४।२२
३. पा० सू० ३।४।२४, ३।४।५६ से ६४
४. पा० सू० ३।४।१८ व १९
५. पा० सू० ३।४।२०
६. पा० सू० ३।१।१४६

होता[1] है। इसके संयोग से यहाँ यज्ञः, याच्ञा, यत्नः, प्रश्नः, रक्षणः, एवं स्वप्नः रूप निष्पन्न होते हैं।

(४१) नज् : यह प्रत्यय √स्वप्, √तृष् एवं √धृष् से विहित होकर इन क्रियाओं के करने के स्वभाव, धर्म और साधुकारिता से युक्त कर्तृकारक का वाचक[2] होता है। इससे यहाँ जकारान्त स्वप्नज्, तृष्णज् एवं धृष्णज् ये शब्द निष्पन्न होते हैं, जो सदा विशेषण होते हैं।

(४२) नु : यह भी तच्छील, तद्धर्म तथा तत्साधुकारी कर्ता का अभिधायक है। इसकी प्रकृतियाँ हैं—√त्रस√गृध्, √धृष् व √क्षिप्[3]। इनसे यहाँ त्रस्नुः, गृध्नुः धृष्णुः एवं क्षिप्नुः ये विशेषणवाची शब्द निष्पन्न होते हैं, जो स्त्रीलिंग में भी उकारान्त ही प्रयुक्त होते हैं। इनसे क्रिया वर्तमानकाल की प्रतीति होती है तथा कर्ता उस क्रिया के स्वभावादि से युक्त होकर उपस्थित होता है।

(४३) मन् : इस प्रत्यय से निष्पन्न शब्दरूपों का अधिकतर प्रयोग वैदिक साहित्य में हुआ है। लौकिक संस्कृत में तो इसके कतिपय प्रयोग देखे गये हैं। अतएव भट्टोजिदीक्षित ने इसका प्रामुख्येन व्याख्यान वैदिकप्रक्रिया में किया है[4]। अतः यहाँ यह कहा जा सकता है कि सुबन्त उपपद होने पर अथवा न होने पर भी आकारान्त या उनसे भिन्न धातुओं से भी इस प्रत्यय का प्रयोगानुसारी विधान होता[5] है। इसके संयोग से धातुस्वर में गुणीभाव होकर नकारान्त (अन्नन्त या मन्नन्त) रूप निष्पन्न होते हैं। यथा—दामा, पामा, सुशर्मा, शर्मा, वर्मा इत्यादि। इन सभी रूपों में यह प्रत्यय कर्तृकारक अर्थ का बोधक होता है। इसका पाणिनीय स्वरूप है 'मनिन्'।

---

१. पा० सू० ३।३।९० व ९१ २. पा० सू० ३।२।१७२

३. पा० सू० ३।२।१४०

४. द्रष्टव्य-सिद्धान्तकौमुदी, स्वरवैदिकी प्रक्रिया

५. पा० सू० ३।२।७५

(४४) मर : यह प्रत्यय √सृ, √घस् √और √अद् से विहित होता है तथा इनकी वाच्यभूता वर्तमानकालिकक्रिया के स्वभावादि से सम्पन्न कर्तृकारक का यह बोधक है।[1] इससे यहाँ सृमरः, घस्मरः एवं अद्मरः ये विशेषणवाची रूप निष्पन्न होते हैं, जो स्त्रीलिंग में आकारान्त होते हैं। निश्चय ही इस प्रकार के प्रत्यय उणादि की कोटि के सीमित लक्ष्यसंस्कारक हैं। इसे महर्षि पाणिनि ने 'क्मरच्' रूप में निर्दिष्ट किया है।

(४५) य : पाणिनीय वैयाकरणों ने इस प्रत्यय को यत्, ण्यत् तथा क्यप् रूप में निरूपित किया है। इसके ये स्वरूपभेद अर्थमूलक न होकर प्रकृतिगत परिवर्तन के आधार पर परिकल्पित हैं। यह प्रत्यय कृत्यसंज्ञक है तथा 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' (पा० सू० ३।४।७०) के अनुसार अकर्मक धातुओं से भाव एवं सकर्मक से कर्म अर्थ का मुख्यतः वाचक है, किन्तु इसके साथ ही यह क्रिया की प्रैषा, अतिसर्ग एवं प्राप्तकाल को भी प्रगट करता है।[2] यह कतिपय प्रकृतियों से जब कर्तृकारक में विहित होता है तब उसकी शक्ति अथवा अर्हता को भी व्यक्त करता है।[3] एवंच यह प्रत्यय लिङ् एव् लोट्लकारों का भी स्थानापन्न है। फलतः इस प्रत्यय से निष्पन्न धातुजरूपों से भी वाक्य की निराकांक्ष परिसमाप्ति देखी जा सकती है। यथा—'त्वया इदं कार्यम्' 'पुष्पाणि चानेयानि' इत्यादि। पर हाँ, इस प्रकार के वाक्यों से क्रिया की वर्तमानकालिकता ही व्यक्त होती है। भूत एवं भविष्यत्काल के बोध के लिए उदाहृत वाक्यों में कालबोधक क्रियान्तर का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

यह प्रत्यय सभी धातुओं से कर्म व भाव में विहित होता है। इसके संयोग से कतिपय धातुओं में गुणीभाव, कुछ धातुओं में वृद्धीभाव तथा अन्य धातुओं में सम्प्रसारण, 'त्' आगम और अनुनासिकलोपरूप परिवर्तन हुआ करते हैं। तथाहि-सामान्यतया ऋकारान्त अकारोपध

---

१. पा० सू० ३।२।१६०

२. पा० सू० ३।३।१६३ व १६४

३. पा० सू० ३।३।१६९, १७२ व ११३

एवं हलन्त धातुओं में वृद्धीभाव दृष्टिगत है तो शेष स्वरान्त या स्वरोपध धातुओं में स्वर का गुणीभाव देखा जाता है।[१] यथा–कार्यम्, हार्यम्, धार्यम्, हास्यम्, पाठ्यम्, पाद्यम्, चेयम्, जेयम्, बोध्यम्, भोज्यम्,[२] भव्यम् इत्यादि। किन्तु पवर्गान्त अकारोपध एवं हन् स्थानिक वध और √तक्, √शंस्, √चत्, √यत्, √जन्, √शक् व √सह् में इसके संयोग से कोई परिवर्तन नहीं होता,[३] यथा–शप्यम्, लभ्यम्, वध्यः, तक्यम्, प्रशस्यम्, सह्यम् इत्यादि। अनुपसर्गक √गद्, √मद्, √चर्,√यम् तथा √नियम् में भी कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता।[४] अतः यहाँ गद्यम्, मद्यम्, चर्यम्, यम्यम् व नियम्यः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार √क्लृप् व √चृत् से भिन्न ऋकारोपध धातु में जहाँ कोई परिवर्तन नहीं होता, वहीं √इण्, √स्तु, √शास् √वृ, √दृ व √जुष् में कित्कार्य तकारागम एवं आ को 'इ' आदेश होते हैं।[५] यथा—वृत्यम्, नृत्यम्, इत्यः, स्तुत्यः, शिष्यः, वृत्यः, आदृत्यः, जुष्यः इत्यादि। एवमेव √खन् से खेयम् रूप निष्पन्न होता है।[६]

कतिपय ऐसे धातु हैं, जिनसे एक ही अर्थ में दो-दो रूप निष्पन्न होते हैं, तथाहि–√शंस्,√दुह्, √गुह्, √संभृ, √मृज्,√कृ और √वृष में अनुनासिक लोप, वृद्धीभाव और तकारागम की वैकल्पिक स्थिति होने से दो-दो रूप निष्पन्न होते हैं।[७] यथा—शंस्यम्-शस्यम्, दोह्यम्-दुह्यम्, गोह्यम्,-गुह्यम्, संभार्याः—संभृत्याः, मार्ग्यः-मृज्यः, कार्यम्-कृत्यम्, वर्ष्यम्—वृष्यम् इति।

कुछ धातु ऐसे हैं, जिनमें प्रत्यय की समानता रहने पर भी प्रकृतिगत ध्वनिपरिवर्तनमात्र से अर्थपरिवर्तन देखा जाता है। तद्-

---

१. "ऋहलोर्ण्यत्" "अचोयत्" (पा० सू० ३।१।१२४ व ९७)
२. भोज्यम् और भोग्यम् में अर्थभेद से ध्वनिभेद होना स्वाभाविक है।
३. पा० सू० ३।१।९८, वा०: १९२३, १९२२, पा० सू० ३।१।९९
४. पा० सू० ३।१।१००, वा० १९३०
५. पा० सू० ३।१।११० वा० १०९
६. पा० सू० ३।१।१११
७. वार्तिक १८३५, पा० सू० ३।१।११२, ११३, १२०

यथा—√चर् से निष्पन्न आचर्यः रूप जहाँ गुरु से भिन्न देश आदि को विशेषित करता है, वहीं आचार्यः रूप गुरु अर्थ में प्रयुक्त होता है ।[१] इसी प्रकार अवद्यम् निन्दित पापादि का बोधक है तो ब्रह्मवद्यं व ब्रह्मोद्यम् भाववाची हैं । इसीसे अनुवाद्यम्, अपवाद्यम् इत्यादि रूप कर्मवाचकता में निष्पन्न[२] होते हैं । √पण् के व्यवहार में पण्या गौः रूप निष्पन्न होता है तो स्तुति में पाण्यम् रूप का प्रयोग होता है । √वृङ से निष्पन्न "वर्या कन्या" जहाँ अनिरोध को व्यक्त करता है, वहीं वृत्या शब्द (व्यक्ति विशेष से विवाह करने योग्य) निरोध का सूचक है तथा इसी से कर्म में "वार्याः ब्राह्मणाः" की भी निष्पत्ति होती है । √ऋ से निष्पन्न "अर्यः" स्वामी और वैश्य का वाचक है तो आर्यः विशेषण रूप में प्रयुक्त होता है ।[३] इसीप्रकार √उपसृ से कर्म में निष्पन्न उपसर्या गौः प्रजननहेतुक उपसरणविशिष्ट का बोधक है और उपसार्यः केवल विशेषण है ।[४] नञ् पूर्वक √जॄ से कर्तृ कारक में संगत विशेष्य होने पर अजर्यम् अन्यथा वृद्धीभाव होकर अजार्यम् रूप निष्पन्न होते हैं ।[५] √भू से कर्तृ कारक में केवल भव्यः[६] रूप निष्पन्न होता है तो भाव में भाव्यम् । √गै से भी कर्म व कर्तृ कारक में 'गेयः, ही व्यवहृत होता है । इसी प्रकार पाणि व समव पूर्व में रहने पर √सृज् से कर्म में गुणीभाव व कुत्व होकर केवल पाणिसर्ग्या व समवसर्ग्या तथा √भृ से क्षत्रियसंज्ञा में भार्याः रूप प्रयुक्त होते हैं ।[७] अवश्यम्भाव को प्रकट करने के लिए उ-ऊवर्णान्त धातु एवं √आसु, √यु, √वप्, √रप्, √त्रप् और √आचम् में वृद्धीभाव देखा जाता है, अन्यथा स्वर का गुणीभाव होता है ।[८] यथा—लाव्यम् अवश्यलाव्यम्, पाव्यम् आसाव्यम्, याव्यम् वाप्यम्, राप्यम्, त्राप्यम्, आचाम्यम् इत्यादि । गुण होने पर यहाँ लव्यम्, पव्यम्, आसव्यम्, वप्यम्, आचम्यम् इत्यादि

---

१. वार्तिक १६२५
२. पा० सू० ३।१।१०१ व १०६
३. पा० सू० ३।१।१०३
४. पा० सू० ३।१।१०४
५. पा० सू० ३।१।१०५
६. पा० सू० ३।४।६८
७. वा० १६४६, १६४७, पा० सू० ३।१।११२
८. पा० सू० ३।१।१२५, १२६

रूप निष्पन्न होंगे। अनुपसर्गक तथा सोपपद √भू से भाव में ब्रह्मभूयम् तथा √हन् से ब्रह्महत्या और कर्म में घात्यः इत्यादि रूप इसी से निष्पन्न होते हैं।[1] इसीप्रकार रूढसंज्ञा में आङ्पूर्वक √अंज् से आज्यम् एवं √भृ से भृत्याः कर्मकराः का प्रयोग किया जाता है।[2] √भिद् व √उज्झ् से नद रूप कर्ता में जहाँ भिद्यः एवं उध्यः शब्द निष्पन्न होते हैं, वहीं √पुष् व √सिध् से नक्षत्ररूप अधिकरण में पुष्यः व सिध्यः का प्रयोग होता है। इनसे विशेषण में पोष्यः, निषेध्यः, भेद्यः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं।[3] एवमेव विपूयः शब्द केवल मूँज को विशेषित करता है तो विपव्यम् विशेषण सामान्य है। विनीयः शब्द कल्क का व जित्य शब्द बड़े हल का विशेषण होता है, किन्तु विनेयम् और जेयम् सामान्य विशेषण हैं। पद, अस्वैरी, बाह्य व पक्ष्य अर्थों में √ग्रह् में सम्प्रसारण होता है, अन्यथा अकार का दीर्घीभाव हो जाता है।[4] यथा—प्रतिगृह्यम्, अपिगृह्यम्, अवगृह्यम् प्रगृह्यम् इत्यादि। दीर्घीभाव होने पर प्रतिग्राह्यम्, अपिग्राह्यम् इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं। √युज् से वाहन अर्थ में युग्यः गौः रूप निष्पन्न होता है तो विशेषण में योज्यः और योग्यः रूपों का प्रयोग देखा जाता है। अमा उपपद √वस् से संज्ञा में अमावस्या एवं अमावास्या दोनों ही रूप निष्पन्न होते हैं तो करण कारक में √वह् से वह्यम् अन्यथा वाह्यम्[5] दोनों रूपों की निष्पत्ति होती है।

इस प्रत्यय से निष्पन्न कतिपय शब्द इस प्रकार के हैं, जो अर्थविशेष में निपातित होते हैं, फलतः वे विशेषण न होकर संज्ञा में प्रयुक्त होते हैं।[6] तथाहि—क्षत्रिय जाति के यजमान से सम्पादित यज्ञ में राजसूयः—राजसूयम्, सूर्यः, असत्य कथन में मृषोद्यम्, अनुकूल प्रेमी में रुच्यः, सुवर्ण व रजत से भिन्न निम्न कोटि की धातु में कुप्यम्,

---

१. पा० सू० ३।१।१०७, १०८
२. वार्तिक १९२५, पा० सू० ३।१।११२
३. पा० सू० ३।१।११५, ११६
४. पा० सू० ३।१।११७, ११९
५. पा० सू० ३।१।१२१, १२२, १०२
६. पा० सू० ३।१।११४

जोती हुई भूमि में स्वयं उत्पन्न होने वाली फसल में कृष्टपच्याः एवं रेंगने वाले जीवों में अव्यथ्यः शब्द व्यवहृत होते हैं, अन्यथा इनसे कृष्टपाक्याः, गोप्यम् इत्यादि शब्द यथानिर्दिष्ट परिवर्तन के साथ देखे जाते हैं। जन्यम्, आप्लाव्यम् व आपात्यम् शब्द भी कर्ता और कर्मकारक में निपातित ही हैं।[1] इसी प्रकार √चिञ् से कर्मकारक में चित्यः तथा अग्नि उपपद होने पर भाव में अग्निचित्यः शब्द[2] क्रमशः संग्रह अर्थों में निपातित हैं।[2] अग्नि धारण करने वाले कुण्ड अर्थ में परिचाय्यः, उपचाय्यः व समूह्यः शब्दों का प्रयोग होता है तो सोमयाग के लिए संचाय्यः एवं कुण्डपाय्यः शब्द[3] प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार दक्षिणाग्नि विशेष में आनाय्यः, अन्न आदि के प्राचीन नाप में पाय्यम्, हविष्यान्न में सान्नाय्यम्, धन-धान्य रखने के घर में निकाय्यः तथा समिधा रखने के मंत्र में धाय्याः शब्दों का भी निपातन होता है[4] जो सम्मत न हो, जैसे—चोर अथवा विषय वासनाओं से विरक्त छात्र अर्थ में भी प्रणाय्यः शब्द व्यवहृत होता है[5], अन्यथा विशेषण में प्रणेयः रूप निष्पन्न होता है।

यहाँ तक इस प्रत्यय के सामान्य व विशेष अर्थ तथा इसके संयोग से धातुगत परिवर्तनसामान्य व परिवर्तनविशेषों का विवेचन किया गया। अवधेय है, यह प्रत्यय सभी धातुओं से विहित होता है। यहाँ पर केवल उन्हीं धातुओं की चर्चा आयी है, जिनमें सामान्य अर्थ व ध्वनिनियम की प्रवृत्ति नहीं होती है। एवंच अनिर्दिष्ट धातुओं से अथवा जिन धातुओं का अर्थविशेष में निपातन हुआ है, उनसे भी निपातनेतर सामान्य अर्थ में सामान्य नियम की प्रवृत्ति के द्वारा अन्य रूपों की निष्पत्ति सम्भावनीय है। विशेषण होने पर ये सभी रूप त्रिलिंगक होते हैं तथा स्त्रीलिंग में आकारान्त व्यवहृत होते हैं।

---

१. पा० सू० ३।४।६८
२. पा० सू० ३।१।१३२
३. पा० सू० ३।१।१३१, १३०
४—पा० सू० ३।१।१२७, १२९
५—पा० सू० ३।१।१२८

इसके अतिरिक्त यह प्रत्यय अधोनिर्दिष्ट धातुओं से स्त्रीलिंग भाव में स्त्र्यधिकारी प्रत्ययों का निषेध करके प्रवृत्त होता है। तथाहि—√व्रज्, √यज् एवं √कृ से भाव में विहित होता है।[1] यथा-व्रज्या, इज्या, कृत्या इति। √कृ से आख्यान व परिप्रश्नविषयकभाव को तथा कर्तृभिन्न कारक को भी प्रकट करता है।[2] इसके अभाव में ति व श (अ) प्रत्यय भी होते हैं, अतः कृतिः, क्रिया व कृत्या ये तीनों रूप समानार्थक हैं। एवमेव भाव तथा कर्तृभिन्न कारक अर्थों में यह प्रत्यय √समज्, √निषद्, √निपत्, √मन्, √विद्, √सु, √शी, √भृ और √इ से भी विहित होता है।[3] इनसे निष्पन्न 'समज्या, निषद्या, निपत्या, मन्या, विद्या, सुत्या, शय्या, भृत्या, इत्या' ये सभी शब्द क्रमशः सभा, बाजार, पिच्छल भूमि, गले व बगल की नसें, ज्ञान अभिषव, सेज, जीविका, एवं शिविका अर्थों में रूढ हैं। एवंच यह प्रत्यय कर्त्ता, कर्म व भाव के अतिरिक्त रूढसंज्ञा में भी प्रयुक्त हुआ है।

(४६) र : यह प्रत्यय √नम्, √कम्प्, √स्मि, √अजस्, √कम्, √हिंस् और √दीप् से विहित होकर इन धातुओं के वाच्य वर्तमानक्रिया के शील, धर्म व साधुकारिता से विशिष्ट कर्तृकारक का बोधक होता है।[4] यहाँ इसके संयोग से नम्रः, कम्प्रः, स्मेरः, अजस्रः, कम्रः, हिंस्रः एवं दीप्रः ये शब्दरूप निष्पन्न होते हैं। ये सभी रूप विशेषण हैं, जो स्त्रीलिंग में आकारान्त हो जाते हैं।

(४७) रु : यह प्रत्यय भी उपरि कथित शीलादिविशिष्ट कर्तृ-कारक में विहित होता है। इसके संयोग से √दा = दारुः (उदार), √धेट् = धारुः (पीने वाला), √सि = सेरुः (बाँधने वाला), √शद् शद्रुः (गिरने वाला) तथा √सद् = सद्रुः (विश्राम करने वाला) ये शब्दरूप निष्पन्न[5] होते हैं। इनके अतिरिक्त उक्त कारक में ही √भी से विहित होने पर स्वर में गुणीभाव नहीं देखा जाता, अतः यहाँ

१.—पा० सू० ३।३।९८
२—पा० सू० ३।३।१००, ११०
३—पा० सू० ३।३।९९
४—पा० सू० ३।२।१६७
५—पा० सू० ३।२।१५९

भीरुः रूप सिद्ध होता है। आचार्यों ने उक्त गुणाभाव को सूचित करने के लिए इसका एक 'क्रु' रूप भी अंगीकार किया है।[1] एवंच इस प्रत्यय की कुल आठ ही प्रकृतियाँ हैं, जिनसे निष्पन्न सभी शब्द विशेषण होने से स्त्रीलिंग में भी उकारान्त ही व्यवहृत होते हैं।

(४८-४९) रुक-लुक : भाषाशास्त्रीय नियमानुसार प्रत्यय अथवा प्रकृति में विद्यमान 'र' ध्वनि 'ल' रूप में परिवर्तित हो जाया[2] करती है। ऐसी स्थिति में कहीं इनमें से एक ही ध्वनि का प्रयोग होता है, यथा-कल्पते इत्यादि। तथा कुत्रचित् दोनो ध्वनियाँ समानान्तर से व्यवहृत पायी जाती हैं। यथा-गिरति-गिलति इत्यादि। प्रकृत प्रसंग में √भी से निष्पन्न भीरुकः एवं भीलुकः ये दोनों रूप भयशील अर्थ में व्यवहृत होते हैं। केवल इन्हीं दोनों शब्दों की निष्पत्ति के लिए उक्त दोनों प्रत्यय आचार्यों के द्वारा क्रुकन् और क्लुकन् रूपों में निरूपित हैं।[3] इनमें क् अनुबन्ध जहाँ धातु के गुणाभाव को इंगित करता है, वहीं 'न्' से √भी के उदात्त होने की सूचना प्राप्त होती है। एवंच केवल एक-एक शब्दों का निष्पादक होने से ये दोनों प्रत्यय उणादि के समकक्ष हैं।

(५०) वन् : यह प्रत्यय स्वप्रकृतिभूत धातुवाच्य क्रिया के कर्तृकारक का वाचक है। कहीं पर यह कारक भूतकालिकक्रिया से संबद्ध है तो अन्यत्र वर्तमानकालिक क्रिया का आश्रय है। तथाहि—निरुपपद √सु एवं √यज् तथा कर्मकारक उपपद होने पर √दृश्, राजन् व सह उपपद होने पर √युध् और केवल राजन् उपपद होने पर √कृ से यह प्रत्यय भूतकालिक क्रिया के आश्रयीभूत कर्तृकारक को प्रगट करता है।[4] इसके संयोग से ह्रस्वान्त धातु के अन्त में 'त्' का आगम होकर सुत्वन्, यज्वन्, पारदृश्वन्, राजयुध्वन्, सहयुध्वन्, राजकृत्वन् इत्यादि नकारान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं। इनसे भिन्न समग्र धातुओं से विहित

१—पा० पा० सू० ३।२।१७४

२—अनुसंधेय-पा० सू० ८।२।२१, १८

३—वार्तिक ३१५४, पा० सू० ३।२।१७४

४—पा० सू० ३।२।१०३, ९४

होने पर यह प्रत्यय वर्तमानकालिक क्रिया के कर्त्ता का बोधक होता है[1]। अवधारणीय है, यहाँ भी इसके संयोग से जहाँ ह्रस्वान्त धातुओं के अन्त में 'त्' आगम होताहै, वहीं अनुनासिकान्त धातुओं के अनुनासिक आकार अपने ह्रस्वस्वरूप में परिणत हो जाते हैं। यथा—'प्रातः एति इति प्रातर्—√इ=प्रातरित्वन्, √ओण्=अवावन्, √विजन्=विजावन्' इत्यादि। इससे निष्पन्न सभी रूप विशेषण होते हैं तथा इनका बाहुल्येन प्रयोग वैदिकसंस्कृत में उपलब्ध होता है। आचार्यों ने इसे ङ्वनिप्, क्वनिप् एवं वनिप् रूपों में निर्दिष्ट किया है।

(५१) वर : यह प्रत्यय √इ, √नश्, √जि, √सृ, √गम्, √स्था, √ईश्, √भास्, √पिस्, √पेस्, √कस् तथा यङन्त धातुओं से विहित होकर इनके वाच्य वर्तमानक्रिया के शीलादि से विशिष्ट कर्तृकारक का वाचक है।[2] इसके संयोग से जहाँ ह्रस्वान्त धातुओं में 'त्' का आगम देखा जाता है, वहीं √गम् का अनुनासिक 'त्' में परिवर्तित हो जाता है। एवंच इस प्रत्यय से यहाँ इत्वरः, नश्वरः, जित्वरः, सृत्वरः, गत्वरः, स्थावरः, ईश्वरः, भास्वरः, पेस्वरः, कस्वरः, यायावरः इत्यादि रूप निष्पन्न होते हैं, जो सभी अकारान्त विशेषण हैं। इनमें से प्रारम्भ की पाँच प्रकृतियों से निष्पन्न शब्द अनुदात्तान्त होते हैं और स्त्रीलिंग में इनका व्यवहार ईकारान्तरूप में होता है। शेष शब्द अन्तोदात्तान्त होते हैं तथा स्त्रीलिंग में इनका रूप आकारान्त हो जाता है। इन सभी स्थितियों एवं धातुगत परिवर्तनों को दृष्टिगत करते हुए वैयाकरणों ने इसके क्वरप् एवं वरच् दो रूप स्वीकार किये हैं।

(५२) वस् : भाषाशास्त्रियों ने इस प्रत्यय में क् एवं उ का अनुबन्धन करके इसका क्वसु रूप में निरूपण किया है।[3] यह प्रत्यय लिट्स्थानी है तथा स्वप्रकृतिभूतधातुवाच्य क्रिया के आश्रयीभूत कर्तृकारक के साथ-साथ उस क्रिया के सामान्य भूतकाल का भी प्रत्या-

---

१—पा० सू० ३।२।७५ २—पा० सू० ३।२।१६३, १६४, १७५, १७६
३—पा० सू० ३।२।१०७ से १०९

यक है। इससे निष्पन्न धातुजरूप भूतकाल से विशिष्ट सत्त्व के विशेषक होते हैं, अतः वे रूप विशेषण होने से त्रिलिंगक होते हैं। क्वचित् सत्ता क्रिया का अध्याहार कर उन्हीं से वाक्य की परिसमाप्ति की[1] जा सकती है अर्थात् उन धातुजरूपों से वाच्यक्रिया ही वाक्य की प्रधान विधेया होती है। अध्याहृत सत्ता क्रिया तो कालबोधन में भी अन्यथासिद्ध है।

यद्यपि इस प्रत्यय का प्रायः प्रयोग वैदिक वाङ्मय में हुआ है, तथापि कालिदास प्रभृति कतिपय कवियों ने भी इससे निष्पन्न रूपों का अपने काव्यों में व्यवहार किया है। यथा—"तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे, श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते"[2] इत्यादि। वैयाकरणों के अनुसार लौकिक संस्कृत में भी √सद्, √वस्, √श्रु, √गम्, √हन् √विद् √दृश् एवं √विश् से इसका विधान विहित है। अतएव भट्टोजिदीक्षित ने लौकिक प्रत्ययों के संदर्भ में इन प्रकृतियों से इस प्रत्यय का विधान व्याख्यात किया है।[3] किंच मात्र लौकिकसंस्कृतव्याकरण के अनुशास्ता शर्व वर्मा प्रभृति आचार्यों ने भी इसका अनुशासन किया है[4]। अतएव हम कह सकते हैं कि इस प्रत्यय का प्रयोगसंस्कृत लौकिक में भी होता है। लिट्स्थानिक होने के कारण इसके संयोग से धातु को द्वित्व, अभ्यासकार्य एवं कित्कार्य होते हैं। अतः यहाँ उक्त धातुओं से सेदिवस्, ऊष्वस्, शुश्रुवस्, जग्मिवस्-जगन्वस्: जघ्निवस्-जघन्वस्, विविदिवस्-विविद्वस्, विविशिवस्-विविश्वस्, ददृशिवस्-ददृश्वस् ये रूप निष्पन्न होते हैं। इट् के विवेचन में यह कथित है, तदनुसार ऊपर जिन धातुओं में विकल्प से इट् का निर्देश किया गया है, तदतिरिक्त धातुओं से इसका विधान होने पर इडागम नहीं देखा जाता। यथा—√विद्ज्ञाने=विविद्वान् इत्यादि। किन्तु

१—यथा—"अस्माकमतिथिर्जग्मिवान्" इत्यादि

२—रघुवंशमहाकाव्यम् ५/३५।६१

३—सिद्धान्तकौमुदी, पूर्वकृदन्त, सू० ३०९५ की व्याख्या में बालमनोरमाटीका की यह पक्ति अनुसंधेय है—"विभाषा पूर्वाह्णापराह्णा। इतिसूत्रभाष्ये तु पपुष आगतं पपिवद्रूप्यमिति प्रयुक्तम्, तेन लोकेऽपि क्वचित् क्वसोः साधुत्वं सूचितम्"

४—"क्वन्सुकानौ परोक्षावच्च"—का० ४।४।१

द्वित्व होने पर भी जिन धातुओं में एक ही स्वर अवशिष्ट रहे, उनसे, आकारान्त एवं √घस् से भी इस प्रत्यय का विधान होने पर नित्य ही इ स्वरागम होता है। यथा—आदिवस्, आरिवस्, ददिवस्, जक्षिवस् इत्यादि।

इसके संयोग से निष्पन्न सभी रूप विशेषण एवं सकारान्त होते हैं। इनसे परिनिष्ठित रूप निष्पन्न करने के लिए सर्वनामस्थान विभक्तियों में जहाँ अन्तिम स्वर को दीर्घ और अनुस्वारागम होता है, वहीं स्त्रीलिंग के ई व शसादि विभक्तियों में यह प्रत्यय सम्प्रसारण भाव को प्राप्त होकर 'उष्' रूप में परिवर्तित हो जाता है। एवच यहाँ सेदिवान्, अध्यूष्वान्, सेदुषी, अध्युषुषी इत्यादि परिनिष्ठित रूप निष्पन्न होते हैं। स्मरणीय है, जिन धातुओं से इसका प्रयोग लौकिक संस्कृतमें विहित है, तदतिरिक्त उपेयिवान्, ईयिवान्, एवं अनाश्वान् इत्यादि रूपों में √इ व √अश् से भी इसका प्रयोग व्यवहृत होता है। एवंच ध्वन्यात्मक सौन्दर्य से संवलित फलतः बुधजनसमादृत यह प्रत्यय केवल सामान्य भूतकाल की क्रिया के कर्ता को प्रकट करता है।

(५३) स : यह प्रत्यय त्यद्, तद्, यद, एतद्, इदम्, अदस्, युष्मद्, अस्मद्, भवत्, किम्, समान (स) और अन्य उपपद रहने पर √दृश् से विहित होता है तथा इस क्रिया के कर्मकर्तृ कारक को बोधित करता है।[1] यहाँ इसका संयोग होने पर यह धातु के श् के साथ अपने रूप को परिवर्तित करके 'क्ष' रूप में परिणत हो जाता है। एवंच यहाँ त्यादृक्षः, तादृक्षः, यादृक्षः, एतादृक्षः, ईदृक्षः, अमूदृक्षः त्वादृक्षः, मादृक्षः, भवादृक्षः, कीदृक्षः, सदृक्षः तथा अन्यादृक्षः ये अकारान्त पुँल्लिग रूप निष्पन्न होते हैं। स्त्रीलिंग में इनका प्रयोग आकारान्त रूप में होता है। उदाहरणों से स्पष्ट है, उपपद के अन्तिम व्यंजन का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर अपने दीर्घरूप में परिवर्तित हो गया है।

१—वार्तिक २०३०

(५४) स्नु, यह प्रत्यय √जि, √भू, √ग्ला एवं √स्था से विहित होकर इनकी वाच्यभूता वर्तमानक्रिया के शील एवं धर्म से विशिष्ट कर्तृकारक का वाचक है।[1] इसके संयोग से धातुस्वर का गुणीभाव नहीं होता, फलतः यहाँ जिष्णुः, भूष्णुः, ग्लास्नुः व स्थास्नुः ये चार रूप निष्पन्न होते हैं। ये सभी शब्द क्रियावाची विशेषण हैं, अतः पुँल्लिग व स्त्रीलिंग में समानरूप से उकारान्त ही व्यवहृत होते हैं। वस्तुतः यह प्रत्यय भी उणादि के तुल्य अत्यल्प लक्ष्यों का संस्कारक है।

उणादि प्रत्यय : ऊपर यत्र-कुत्रचित् हमने उणादि प्रत्ययों की चर्चा की है। सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजिदीक्षित के द्वारा इनकी संख्या लगभग ३१२ गिनाई गयी है। किन्तु अन्य आचार्यों के अनुसार इनकी उक्त संख्या में न्यूनाधिकता सहज संभाव्य है।[2] यद्यपि ये सभी उणादि धातुप्रकृति से ही विहित होते हैं, तथापि उनके विधान का कोई समान विस्तृत आधार नहीं है। एक उणादि प्रत्यय किसी एक धातु से संयुक्त होकर किसी एक संज्ञाशब्द का निष्पादक होता है तो किसी दूसरे उणादि से अनेक संज्ञा शब्द निष्पन्न होते हैं। ऐसा कोई उणादि नहीं है, जो समान अर्थ में सभी धातुओं से विहित होता हो। अतएव इनमें व्यापक आधार का अभाव कहा गया है, जिसे महर्षि पाणिनि ने "उणादयो बहुलम्" (पा० सू० ३।३।१) कहकर इंगित किया है। यही कारण है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने अपनी उणादिप्रक्रिया में 'र-त्न-एलिम' प्रभृति प्रत्ययों का निरूपण किया है, जिन्हें अन्य आचार्यों ने कृत् प्रत्ययों में परिगणित किया है।[3] ऐसा होने पर भी भाषाशास्त्रियों ने इनके विषय में कतिपय अर्थमूलक समान सिद्धान्त

१—पा० सू० ३।२।१३९

२—उणादयोऽपरिमिता येषु संख्या न गम्यते।
प्रयोगमनुसृत्याद्वा प्रयोक्तव्यास्ततस्ततः ॥ (सार०, उत्तरार्द्ध, पृ० २८७ चौखम्बा प्रका० १९७१ ई०)

३—द्रष्टव्य–सार०, उत्तरार्द्ध, कृदन्त उणादि प्रक्रिया पृ० २८१ से २८७ तक चौखम्भा प्रका० १९७१

स्थापित किये हैं। तद्यथा—महाभाष्यकार पतंजलि इनकी परिभाषा में यह व्यवस्था देते हैं—सभी संज्ञारूपों के पूर्वांश में धातु की अवधारणा करने के उपरान्त परांश में जो वर्णसांघातिकरूप अवशिष्ट रहता है, वही उणादि प्रत्यय है। उनमें धातुगत आदेश व आगमरूप ध्वनिपरिवर्तन को दृष्टिगत करते हुए अनुबन्धों का आसंजन कर लेना चाहिए।[1] उणादि प्रत्ययों की संकल्पना का बस यही मूलाधार है। इसी के कारण पण्डितवैयाकरणों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है कि वे देशी-विदेशी सभी भाषाओं के शब्दों में थोड़ी-बहुत हेरा-फेरी करके और उणादि प्रत्ययों का सहारा लेकर उसे संस्कृतभाषा का शब्द सिद्ध करने में उद्यत रहते हैं। इसके अतिरिक्त इन उणादि प्रत्ययों से द्योत्य काल और कारक के विषय में सभी वैयाकरणों द्वारा समान रूप से दो सिद्धान्त निर्दिष्ट हैं। (१) उणादि प्रत्यय वर्तमान काल के अतिरिक्त 'गमी' आदि शब्दों में भविष्यत् तथा कुत्रचित् भूतकाल को भी प्रकट करते हैं तथा (२) ये अधिकतर सम्प्रदान और अपादान से भिन्न कारक के वाचक होते हैं। इनसे सम्प्रदान की प्रतीति तो केवल 'दाश' और 'गोघ्न' शब्दों में तथा अपादान की प्रतीति 'भीम' आदि शब्दों में ही होती।[2]

एवंच इनकी राशि की विशालता और विधान की बहुलता को देखते हुए इनसे निष्पन्न रूप को कोष का विषय समझ कर अथवा पृथक् प्रतिपाद्य मानकर इन्हें यहाँ विशेष परिचर्चा से पृथक् कर दिया गया है। इससे इनका भाषायी महत्व कम नहीं आंका गया, प्रत्युत इनके स्वभाव के पार्थक्य का प्रतिबिम्बन हुआ है।

१—"केचिदविहिता अप्यूह्याः—

"संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद् विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

भाष्यम्, उद्धृत—सिद्धान्तकौमुदी, उत्तरकृदन्त, सू० ३१६६

२—द्रष्टव्य—भूतेऽपि दृश्यन्ते भविष्यति गम्यादयः दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने भीमादयोऽपादाने ताभ्यामन्यत्रोणादयः,—पा० सू० ३।३।२, ३; ३।४।७३ से ७५; का० ४।६।५० से ५२; हैम० ५।१।१४ व १५

उपसंहार : धातु प्रत्ययों के प्रतिपादक इस पंचम स्तबक में महर्षि पाणिनि से मान्य ११५ कृत् प्रत्ययों को ५४ बिन्दुओं में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इनके स्पष्टीकरण में अर्थविज्ञान के साथ-साथ धातुजरूप निष्पादन के प्रक्रियाविज्ञान को भी सामान्य व कुछ विशेषरूप से निरूपित किया गया है। इस निरूपण में मुख्य दृष्टिकोण यही रहा है कि संक्षेप व यथासंभव सरलता से महर्षि पाणिनि द्वारा प्रतिपादित सभी प्रकृतियों एवं उनसे निष्पन्न रूपों को स्पष्ट निर्दिष्ट कर दिया जाय। उदाहरण यहाँ उपात्त प्रकृति के क्रम से ही उपनिबद्ध हैं तथा प्रकृतिगत परिवर्तनों के मात्र प्रातिनिध्य के निर्वाहक हैं। यदि इन सभी प्रत्ययों का विवेचन यत्रकुत्रचित् अनुबंध-परिवर्तनों के साथ आचार्य हेमचन्द्र ने प्रस्तुत किया है तो अन्य अधिकृत वैयाकरण अपने व्याकरणग्रन्थों में इन सभी प्रत्ययों को क्रोडीकृत नहीं कर सके हैं, पुनरपि उन्होंने, विशेषकर शर्ववर्मा ने तद्धितों की तुलना में इनका अध्ययन बड़े विस्तार से प्रस्तुत किया है। यहाँ प्रत्ययों के विशेष अध्ययन में यद्यपि इन आचार्यों से व्याख्यात प्रत्ययरूपों की तुलनात्मक प्रस्तुति प्रायः सर्वत्र नहीं हुई है, तथापि इस नैयून्य के परिहारार्थ परिशिष्ट में अष्टाध्यायी, कातन्त्र, हैम व सारस्वत के प्रत्ययों की तुलनात्मकसूची सरल सरणि समझकर प्रस्तुत की जायेगी। स्मरणीय है, आचार्य चन्द्रगोमी व धर्मकीर्ति ने प्रत्ययों के उन सभी स्वरूपों का यथावत् निर्देश किया है, जिन्हें महर्षि पाणिनि ने निरूपित किया है, अतः उक्त सूची में चान्द्र और रूपावतार का उल्लेख नहीं होगा।

किसी भी भाषा में प्रत्ययों का वही स्थान है, जो शरीर में प्राण का इसी तत्त्व के आधार पर सुवासा उशती वाक् बुधजनों को अपना सर्वस्व समर्पण करती है। पद से पदार्थ और वाक्य से वाक्यार्थ की निष्पत्ति में प्रत्ययों की ही प्रमुख भूमिका रहती है। यहाँ इसकी चर्चा 'प्रत्ययार्थः प्रधानम्' आदि शब्दों से अनेक स्तबकों में की गयी है। सुप् और तिङ् से परिनिष्ठित पद, वाक्य और वाक्यार्थ तथा कृत् और तद्धित से पद का निष्पादन अत्यन्त वैज्ञानिक प्रक्रिया है,

जिसका प्रत्ययपरक विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत हुआ है। अतएव इसकी व्याकरणात्मक जटिलताओं पर अधिक जोर नहीं डाला गया है, अन्यथा पाठक की दृष्टि से प्रत्यय कदाचित् ओझल हो जाते और फिर इस ग्रन्थ का सिद्धान्तकौमुदी से अभिप्रेत अन्तर समाप्त हो जाता। एवंच इस अध्ययन के केन्द्र में प्रत्यय ही दृष्टिगत होते हैं, जिसकी परिधि में भाषाशास्त्रीय पर्यालोचन का प्रसार है।

— o —

परिशिष्ट (क)

प्रबन्ध की प्रास्ताविकी में जैसी की प्रतिज्ञा की गयी है, तदनुसार इस के लेखन में अष्टाध्यायी व्याख्यानभूत वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, कातन्त्रव्याकरण, हैमशब्दानुशासन, सारस्वतव्याकरण, रूपावतार एवं चान्द्रव्याकरण प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ रहे हैं। फलतः प्रत्यय प्ररूपण में अथवा सामान्य विवेचन में उक्त ग्रन्थों के मतों की मुख्यरूप से चर्चा की गयी है। उसी क्रम में उक्त ग्रन्थों में निरूपित प्रत्ययस्वरूपों का भी तुलना की दृष्टि से यहाँ निर्देश किया गया है, किन्तु सभी प्रत्ययों के निरूपण में यह दृष्टि नहीं अपनायी गयी है। अतः उक्त ग्रन्थों में प्रतिपादित सभी प्रत्ययों को तुलनात्मक दृष्टिकोण से एक तालिका में प्रस्तुत करना उपादेय होगा।

यहाँ स्मरणीय है, चान्द्रव्याकरण में चन्द्रगोमी ने तथा रूपावतार में आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रत्ययों के पाणिनीय स्वरूप को ही अंगीकार किया है। यह बात दूसरी है कि सरलता व संक्षेप की दृष्टि से आचार्य चन्द्रगोमी ने यत्रकुत्रचित् प्रत्ययों की प्रकृति में परिवर्तन एवं परिवर्धन अवश्य किया है, किन्तु वहाँ प्रत्ययों के अनुबन्ध एवं प्रयोजन पाणिनीय ही हैं। अतएव निम्नांकित तालिका में चान्द्र-व्याकरण एवं रूपावतार के प्रत्ययों को स्थान नहीं दिया गया है। एवंच इस प्रत्ययसूची में पाणिनीय, कातन्त्र, हैमशब्दानुशासन एवं सारस्वतव्याकरण के प्रत्ययों को तुलनात्मक दृष्टिकोण से सानुबन्ध स्वरूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें सर्वप्रथम प्रत्ययों की क्रम-संख्या तदुपरान्त प्रकृत प्रबंध में निरूपित निरनुबध प्रत्ययस्वरूप तथा उसके बाद क्रमशः वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, कातन्त्र, हैमशब्दानु-शासन एवं सारस्वतव्याकरण के प्रत्ययों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

अवधेय है, इस प्रस्तुतीकरण में सुप् एवं तिङ् विभक्तिप्रत्ययों को छोड़कर शेष सभी प्रत्ययों को अकारादि देवनागरी वर्णक्रम में ही रखा गया है तथा जिस व्याकरण में क्रमांकित प्रत्यय नहीं है, उसका क्रम रिक्त है :

तुलनात्मक–प्रत्ययतालिका

सुप्विभक्तिप्रत्यय

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	स्-अम्-त्-०	सु	सि	सि	सि
2.	औ-ई-ऊ-अम्-०	औ	औ	औ	औ
3.	अस्-इ-औ-अम्-०	जस्	जस्	जस्	जस्
4.	अम्-म्-०	अम्	अम्	अम्	अम्
5.	औ-ई-ऊ-अम्-०	औट्	औ	औ	औ
6.	अस्-न्-इ-अम्-०	शस्	शस्	शस्	शस्
7.	आ-इन-ना-अम्-०	टा	टा	टा	टा
8.	भ्याम्	भ्याम्	भ्याम्	भ्याम्	भ्याम्
9.	भिस्-ऐस्	भिस्	भिस्	भिस्	भिस्
10.	ए-य-स्मै-स्यै-यै-यै-अम्-०	ङे	ङे	ङे	ङे
11.	भ्याम्	भ्याम्	भ्याम्	भ्याम्	भ्याम्
12.	भ्यस्-भ्यम्	भ्यस्	भ्यस्	भ्यस्	भ्यस्
13.	इस्-त्-स्मात्-स्याः-याः-वाः-०	ङसि	ङसि	ङसि	ङसि
14.	भ्याम्	भ्याम्	भ्याम्	भ्याम्	भ्याम्
15.	भ्यस्-अत्	भ्यस्	भ्यस्	भ्यस्	भ्यस्
16.	अस्-स्य-आस्-स्-स्याः-अ-अम्-०	ङस्	ङस्	ङस्	ङस्
17.	ओस्	ओस्	ओस्	ओस्	ओस्
18.	आम्-नाम्-साम्	आम्	आम्	आम्	आम्

क्र० सं	ग्रन्थोय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
19.	इ-स्मिन्-स्याम्-याम्-औ-आम् अम्-०	ङि	ङि	ङि	ङि
20.	ओस्	ओस्	ओस्	ओस्	ओस्
21.	सु-षु	सुप्	सुप्	सुप्	सुप्

तिङ्विभक्तिप्रत्यय

क्र० सं०	ग्रन्थोय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	ति-त्-अ-तु-तात्-आ	तिप्	ति-यात्-तु दि-अट्-ता-स्यति-स्यत्	तिव्-यात्-तुव्-दिव्-दि-णव्-क्यात्-ता स्यति-स्यत्	तिप्-यात् तुप्-दिप्-णप्-ता
2.	तस्-अतुस्-ताम्-रौ	तस्	तस्-याताम्-ताम्-अतुस्-क्यास्ताम्-स्यतस् स्यताम्	तस्-आताम्-ताम्-अतुस्-यास्ताम्-तारौ-स्यतस्-स्यताम्	तस्-याताम्-ताम्-अतुस्-यास्ताम्-तारौ
3.	अन्ति-अति-उस्-अन्तु-अन्-रस्	झि	अन्ति-युस्-अन्तु-अन्-उस्-तारस्-यासुस्-स्यन्ति-स्यन्	अन्ति-युस्-अन्तु-अन्-उस्-क्या-सुस्-तारस्-स्यन्ति-स्यन्	अन्ति-युस्-अन्तु-अन्-उस्-यासुस्-तारस्
4.	सि-थ-हि-तात्-आन-०	सिप्	सि-यास्-हि-थल्-तासि-स्यसि-स्यस्	सिव्-यास्-हि-थव्-क्यास्-तासि-स्यसि-स्यस्	सिप्-यास्-हि-सिप्-थप्-तासि

क्र०सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
5.	थस्-अथुस्-तम्	थस्	थस्-यातम्- तम्-अथुस्- तास्थस् यास्तम्- स्यथस्- स्यतम्	थस्-यातम्- तम्-अथुस्- क्यास्तम्- तास्थस्- स्यथस्- स्यतम्	थस्-यातम्- तम्-अथुस्- यास्तम्- तास्थस्
6.	थ-त-अ	थ	थ-यात-त- अ-तास्थ- स्यात-स्यथ- स्यत	थ-यात-त-अ- क्यास्त- तास्थ-स्यथ- स्यत	थ-यात-त- अ-यास्त- तास्थ
7.	मि-नि (आनि)- अ-अम्	मिप्	मि-याम्- आनि-अम्- अट्-तास्मि- यासम्- स्यामि-स्यम्	मिव्-याम् आनिव्-अमव् अम्-णव्- क्यासम्- तास्मि- स्यामि-स्यम्	मिप्-याम् आनिप्- अमिप्-णप् यासम् तास्मि
8.	वस्-व-आव	वस्	वस्-याव- आव-व- तास्वस्- यास्व- स्यावस्- स्याव	वस्-याव- आवव्-व- क्यास्व- तास्वस्- स्यावस्- स्याव	वस्-याव- आवप्-व- यास्व- तास्वस्
9.	मस्-म-आम-	मस्	मस्-याम- आम-म- तास्मस्- यास्म- स्यामस्- स्याम	मस्-याम आमव्-म- क्यास्म- तास्मस्- स्यामस्- स्याम	मस्-याम- आमप्-म- स्याम- तास्मस्

क्र०सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
10.	त-ते-ए-ताम्-ता	त	ते-ईत-ताम्-त-ए-ता-सीष्ट-स्यते-स्यत	ते-ईत-ताम्-त-ए-सीष्ट-ता-स्यते-स्यत	ते-ईत-ताम्-तन्-ए-सीष्ट-ता
11.	आताम्-आते-एताम्-रौ-इते	आताम्	आते-ईयाताम्-आताम्-तारौ-सीयास्ताम्-स्येते-स्येताम्	आते-ईयाताम्-आताम्-सीयास्ताम्-तारौ-स्येते-स्येताम्	आते-ईयाताम्-आताम्-सीयास्ताम्-तारौ
12.	अन्त-अत-रत-रन्-इरे-अन्ते-अन्ताम्-तारस्-	झ	अन्ते-ईरन्-अन्ताम्-अन्त-इरे-तारस्-सीरन्-स्यन्ते-स्यन्त	अन्ते-ईरन्-अन्ताम्-अन्त-इरे-सीरन्-तारस्-स्यन्ते-स्यन्त	अन्ते-ईरन्-अन्ताम्-अन्त-इरे-सीरन्-तारस्
13.	थास्-से-ह्रे-स्व	थास्	से-ईथास्-स्व-थास्-सीष्ठास्-तासे-स्यसे-स्यथास्	से-ईथास्-स्व-थास्-सीष्ठास्-तासे-स्यसे-स्यथास्	से-ईथास्-स्व-थास्-सीष्ठास्-तासे
14.	आथाम्-एथाम्-एथे-आथे	आथाम्	आथे-ईयाथाम्-आथाम्-तासाथे-सीयास्थाम्-स्येथे-स्येथाम्	आथे-ईयाथाम्-आथाम्-सीयास्थाम्-तासाथे-स्येथे-स्येथाम्	आथे-ईयाथाम्-आथाम्-सीयास्थाम्-तासाथे

क्र०सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
15	ध्वम्-ध्वे	ध्वम्	ध्वे-ईध्वम्-ध्वम्-ताध्वे-सीध्वम्--स्यध्वे-स्यध्वम्	ध्वे-ईध्वम् ध्वम्-सीध्वम्-ताध्वे-स्यध्वे-स्यध्वम्	ध्वे-ईध्वम्-ध्वम्-सीध्वम्-ताध्वे
16.	इ-अ-ऐ-हे	इट्	ए-ईय-ऐ-इ-ताहे-सीय-स्ये	ए-ईय-ऐ-इ सीय-ताहे-स्ये	ए-ईय-ऐप्-ईसीय-ताहे
17.	वहि-वहे-वहै आवहै	वहि	वहे-ईवहि-आवहै-वहि तास्वहे-सीवहि-स्यावहे-स्यावहि	वहे-ईवहि-आवहैव्-वहि-सीवहि-तास्वहे-स्यावहे-स्यावहि	वहे-ईवहि-आवहैप्-वहि-सीवहि-तास्वहे
18	महि-महे-महै -आमहै	महिङ्	महे-ईमहि-आमहै-महि-तास्महे-सीमहि-स्यामहे-स्यामहि	महे-ईमहि-आमहेव्-महि-सीमहि-तास्महे-स्यामहे-स्यामहि	महे-ईमहि आमहैप् महि-सीमहि-तास्महे

लकार

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	लट्	लट्	वर्तमाना	वर्तमाना	लट्
2.	लिट्	लिट्	परोक्षा	परोक्षा	लिट्

क्र०सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
3.	लुट्	लुट्	श्वस्तनी	श्वस्तनी	लुट्
4.	लृट्	लृट्	भविष्यन्ती	भविष्यन्ती	लृट्
5.	लोट्	लोट्	पंचमी	पंचमी	लोट्
6.	लङ्	लङ्	ह्यस्तमी	ह्यस्तनी	लङ्
7.	लिङ्	लिङ्	सप्तमी	सप्तमी	विधिलिङ्
8.	आशीर्लिङ्	आशीर्लिङ्	आशीः	आशीः	आशीर्लिङ्
9	लुङ्	लुङ्	अद्यतनी	अद्यतनी	लुङ्
10.	लृङ्	लृङ्	क्रियाति-पत्तिः	क्रियाति-पत्तिः	लृङ्

विकरण

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	अ	शप्-	अन्	शव्-श	अप्-अ
2.	उ	उ	उ	उ	उप्
3.	न	श्नम्	न	श्न	नम्
4.	ना	श्ना	ना	श्ना	ना
5.	नु	श्नु	नु	श्नु	नु
6.	य	श्यन्-यक्	यन्-यण्	श्य-क्य	य
7.	तास्-ता	तास्			
8.	यास्	यासुट्			
9.	सि-अ-स-इ-0	च्लि-सिच्-चङ्-अङ्-क्स-चिण्-0	सिच्-सण्-चण्-अण्-0	सिच्-सक्-ङ-अङ्-ञिच्-0	सि-ङ-सक्-अङ्-0
10.	सीय्	सीयुट्			
11.	स्य-इष्य	स्य			
12.	आम्	आम	आम्	आम्	आम
13.	आय	आय	आय	आय	आय
14.	इ	णिङ	इन्	णिङ	ञि

सार्थकतद्धितप्रत्यय

क्र०सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	अ	अण्-अञ्-ञ-ण-अ-णस्-अन्-डण्-ड-अच्-डट्	अण्-ड	अण्-ञ-अञ्-अ-ण-ट-डण्-डट्-ड-ड्वण्	अण्-अ-ड
2.	अक	वुन्.वुञ्.ड्वुन्-वुक्		अकञ्-अक-अकल्.डक	
3.	अठ	अठच्		ठ	
4.	अति	डति		डति	
5.	अम्			अम्	
6.	अय	अयच्			अयड्
7.	आट	आटच्		आट	आट
8.	आमह	डामहच्		डामहट्	
9.	आमिन्	आमिनच्		मिन्	
10.	आयन	ष्फक्-च्फञ्-फञ्-फक्-	आयनण्	आयनण्-आयनञ्-ञायन्य-टायनण्	आयनण्
11.	आयनि	फिञ्-फिन्		आयनिञ्-आयनि	
12.	आर	आरक्		णार	
13.	आरक	आरकन्		आरक	
14.	आल	आलच्		आल	आल
15.	आलु	चालू		आलु	लु
16.	आह	आहञ्		आहञ्	
17.	इ	इञ्	इण्	इञ्	इञ्
18	इक-क	ठक्-ठञ्-ठन्-ष्ठन्-टिठन्-ष्ठच्-जिठ-षिकन्-ठप्-ष्ठल्-इकन्	इकण्	इकण्-इक-इकट्-णिक-णिकट्	इक

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
19.	इत	इतच्		इत	इत
20.	इथ	डट्-इथुक्		इथट्	
21.	इन्	इनि-णिनि		लिन्-इन्-णिन्-डिन्	
22.	इन	इनच्		इनण्	इन
23.	इम	डिमच्-इमप्		इम	
24.	इमन्	इमनिच्		इमन्	डिमन्
25.	इय	घ-घन्-घच्		इय	इय
26.	इर			इर	
27.	इल	इलच्		इल	इल
28.	ईक	ईकन्-ईकक्		टीकण्	
29.	ईन	ख-खञ्		ईन-ईनञ्	ईन
30.	ईमस	ईमसस्		ईमस	
31.	ईय	छ-छण्-छस्	ईय	ईयण्-ईय-अकीय-ईयस्	णीय
32.	ईर	ईरन्-ईरच्		ईर	
33.	उक	उकञ्		उकञ्	
34.	उर	उरच्		डुर	उर
35.	उल	डुलच्		डुल	
36.	ऊल	ऊल		ऊल	
37.	एण्य	एण्य		एण्य	
38.	एत्य	एत्य		एत्य	
39.	एन्य	षेण्यण्		टेन्यण्	
40.	एय	ढक्-ढञ्	एयण्	एयण्-एयञ्-डेयण्	एयण्
41.	एयक	ढकञ्		एयकञ्	
42.	एयिन्	ढिनुक्			
43.	एर	एरक-ढ्रक्		एरण्-णेर	
44.	एलु	चेलु		एलु	

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
45.	क	क-कक्-कन्-ष्कन्		क-कण्-कल्-कच्	क
46.	कट	कटच्		कट	
47.	कट्य	कट्यच्		कट्यल्	
48.	कुटार	कुटारच्		कुटार	
49.	कुण	कुणप्		कुण	
50.	गोयुग	गोयुगच्		गोयुगच्	
51.	गोष्ठ	गोष्ठच्		गोष्ठ	
52.	ग्मिन्	ग्मिनि		ग्मिन्	ग्मिनि
53.	चण	चणप्		चण	
54.	चुंचु	चुंचुप्		चुंचु	
55.	जाह	जाहच्		जाह	
56.	टीट	टीटच्		टीट	
57.	त	त-तल्-तप्	त	तल्-त	त
58.	तन	ट्यु-ट्युल्		तनट्	तन
59.	तम	डट्-तमट्	तमट्	तमट्	तमट्
60.	तय	तयप्		तयट्	तय
61.	तस्	तसि		तसि	
62.	ति	ति		ति	
63.	तिथ्	डट्-तिथुक्		तिथट्	
64.	तीय	तीय	तीय	तीय	तीय
65.	तु	तु		तु	
66	तैल	तैलच्		तैल	
67.	त्न	त्नप्		त्न	
68.	त्य	त्यक्-त्यप्		त्यण्-त्यच्	त्य
69.	त्यक	त्यकन्		त्यकञ्	
70.	त्र	त्र		त्रल्	
71.	त्व	त्व	त्व	त्व	त्व
72.	थ	डट्-थुक्		थट्	थट्

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
73.	ध्य	ध्यन्		ध्यप्	
74.	दघ्न्	दघ्नच्		दघ्नट्	दघ्नट्
75.	दूस	दूस		दूस	
76.	द्वयस	द्वयसच्		द्वयसट्	द्वयसट्
77.	न	न-नञ्		न-नञ्	नण्
78.	ना	ना-नाञ्			
79.	नाट	नाटच्		नाट	
80.	पट	पटच्		पट	
81.	पिट	पिटच्		पिट	
82.	बिरीस	बिरीसच्		बिरीस	
83.	भ	भ		भ	
84	भक्त	भक्तल्		भक्त	
85.	भ्रट	भ्रटच्		भ्रट	
86.	म	म-मप्-(डट) मट्	म	म-मट्	म
87.	मत्	मतुप्-ड्मतुप्	मन्तु	मतु	मतु
88.	मय	मयट्		मयट्	मयट्
89.	मरीस	मरीसच्		मरीस	
90.	मात्र	मात्रच्		मात्रट्	मात्रट्
91.	मिन्	मिनि		मिन्	
92.	य	य-यप्-यस्-ड्य-ड्यत्-यत्-ण्य-ण्यङ्-ञ्य-यञ्-ड्यण्-ट्यण्-ष्यञ्-ण्यत्-यक्	ण्य-य-यत्-यण्	ञ्य-यञ्-य-ड्यण्-ल्य-ट्यण्-ण्य-यण्-यस्	ण्य-यण्
93.	यु	युस्		युस्	
94.	र	र-रण्		र	
95.	रूप्य	रूप्यप्		रूप्य	
96.	ल	ल-लच्-ष्लञ्		ल	

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
97.	व	व		व	
98.	वत्	वति-वतुप्	वति-वन्तु	वत्-अतु इयतु-कियतु- -डावतु	वत्-वतु
99.	वय	वय		वय	
100.	वल	वलच्-ड्वलच्		वलच्-वल	
101.	विड	विडच्		विड	
102,	विध	विधल्		विध	
103.	विन्	विनि	विन्	विन्	विनि
104.	व्य	व्यत्-व्यन्		व्य	
105.	श	श		श	
106.	शंकट	शंकटच्		शंकट	
107.	शाकट	शाकट		शाकट	
108.	शाकिन	शाकिन		शाकिन	
109.	शाल	शालच्		शाल	
110.	षड्गव	षड्गवच्		षड्गव	
111.	स	स		सल्	
112.	सोढ	सोढ		सोढ	
113.	स्न	स्नञ्		स्नञ्	स्नण्

नामधातु–प्रत्यय

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	०	क्विप्		क्विप्	क्विप्
2.	इ	णिङ-णिच्	इन्	णिङ-णिच्	ञि
3.	काम्य	काम्यच्	काम्य	काम्य	
4.	य	क्यङ-क्यच्- क्यष्	यिन्-आयि	क्यङ्-क्यन्	य-यङ्

तिङन्त–प्रत्यय

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	इ	णिङ-णिच्	इन्	णिङ्-णिच् णिग्	ञि
2.	य	यक्-यङ्	य	यक्-यङ्	यग्-यङ्
३.	स	सन्	सन्	सन्	स

तिङन्तान्त–तद्धितप्रत्यय

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	अक्	अकच्		अक्	
2.	कल्पम्	कल्पप्		कल्प	कल्प
3.	तमाम्	तमप्-आम्	तम्	तमप्-आम्	तम-आम्
4.	तराम्	तरप्-आम्		तरप्-आम्	तरप्-आम्
5.	देशीय	देशीयर्		देशीयर्	देशीय
6.	देश्यम्	देश्य		देश्यप्	देश्य
7.	रूपम्	रूपप्		रूपप्	रूप

विभक्तिसंज्ञक–प्रत्यय

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1,	०	च्वि		च्वि	च्वि
2.	अ	अत्	अत्	अ	
3.	अतस्	अतसुच्		अतस्	
4.	अधुना	अधुना	अधुना	अधुना	
5.	अस्	असि		अस्	
6.	अस्तात्	अस्ताति		अस्तात्	
7.	आ	आच्-डाच्		आ-डाच्	डाच्

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
8.	आत्	आति		आत्	
9.	आम्	आमु		आम्	आम्
10	आरि	आरि		आरि	
11.	आहि	आहि		आहि	
12.	उत्	उत्		उत्	
13.	एद्यवि	एद्यवि		एद्यवि	
14.	एद्युस्	एद्युस्		एद्युस्	
15.	एधा	एधाच्		एध	
16.	एन	एनप्		एन	
17.	कृत्वस्	कृत्वसुच्		कृत्वस्	कृत्वस्
18.	तस्	तसिल्-तसि	तस्	तसु-तस्	
19.	त्र	त्रल्	त्र	त्रप्	
20.	त्रा	त्रा		त्रा	
21.	थम्	थमु	थमु	थम्	
22.	था	थाल्	था	था	
23.	दा	दा	दा	दा	
24.	दानीम्	दानीम्	दानीम्	दानीम्	
25.	द्य	द्य	द्य	द्य	
26.	द्यस्	द्यस्	द्यस्	द्यस्	
27.	द्युस्	द्युस्		द्युस्	
28.	धम्	धमुञ्		धमुञ्	
29.	धा	धा		धा	धा
30.	ध्यम्	ध्यमुञ्		ध्यमुञ्	
31.	रि	रिल्		रि	
32.	रिष्टात्	रिष्टातिल्		रिष्टात्	
33.	र्हि	र्हिल्	र्हि	र्हि	
34.	शस्	शस्		शस्	शस्
35.	स्	सुच्		सुच्	सु
36.	सकृत्	सकृत्		सकृत्	

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
37.	समस्	समसण्		समस्	
38.	सात्	साति		स्सात्	
39.	ह	ह	ह	ह	

स्वार्थिक–प्रत्यय

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	अ	ञ-अण्-अन्		अण्-ञ-अल्	अण्
2.	अक	अकच्-वुन्-वुच्		अक्-अक	
3.	अड	अडच्		अड	
4.	अतम	डतमच्		डतम	डतम
5.	अतर	डतरच्		डतर	डतर
6.	आकिन्	आकिनिच्		आकिन्	
7.	इक	ठक्-ठच्		इक-इकण्	इक
8.	इफ	इफ		इफ	इफ
9.	इय	घन्		इय	इय
10.	इल	इलच्		इल	
11.	इष्ठ	इष्ठन्		इष्ठ	इष्ठ
12.	ईक	ईकक्		टीकण्	
13.	ईन	ख		ईन	ईन
14.	ईय	छ		ईय	णीय
15.	ईयस्	ईयसुन्		ईयसु	ईयसु
16.	उप	डुपच्		डुप	
17.	एय	ढञ्-ढ		एयच्	एयण्
18.	क	क-कन्		कप्-क	क
19.	कल्प	कल्पप्		कल्प	कल्प
20.	कार	कार		कार	कार
21.	चर	चरट्		प्चरट्	चरट्

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
22.	जातीय	जातीयर्		जातीयर्	
23.	तन	तनप्		तन	
24.	तम	तमप्		तमप्	तम
25.	तर	तरप्-ष्टरच्		तरप्-तरट्	तर
26.	त्न	त्नप्		त्न	
27.	देशीय	देशीयर्		देशीयर्	देशीय
28.	देश्य	देश्य		देश्यप्	देश्य
29.	न	न		न	
30.	पाश	पाशप्		पाशप्	पाश
31.	पिञ्ज	पिञ्ज		पिञ्ज	
32.	पेज	पेज		पेज	
33.	बहु	बहुच्		बहु	
34.	मय	मयट्		मयट्	मयट्
35.	य	य-ञ्य-यत्		य-ट्यण्-ञ्य	ण्य
36.	र	र		र	र
37.	रु			रु	
38.	रूप	रूपप्		रूपप्	रूप
39.	रूप्य	रूप्य		रूप्य	
40.	स	स		स	
41.	स्न	स्न		स्न	

अत्यन्त स्वार्थिक–प्रत्यय

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	अ	अण्-अञ्-ड		ण-अञ्-अण् धण्	अण्
2.	इक	ठक्		इकण्-इक	इक
3.	ईक	ईकक्		टीकण्	
4	ईन	ख		ईन	ईन

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
5.	ईय	छ		ईय	णीय
6.	एण्य	टेण्यण्		टेण्यण्	
7.	एय	ढञ्		एयण्	एयण्
8.	क	क-कन्		क-कप्	क
9.	त	तल्		तल्	त
10.	तिक	तिकन्		तिक	
11.	द्वयस	द्वयसच्		द्वयसट्	द्वयसट्
12.	धेय	धेय		धेय	
13.	य	ञ्य-यञ्-ष्यञ्-ञ्यट्		ञ्य-ञ्यट्-यञ्	ण्य

समासान्त–प्रत्यय

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	अ	अ-अच्-टच्-डच् ष-षच्-अप्		अत्-अ-अट्-ड-ट-अप्	ट-अ-ड
2.	अन्	अनङ्-अनिच्		न्-अन्	अन्
3.	अस्	असिच्		अस्	असुक्
4.	इ	इच्		इच्	
5.	क	कप्		कच्	क
6.	लोप(आदेश)	लोप(आदेश)		लोप(आदेश)	लोप(आदेश)
7.	इ (,,)	इत् (,,)		इत् (,,)	इत् (,,)
8.	कद् (,,)	कद् (,,)		कद् (,,)	कत्-का-कव(,,)
9.	ज्ञु (,,)	ज्ञु (,,)		ज्ञु-ज्ञ (,,)	
10.	दतृ (,,)	दतृ (,,)		दतृ (,,)	
11.	नि (,,)	निङ (,,)		जानि (,,)	
12.	हृत् (,,)	हृत् (,,)		हृत् (,,)	

स्त्री–प्रत्यय

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	आ	टाप्-डाप्-चाप्	आ	आप्	आप्
2.	ई	ङीप्-ङीष्-ङीन्	ई	ङी	ईप्
3.	ऊ	ऊङ		ऊङ	ऊ
4.	ति	ति		ति	ति
5.	अ	अञ्			
6.	आयन	ष्फ			
7.	य	ष्यङ		ष्य	

कृत्–प्रत्यय

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
1.	0	क्विप्- क्विन्-ण्वि- विट्-विच्	क्विप्-विण्- विच्-विट्	क्विप्-विण्- विच्	विण्-च्वि- क्विप्
2.	अ	अ-अच्- अण्-अप्- अङ्-क- कप्-कञ्- खच्-खश्- खल्-घ- घञ्-ट- टक्-ड-ण- णच्-श	अच्-क-ड- श-ण-अक्- अण्-टक्- ट-खश्-ख- घञ्-णच्- अल्-अङ्- घ-खल्-	अच्-क-ड- श-अण्-ण- टक्-अ-ट- ख-खश्- खट्-घञ्- अल्-अङ्- ञ-घ-खल्	क-अ-श- ण-ड-ट-ख खश्-अण्-टक् घञ्-खल्- अङ
3.	अक	ण्वुल्-ण्वुच् वुञ् ष्वुन्- वुञ्	वुण्-वुष्- अक-वुञ्	णक-अकट् अक अकन्- णकष्	वुण्

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
4.	अत्	शतृ-अतृच्	शन्तृङ्-अन्तृन्	शतृ-अतृ-अतृश्	शतृ
5.	अथु	अथुच्	अथु	अथु	अथु
6.	अन	ल्युट्-युच्-ल्यु-ण्युट्-ख्युन्	यु-ण्युट्-ख्युट्-युट्	अन-टनण्-खनट्-अनट्	यु-ख्युट्-युच्
7.	अनि	अनि		अनि	
8	अनीय	अनीयर्	अनीय	अनीय	अनीय
9.	अम्	णमुल्-खमुञ्	णम्-खमिञ्	णम्-खणम्	णम्
10.	अर	डर			
11.	आक	षाकन्	षाक	टाक	षाक
12.	आन	शानच्-कानच्-चानश्-शानन्	कान-आनश्-शानङ्	कान-आनश् शान	कान-शान
13.	आरु	आरु	आरु	आरु	आरु
14.	आलु	आलुच्	आलु	आलु	आलु
15.	इ	कि-इन्-क्विन्-इक्-इञ्-इण्	खि-इ-कि-इञ्	खि-इ-ङिकि इञ्-इक्	इ-खि-कि-इञ्-इक्
16.	इक	इक			
17.	इकबक	इकबक			
18.	इत्र	इत्र	इत्रन्	इत्र	
19.	इन्	इनि-णिनि-इनुण्-घिनुण्	णिन्-णिनि-इन-घिनिण् इनुण्	णिन्-इन् घिनण्-जिन्	णिनि
20.	इष्णु	इष्णुच्-खिष्णुच्	इष्णुच्-खिष्णु	इष्णु-खिष्णु	इष्णु
21.	उ	उ-डु	उ-डु	उ-डु	उ

क्र० सं	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
22.	उक	उकञ्-खुकञ्	उकञ्-खुकञ्	उकण्-खुकञ्	उकण्
23.	उर	कुरच्-घुरच्	कुर-घुर	घुर	कुरट्-घुर
24.	ऊ	ऊ			
25.	ऊक	ऊक	ऊक	ऊक	ऊक
26.	एलिम	केलिमर्		केलिम	केलिम
27.	त	क्त	क्त	क्त	क्त
28.	तवत्	क्तवतु	क्तवन्तु	क्तवतु	क्तवतु
29.	तव्य	तव्य-तव्यत्	तव्य	तव्य	तव्य
30.	ति	क्तिन्क्तिच्-श्तिप्	क्ति-तिक्	क्ति-तिक्-श्तिप्	क्ति-श्तिप्-नि
31.	तुम्	तुमुम्	तुम्	तुम्	तुम्
32.	तृ	तृच्-तृन्	तृच्-तृन्	तृच्-तृन्	तृ-तृन्
33.	त्र	ष्ट्रन्	ष्ट्रन्	त्रट्-त्र	त्र
34.	त्रि	क्त्रि	क्त्रिमक्	त्रिमक्	त्रिमक्
35.	त्वा	क्त्वा	क्त्वा	क्त्वा	क्त्वा
36.	थक	थकन्	थक	थक	थक
37.	न	नङ्-नन्	नङ्	नङ्-न	नट्
38.	नज्	नजिङ्	नजिङ	नजिङ्	
39.	नु	क्नु	क्नु	क्नु	क्नु
40.	मन्	मनिन्	मन्	मन्	मनिप्
41.	मर	क्मरच्	मरक्	मरक्	क्मर
42.	य	यत्-ण्यत्-क्यप्	य-घ्यण्-क्यप्	य-घ्यण-क्यप्	य-घ्यण्-क्यप्
43.	र	र	र	र	र-ड्रट्
44	रु	रु-क्रु	रु-रुक्	रु	क्रु
45.	रुक	क्रुकन्		रुक	क्रुक
46.	लु		लुक्		
47.	लुक	क्लुकन्		लुक्	

क्र० सं०	ग्रन्थीय	पाणिनीय	कातन्त्र	हैम	सारस्वत
48.	वन्	ङ्वनिप्-क्वनिप्-वनिप्	ङ्वनिप्-क्वनिप्-वनिप्	ङ्वनिप्-क्वनिप्-वन्	क्वनिप्-वनिप्
49.	वर	क्वरप्-वरच्	क्वरप्-वर	ट्वरप्-वर	क्वरप्-वर
50.	वस्	क्वसु	क्वन्सु	क्वसु	क्वसु
51.	स	क्स	सक्	सक्	सक्
52.	स्नु	ग्स्नु	स्नुक्-स्नु	स्नु-ष्णुक्	स्नु

—०—

परिशिष्ट (ख)

सहायक गणपाठ सूची

इस ग्रन्थ के तृतीय स्तबक के अन्तर्गत सार्थक तद्धितों की तालिका में तथा अन्य तालिकाओं या विवरणों में भी 'गण' शब्द अथवा 'आदि' शब्द के द्वारा जिन शब्द-समूहों का संकेत किया गया है, यहाँ उन्हें ही गणपाठ शब्द से अभिहित किया गया है। इस प्रकार के गणपाठीय शब्दों की सूची ग्रन्थ के सम्यक् अवबोधनार्थ आवश्यक होने से लघूपाय को दृष्टिगत करते हुए उसे वर्णक्रमानुसार नीचे निर्दिष्ट किया जा रहा है।

प्रकृत प्रसंग में दो तथ्य अवधेय हैं।प्रथम, कतिपय गणपाठों के अन्त में 'आकृतिगण' शब्द के उल्लेख से उस गण के सम्बन्ध में यह सूचना दी जाती है कि संदर्भित गण में पठित शब्दों के अतिरिक्त प्रामाणिक प्रयोग में उपलब्ध व गण में अपठित शब्द भी रूप विज्ञान की दृष्टि से यदि उस गण के शब्दों के समान हों तो उन्हें भी उस गण में पठित समझना चाहिए। दूसरा तथ्य यह है कि गणों में कुछ शब्दों का पाठ प्रक्रियाविशेष के अवबोधनार्थ केवल अनुबंधासंजन के लिए होता है। यथा—नद, चोर, देव इत्यादि शब्दों से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय के संयोग की सूचना देने के लिए इन शब्दों में 'ट्' का अनुबंधन कर इन्हें गण में 'नदट्, चोरट्, देवट्' इत्यादि रूपों से निर्दिष्ट किया जाता है। एवंच इनका गण में पाठ अनुबंधार्थ मात्र है। किंच गणों में कतिपय शब्दों का निर्देश तो केवल गण विस्तार के लिए होता है।[1] यथा—पचादि गण में 'वद, चल' इत्यादि शब्दों का पाठ

1—"केषांचित् प्रपंचार्थः"—सिद्धान्तकौमुदी पूर्वकृदन्त, सूत्र—२८९६

निष्फल है, क्योंकि वद्, चल् इत्यादि धातुओं से अच् प्रत्यय का संयोग 'आकृति गण' से ही सिद्ध है। इसके विपरीत गणविशेष में कुछ शब्दों का पाठ बाधक कार्य–विशेष के बाधन के लिए होता है। यथा— उपर्युक्त गण में ही 'कर्मणि-अण्' प्रत्यय के बाधनार्थ 'जार, भर, श्वपच' इत्यादि शब्दों का पाठ किया गया है।

इस प्रकार इनका अध्ययन करते समय उक्त सभी दृष्टिकोणों पर अवधान नितान्त अपेक्षित है। यदि गणपाठ भाषाज्ञान की पूर्णता में महान् सहायक होता है तो व्याकरण ग्रन्थ के अनपेक्षित विस्तार का प्रतिरोधक भी है। अतएव पाणिनि प्रभृति स्वतन्त्र व्याकरण-ग्रन्थ प्रणेता सभी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में गणपाठ की व्यवस्था समायोजित की है :

१—**अग्निपदादि :** अग्निपद पीलुपद (पीलुमूल) प्रवास उपवास। यह आकृतिगण है।

२—**अंगुल्यादि :** अंगुली भरुज बभ्रु वल्गु मण्डर मण्डल शष्कुली हरिकपि मुनि रुह खल उदश्वित् गोणी उरस् कुलिश।

३—**अजादि :** अजा एडका कोकिला चटका अश्वा मूषिका बाला होडा पाका वत्सा मंदा विलाता पूर्वापिहाणा (पूर्वापहाणा) अपरापहाणा क्रुंचा उष्णिहा देवविशा ज्येष्ठा कनिष्ठा मध्यमा अमूला दंष्ट्रा।

४—**अध्यात्मादि :** अध्यात्म अधिदेव अधिभूत इहलोक परलोक। यह आकृति गण है।

५—**अनुप्रवचनादि :** अनुप्रवचन उत्थापन उपस्थापन संवेशन प्रवेशन अनुप्रवेशन अनुवासन अनुवचन अनुवाचन अन्वारोहण प्रारम्भण आरम्भण आरोहण।

६—**अनुशतिकादि :** अनुशतिक अनुहोड अनुसंवरण (अनुसंचरण) अनुसंवत्सर अंगारवेणु असिहत्य (अस्यहत्य) अस्यहेति वध्योग पुष्करसद् अनुहरत् कुरुकत कुरुपंचाल उदकशुद्ध इहलोक परलोक सर्वलोक सर्व-पुरुष सर्वभूमि प्रयोग परस्त्री राजपौरुष्य सूत्रनड अभिगम अधिभूत अधिदेव चतुर्विद्या इत्यादि। यह आकृति गण है।

७—**अपूपादि :** अपूप तण्डुल अभ्युष (अभ्यूष) अभ्योष अवोष अभ्येष पृथुक ओदन सूप पूप किण्व प्रदीप मुसल कटक कर्णवेष्टक इर्गल अर्गल यूप स्थूणा दीप अश्व पत्र एवं अन्न के विकार वाची शब्द।

८—**अरीहणादि :** अरीहण (अहीरण) द्रुवण द्रुहण भलग (भगल) उलन्द किरण सांपरायर्ण क्रौष्ट्रायन (क्रौष्ट्रायण) औष्ट्रायण त्रैगर्तायन मैत्रायण भास्त्रायण वैमतायण (वैमतायन) गौमतायन सौमतायन सौसायन धौमतायन सौभायन ऐन्द्रायण कौद्रायण (कौन्द्रायण) हाडायन शाण्डिल्यायन रायस्पोष विपथ विपाश उद्दण्ड उदंचन खाण्डवीरण काशकृत्स्न (कशकृत्स्न) जाम्बवत् शिंशपा रैवत (रेवत) बिल्व सुयज्ञ शिरीष बधिर जम्बु खदिर सुशर्मन् (सशर्मन्) दलतृ भलन्दन खण्डु कलन (कनल) यज्ञदत्त।

९. **अर्श आदि :** अर्शस् उरस् तुन्द चतुर कलित जटा घटा घाटा अभ्र अघ कर्दम अम्ल लवण वर्ण तथा विकृत अंगवाची शब्द। यह आकृति गण है।

१०. **अश्मादि :** अश्मन् यूथ ऊष मीन मद दर्भ वृन्द गुद खण्ड नग शिखा कोट पाम कन्द कान्द कुल गह्वगुड कुण्डल पीन गुह।

११ **अश्वादि :** अश्व अश्मन् शंख शूद्रक विद पुट रोहिण खर्जूर (खजूर) (खंजार वस्त) पिजूर भडिल भंडिल भडित भंडित (प्रकृत रामोद) क्षान्त (काश तीक्ष्ण गोलांक अर्क स्वर स्फुट चक्र श्रविष्ठ) पविन्द पवित्र गोमिन् श्याम धूम धूम्र वाग्मिन् विश्वानर कुट शप आत्रेय जन जड खड ग्रीष्म अर्ह कित विशम्प विशाल गिरि चपल चुप दासक वैल्य (बैल्व) प्राच्य (धर्म्य) आनडुह्य पौंसायन अर्जुन (प्रहृत) सुमनस् दुर्मनस् मन (मनन प्रान्त) ध्वन भरद्वाज उत्स आतव कितव (वद धन्य पद) शिव खदिर।

१२. **आकर्षादि :** आकर्ष (आकष) त्सरु पिशाच पिचण्ड अशनि अश्मन् निचय जय चय विजय आचय नय पाद दीप ह्लद ह्लाद ह्लाद गद्गद शकुनि।

१३. **इन्द्रजननादि :** इन्द्रजनन विरुद्धभोजन इत्यादि। यह आकृतिगण है।

१४. **इष्टादि :** इष्ट पूर्त उपासादित निगदित परिगदित परिवादित निकवित निषादित निपठित संकलित परिकलित संरक्षित परिरक्षित अर्चित गणित अवकीर्ण आयुक्त गृहीत आम्नात श्रुत अधीत अवधान आसेवित अवधारित अवकल्पित निराकृत उपकृत उपाकृत अनुयुक्त अनुगणित अनुपठित व्याकुलित।

१५. **उक्थादि :** उक्थ लोकायत न्यास न्याय पुनरुक्त निरुक्त निमित्त द्विपदा ज्योतिष अनुपद अनुकल्प यज्ञ धर्म चर्चा क्रमेतर श्लक्ष (श्लक्ष्ण) संहिता पदक्रम संघट (संघट्ट) वृत्ति परिषद् संग्रह गण (गुण) आयुर्वेद आयुर्देव।

१६. **उत्करादि :** उत्कर संफल शफर पिप्पल पिप्पलीमूल अश्मन् सुवर्ण खलाजिन तिक कितव अणक त्रैवण पिचुक अश्वत्थ काश क्षुद्र भस्त्रा शाल जन्या अजिर चर्मन् उत्क्रोश क्षान्त खदिर शूर्पणाय श्यावनाय नैवाकव तृण वृक्ष शाक पलाश विजिगीषा अनेक आतप फलसंपर अर्क गर्त अग्नि वैराणका इडा अरण्य निशान्त पण नीचायक शंकर अवरोहित क्षार विशालवेत्र अरीहण खण्ड वातागार मंत्रणार्ह इन्द्रवृक्ष नितान्तवृक्ष (नितान्तावृक्ष) आर्द्रवृक्ष।

१७. **उत्सादि :** उत्स उदपान विकर विनद महानद महासन महानस महाप्राण तरुण तलुन वष्कयासे पृथवी (धेनु) पंक्ति जगती त्रिष्टुप् अनुष्टुप् जनपद भरत उशीनर ग्रीष्म पीलुकुण उदस्थान पृषदंश भल्लकीय रथन्तर मध्यंदिन बृहत् महत् सत्त्वत् कुरु पंचाल इन्द्रावसाना उष्णिह् ककुभ् सुवर्ण देव ग्रीष्म।

१८. **उद्गात्रादि :** उद्गातृ उन्नेतृ प्रतिहर्तृ प्रशास्तृ होतृ पोतृ रथगणक पत्तिगणक सुष्ठु दुष्ठु अध्वर्यु वधू सुभग मन्त्र।

१९. **उपकादि :** उपक लमक भ्राष्ट्रक कपिष्ठल कृष्णाजिन कृष्णसुन्दर चूडारक आडारक गडुक उदंक सुधायुक अबन्धक पिंगलक पिष्ट पिष्टक सुपिष्ट (सुपिष्ठ) मयूरकर्ण खरीजंघ शलाथल पतंजल

पदंजल कठेरणि कुषीतक कशकृत्स्न (काशकृत्स्न) निदाघ कलशीकंठ दामकण्ठ दायकण्ठ कृष्णपिंगल कर्णक पर्णक जटिरक वधिरक जन्तुक अनुलोम अनुपद प्रतिलोम अपजग्ध प्रतान अनभिहित कमक वराटक लेखाभ्र कमन्दक पिंजूलक वर्णक मसूरकर्ण मदाघ कवन्तक कमन्तक कदामत्त।

२०. **ऋगयनादि :** ऋगयन पदव्याख्यान छन्दोमान छन्दोभाषा छन्दोविचिति न्याय पुनरुक्त निरुक्त व्याकरण निगम वास्तुविद्या क्षात्रविद्या अंगविद्या विद्या उत्पात उत्पाद उद्याव संवत्सर मुहूर्त उपनिषद् निमित्त शिक्षा भिक्षा।

२१. **ऋश्यादि :** ऋश्य (ऋष्य हृष्य) न्यग्रोध शर निलीन (निवास निवात) निधान निबन्धन (निवन्ध विबद्ध) परिगूढ (उपगूढ) असनी सित मत् वेश्मन् उत्तराश्मन् अश्मन् स्थूल वाहु खदिर शर्करा अनडुह (अनडुह्) अरडु परिवंश वेणु वीरण खण्ड दण्ड परिवृत्त कर्दम अंशु।

२२. **ऐषुकार्यादि :** ऐषुकारि सारस्यायन (सारसायन) चान्द्रायण द्व्याक्षायण त्र्याक्षायण औडायन जौलायन खाडायन दासामित्रि दासमित्रायण शौद्रायण दाक्षायण शापण्डायन (सायण्डायन) ताक्ष्यायण सौभ्रायण सौवीर (सौवीरायण) शपण्ड (शयण्ड) शौण्ड शयाण्डि (शयाण्ड) वैश्वमानव वैश्वध्येनव (वैश्वधेनव) नड तुण्डदेव विश्वदेव (शापिण्डि)।

२३. **कच्छादि :** कच्छ सिन्धु वर्णु गन्धार मधुमत् कम्बोज कश्मीर शाल्व कुरु अनुशण्ड द्वीप अनूप अजवाह विजापक कलूतर रंकु।

२४. **कण्वादि :** गर्गादि गण में पठित कण्व शब्द से लेकर आगे जो शब्द उल्लिखित हैं, उन्हें कण्वादि कहते हैं।

२५. **कत्त्र्यादि :** कत्त्रि कुम्भि उम्भि पुष्कर पुष्कल मोदन कुम्भी कुण्डिन नगरी माहिष्मती वर्मती उख्या ग्राम कौडेयक।

२६. **कथादि :** कथा विकथा विश्वकथा संकथा वितण्डा कुष्टविद् (कुष्ठविद्) जनवाद जनेवाद जनोवाद वृत्ति संग्रह गुणगण आयुर्वेद।

२७. **कर्णादि** : कर्ण वसिष्ठ अर्क अर्कलूष द्रुपद आनडुह्य पांचजन्य स्फिग (स्फिज्) कुम्भी कुन्ती जित्वन् जीवन्त कुलिश आण्डीवत् (आण्डीवत) जव जैत्र आकन (आनक)।

२८. **कर्णादि** : (इनसे जाह प्रत्यय होता है) कर्ण अक्षि नख मुख केश पाद गुल्फ भ्रू शृग दन्त ओष्ठ पृष्ठ।

२९. **कल्याण्यादि** : कल्याणी सुभगा दुर्भगा बन्धकी अनुदृष्टि अनुसृति (अनुसृष्टि) जरती बलीवर्दी ज्येष्ठा कनिष्ठा मध्यमा परस्त्री।

३०. **काशादि** : काश पाश अश्वत्थ पलाश पीयूक्षा चरण वास नड वन कर्दम कच्छूल कंकट कत्तक गुह बिस तृण कर्पूर बर्बर मधुर ग्रह कपित्थ जतु सीपाल इति।

३१. **काश्यादि** : काशि चेदि (वेदि) सांयाति संवाह अच्युत मोदमान शकुलाद हस्तिकर्षू कुनामन् हिरण्याकरण गोवासन भारंगी अरिन्दम अरित्र देवदत्त दशग्राम शौवावतान युवराज उपराज देवराज मोदन सिन्धुमित्र दासमित्र सुधामित्र सोममित्र छागमित्र साधमित्र (सधमित्र) एवं आपद् उर्ध्व अथवा तत्पूर्वक कालान्त शब्द।

३२. **किसरादि** : किसर नरद नलद स्थागल तगर गुग्गुलु उशीर हरिद्रा पर्गी (पर्णी)।

३३. **कुंजादि** : कुंज ब्रध्न शंख भस्मन् गण लोमन् शठ शाक शुण्डा शुभ विपाश् स्कन्द स्कम्भ।

३४. **कुटादि (धातु)** : कुट पुट कुच गुज गुड डिप छुर स्फुट मुट त्रुट तुट चुट छुट जुड कड लुट कृड कुड पुड भुट तुड थुड स्थुड खुड छुड स्फुर स्फुल स्फर स्फुड चुड वृड क्रुड भृड गुरी णू धू गु ध्रुव कुङ एवं मतान्तर से लिख।

३५. **कुमुदादि** : कुमुद गोमथ रथकार दशग्राम अश्वत्थ शाल्मलि (शिरीष) मुनिस्थल कुण्डल कूट मधुकर्ण घासकुन्द सूचिकर्ण।

३६. **कुम्भपद्यादि** : कुम्भपदी एकपदी जालपदी शूलपदी मुनिपदी गुणपदी शतपदी सूतपदी गोधापदी कलशीपदी विपदी तृणपदी द्विपदी

त्रिपदी षट्पदी दासीपदी शितिपदी विष्णुपदी सुपदी निष्पदी आर्द्रपदी कुणिपदी कृष्णपदी शुचिपदी द्रोणीपदी (द्रोणपदी) द्रुपदी सूकरपदी शकृत्पदी अष्टापदी स्थूणापदी अपदी सूचीपदी ।

३७. **कुर्वादि** : कुरु गर्गर मंगुष अजमार रथकार वावदूक सम्राज कवि मति (विमति) कापिजलादि वाक् वामरथ पितृमत् इन्द्रजाली ऐजि वातकि दामोष्णीषि गणकारि कैशोरि कुट शालाका (शलाका) मुर पुर एरका शुभ्र अभ्र दर्भ केशिनी वेन शूर्पणाय श्यावनाय श्यावरथ श्यावपुत्र सत्यंकार वडभीकार पथिकार मूढ शकन्धु शकु शाक शालिन शालीन कर्तृ हर्तृ इन पिण्डि तक्षन् वामरथ ।

३८—**कुलालादि** : कुलाल वरुड चाण्डाल निषाद कर्मार सेना सिरिन्ध्र (सिरिध्रि) सैरिन्ध्र देवराज पर्षत् (परिषत्) वधू मधु रुरु रुद्र अनडुह् ब्रह्मन् कुम्भकार श्वपाक ।

३९—**कृशाश्वादि** : कृशाश्व अरिष्ट अरिश्म वेश्मन् विशाल लोमश रोमश लोमक रोमक शबल कूट वर्चल सुवर्चल सुकर सूकर प्रातर (प्रतर) सदृश पुरग पुराग सुख धूम अजिन विनत अवनत कुविद्यास (कुविट्यास) पराशर अरुस् अयस् मौद्गल्याकर (मौद्गल्य युकर) ।

४०—**कृष्यादि** : भ्वादि गण में पठित 'कृष विलेखने' से लेकर गण समाप्ति तक के धातु कृष्यादि से गृहीत होते हैं ।

४१—**क्रोडादि** : कल्याणक्रोडा सुजघना इत्यादि । यह आकृति गण है ।

४२—**क्रौड्यादि** : क्रौडि लाडि व्याडि आपिशलि अपक्षिति चौटयत चैपयत (वैटयत) सैकयत बैल्वयत सौधातकि सूत भोज यौतकि कौटि भौरिकि भौलिकि (शाल्मलि) शालास्थलि कापिष्ठलि गौकक्ष्य ।

४३—**खण्डिकादि** : खण्डिका वडवा क्षुद्रकडालव क्षुद्रकमालव भिक्षुक शुक उलूक श्वन् अहन् युगवरत्रा (युगवरत्र) हलबन्धा (हलबन्ध) ।

४४—**खलादि** : खल डाक कुटुम्ब शाक कुण्डलिनी। यह आकृति गण है।

४५—**गर्गादि** : गर्ग वत्स वाजासे संकृति अज व्याघ्रपात् विदभृत् प्राचीनयोग (अगस्ति) पुलस्ति चमस रेभ अग्निवेश शंख षट शक एक धूम अवट मनस् धनंजय वृक्ष विश्वासु जरमाण लोहित शंसित बभ्रु वल्गु मण्डु गण्डु शंकु लिगु गुहलु मंतु मंक्षु अलिगु जिगीषु मनु तन्तु मनायीसूनु कथक कन्थक ऋक्ष तृक्ष (वृक्ष तनु) तरुक्ष तलुक्ष तण्ड वतण्ड कपिकत (कपि कत) कुरुकत अनडुह कण्व शकल गोकक्ष अगस्त्य कण्डिनी यज्ञवल्क पर्णवल्क अभयजात विरोहित वृषगण रहूगण शंडिक कर्णक (चंटक) चुलुक मुद्गल मुसल जमदग्नि पराशर जतूकर्ण (जातूकर्ण) महित मंत्रित अश्मरथ शर्कराक्ष पूतिमाष स्थूरा अदरक (अररक) एलाक लिंगल पिंगल कृष्ण गोलंद उजूक तितिक्ष भिषज (भिषज् भिष्णज्) भडित भंडित दल्भ चेकित चिकित्सित देवहू इन्द्रहू एकलु पिप्पलु बृहदग्नि (सुलोहिन्) सुलाभिन् उकत्थ कुटीगु।

४६—**गहादि**: गह अंतस्थ सम विषम मध्य मध्यंदिन उत्तम अंग वंग मगध पूर्वपक्ष अपरपक्ष अधमशाख उत्तमशाख एकशाख समानशाख समानग्राम एकग्राम एकवृक्ष एकपलाश इष्वग्र इष्वनीक अवस्यन्दन कामप्रस्थ शाडिकाडायनि (खाडायन) काठेरणि लावेरणि सौमित्रि शैशिरि आसुत दैवशर्मि श्रौति आहिंसि आमित्रि व्याडि वैजि आध्यश्वि आनृशसि (आनृशंसि) शौंगि आग्निशर्मि भौजि वाराटकि वाल्मिकि (वाल्मीकि) क्षेमवृद्धि आश्वत्थि औद्गाहमानि ऐकविन्दवि दन्ताग्र हंस तत्वग्र (तंत्वग्र) उत्तर अन्तर (अनन्तर) मुख पार्श्व जनकीय परकीय देवकीय वैणुकीय। यह आकृति गण है।

४७—**गुडादि** : गुड कुल्माष सक्तु अपूप मांसौदन इक्षु वेणु संग्राम संघात संक्राम संवाह प्रवास निवास उपवास।

४८—**गृष्ट्यादि** : गृष्टि हृष्टि बलि हलि विश्रि कुद्रि अजबस्ति मित्रयु।

४६—गोषदादि : गोषद इषेत्वा मातरिश्वन् देवस्यत्वा देवीरापः कृष्णोऽस्याखरेष्ठः देवीधिया(देवींधियं) रक्षोहण युंजान अंजन प्रसूत प्रतूर्त प्रभूत कृशानु (कृशाकु)।

५०—गौरादि : गौर मत्स्य मनुष्य श्रृंग पिंगल हय गवय मुकय ऋष्य (पुट तूण) द्रुण द्रोण हरिण कोकण (काकण) पटर उणक (आमल) आमलक कुवल विम्ब बदर फर्करक (कर्करक) तर्कार शर्कार पुष्कर शिखण्ड सदल शष्कण्ड सनन्द सुषम सुषव अलिन्द गडुल षाण्डश आढक आनन्द आश्वत्थ सृपाट आखक (पापच्चिक) शष्कुल सूर्य (सूर्म) शूर्प सूप यूष (पूष) यूथ मेथ वल्लक घातक सल्लक माल्लक मालत साल्वक वेतस वृक्ष (वृस) अतस (उभय) भृंग मह मठ छेद पेश मेद श्वन् तक्षन् अनडुही अनड्वाही एषण देह देहल काकादन गवादन तेजन रजन लवण आद्गाहमानि औद्गाहमानि गौतम (गोतम पारक अयःस्थूण) अयस्थूण भौरिकि भौलिकि भौलिगि यान मेघ आलम्बि आलजि आलब्धि आलक्षि केवाल आपक आरट नट टोट नोट मूलाट शातन (पोतन पानठ) पातन पाठन आस्तरण अधिकरण अधिकार अग्रहायणी (आग्रहायणी) प्रत्यवरोहिणी (सेचन) सुमंगल अण्डर सुन्दर मण्डल मन्थर मंगल पट पिंड (षण्ड) उर्द गुर्द शम सूद औड (आर्द्र ह्रद) हृद पाण्ड (भाण्डल लोहाण्ड) भाण्ड कदर कन्दर कदल तरुण तलुन कल्माष बृहत् महत् (सोम) सौधर्म रोहिणी रेवती विकल निष्कल पुष्कल कट पिप्पली हरितकी (हरीतकी) कोशातकी शमी चरी शरी पृथिवी क्रोष्टु मातामह पितामह।

५१—ग्रहादि (धातु) :

ग्रहिज्यावियी व्यधिर्वेष्टि विचतिर्वृश्चतिस्तथा।
पृच्छतिर्मृज्जतिश्चैव नवैते तु ग्रहादयः॥

५२—ग्रह्यादि : ग्राही उत्साही उद्दासी उद्भासी स्थायी मन्त्री संमर्दी निरक्षी निश्रावी निवापी निशायी अचायी अव्याहारी असंव्याहारी अव्राजी अवादी अवासी अचामी अकारी अहारी अविनायी (विशायी विषायी) विशयी विषयी अभिभावी अपराधी उपरोधी परिभवी परिभावी।

५३—**चतुर्वर्णादि** : चतुर्वर्ण चतुराश्रम विस्वर षड्गुण सेना सन्निधि समीप उपमा त्रिलोक सर्ववेद चतुर्वेद इत्यादि। यह आकृतिगण है।

५४—**चूडादि** : चूडा चूला श्रद्धा इत्यादि।

५५—**छत्रादि** : छत्र शिक्षा प्ररोहस्था बुभुक्षा चूरा तितिक्षा उपस्थान कृषि कर्मन् विश्वधा तपस् सत्य अनृत विशिखा विशिका भक्षा उदस्थान पुरोडा विक्षा चुक्षा मन्द्र।

५६—**ज्योत्स्नादि** : ज्योत्स्ना तमिस्रा कुण्डल कुतप विसर्प विपादिका।

५७—**तनादि**–(धातु) :

रमिर्यमिनमो हन्तिरनुदात्ता गमिर्मनिः।
तनुः क्षण् क्षिण् ऋणुकृणू वनुर्वमुस्तनादयः॥

५८—**तारकादि** : तारका पुष्प कर्णक मंजरी ऋजीष क्षण सूत्र मूत्र निष्क्रमण पुरीष उच्चार प्रचार विचार कुड्मल कण्टक मुसल मुकुल कुसुम कुतूहल स्तबक (स्तवक) किसलय पल्लव खण्ड वेग निद्रा मुद्रा बुभुक्षा धेनुष्या पिपासा श्रद्धा अभ्र पुलक अंगारक वर्णक द्रोह दोह सख दुःख उत्कण्ठा भर व्याधि वर्मन् व्रण गौरव शास्त्र तरंग तिलक चन्द्रक अंधकार गर्व कुमुर (मुकुर) हर्ष उत्कर्ष रण कुवलय गर्ध क्षुध् सीमन्त ज्वर गर रोग रोमांच पण्डा कज्जल तृष् कोरक कल्लोल स्थपुट फल कंचुक शृंगार अंकुर शैवल बकुल श्वभ्र आराल (अराल) कलंक कर्दम कंदल मूर्च्छा अंगार हस्तक प्रतिबिम्ब विघ्नतंत्र प्रत्यय दीक्षा गर्ज गर्भ इत्यादि। यह आकृतिगण है।

५९—**तालादि** : ताल बार्हिण इन्द्रालिश इन्द्रादृश इन्द्रायुध इन्द्राशिष चय श्यामाक पीयूक्षा।

६०—**तिककितवादि** : तिककितवाः वङ्खरभण्डीरथाः उपकलमकाः पफकनरकाः बक-नखगुदपरिणद्धाः उब्जककुभाः लंकशान्तमुखाः उत्तर-

शलंकटाः कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः भ्रष्टककपिष्ठलाः अग्निवेशदशेरुकाः।

६१—**तिकादि** : तिक कितव संज्ञाबालशिख (संज्ञा बाल शिखा) उरस् शाठ्य सैंधव यमुंद रूप्य ग्राम्य नील अमित्र गोकक्ष (गौकक्ष्य) कुरु देवरथ तैतल औरस कौरव्य भौरिक भौलिकि चौपयत चैटयत शीकयत क्षैतयत वाजवत् चन्द्रमस् शुभ गंगा वरेण्य सुपामन् आरब्ध वाह्यक स्वल्पक वृष लोमक उदन्य यज्ञ।

६२—**तुंदादि** : तुंद उदर पिचण्ड यव व्रीहि स्वांग।

६३—**तृणादि** : तृण नड मूल वन पर्ण वर्ण वराण बिल पुल फल अर्जुन अर्ण सुवर्ण बल चरण बुस।

६४—**दण्डादि** : दण्ड मुसल मधुपर्क कशा अर्घ मेघ मेधा सुवर्ण उदक वध युग गुहा भाग इभ भंग।

६५—**दामन्यादि** : दामनि औलपि वैजवापि औदकि औदंकि अच्युतन्ति (आच्युतन्ति आच्युतदन्ति) अच्युतदन्ति शाकुन्तकि आकिदन्ति (आक्तिदन्ति) औडवि काकदन्तकि शात्रुन्तपि सार्वसेनि बिन्दु बैन्दवि तुलभ मौंजायन काकन्दि सावित्रीपुत्र।

६६—**दिगादि** : दिश् वर्ग पूग गण पक्ष धाय्य मित्र मेधा अन्तर पथिन् रहस् अलीक उखा साक्षिन् देश आदि अन्त मुख जघन मेघ यूथ उदक ज्ञाय (न्याय) वंश वेश काल आकाश।

६७—**दृढादि** : दृढ वृढ परिवृढ भृश कृश वक्र शुक्र चुक्र आम्र कृष्ट लवण ताम्र शीत उष्ण जड बधिर पण्डित मधुर मूर्ख मूक स्थिर जवन सम्मति सम्मनस् वियात विलात विमति विमनस् विशारद्।

६८—**देवपथादि** : देवपथ हंसपथ वारिपथ रथपथ स्थलपथ करिपथ अजपथ राजपथ शतपथ शंकुपथ सिंधुपथ सिद्धगति उष्ट्रग्रीव वामरज्जु हस्त इन्द्र दण्ड पुष्प मत्स्य इत्यादि। यह आकृति गण है।

६९—**देवासुरादि** : देवासुर रक्षोऽसुर इत्यादि। यह आकृतिगण है।

७०—**धूमादि** : धूम षडण्ड शशादन अर्जुनाव माहकस्थली आनकस्थली माहिषस्थली मानस्थली अद्रिस्थली मद्रुकस्थली समुद्र-स्थली दाण्डायनस्थली राजस्थली विदेह राजगृह सात्रासाह शष्प मित्रवर्ध्र (मित्रवर्ध) भक्षाली मद्रकूल आजीकूल द्व्यहव (द्व्यहाव त्र्याहव) त्र्यहव संस्फाय वर्बर वर्ज्य गर्त आनर्त माठर पाथेय घोष पल्ली आराज्ञो धार्तराज्ञी आवय तीर्थ कूल समुद्र कुक्षि अन्तरीप द्वीप अरुण उज्जयनी पट्टार दक्षिणापथ साकेत ।

७१—**नडादि** : नड चर (वर) बक मुंज इतिक इतिश उपक (एक) लमक शलंकु शलंक कलंक सप्तल वाजप्य तिक अग्निशर्मन् प्राण नर सायक दास मित्र द्वीप पिंगर पिंगल किंकर किंकल कातर कातल काश्यप (कुश्यप) काश्य काल्य काव्य अज अमुष्य (अमुष्म) कृष्ण रण अमित्र लिगु चित्रि कुमार क्रोष्टु क्रोष्ट लोह दुर्ग स्तम्भ शिंशपा अग्र तृण शकट सुमनस् सुमत मिमत ऋच् जलंधर अध्वर युगन्धर हंसक दण्डिन् हस्तिन् (पिण्ड) पंचाल चमसिन् सुकृत्य स्थिरक ब्राह्मण चटक बदर अश्वल खरप लंक इन्ध अस्त्र कामुक ब्रह्मदत्त उदम्बर शोण अलोह दण्डप ।

७२—**नडादि** : (क् आगम)—नड प्लक्ष बिल्व वेणु वेत्र वेतस इक्षु काष्ठ कपोत तृण क्रुंचा तक्षन् ।

७३—**नद्यादि** : नदी मही वाराणसी श्रावस्ती कौशाम्बी वन-कौशाम्बी (वनकोशाम्बी) काशपरी काशफारी (काशफरी) खादिरी पूर्वनगरी पाठा माया शाल्वा दार्वा सेतकी वडवा ।

७४—**नन्द्यादि** : नन्दन वाशन मदन दूषण साधन वर्धन शोभन रोचन सहन तपन दमन जल्पन रमण दर्पण संक्रन्दन संकर्षण सहर्षण जनार्दन यवन मधुसूदन विभीषण लवण चित्तविनाशन कुलदमन शत्रु-दमन ।

७५—**नवयज्ञादि** : नवयज्ञ पाकयज्ञ इत्यादि ।

७६—**निष्कादि** : निष्क पण पाद् माष वाह द्रोण षष्टि ।

७७—**पक्षादि** : पक्ष तुक्ष तुष कुण्ड अण्ड कम्बलिका वलिक चित्र अस्ति सुपथिन् पंथ कुम्भ सीरक सरक सकल समल सरस अतिश्वन् रोमन् लोमन् हस्तिन् मकर लोमक शीर्ष निवात पाक सहक (सिंहक) अंकुश सुवर्णक हंसक हिंसक कुत्स बिल खिल यमल हस्त कला सकर्णक।

७८—**पचादि** : पच वच वप वद चल पत नटट् भषट् प्लवट् चरट् गरट् तरट् चोरट् गाहट् सरट् देवट् (दोषट्) जर (रज मद क्षप कोष दम्भ दर्प) मर क्षम सेव मेष कोप मेध नर्त व्रण दर्श सर्प जारभर श्वपच। यह आकृतिगण है।

७९—**परदारादि** : परदार गुरुतल्प इत्यादि।

८०—**परिमुखादि** : परिमुख परिहनु पर्योष्ठ पर्युलूखल परिसीर उपसीर उपस्थूण उपकलाप अनुपथ अनुपद अनुगंग अनुतिल अनुसीत अनुसाय अनुसीर अनुमाष अनुयव अनुयूप अनुवंश प्रतिशाख।

८१—**पर्पादि** : पर्प अश्व अश्वत्थ रथ जाल न्यास व्याल पद्।

८२—**पर्श्वादि** : पर्शु असुर रक्षस् बाह्लीक वयस् वसु मरुत् सत्वत् दशार्ह पिशाच अशनि कार्षापण।

८३—**पलद्यादि** : पलदी परिषद् रोमक वाहीक कलकीट बहुकीट जालकीट कमलकीट कमलकीकर कमलभिदा गौष्ठी नैकती परिखा शूरसेन गोमती पटच्चर उदपान यकृल्लोम।

८४—**पलाशादि** : पलाश खदिर शिंशपा स्पन्दन पूलाक करीर शिरीष यवास विकंकत।

८५—**पामादि** : पामन् वामन् वेमन् हेमन् श्लेष्मन् कद्रु (कद्रू) वलि सामन् ऊष्मन् कृमि अंग शाकि पलालि दद्रु विषु लक्ष्म।

८६—**पिच्छादि** : पिच्छा उरस् ध्रुवक ध्रुवक जटा घटा काल वर्ण उदक पंक प्रज्ञा।

८७—**पीलवादि** : पीलु कर्कन्धू (कर्कन्धु) शमी करीर वल (कुबल) वदर अश्वत्थ खदिर ।

८८—**पुरोहितादि** : पुरोहित राजासे ग्रामिक पिण्डिक सुहित वालमन्द (बाल मन्द) खण्डिक दण्डिक वर्मिक कर्मिक धर्मिक शीलिक सूतिक शितिक मूलिक तिलक अंजलिक (अन्तलिक) रूपिक ऋषिक पुत्रिक अविक छत्रिक वर्षिक पथिक चर्मिक प्रतिक सारथि आस्थिक सूचिक संरक्ष सूचक (संरक्षसूचक) नास्तिक अजानिक शाक्वर नागर चूडिक ।

८९—**पुष्करादि** : पुष्कर पद्म उत्पल तमाल कुमुद नड कपित्थ बिस मृणाल कर्दम शालूक विगर्ह करीष शिरीष यवास (प्रवास) प्रवाह हिरण्य कैरव कल्लोल तट तरंग पंकज सरोज राजीव नालीक सरोरुह पुटक अरविन्द अम्भोज अब्ज कमल पयस् ।

९०—**पृथ्वादि** : पृथु मृदु महत् पटु तनु लघु बहु साधु आशु उरु गुरु बहुल खण्ड दण्ड चण्ड अकिंचन बाल होड पाक वत्स मन्द स्वादु ह्रस्व दीर्घ प्रिय वृष ऋजु क्षिप्र क्षुद्र अणु ।

९१—**पैंगाक्षीपुत्रादि** : पैंगाक्षीपुत्र तार्णबिन्दु इत्यादि ।

९२—**पैलादि** : पैल शालंकि सात्यकि सात्यकामि राहवि रावणि औदंचि औदव्रजि औदमेधि औदव्यज्रि (औदमज्जि औदभृज्जि) दैव-स्थानी पैंगलौदायनि राहक्षति भौलिंगि राणि औदन्यि औद्‌गाहमानि औज्जिहानि औदशुद्धि । यह आकृति गण है ।

९३—**प्रगद्यादि** : प्रगदिन् मगदिन् मददिन् कविल खण्डित गदित चूडार मडार मन्दार कोविदार ।

९४—**प्रज्ञादि** : प्रज्ञ वणिज् उशिज् उष्णिज् प्रत्यक्ष विद्वस् विदन् वेदन् षोडन् विद्या मनस् श्रोत्र जुह्वत् कृष्ण चिकीर्षत् चोर शत्रु योध चक्षुस् वसु (एनस्) मरुत् क्रुंच सत्वत् दशार्ह वयस् (व्याकृत) असुर रक्षस् पिशाच अशनि कार्षापण देवता बन्धु ।

९५—**प्रभूतादि** : प्रभूत पर्याप्त इत्यादि ।

९६—**प्राणिरजतादि** : रजत सीस लोह उदुम्बर नीप दारु रोहीतक बिभीतक पीतदारु तीव्रदारु त्रिकण्टक कण्टकार।

९७—**प्रेक्षादि** : प्रेक्षा फलका (हलका) बन्धुका ध्रुवका क्षिपका न्यग्रोध इक्कट कंकट संकट कट कूप बुक पुक पुट मह परिवाप यवाष धुवका गर्त कूपक हिरण्य।

९८—**प्रोष्ठपदादि** : प्रोष्ठपद भाद्रपद इत्यादि पर्यायवाची शब्द।

९९—**प्लक्षादि** : प्लक्ष न्यग्रोध अश्वत्थ इंगुदी शिग्रु रुरु कक्षतु बृहती।

१००—**बलादि** : बल उत्साह उद्भास उद्वास उद्दास शिखा कूल कुल चूडा सुल आयाम व्यायाम उपयाम आरोह अवरोह परिणाह युद्ध।

१०१—**बह्वादि** : बहु पद्धति अंचति अंकति अंहति शकटि शकति शक्ति शारि वारि राति राभि राधि शाधि अहि कपि यष्टि मुनि चण्ड अराल कृपण कमल विकट विशाल विशंकट भरुज ध्वज चन्द्रभाग कल्याण उदार पुराण अहन् क्रोड नख खुर शिखा बाल शफ गुद भग गल राग इत्यादि। यह आकृति गण है।

१०२—**ब्राह्मणादि** : ब्राह्मण वाडव माणव आर्हन्त्य चोर धूर्त आराधय विराधय अपराधय उपराधय एकभाव द्विभाव त्रिभाव अन्यभाव अक्षेत्रज्ञ संवादिन् संवेशिन् संभाषिन् बहुभाषिन् शीर्षघातिन् विघातिन् समस्थ विषमस्थ परमस्थ मध्यस्थ अनिश्वर कुशल चपल निपुण पिशुन कुतूहल क्षेत्रज्ञ निश्न वालिश अलस दुःपुरुष कापुरुष राजन् गणपति अधिपति गडुल दायाद विशस्ति विषम निपात विपात सर्ववेद चतुर्वेद्य शौटीर इत्यादि। यह आकृति गण है।

१०३—**बाह्वादि** : बाहु उपबाहु उपवाकु निवाकु शिवाकु वटाकु उपनिन्दु उपविन्दु वृषली वृकला चूडा बलाका मूषिका कुशला भगला छगला ध्रुवका धुवका सुमित्रा दुर्मित्रा पुष्करसद् अनुहरत् देवशर्मन् अग्निशर्मन् भद्रशर्मन् सुशर्मन् कुनामन् सुनामन् पंचन् सप्तन् अष्टन् आमितौजि सुधावत् उदंचु शिरस् माष शराविन् मरीचि क्षेमवृद्धिन्

शृंखलतोदिन् खरनादिन् नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् अजीगर्त कृष्ण युधिष्ठिर अर्जुन सांब गद प्रद्युम्न राम उदंक उदक संभूयोम्भ सात्त्वकि जांघि ऐन्दशर्मि आजधेनवि इत्यादि। यह आकृति-गण है।

१०४—बिदादि : (विदादि) : विद (विद) उर्व कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात कन्दर्प किदर्भ विश्वानर ऋषिषेण ऋष्टिषेण ऋतभाग हर्यश्व प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्वत् शुनक शुनक् धेनु गोपवन शिग्रु बिन्दु भोगक भाजन शमिक अश्वावतान श्यामाक श्यामक श्यावलि श्यापर्ण हरित किंदास बह्यस्क अर्कजूष अर्कलूष वध्योग विष्णुवृद्ध प्रतिबोध रचित रथीतर रथंतर गविष्ठिर निषाद शबर अलस मठर मृडाकु सृपाकु मृदु पुनर्भू पुत्र दुहितृ ननान्दृ परस्त्री परशु।

१०५—बिल्वकादि : बिल्वक वेणु वेत्र वेतस् तृण इक्षु काष्ठ कपोत क्रुंचा तक्षन्। 'क्' आगम से युक्त नडादि बिल्वकादि कहे जाते हैं।

१०६—बिल्वादि : बिल्व व्रीहि काण्ड मुद्ग मसूर गोधूम इक्षु वेणु गवेधुका कर्पासी पाटली कर्कन्धू कुटीर।

१०७—भस्त्रादि : भस्त्रा भरट मरण शीर्षभार शीर्षेभार अंसभार अंसेभार।

१०८—भिक्षादि : भिक्षा गर्भिणी क्षेत्र करीष अंकार अंगार चर्मिन् धर्मिन् सहस्र युवति पदाति पद्धति अथर्वन् दक्षिणा भूत विषय श्रोत्र।

१०९—भृशादि : भृश शीघ्र चपल मन्द पण्डित उत्सुक सुमनस् दुर्मनस् अभिमनस् उन्मनस् रहस् रोहत् रेहत् संश्चत् तृपत् शश्वत् भ्रमत् वेहत् शुचिस् सुचिवर्चस् अण्डर वर्चस् ओजस् सुरजस् अरजस्।

११०—भौरिक्यादि : भौरिकी भौलिकी चौपयत चौटयत चैटयत काणेय वाणिजक वाणिकाज्य वालिकाज्य सैकयत वैकयत।

१११—मध्वादि : मधु बिस स्थाणु वेणु कर्कन्धु शमी करीर हिम किशरा शर्याण मरुत् वार्दाली शर इष्टक आसुति शक्ति आसन्दी शकल शलाका आमिषि इक्षु रोमन् रुष्टि रुष्य तक्षशिला कड वट वेट ।

११२—मनोज्ञादि : मनोज्ञ प्रियरूप अभिरूप कल्याण मेधाविन् आढ्य कुलपुत्र छान्दस छात्र श्रोत्रिय चोर धूर्त विश्वदेव युवन् कुपुत्र ग्रामपुत्र ग्रामकुलाल ग्रामड ग्रामषण्ड ग्रामकुमार सुकुमार बहुल अवश्यपुत्र अमुष्यपुत्र अमुष्यकुल सारपुत्र शतपुत्र ।

११३—महानाम्न्यादि : महानाम्नी आदित्यव्रत गोदान ।

११४—महिष्यादि : महिषी प्रजापति प्रजावती प्रलेपिका विलेपिका अनुलेपिका पुरोहित मणिपालि अनुवारक अनुचारक होतृ यजमान ।

११५—मितद्र्वादि : मितद्रु शतद्रु शंभु इत्यादि ।

११६—यजादि (धातु) :

यजिर्वपिर्वहिश्चैव वेञ्व्येञौ ह्वयतिः स्वपिः ।
वद्वसी श्वयतिर्वक्तिरेकादश यजादयः ।।

११७—यस्कादि : यस्क लह्य द्रुह्य अयस्थूल अयः स्थूण तृणकर्ण सदामत्त कम्बलहार बहिर्योग पर्णाढक कर्णाढक पीण्डीजंघ बकसस्थ बकसक्थ विश्रि कुद्रि अजवस्ति मित्रयु रक्षोमुख जंघारथ उत्कास कटुक मथक मंथक पुष्करट् पुष्करसद् विषपुट उपरिमेखल क्रोष्टुकमान क्रोष्टुमान क्रोष्टुपाद क्रोष्टुमाय शीर्षमाय खरप पदक वर्षुक भलन्दन भडिल भण्डिल भडित भण्डित ।

११८—यावादि : याव मणि अस्थि तालु जानु सान्द्र पीत स्तम्ब ऋता लून विपात अण्ड पुत्र स्नात शून्य दान तनु ज्ञात अज्ञात कुमारी क्रीडनक एवं ईयसंत शब्द ।

११९—युवादि : युवन् स्थविर होतृ यजमान पुरुषासे भ्रातृ कुतुक श्रमण श्रवण कटुक कमण्डलु कुस्त्री सुस्त्री दुःस्त्री सुहृदय सुहृद् दुर्हृदय

दुर्हृत् सुभ्रातृ दुर्भ्रातृ वृषल परिव्राजक सब्रह्मचारिन् अनृशंस हृदयासे कुशल चपल निपुण पिशुन कुतूहल क्षेत्रज्ञ श्रौत ।

१२०—**यौधेयादि** : यौधेय कौशेय शौक्रेय शौभ्रेय धार्तेय घार्तेय ज्याबाणेय त्रिगर्त भरत उशीनर ।

१२१—**रसादि** : रस रूप वर्ण गन्ध स्पर्श शब्द स्नेह भाव एवं एकस्वर गुणवाची शब्द ।

१२२—**राजन्यादि** : राजन्य अनृत बाभ्रव्य शालंकायन दैवयातव देवयात अव्रीड वरत्रा जालन्धरायण राजायन तेलु आत्मकामेय अम्बरीषपुत्र वसाति बैल्ववन शैलूष उदुम्बर तीव्र बैल्वल आर्जुनायन संप्रिय दाक्षि ऊर्णनाभ । यह आकृतिगण है ।

१२३—**रैवतिकादि** : रैवतिक स्वापिशि क्षैमवृद्धि गौरग्रीव गौर-ग्रीवि औदमेघि औदवापि वैजवापि ।

१२४—**लूञादि (धातु)** : लूञ् स्तॄञ् कॄञ् वॄञ् धूञ् शॄ पॄ वॄ मॄ दॄ जॄ झॄ धॄ नॄ कॄ ॠ गॄ ज्या री ली प्ली ।

१२५—**लोमादि** : लोमन् रोमन् बभ्रु हरि गिरि कर्क कपि मुनि तरु ।

१२६—**लोहितादि** : लोहित चरित नील फेन मद्र हरित दास मन्द । यह आकृतिगण है ।

१२७—**वपादि (धातु)** : भ्वादि गण में पठित "डुवप् बीज-संताने" से लेकर गणान्त तक के धातु इसमें परिगणित होते हैं ।

१२८—**वराहादि** : वराह पलाशा (पलाश) शेरिष (शिरीष) पिनद्ध निवद्ध बलाह स्थूल विदग्ध (विजग्ध निमग्न) विभग्न बाहु खदिर शर्करा ।

१२९—**वसंतादि** : वसंत ग्रीष्म वर्षा शरद् शरत् हेमन्त शिशिर प्रथम गुण चरम अनुगुण अथर्वन् आथर्वण ।

१३०—**वाकिनादि** : वाकिन गौधेर कार्कश काक लंका चर्मिन् वर्मिन् ।

१३१—**बिनयादि** : विनय समय औपयिक सम्प्रति संगति कथंचित् अकस्मात् समाचार उपचार समाय समयाचार व्यवहार सम्प्रदान समुत्कर्ष समूह विशेष अत्यय ।

१३२—**विमुक्तादि** : विमुक्त देवासुर रक्षोसुर उपसद् सुवर्ण परिसारक सदसत् वसु मरुत् पत्नीवत् वसुमत् महीयस् सत्त्वत् बर्हवत् दशार्ण दशार्ह वयस् हविर्धान पतत्रिन् महित्री अस्यहत्य सोमापूषन् इडा अग्नाविष्णू उर्वशी वृत्रहन् ।

१३३—**वेणुकादि** : बिल्वकादि गण में पठित वेणु शब्दादि ही वेणुकादि से गृहीत होते हैं ।

१३४—**व्युष्टादि** : व्युष्ट नित्य निष्क्रमण प्रवेशन उपसंक्रमण तीर्थ आस्तरण संग्राम संघात ।

१३५—**व्रीह्यादि** : व्रीहि माया शाला शिखा माला मेखला केका अष्टका पताका चर्मन् कर्मन् वर्मन् दंष्ट्रा संज्ञा वडवा कुमारी नौ वीणा वलाका यवखदनौ कुमारी अशीर्ष ।

१३६—**शण्डिकादि** : शण्डिक सर्वसेन सर्वकेश शक शट रक शंख बोध ।

१३७—**शरादि** : शर दर्भ मृद् (मृत्) कुटी तृण सोम बल्वज ।

१३८—**शर्करादि** : शर्करा कपालिका कपाटिका कपिष्ठिका (कनिष्ठिका) पुण्डरीक शतपत्र गोलोमन् लोमन् गोपुच्छ नराची गोपुच्छनराची नकुल सिकता ।

१३९—**शाखादि** : शाखा मुख जघन शृंग मेघ अभ्र चरण स्कन्ध स्कद स्कन्द उरस् शिरस् अग्र शरण (शाण) ।

१४०—**शार्ङ्गरवादि** : शांर्गरव कापटव गौग्गुलव ब्राह्मण बैद गौतम कामण्डलेय ब्राह्मणकृतेय आनिचेय आनिधेय आशोकेय वात्स्यायन मौंजायन कैकस काप्य काव्य शैब्य एहि पर्येहि काश्मरथ्य औदपान अराल चण्डाल वतण्ड ।

१४१–शिवादि : शिव प्रोष्ठ प्रोष्ठिक चण्डजम्भ भूरिदण्ड कुठार ककुभ् ककुभा अनभिम्लान कोहित सुख संधि मुनि ककुत्स्थ कहोड कोहड कहूय कहय रोद कपिंजल कुपिंजल खंजन वतण्ड तृणकर्ण क्षीर-ह्रद जलह्रद परिल पथिक पिष्ट हैहय पार्शिका गोपिका कपिलिका जटिलिका बधिरिका मंजीरक मजिरक वृष्णिक खंजार खंजाल कर्मार रेख लेख आलेखन विश्रवण रवण वर्तनाक्ष ग्रीवाक्ष (पिटक विटक) पिटाक तृक्षाक नभक ऊर्णनाभ जरत्कारु (पृथा उत्क्षेप) पुरोहितिका सुरोहितिका सुरोहिका आर्यश्वेत अर्यश्वेत सुपिष्ट मसुरकर्ण मयूरकर्ण (खर्जूरकर्ण) कदूरक तक्षन् ऋष्टिवेण गंगा विपाश यस्क मस्क लह्य द्रुह्य अयस्थूण तृणकर्ण (तृण कर्ण) पर्ण भलन्दन विरूपाक्ष भूमि इला सपत्नी (इलासपत्नी) त्रिवेणी त्रिवण एवं द्विस्वर नदीवाची। यह आकृति गण है ।

१४२–शुण्डिकादि : शुण्डिक कृकण कृपण स्थण्डिल उदपान उपल तीर्थ भूमि तृण पर्ण ।

१४३–शुभ्रादि : शुभ्र विष्ट पुर विष्टपुर ब्रह्मकृत शतद्वार शलाथल शलाकाभ्रू लेखाभ्रू लेखाभ्र विकंसा विकास रोहिणी रुक्मिणी धर्मिणी दिश् शालूक अजबस्ति शकंधि विमातृ विधवा शुक विश देवतर शकुनि शुक्र उग्र ज्ञातल शातल (शतल) बन्धकी सृकण्डु विस्रि अतिथि गोदन्त कुशाम्ब मकष्टु शाताहर पवष्टुरिक सुनामन् लक्ष्मण श्याम गोधा कृकलास अणीव प्रवाहण भरत (भारत) भरम मृकण्डु कर्पूर इतर अन्यतर आलीढ सुदन्त सुदक्ष सुवक्षस् सुदामन् कद्रु तुद अकशाय कुमारिका कुठारिका किशोरिका अम्बिका जिह्माशिन् परिधि वायु-दत्त शकल शलाका खडूर कुबेरिका अशोका गन्धपिंगला खडोन्मत्ता अनुदृष्टिन् (अनुदृष्टि) जरतिन् वलीवर्दिन् विप्र बीज जीव श्वन् अश्मन् अश्व अजिर । यह आकृति गण है ।

१४४–शौनकादि : शौनक वाजसनेय शार्ंगरव शापेय शाष्पेय खाडायन स्तम्भ स्कन्ध देवदर्शन रज्जुभार रज्जुकण्ठ कठशाठ कषाय तल दण्ड पुरुषासक अश्वपेज ।

१४५–**श्यामादि** : श्याम दुःख हर्ष गर्व सुख मूर्छा निद्रा कृपा धूम करुणा नित्य चर्मन् ।

१४६–**सख्यादि** : सखि अग्निदत्त वायुदत्त सखिदत्त गोपिल भल्लपाल भल्ल पाल चक्र चक्रवाक छगल अशोक करवीर वासव वीर पूर वज्र कुशीरक शीहर सीहर सरक सरस समर समल सुरस रोह तमाल कदल सप्तल ।

१४७–**संकलादि** : संकल पुष्कल उत्तम उडुप उद्वेप उत्पुट कुम्भ निधान सुदक्ष सुदत्त सुभूत सुपूत सुनेत्र सुमगल सुपिंगल सूत सिकत पूतिका पूतिक पूलास कूलास पलाश निवेश गवेश गम्भीर इतर आन् अहन् लोमन् वेमन् चरण वरुण बहुल सद्योज अभिषिक्त गोभृत् राजभृत् भल्ल मल्ल माल ।

१४८–**संकाशादि** : संकाश कपिल कश्मीर समीर सूरसेन सरक सूर सुपन्थिन् पन्थ यूप यूथ अंश अंग नासा पलित अनु नाश अश्मन् कूट मलिन दश कुम्भ शीर्ष चिरन्त विरत समल सीर पंजर मन्थ नल रोमन् लोमन् पुलिन् सुपरि कटिप सकर्णक वृष्टि तीर्थ अगस्ति विकार नासिका ।

१४९–**संतापादि** : संताप संनाह संग्राम संयोग संपराय संवेशन संपेष निष्पेष सर्ग निसर्ग विसर्ग उपसर्ग प्रवास उपवास संघात संवेष संवास संमोदन सक्तु मांसौदन मांस ओदन ।

१५०–**सन्धिवेलादि** : सन्धिवेला संध्या अमावास्या त्रयोदशी पंचदशी पौर्णमासी प्रतिपत् ।

१५१–**सपत्न्यादि** : समान एक वीर पिण्ड श्व शिरी भ्रातृ भद्र पुत्र ।

१५२–**सपदादि** : संपद् विपद् आपद् प्रतिपद् परिषद् ।

१५३–**सिध्मादि** : सिध्म गडु मणि नाभि बीज वीणा कृष्ण निष्पाव पांसु पार्श्व पर्शु हनु सक्तु मास मांस पार्ष्णी धमनी । वातूल

दन्तूल बलूल ललाटूल जटा घटा कटा काल पर्ण उदक प्रज्ञा सक्थि कर्ण स्नेह शीत श्याम पिंग पित्त पुष्प पृथु मृदु मंजु मण्ड पत्र चटु कपि गण्डु ग्रन्थि श्री कुश धारा वर्ष्मन् श्लेष्मन् पेश निष्पाद् कुण्ड क्षुद्र जन्तु ।

१५४—**सिन्धुतक्षशिलादि** : सिन्धु वर्ण मधुमत् कम्बोज साल्व कश्मीर गन्धार किष्किन्धा उरसा दरद (दरद्) गन्दिका । तक्षशिला वत्सोद्धरण कैमदुर ग्रामणी छगल क्रोष्टुकर्ण सिंहकर्ण संकुचित किंनर काण्डधार पर्वत अवसान बर्बर कंस ।

१५५—**सुखादि** : सुख दुःख तृप्त (तृप्र) कृच्छ्र अस्र (आश्र) आस्र अलीक कठिन सोढ प्रतीप शील हल माला कृपण प्रणाय (प्रणय) दल कक्ष ।

१५६—**सुतंगमादि** : सुतंगम मुनिचित्त विप्रचित्त महापुत्र स्वप्न श्वेत गडिक (खडिक) शुक्र विग्र बीजावापिन् (बीज वापिन्) अर्जुन श्वन् अजिर जीव खण्डिन कर्ण विग्रह ।

१५७—**सुवास्त्वादि** : सुवास्तु (सुवस्तु) वर्णु झण्डु खण्डु सेवालिन् कर्पूरिन् शिखण्डिन् गर्त कर्कश शकटीकर्ण कृष्णकर्ण (कर्क) कर्कन्धुमती गोह अहिसक्थ ।

१५८—**सुस्नातादि** : सुस्नात सुखशयन इत्यादि ।

१५९—**स्थूलादि** : स्थूल अणु माष इषु कृष्ण यव इक्षु तिल पाद्य काल अवदात गोमूत्र सुरा जीर्ण पत्रमूल पत्र मूल कुमारीपुत्र कुमारी-श्वशुर मणि ।

१६०—**हरितादि** : इसे विदादि (विदादि) गण के अन्तर्गत देखें ।

१६१—हस्त्यादि : हस्तिन् कुद्दाल अश्व कशिक कुरुत कटोल कटोलक गण्डोल गण्डोलक कण्डोल कण्डोलक अज कपोत जाल गण्ड महिला दासी गणिक कुसूल।

अवधारणीय है कि यद्यपि पाणिनीय गणपाठ में से अधिकतर गणों का निर्देश यहाँ हुआ है, तथापि इसे सभी गणों का निर्देश नहीं कह सकते। यहाँ केवल उन्हीं गणों को वर्णक्रम से प्रस्तुत किया गया है, जो प्रकृत प्रबन्ध में उपयोगी हैं। विवरण प्रसंग में जिन गणों का परिगणन कर दिया गया है, उनकी यहाँ पुनः चर्चा नहीं की गयी है। इसके अतिरिक्त इन गणों में गणसूत्रों का निर्देश न कर उनसे विहित कार्य विशेष से सम्पन्न प्रकृति मात्र का ही उल्लेख किया गया है।

—०—

परिशिष्ट (ग)

संदर्भग्रन्थानुक्रमणी

१—अमरकोषः : अमर सिंह / वासुदेव शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

२—अमरकोष रामाश्रमी : भानुजिदीक्षित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७०

३—अर्थप्रकाशिका : राधारमण पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७०

४—अष्टाध्यायी सूत्रपाठ : महर्षि पाणिनि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

५—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृतिविमर्शिनी : अभिनवगुप्त, श्रीनगर, १९३८—४३

६—ऋग्वेद संहिता : श्रीपाद सातबलेकर स्वाध्याय मंडल, सतारा, १९४०

७—कातन्त्र व्याकरणम्, (बालशिक्षा) : शर्ववर्मा/डॉ० फतहसिंह, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६८

८—कातन्त्रव्याकरण
विमर्शः : डॉ० जानकी प्रसाद द्विवेद, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, १९७५

९—काशिका : जयादित्य-वामन, बनारस, द्वितीय संस्करण १८९८

१०—काशिका विवरण
पंजिका : जिनेन्द्रबुद्धि, राजशाही, १९१३-१९२५

११—कुमारसंभवम् : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत, सीरीज, वाराणसी

१२—कुमारसंभव पुंसवनी : मल्लिनाथ, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, वाराणासी

१३—गोपथ ब्राह्मण : राजेन्द्र लाल मिश्र, देहली इण्डोलाजिकल बुक हाउस, १९७२

१४—चान्द्रव्याकरणम्
भाग—१, २ : चन्द्रगोमिन् क्षितीशचन्द्र चटर्जी, डेक्कन कालेज, पोस्टग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९५३

१५—तर्कसंग्रहः : अन्नंभट्ट/मुकुन्द शास्त्री, भार्गव पुस्तकालय बनारस

१६—तर्कसंग्रहप्रतिबिम्ब : मदनमोहन पाठक, भागर्व पुस्तकालय बनारस

१७—ध्वन्यालोक-
लोचनम् (खण्ड१—२) : अभिनवगुप्त, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६३

१८—नागेशभावप्रकाश: : नागेशभटट्/पेरिसूर्यनारायण, भारत सरकार, १६७०, विजयनगरम् ।

१६—निरुक्तम् (१, २ व ७ अध्याय) : यास्क/शिवनारायण शास्त्री, देहली, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, १६७२

२०—निरुक्तभाष्यम् (भाग २) : दुर्गाचार्य, निर्णयसागर, बम्बई, १६४२

२१—नैषधीयचरितम् : श्री हर्ष/शिवदत्त शर्मा, निर्णयसागर बम्बई १६२८

२२—न्यायमंजरी : जयन्त भट्ट, बनारस, १६३६

२३—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (अनुमान से गुणनिरूपणान्त) : विश्वनाथ पंचानन/पं० रामगोविन्द शुक्ल, हरिकृष्ण निबन्ध भवन, वाराणसी, १६६६

२४—परमलघुमंजूषा : नागेश भट्ट/कालिका प्रसाद शुक्ल बड़ौदा विश्वविद्यालय, १६६१

२५—परमलघुमंजूषा ज्योत्स्ना : कालिका प्रसाद शुक्ल, बड़ौदा विश्वविद्यालय, १६६१

२६—परिभाषेन्दुशेखर: (भूति:) : नागेश भट्ट/वासुदेव शास्त्री, राजेश्वरी प्रेस पुस्तकालय वाराणसी

२७—परिभाषेन्दुशेखर: विजया : म० म० जयदेव मिश्र, तीरभुक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, १६६८

२८—पाणिनीय अष्टाध्यायीसूत्रपाठ: : महर्षिपाणिनि/ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, हरियाणा, १६७१

२६—पातंजलमहाभाष्यम् : पतंजलि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–७ सन् १६६७

३०—प्रक्रियासर्वस्वम् : नारायण भट्ट/के०, साम्ब शिव शास्त्री, केरल विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम्

३१—प्रसन्नपदा : चन्द्रकीर्ति, पोटर्स वर्ग, १६१२

३२—प्रौढ मनोरमा शब्द-रत्न तत्त्वादर्शः : भट्टोजिदीक्षित/दिवाकर शास्त्री, कमला पुस्तकमाला, काशी, संवत् २००८

३३—प्रौढ मनोरमा प्रभा-विभा-ज्योत्स्ना-शब्दरत्न : भट्टोजिदीक्षित/श्रीसदा शिव शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस सीटी, संवत् १६६०

३४—प्रौढ मनोरमा (तत्पुरुष समास से यङन्त प्रक्रियान्त) : भट्टोजिदीक्षित, प्राप्त–गंगानाथ झा अनुसंधान संस्थान, इलाहाबाद

३५—बालशिक्षा : ठक्कुर संग्राम सिंह/डॉ० फतह सिंह, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, १६६८

३६—बृहच्छब्देन्दुशेखरः (भाग २) : नागेश भट्ट/डॉ० सीता राम शास्त्री, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, १६६०

३७—महाभाष्यम् (भाग ३) : पतंजलि/डॉ० कीलहार्न, निर्णय सागरप्रेस, बम्बई, १८६२

३८—महाभाष्यम् : पतंजलि/गुरुप्रसाद शास्त्री बनारस, १६३६

३६—महाभाष्यदीपिका : भर्तृहरि/के० वी० अभ्यंकर, पूना, १६६४–७१

४०—महाभाष्यप्रदीप: : कैयट, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–७, १६६७

४१—महाभाष्यप्रदीपोद्योत : नागेश भट्ट, मोती लाल, दिल्ली-७, १६६७

४२—रघुवंशम् : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

४३—रघुवंश संजीवनी : मल्लिनाथ, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

४४—रूपमाला : विमलसरस्वती/मुरलीधर मिश्र, वाराणसी, १६७०

४५—रूपावतार: (भाग १) : धर्मकीर्ति/म० रंगाचार्य, जी० ए० नटसन एण्ड कम्पनी, मद्रास

४६—रूपावतार: भाग २ : धर्मकीर्ति वरदाचार्य ऐयंगर, दी बेंगलोर प्रेस, बेंगलोर सीटी, १६६०

४७—लघुशब्देन्दुशेखर: : नागेशभट्ट/सदाशिव शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी १६३०

४८—लघुशब्देन्दुशेखर-दीपक: : नित्यानन्द पर्वतीय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १६३८

४६—लघुसिद्धान्तकौमुदी : वरदराज, गीता प्रेस, गोरखपुर

५०—वाक्यपदीयम्, प्रथम काण्ड, हरिवृत्ति तथा वृषभटीका : चारुदेव शास्त्री, लाहौर १६३४ ।

५१—वाक्यपदीयम् स्वोपज्ञ-वृत्ति (काण्ड द्वितीय) : चारुदेव शास्त्री, लाहौर, १६३६।

५२—वाक्यपदीयम् (काण्ड-१ हरिवृत्ति) : भर्तृहरि/गंगाधर शास्त्री, बनारस, १८८७

५३—वाक्यपदीयम् सम्पूर्ण, पुण्य राज की टीका : भर्तृहरि/आर० टी० एच० ग्रिफिथ, ब्रज बी० दास एण्ड कम्पनी बनारस, १८८७

५४—वाक्यपदीय प्रकीर्णक प्रकाशः (काण्ड–३ भाग–१) : हेलाराज/के० ऐ० सुब्रह्मण्य ऐयर, डेक्कन कालेज, पोस्टग्रेजुएट ऐण्ड रिर्सच इन्स्टीट्यूट पूना, १६६६

५५—वाक्यपदीय प्रकीर्णक-प्रकाशः (काण्ड ३, भाग–२) : हेलाराज/के० ऐ० सुब्रह्मण्य ऐयर, डेक्कन कालेज, पोस्टग्रेजुएट ऐण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १६७३

५६—वाक्यपदीयम् (काण्ड-३, भाग–१) : भर्तृहरि/ए० के० सुब्रह्मण्य ऐयर, डेक्कन कालेज, पोस्टग्रेजुएट ऐण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १६६३

५७—वाक्यपदीयः (काण्ड–३, भाग–२) : भर्तृहरि/ए० के० सुब्रह्मण्य ऐयर, डेक्कन कालेज, पोस्टग्रेजुएट ऐण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना १६७३

५८—वाक्यार्थ मातृका : शालिकनाथ/ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन दिल्ली—७, संवत् २०३६

५९—वाङ्मयार्णवः : म० म० रामावतार शर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी संवत् २०२४

६०—वाचस्पत्यम् (भाग–५) : तारानाथ तर्कवाचस्पति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी

६१—वाल्मीकि रामायणम् (सुन्दर काण्ड) : महर्षि वाल्मीकि, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २०२०

६२—वैयाकरणभूषणसार : कौण्ड भट्ट/बालकृष्ण पंचोली, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, १९६९

६३—वैयाकरणभूषणसार दर्पणः : हरिवल्लभ शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६९

६४—वै० भू० प्रभा : बालकृष्ण पंचोली, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६९

६५—वै० भू० सरला : रामप्रसाद त्रिपाठी, हरिकृष्ण निबन्ध भवनम्, वाराणसी, संवत् २००९

६६—वैयाकरणसिद्धान्त-कौमुदी : भट्टोजिदीक्षित/गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी

६७—वै० सि० कौ० तत्त्वबोधिनी : ज्ञानेन्द्र सरस्वती/वासुदेव शर्मा निर्णय सागर, बम्बई, १९२९ ई० ।

६८—वै० सि० कौ० बालमनोरमा : वासुदेव दीक्षित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९४८

६९—वै० सि० कौ० कारक, हिन्दी : श्रीधरानन्द घिल्डियाल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६१

७०—वैयाकरण सिद्धान्त
लघु मंजूषा : नागेशभट्ट/पं० सभापतिशर्मोपाध्याय चौखम्बा, वाराणसी, १९६३

७१—वैशेषिकसूत्र : महर्षि कणाद, सार्वदेशिक प्रेस दिल्ली

७२—व्याकरण दर्शन
पीठिका : रामाज्ञा पाण्डेय, सरस्वती भवन सीरीज, वाराणसी

७३—व्याकरणदर्शन
भूमिका : रामाज्ञा पाण्डेय, सरस्वती भवन सीरीज, वाराणसी

७४—व्युत्पत्तिवादः : गदाधर भट्ट, डा० उमेश मिश्र, प्रयाग, १९५३

७५—व्युत्पत्तिवादजया : जयदेव मिश्र, डा० उमेश मिश्र, प्रयाग, १९५३

७६—शब्दकल्पद्रुमः
(भाग १–२) : स्यार राजा राधाकान्त देव बहादुर, कलकत्ता, शकाब्द १८११–१८१३

७७—शब्दशक्ति-
प्रकाशिका : जगदीश तर्कालंकार, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७३

७८—शिशुपालवधम् : महाकवि माघ, निर्णयसागर, बम्बई, १९२८

७९—संस्कृतशब्दार्थ
कौस्तुभ : द्वारिका प्रसाद शर्मा/तारणीश झा, रामनाराणलाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, १९७५

८०—संस्कृतसाहित्यविमर्श : द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री भारतीप्रतिष्ठान, मेरठ, १९२६

८१—सांख्यसूत्राणि : महर्षि कपिल, सार्वदेशिक प्रेस, दिल्ली

८२—सारस्वत व्याकरण
पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध : अनुभूतिस्वरूप, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणी १६६६-७१

८३—सा० चन्द्रकीर्ति
पूर्वार्द्ध उत्तरार्ध : चन्द्रकीर्ति/नव किशोरशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरोज, वाराणसी १६६६७१

८४—सा० प्रसाद पूर्वार्ध
उत्तरार्ध : वासुदेवभट्ट/नवकिशोर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी १६६७-७१

८५—सिद्धहेमशब्दा-
नुशासनम् : हेमचन्द्र, जैनपाठशाला, बनारस, १६०५

८६—भारतीय न्यायशास्त्र
एक अध्ययन : डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन दिल्ली, १६६७

८७—भाषातत्व और वाक्य-
पदीय : डॉ० सत्यकाम वर्मा, भारतीय प्रकाशन दिल्ली

८८—भाषाविज्ञान : डॉ० भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद १६७१

८६—व्याकरण की दार्शनिक
भूमिका : डॉ० सत्यकाम वर्मा, मुंशीराम मनोहर लाल, नई दिल्ली, १६७१

६०—व्याकरण चन्द्रोदय
(खण्ड-२) श्री चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १६७०

६१—संस्कृत का भाषा
शास्त्रीय अध्ययन : डॉ० भोला शंकर व्यास, भारतीय-ज्ञानपीठ दिल्ली—६ १६७१

६२—संस्कृत धातुकोष : युधिष्ठिर मीमांसक, श्री प्यारेलाल द्राक्षादेवी ट्रस्ट दिल्ली २०२८ संवत् ।

९३—संस्कृत भाषा : टी० बरो/डॉ० भोला शंकर व्यास चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६५

९४—संस्कृत व्याकरण (भाग—२) : डब्ल्यू० बी० लिटने/डॉ मुनिश्वर झा उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७१

९५—संस्कृत व्याकरण का उद्‌भव और विकास : सत्यकाम वर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली—७, १९७१

९६—संस्कृत व्याकरणदर्शन : डॉ० राम सुरेश त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, १९७२

९७—संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास (भाग-१) : युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान, अजमेर, संवत् २०२०

९८—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (भाग—२) : युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान, अजमेर, संवत् २०२५

९९—संस्कृत साहित्य का इतिहास : डॉ० वलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर वाराणसी १९६८

१००—सामान्य भाषा विज्ञान : डॉ० बाबूराम सक्सेना, प्रयाग, १९६९

—०—

इनके अतिरिक्त विविध व्याकरण ग्रन्थों से उणादि कोष, धातुपाठ, गणपाठ आदि का अवलोकन किया गया है।

शुद्धि-पत्र (घ)

पृष्ठांक	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	६	रोरवीत	रोरवीति
१	७	मत्याँ	मर्त्यां
१०	३	संगन	सर्जन
१०	१०	पारतन्त्रय	पारतन्त्व्य
२४	२२	शब्दोऽवयी	शब्दोऽन्वयी
२८	८	एधांम्बभूवे	एधाम्बभूवे
५५	३	दसगुणों	दशगणी
६२	२७	उपादान	अपादान
६३	२७	अर्थवद् धातु	अर्थवदधातु
६५	२६	पवित्रम्	पक्त्रिमम्
१००	१३	यच्	अयच्
१०५	१५	र्हिल	र्हिल्
१०५	१६	एद्यदि	एद्यवि
१०८	२	विचार नाम	विचार को
१२७	१७	विभक्त	विभक्ति
१२७	१८	शत्	शस्
१३६	७	भुष्णात्	मुष्णात्
१३७	४	उत्पन्न	उपपन्न
१४०	८	खाट्, अट्	खाद्, अद्
१४०	८	अह्वाय्	आह्वाय्
१५१	२६	संजानीयते	संजानीते
१६१	१२	शेनि	शेते
१६२	२	क्लिप्यर्थक	क्लृप्त्यर्थक

पृष्ठांक	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६२	१५	गीप्स्यमान	ज्ञीप्स्यमान
१७२	२१	अथ	अर्थ
१८०	१३	मद्	मद्र
१८१	२	'द्य'	'दय्'
१८७	१६	भावारूप	भावरूप
१६६	२	वाच्या अर्थ	वाच्यार्थ
२००	५	मकार	प्रकार
२०१	४	भुङ् त	भुङ्क्ते
२०१	१७	न करोमि	ननु करोमि
२०८	१४	तवं	त्वं
२११	२२	अथाम्	आथाम्
२१२	२२	वर्तमान	वर्तमाना
२१३	१०	तासाये	तासाथे
२१३	१६	आमहैव	आमहैव्
२१३	२२	च	व
२१६	१५, १६	विट्	विद्
२२५	२८	और	चार
२२६	१६	नवादिगण	भ्वादिगण
२२६	१०	च्प्प्	च्णि
२२६	२४	√शिव	√श्वि
२३०	६	√जृष्	√जॄष्
२३०	१०	ग्रुच्, √लिच्	ग्रुच्
२४१	१२	वंशगत	वशंगत
२४४	१४	आग्नये:	आग्नेय:
२६३	२०	अनुबन्धक	ञ् अनुबन्धक
२६४	७	अन्	अञ्
२६४	१६	शौर्यम्	शौर्पम्
२६६	२	तनद्	तनट्
२६६	७	प्रेग	प्रगे
२७०	५	च्यञ्	च्फञ्

पृष्ठांक	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७५	३	पण्यस्	पण्य व
२८०	२४	तरकादियण	तारकादि गण
२८८	२८	शिभुक्रन्द्रीयम्	शिशुक्रन्दीयम्
२९०	५	चतुर	चतुर्
२९७	२२	नत्र	नञ्
२९८	३	न्त	ना
३००	१२	मारोसच्	मरीसच्
३०१	३	आदिति	अदिति
३०३	३	प्रांच् अपांच्	प्राच् अवाच्
३०४	७	भाष	माष
३१५	३	आशनायति	अशनायति
३१९	८	√उद् √दृश	√दह्
३२७	१५	नावस्तायै	नावस्तार्ये
३३०	१५	भौरिकिविधि	भौरिकिविध
३३६	१८	(२३) (अषड)	(२३) ख (अषड)
३५१	२	तद्वत	तद्गत
३५१	२१	प्रतिकृ	प्रतिकृति
३६६	७	डंच्	ड्च्
३७५	२५	ग्रहण होगा	ग्रहण व्यर्थ होगा
३९१	१९	ङ्	ड्
३९२	२	भाव	अभाव
३९६	१९	ग्रार्य	आर्य
३९९	२२	नेर्कन्धू:	कर्कन्धू:
४००	२५	टापृ	टाप्
४०२	५	दा	द्वा
४०८	२१	अन्त्य के	अन्त्य में
४१३	२५	पट्	पद्
४२४	१७	नृद्	नृत्
४३१	२९	रहते,	रहते √अद् से
४४६	२०	असूर्यपश्या	असूर्यंपश्या

पृष्ठांक	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४८	७	√पट्	√पद्
४४८	१६	√टृ एवं √भृ	√दृ एवं √जॄ
४४८	१७	द्वाराः	दाराः
४५१	१२	√सस्रु	√संस्रु
४५४	९	√रथ्	√रध्
४५४	२५	ननन्दकः	नन्दकः
४५६	२१	श्रृंथ्	श्रंथ्
४६०	६	ईषत्वानः	ईषत्पानः
४६६	१२	नानाकरम्	नानाकारम्
४७६	८	ग्रम्	गम्
४७६	२२	√मिट्	√मिद्
४८०	४	अगे	अग्रे
४८०	१०	√देश्	√दंश्
४८४	५	अवन्तः	अवत्तः
४८६	३	होते हैं ।	होते ।
४८८	३०	नियुक्त	वियुक्त
४९२	५	रा	२१
४९३	२८	वश्ययः	वश्यमः
४९५	१६	कारमिता	कारयिता
४९६	२२	शायित्वा	शयित्वा
४९७	११	अक्त्‌वा	अक्त्वा
५०२	६	√शंस्	√शस्
५१०	१८	यद	यद्

—o—